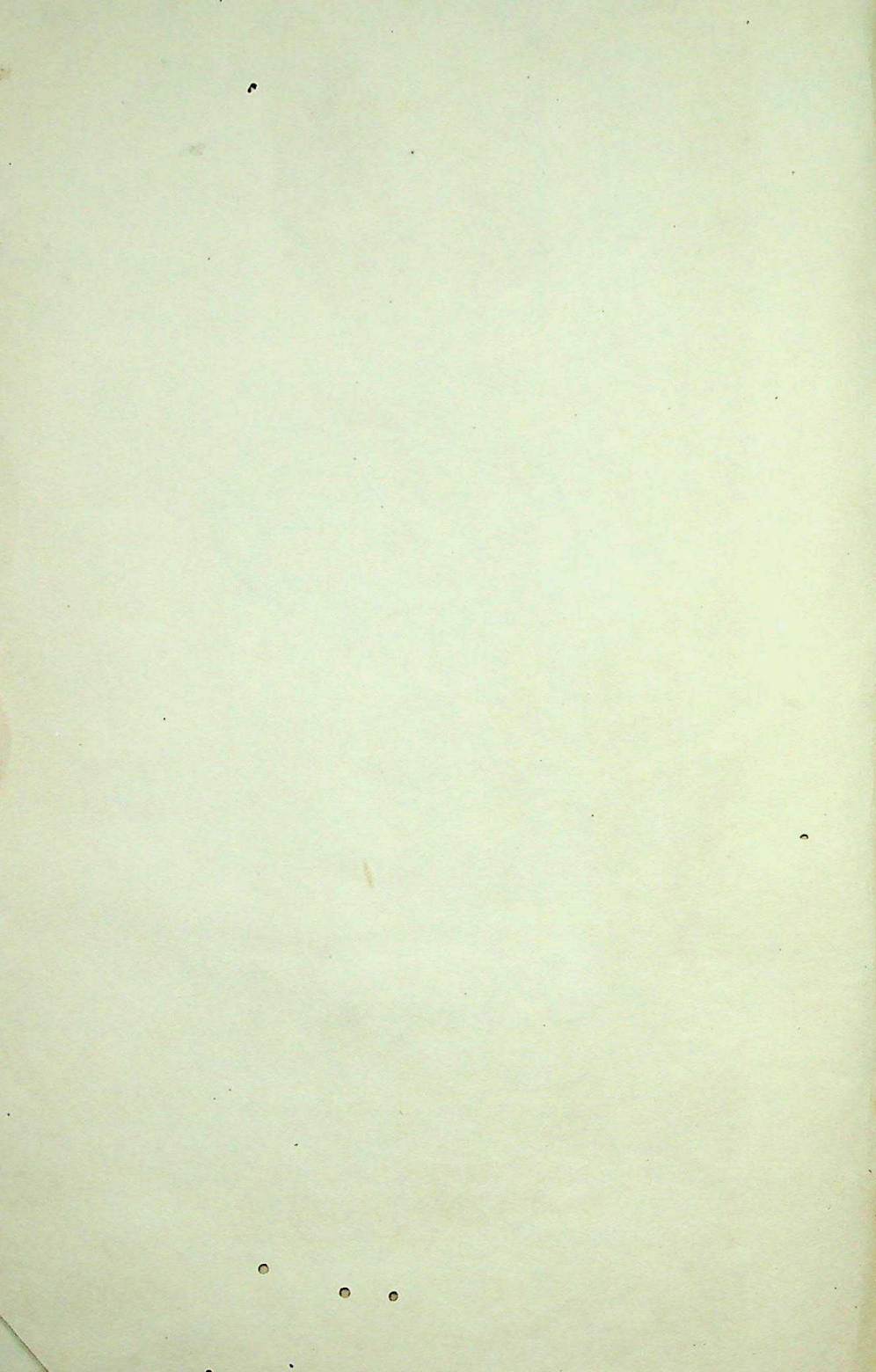


हिंदी

गद्यरत्न

मिश्रबंधु





३१

हिंदी-नवरत्न

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक) •

हमारा आलोचनात्मक साहित्य

मिश्रबंधु-विनोद (तीन भाग)	मिश्रबंधु	२७
देव-सुधा	,,	२११
विहारी-सुधा	,,	११३
कवि-कुल-कंठाभरण	,,	१११
साहित्य-पारिजात	,,	५
विश्व-साहित्य	पदुमलाल-पुन्नालाल बखशी	४
संभाषण	दुलारेलाल भार्गव	१११
हिंदी	वदरीनाथ भट्ट	१११
सौंदरानंद-महाकाव्य	प्रिंसिपल रामदीन पांडेय	१११
साहित्य सुमन	बालकृष्ण भट्ट	१११
नैषध-चरित-चर्चा	महावीरप्रसाद द्विवेदी	२१
प्राचीन पंडित और कवि	,,	१११
सुकवि-संकीर्तन	,,	१११
वी-संहार नाटक	,,	१११
साहित्य-संदर्भ	,,	४
पंत और पल्लव	'निराला'	११
प्रबंध-पत्र	,,	३
विहारी-दर्शन	लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी	५
विद्यापति की पदावली	वसंतकुमार माथुर	१७
मान-मयंक	हरदयालुसिंह	३
भवभूति	अनु० ज्वालादत्त शर्मा	१
पृथ्वीराज-रासो के दो समय	डॉ० भगीरथ मिश्र	२१

हिंदुस्थान-भर की हिंदी-पुस्तकें मिलने का पता —
गंगा-प्रयागर, ०३६, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(सचित्र, संशोधित एवं संवर्धित संस्करण)

लेखक

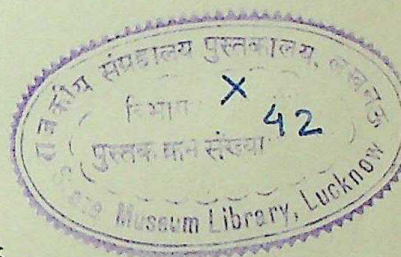
गणेशविहारी मिश्र

रावराजा डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र डी० लिट०, साहित्य-वाचस्पति
रायबहादुर शुक्रदेवविहारी मिश्र डी० लिट०, साहित्य-वाचस्पति
(मिश्रबंधु)

“ते सुकृती, रससिद्ध कवि बंदनीय जग माहिं,
जिनके सुजस-सरीर कहँ जरा-मरन-भय नाहिं ।”

—:❀:—

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतम बुद्ध-मार्ग
लखनऊ



प्रकाशक
श्रीबुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीबुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

‘हिंदी-नवरत्न’ का यह संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। हमारे चाचा स्वर्गीय पं० शुकदेवविहारीजी मिश्र ने इसका यह परिष्कार सन् १९४८ में किया था। उनकी लेखनी द्वारा नवरत्नों का यही अंतिम प्रसाधन था। लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में, सन् १९५१ की १६ मई को, उन्होंने यह नश्वर शरीर त्याग दिया। जीवन के अंतिम दिन तक उनकी स्मृति, प्रतिभा, विचार-शक्ति और वाक्शक्ति अप्रतिहत बनी रही।

मिश्र-भवन
गोलागंज, लखनऊ
१५ मार्च, १९५५ }

प्रतापनारायण मिश्र

2172.00
प्रकाशक
श्रीबुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीबुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

‘हिंदी-नवरत्न’ का यह संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। हमारे चाचा स्वर्गीय पं० शुकदेवविहारीजी मिश्र ने इसका यह परिष्कार सन् १९४२ में किया था। उनकी लेखनी द्वारा नवरत्नों का यही अंतिम प्रसाधन था। लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में, सन् १९५१ की १६ मई को, उन्होंने यह नश्वर शरीर त्याग दिया। जीवन के अंतिम दिन तक उनकी स्मृति, प्रतिभा, विचार-शक्ति और वाक्शक्ति अप्रतिहत बनी रही।

मिश्र-भवन
गोलागंज, लखनऊ
१५ मार्च, १९५५ }

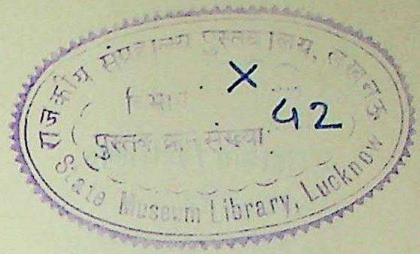
प्रतापनारायण मिश्र

1871

THE
LIBRARY OF THE
MUSEUM OF COMPARATIVE ZOOLOGY
AT HARVARD UNIVERSITY
CAMBRIDGE, MASS.

1871

1871



सूची

				पृष्ठ
संपादक का वक्तव्य	...	...	...	११
भूमिका				१७
हिंदी-नवरत्न के कवियों का आनुमानिक समय	...			३६
गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	...			३६
जीवन-चरित्र		४०	सतसई या राम-सतसई	 ७४
ग्रंथ		६३	दोहावली	 ७५
क्षेपक		६३	विनय-पत्रिका	 ७५
कल्पित ग्रंथ		६६	कलि-धर्माधर्म-निरूपण	 ७७
कवितावली		६८	शिष्य-परंपरा आदि	 ७७
हनुमान-बाहुक		७०	रामचरित-मानस	 ७६
संकट-मोचन		७१	कविता का परिचय	 १०२
हनुमान-चालीसा		७१	गुण-कथन	 १०२
गीतावली-रामायण		७१	दोष-कथन	 १३३
छंदावली-रामायण		७२	गोस्वामीजी के मत	 १४०
पदावली-रामायण		७२	रचना-सौंदर्य	 १४१
जानकी-मंगल		७३	शैल-गुण-वर्णन	 १४६
कृष्ण-गीतावली		७३	उदाहरण	 १५२
महात्मा सूरदासजी		...		१७२
जीवन-चरित्र		१७२	कविता की समालोचना	 १७६
कविता		१७८	उदाहरण	 १६४
महाकवि देवदत्त (देव)		...		२००
जीवन-चरित्र		२००	समालोचना	 २०५
वंश-वृत्त		२०१	कविता का परिचय	 २२४
ग्रंथ		२०४	उदाहरण	 २३६

महाकवि बिहारीलात				२६०
जीवन-चरित्र		२६०	गुण-दोष	 २६५
वंश-वृत्त		२६१	उदाहरण	 २८५
सतसई		२६३		

त्रिपाठी-बंधु				२६६
(क) महाकवि भूषण त्रिपाठी	...			२६६
जीवन-चरित्र		२६६	उदाहरण	 ३१२
ग्रंथों पर विचार		३०५	शंका-समाधान	 ३२६
कविता का परिचय		३०६		

(ख) महाकवि मतिराम त्रिपाठी				३३३
जीवन-चरित्र		३३३	रचना-सौष्ठव	 ३३६
ग्रंथ		३३४	उदाहरण	 ३४०
भाषा		३३५		

महाकवि केशवदास				३५०
जीवन-चरित्र		३५०	मत	 ३७१
ग्रंथ		३५६	उदाहरण	 ३७४
गुण-दोष		३६५		

महात्मा कबीरदासजी				३६५
जीवन-चरित्र		३६५	सखी-संप्रदाय से आत्मा का वर्णन	४२२
ग्रंथ		४००	अन्योक्ति, रूपक, उल्टवाँसी और	
ईश्वर		४०२	सांकेतिक पद	 ४२६
अनहदनाद (ईश्वर-संबंधी)	— ४०७		उपमा और तत्तुल्य अन्य अलंकार	
अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)	 ४०७		तथा कर्मकांड	 ४२६
अवतार		४१६	अहिंसा	 ४२०
माया		४१७	उपदेश	 ४३०
कर्म-गति		४१८	चेतावनी	 ४३२
आवागमन, हिंदू-विचार, मुसलमानी			मन	 ४३३
विचार, राम		४१६	नीति	 ४३४
ज्ञान		४२०	तीव्र आलोचना	 ४३५
भक्ति, प्रेम और जप		४२१	मृत्यु	 ४३५
यत्न, गुरु		४२२	कहावतें	 ४३६

	पृष्ठ		पृष्ठ
संतों के नाम	४३८	साधारण कथन	४४१
हिंदुआनी और मुसलमानी मतों		साहित्य-संबंधी विचार	४४३
पर विचार	४३८	अपने विषय में कथन, बसीठीपन-	
मुसलमानी विचारों का प्रभाव, हिंदू-		संबंधी ...	४४५
पन का प्रभाव	४४०	जुलाहेपन से संबंध रखनेवाले,	
कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य		उपसंहार ...	४४६
महाकवि चंद बरदाई			४५०
जीवन-चरित्र ...	४५१	रासो का वर्णन	४५६
ग्रंथ	४५३	भाषा	४६८
शंका-समाधान	४५४	गुण-दोष ...	४६६
रासो जाली नहीं है	४५६	उदाहरण	४७१
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र			४८०
जीवन-चरित्र	४८०	गुण-दोष	४६२
ग्रंथ	४८६	उदाहरण	४६६
विशिष्ट नामों की तालिका			५२१

संपादक का वक्तव्य

ग्रंथकार

साहित्य-सेवा शिक्षित मनुष्य-मात्र का एक आवश्यक कर्तव्यों और प्रशंसनीय व्यसन है। उसमें भी निस्स्वार्थ-भाव स लोकोपयोग और राष्ट्र में जातीयता के भाव भरनेवाले साहित्य की रचना करनी मानो अपने को अमर बना देना है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामोजी अथवा राष्ट्र-भाषा-भूषण महाकवि भूषण का पद, इस दृष्टि से, केवल शृंगार-रचना-रसिक अन्यान्य प्रौढ़ कवियों से ऊँचा है। लोकमान्य तिलक, माननीय गोखले अथवा महात्माजी की लेखनी से निकले हुए ग्रंथों या लेखों और चंद्रकांता-संतति या भूतनाथ की जीवनी में महान् अंतर है, यद्यपि साहित्य में समावेश दोनों प्रकार की रचनाओं का हो सकता है। जो सुशिक्षित सज्जन नौकरी या अन्य अनेक प्रकार के अपने आवश्यक काम करते हुए भी, समय बचाकर, निस्स्वार्थ-भाव से केवल देशवासियों के उपकारार्थ अपनी मातृभाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिये, उपयोगी लेख लिखते अथवा पठनीय उच्च पुस्तकों का प्रणयन करते हैं, उनका नाम जातीयता के इतिहास में स्वर्णानुरों से लिखा जाता है, अथच सर्व-साधारण में वे श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

हमारे हिंदी-साहित्य-जगत् में यद्यपि ऐसे लेखक अभी यथेष्ट संख्या में नहीं हैं, तथापि उनका अत्यन्त-भाव भी नहीं। इस प्रकार के जो कतिपय लेखक राष्ट्र-भाषा के शरीर को समय-समय पर बहुमूल्य रचना-रत्नों के आभूषणों से अलंकृत किया करते हैं, उनमें मिश्रबन्धुओं का नाम

सादर लिया जा सकता है *। ये तीनों बंधु जैसे सत्कुलोद्भव, सुशिक्षित और सज्जन हैं, वैसे ही विना किसी स्वार्थ के मातृभाषा की सेवा करने-वाले भी। आप लोगों को गद्य और पद्य, दोनों में रचना करने का व्यसन है। समय-समय पर, हिंदी के पत्रों और पत्रिकाओं में, आप लोगों ने जो ऐतिहासिक और आर्थिक निबंध लिखे हैं, या समालोचनाएँ की हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। आप लोगों का यह क्रम अभी तक जारी है। इनके समकालीन कई लेखकों की लेखनी ने जहाँ संन्यास ग्रहण कर चुप्पी साध ली है, वहाँ आपकी लेखनी दूने उत्साह के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने को उद्यत रहती है। हमारे इस कथन का प्रमाण 'सुधा' और 'माधुरी' में समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आपके सुचिंतित, सुलिखित, गवेषणा-पूर्ण निबंध हैं। आप लोगों ने केवल लेख लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली है, वरन् समय-समय पर बहुमूल्य और विस्तृत कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखकर अपनी अध्ययनशीलता, गवेषणा-प्रियता और देश-प्रेम का परिचय दिया है। उनमें 'हिंदी-नवरत्न', मिश्रबंधु 'विनोद', 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और 'बुद्ध-पूर्व का भारतीय इतिहास', ये चारों ग्रंथ बड़े महत्त्व के हैं। पुस्तकाकार प्रकाशित 'व्यय'-नामक आप लोगों का विशालकाय निबंध भी आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता। १९३५ से रचनात्मक साहित्य पर भी आप लोगों का विशेष ध्यान रहा है, तथा ऐतिहासिक भाव-गर्भित आप लोगों के छ नाटक अथवा छ बड़े उपन्यास-ग्रंथ निकल चुके हैं।

अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं के साहित्य में आप ऐसी अनेक पुस्तकें देखेंगे, जिनमें समस्त प्राचीन कवियों अथवा लेखकों के संबंध में विस्तृत रूप से ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कौन कवि किस समय,

* शोक का विषय है, इन तीनों लेखकों का—पंडित गणेशविहारीजी मिश्र का फरवरी, १९३७ में तथा रावगुजा डॉ० श्यामविहारीजी मिश्र का फरवरी १९४७ में और रा० ब० पं० शुक्रदेवविहारीजी मिश्र का मई, सन् १९५१ में—देहांत हो गया।

किस देश में, किस कुल में उत्पन्न हुआ; उसने कौन-कौन-से ग्रंथ लिखे; उसकी प्रकृति और रचनाओं में क्या विशेषताएँ थीं—कौन गुण थे, कौन दोष थे, इन बातों का विस्तार के साथ विशद विवेचन उन भाषाओं के लेखकों ने किया है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों की संपूर्ण ग्रंथावलियों के भी सुंदर संस्करण निकले हैं, और निकलते जाते हैं। ग्रंथावलियों में पाठांतर, कठिन शब्दों और स्थलों के अर्थ, शंका-समाधान, निष्पक्ष आलोचना आदि का समावेश भी रहता है। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी निकली हैं। ऐसी पुस्तकों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह दिखलाया गया है कि अमुक कवि या लेखक के विषय में अमुकामुक धुरंधर विद्वानों की क्या सम्मति है? तात्पर्य यह कि अन्य भाषाओं में—विशेषतया अँगरेजी में प्राचीन कवियों और लेखकों के संबंध में सभी ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण ग्रंथ खोज के साथ लिखे गए और प्रकाशित हुए हैं। हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का यह विभाग बहुत हीन है। हमारे यहाँ ऐसे ग्रंथ प्रायः लिखे ही नहीं गए। लिखे कौन? इस प्रकार के ग्रंथ लिखने के लिये काफी समय और धन के साथ ही यथेष्ट परिश्रम करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। हमारे प्राचीन कवियों और लेखकों में से अधिकांश अपने बारे में मौन हैं। इतने बड़े महाकवि कालिदास और भारवि आदि के कुल और समय का ठीक पता नहीं है! हिंदी के सूर्य तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि के विषय में भी बहुत-सी बातें अज्ञात हैं। इस गड़बड़ का एक कारण तो हमने ऊपर लिखा है कि वे ग्रंथों में अपने बारे में अथच समय के विषय में अधिकतर कुछ लिखते ही न थे। दूसरा कारण यह भी है कि उस समय छापेखाने तो थे नहीं; बहुत हुआ, तो लेखक या कवि ने अपने लिये एक प्रति ग्रंथ की लिख ली। रेल आदि यात्रा के सुगम साधन न होने के कारण ऐसे ही किसी भारी कवि का, जो राज-दरबारों में घूमता था, नाम दूर तक प्रसिद्ध हो पाता था, नहीं तो आस-

सादर लिया जा सकता है *। ये तीनों बंधु जैसे सत्कुलोद्भव, सुशिक्षित और सज्जन हैं, वैसे ही बिना किसी स्वार्थ के मातृभाषा की सेवा करने-वाले भी। आप लोगों को गद्य और पद्य, दोनों में रचना करने का व्यसन है। समय-समय पर, हिंदी के पत्रों और पत्रिकाओं में, आप लोगों ने जो ऐतिहासिक और आर्थिक निबंध लिखे हैं, या समालोचनाएँ की हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। आप लोगों का यह क्रम अभी तक जारी है। इनके समकालीन कई लेखकों की लेखनी ने जहाँ संन्यास ग्रहण कर चुप्पी साध ली है, वहाँ आपकी लेखनी दूने उत्साह के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने को उद्यत रहती है। हमारे इस कथन का प्रमाण 'सुधा' और 'माधुरी' में समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आपके सुचिंतित, सुलिखित, गवेषणा-पूर्ण निबंध हैं। आप लोगों ने केवल लेख लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली है, वरन् समय-समय पर बहुमूल्य और विस्तृत कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखकर अपनी अध्ययनशीलता, गवेषणा-प्रियता और देश-प्रेम का परिचय दिया है। उनमें 'हिंदी-नवरत्न', मिश्रबंधु-विनोद, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और 'बुद्ध-पूर्व का भारतीय इतिहास', ये चारों ग्रंथ बड़े महत्त्व के हैं। पुस्तकाकार प्रकाशित 'व्यय'-नामक आप लोगों का विशालकाय निबंध भी आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता। १९३५ से रचनात्मक साहित्य पर भी आप लोगों का विशेष ध्यान रहा है, तथा ऐतिहासिक भाव-गर्भित आप लोगों के छ नाटक अथवा छ बड़े उपन्यास-ग्रंथ निकल चुके हैं।

अंगरेजी आदि अन्य भाषाओं के साहित्य में आप ऐसी अनेक पुस्तकें देखेंगे, जिनमें समस्त प्राचीन कवियों अथवा लेखकों के संबंध में विस्तृत रूप से ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कौन कवि किस समय,

* शोक का विषय है, इन तीनों लेखकों का—पंडित गणेशविहारीजी मिश्र का फरवरी, १९३७ में तथा रावगुजा डॉ० श्यामविहारीजी मिश्र का फरवरी १९४७ में और रा० ब० पं० शुक्रदेवविहारीजी मिश्र का मई, सन् १९५१ में—देहांत हो गया !

किस देश में, किस कुल में उत्पन्न हुआ; उसने कौन-कौन-से ग्रंथ लिखे; उसकी प्रकृति और रचनाओं में क्या विशेषताएँ थीं—कौन गुण थे, कौन दोष थे, इन बातों का विस्तार के साथ विशद विवेचन उन भाषाओं के लेखकों ने किया है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों की संपूर्ण ग्रंथावलियों के भी सुंदर संस्करण निकले हैं, और निकलते जाते हैं। ग्रंथावलियों में पाठांतर, कठिन शब्दों और स्थलों के अर्थ, शंका-समाधान, निष्पन्न आलोचना आदि का समावेश भी रहता है। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी निकली हैं। ऐसी पुस्तकों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह दिखलाया गया है कि अमुक कवि या लेखक के विषय में अमुकामुक धुरंधर विद्वानों की क्या सम्मति है? तात्पर्य यह कि अन्य भाषाओं में—विशेषतया अँगरेजी में प्राचीन कवियों और लेखकों के संबंध में सभी ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण ग्रंथ खोज के साथ लिखे गए और प्रकाशित हुए हैं। हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का यह विभाग बहुत हीन है। हमारे यहाँ ऐसे ग्रंथ प्रायः लिखे ही नहीं गए। लिखे कौन? इस प्रकार के ग्रंथ लिखने के लिये काफ़ी समय और धन के साथ ही यथेष्ट परिश्रम करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। हमारे प्राचीन कवियों और लेखकों में से अधिकांश अपने बारे में मौन हैं। इतने बड़े महाकवि कालिदास और भारवि आदि के कुल और समय का ठीक पता नहीं है! हिंदी के सूर्य तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मति-राम आदि के विषय में भी बहुत-सी बातें अज्ञात हैं। इस गड़बड़ का एक कारण तो हमने ऊपर लिखा है कि वे ग्रंथों में अपने बारे में अथच समय के विषय में अधिकतर कुछ लिखते ही न थे। दूसरा कारण यह भी है कि उस समय छापेखाने तो थे नहीं; बहुत हुआ, तो लेखक या कवि ने अपने लिये एक प्रति ग्रंथ की लिख ली। रेल आदि यात्रा के सुगम साधन न होने के कारण ऐसे ही किसी भारी कवि का, जो राज-दरबारों में घूमता था, नाम दूर तक प्रसिद्ध हो पाता था, नहीं तो आस-

पास दस-बीस-पचास कोस तक—बहुत हुआ, तो जिले या प्रांत-भर में—वह प्रसिद्ध होकर रह जाता था। कवि के लड़के अगर अपढ़ हुए—जैसा कि प्रायः देखा जाता है—तो कवि की अपनी 'प्रति' भी नष्ट हो गई। बस, उसके शरीर के साथ उसके ग्रंथ का भी अंत हो गया। कौन जाने, इस तरह कितने बहुमूल्य ग्रंथ और कवियों के परिचय लुप्त हो गए हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी हस्त-लिखित प्रतियों की खोज का उपयोगी कार्य कई वर्षों से करा रही है, और उसे बहुत-से ग्रंथ मिले भी हैं। उनसे कई कवियों के समय, कुल आदि के विषय में कुछ नई बातें भी मालूम हुई हैं। सभा का यह कार्य प्रशंसनीय है।

ऐसी स्थिति में मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न की रचना करके, नव प्रसिद्ध-प्राचीन महाकवियों का इतिहास लिखकर, उनकी रचनाएँ उद्धृत करके एवं गुण-दोष का विवेचन करके हिंदी और हिंदी-भाषा-भाषियों का कितना बड़ा उपकार किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन महाकवियों की कविता पढ़कर काव्य-प्रेमी सज्जनों को इनके संबंध में विशेष बातें जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक था। उस कौतूहल को शांत करने का उपाय करके मिश्रबंधुओं ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है, इसमें संदेह नहीं।

ग्रंथ

आप लोगों का लिखा हिंदी-साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन 'मिश्रबंधु-विनोद' हिंदी की एक स्थायी संपत्ति है। यह 'हिंदी नवरत्न' भी अमूल्य रत्न है। स्थायी साहित्य में उसी रचना की गणना की जा सकती है, जिसका महत्त्व और उपयोगिता केवल सामयिक न हो, बल्कि सदैव एक-सी बनी रहे। यह बात आप लोगों के 'नवरत्न' और 'विनोद', दोनों में पाई जाती है। इन्हीं दोनों ग्रंथों पर ज्येष्ठ मिश्र रावराजा श्यामविहारी जी को इलाहाबाद-विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिल चुकी है। हिंदी नवरत्न एक दर्पण है, जिसमें हम अपने प्राचीन महाकवियों की

योग्यता और इतिहास का पूरा प्रतिबिम्ब देख पाते हैं। 'मिश्रबंधु-विनोद' का महत्त्व इसलिये अधिक है कि आगे जो लेखक इस विषय पर विशेष विस्तार से लिखना चाहेंगे, उनके लिये यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम करेगा, और करता आया है। हम बड़े हर्ष के साथ यहाँ यह सूचना देते हैं कि हिंदी नवरत्न की तरह मिश्रबंधु-विनोद का सर्वांग-सुंदर नवीन संस्करण भी हमारे यहाँ से चार भागों में प्रकाशित हो गया है, जिनमें नवीन खोजों के फल तो आ ही गए हैं, अन्य उन्नतियाँ भी बहुत हुई हैं। हिंदी-साहित्य का इतिहास इन्हीं दिनों बना है, जो केवल प्रायः ३७० पृष्ठों में इस भारी विषय का उत्कृष्ट वर्णन करता है।

द्वितीय संस्करण की विशेषताएँ

हिंदी-नवरत्न का प्रथम संस्करण निकलने पर उसकी अनुकूल और प्रतिकूल, सभी तरह की आलोचनाएँ प्रायः सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने कीं। मतभेद होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। उससे किसी रचना की उपयोगिता नहीं कम होती। लेखकों ने इस संस्करण में उन आलोचनाओं पर विचार करके आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किए हैं। जिन आपत्तियों को उन्होंने अग्राह्य समझा, उन पर ध्यान नहीं दिया। इस संस्करण में कवियों के विषय में इधर ज्ञात हुई बहुत-सी नई बातों का समावेश भी किया गया है। जिस-जिस विषय में लेखकों का मत बदल गया है, वहाँ भी निस्संकोच परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया गया है। भाषा में भी सव-प्रिय सुधार हो गए हैं। कविताओं के उद्धृत उदाहरणों का मात्रा-दूता-तिगुना कर दो गई है, जिससे पुस्तक का कलवर दून क लगभग हा गया है। कागज, छपाई-सफाई में भी पल्ले की अपेक्षा उन्नत का गई है। इस बार पुस्तक का जिल्द भी, अधिक व्यय का खयाल न करके, बढ़ाया बन-बाई गई है। प्रकृ पढ़ने में भी बड़ी सावधानी रक्खी गई है, जो गंगा-पुस्तकमाला की एक सर्वजन-विदित लोकप्रिय विशेषता है। गोस्वामी

तुलसीदास, बिहारीलाल, केशवदास और महात्मा कबीरदास के प्रामाणिक रंगीन चित्र भी प्राप्त करके दिए गए हैं। मतलब यह कि नवरत्न का यह संस्करण सर्वांग-सुंदर और सर्वप्रिय बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी गई, और मूल्य भी यथासंभव कम ही रक्खा गया है। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी जनता में इस संस्करण का अच्छा आदर और प्रचार होगा। इसमें कबीरदास को भी रत्न-कवि के लक्षणों से युक्त समझकर स्थान दिया गया है। किंतु 'रत्न' नव ही रखने के विचार से, 'नवरत्न' नाम की सार्थकता बनाए रखने के लिये, मतिराम और भूपण को 'त्रिपाठी-बंधु'-शीर्षक में एकत्र स्थान दिया गया है। कबीर को क्यों स्थान दिया गया, इसका विस्तृत विवरण लेखकों की भूमिका में देखिए। इस प्रकार, इस बार, यह एक नई ही पुस्तक बन गई है। पीछे की अन्य आवृत्तियों में और भी उन्नतियाँ हुई हैं। और भी संस्करण हिंदी-नवरत्न के समय के साथ निकलते रहे। अंतिम षष्ठ संस्करण सं० १९६८ में निकला।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
सं० १९६८

}

दुलारेलाल
संपादक

भूमिका

हिंदी-नवरत्न का यह छठा संस्करण निकल रहा है। प्रथम पाँच एक-एक करके सं० १९६७, १९८१, १९८५, १९९१ तथा १९९४ में निकले। चौथे संस्करण तक प्रत्येक की भूमिका पृथक्-पृथक् छपती थी, किंतु समय के फेर से उनमें से बहुतेरे कथन अनावश्यक हो गए हैं, सो पाँचवें संस्करण से एक ही रक्ती गई है। सम्मेलन, आई० सी० एस्०, बहुतेरे भारतीय विश्वविद्यालयों, विशेष योग्यता आदि की परीक्षाओं में इसे पाठ्य पुस्तक नियत करके चिर काल से लोगों ने हमारा उत्साह बढ़ाया है। सं० १९९२ में इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी निकल चुका है। प्रथम संस्करण हिंदी-ग्रंथ-प्रकाशक मंडली, प्रयाग से निकला, और शेष गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ ने निकाले। इतर पुस्तकों की भाँति इससे भी हमने कभी कोई आर्थिक लाभ नहीं उठाया, वरन् प्रकाशक को विविध संस्करण छापने की आज्ञा केवल इसी नियम पर दे दी है कि ग्रंथों का मूल्य कम रखकर भी लोकप्रियता बढ़ाई जाय। ऐसा ही होता भी आया है।

अब तक हमारा समालोचना-विभाग संपन्न नहीं है। अँगरेज़ी में यदि अकेले शेक्सपियर के समालोचकों के लेखों का परिमाण जोड़ा जाय, तो वह स्वयं इस कवि की रचनाओं से पंद्रहगुना निकलेगा। इसी प्रकार अन्य साधारण कवियों तक की रचनाओं के मर्म प्रकट करने और उनके गुण-दोष परखने में अँगरेज़ी के समालोचकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है, और प्रायः सभी कवियों की रचनाएँ पढ़ने में साधारण पाठक और विद्यार्थी तक इन समालोचना-ग्रंथों से उनके गुण-दोष भली भाँति समझने में समर्थ होते हैं। इस तरह समालोचना-ग्रंथों द्वारा कवियों की रचनाओं के जौहर चमकते हैं, और उत्कृष्ट एवं शिथिल ग्रंथों के भेद समझने में साधारण मनुष्य भी कृतकार्य होते हैं—संसार में श्रेष्ठ कवियों का मान बढ़ता और निकृष्ट ग्रंथों का प्रचार कम होता है। संसार में किसी भी विषय को अच्छी तरह समझनेवालों की संख्या बहुत कम होती है, और पाठकों में प्रति सैकड़े प्रायः ९५ समयाभाव एवं अन्य कारणों से उस विषय के पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं। बहुत लोगों की रुचि भी इतनी उन्नत नहीं होती कि सब प्रकार की रचनाओं का यथार्थ रहस्य समझ सकें। जो लोग इस विषय में अधिक समय लगा सकते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे ग्रंथों के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर ऐसे

मनुष्यों की रुचियों की भी उचित उन्नति करें। इस प्रकार समालोचना केवल किसी कवि का हाल ही नहीं बताती, वरन् साधारण पाठक-समाज में औचित्य भी बढ़ाती है।

फिर, प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न हुआ करती है, परंतु वह अपनी रुचि के अनुरूप सब ग्रंथ खोजने में सदैव समर्थ नहीं होता। समालोचना से हर एक ग्रंथ का असली रूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उसके पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित एवं उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है; क्योंकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रंथों का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेंगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिये समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण-युक्त होने के कारण एक ही मूल्य पर आँके जाने लगें, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिये समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समालोचना का जोर होगा, उतने ही उपयोगी एवं उत्कृष्ट ग्रंथ उसमें बनेंगे। आँगरेजी की भारी उन्नति का एक बहुत बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है। यही सब सोच-विचारकर हम समझते हैं कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियों की रचनाओं को जीवन-दान करने के लिये प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि पद्मपात-रहित मान्य समालोचनाओं द्वारा हिंदी का भांडार भरे। किंतु समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नहीं है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल-ग्रंथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता। इस बात पर ध्यान देने से हमें इस काम में हाथ लगाने का साहस नहीं होता था। पर अच्छे विद्वानों का इस ओर विशेष मुकाब न देखकर, उनका ध्यान आकृष्ट करने के विचार से ही, हमने इस कार्य में हाथ लगाया है। यदि हमारी शिथिल समालोचनाओं द्वारा इस ओर विद्वानों का ध्यान गया, और इस विभाग की उन्नति हो सकी, तो हमारा अभिप्राय सिद्ध हो जायगा।

हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने का विचार सन् १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित एक लेख में हमने पहलेपहल प्रकट किया। तब से हम लोग बराबर, अन्य लेखों के साथ-साथ, समय-समय पर, समालोचनाएँ भी लिखते रहे। पर साहित्य का इतिहास लिखने का अवकाश नहीं मिला, और न इस ओर कुछ समय तक विशेष ध्यान ही गया। धीरे-धीरे लेख लिखते और ग्रंथ पढ़ते रहे, जिससे हम लोगों का विचार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं पर समालोचनात्मक लेख लिखने का हुआ। इसी बीच में हम लोगों ने सं० १९६१ के लगभग, प्रायः तीन मास परिश्रम करके, गोस्वामीजी-कृत कविता की समालोचना के नोट लिखे, परंतु फिर भी अन्य रामायणों को भली भाँति देखे और तुलना किए बिना समालोचना को यथोचित बना सकने का साहस न पड़ा, और इस प्रकार अधिक पठन-पाठन के लिये वे नोट, जैसे-के-तैसे, प्रायः तीन साल तक रक्खे रहे। समालोचना लिखने में अति विलंब देखकर हम लोगों ने सं० १९६४ में फिर परिश्रम किया। वस, हरदोई में तीनो भाइयों ने एकत्र होकर तीन दिन में ही गोस्वामीजी की कविता पर एक समालोचना लिख डाली। फिर भी उसको, ललित बनाने के विचार से, हम लोगों ने प्रकाशित नहीं कराया। वह तीन वर्ष तक इसी प्रकार रक्खी रही, पर अवकाशाभाव से विशेष ललित न बनाई जा सकी।

उधर, सं० १९६२ के लगभग, हम लोगों ने भूषण की कविता पर एक समालोचना लिखकर जयपुर के समालोचक पत्र में छपवाई। उस समय काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी ग्रंथ-माला में भूषण के ग्रंथ निकालना चाहती थी। हमारी समालोचना देखकर उसने भूषण की रचना के संपादन का भार हम लोगों ही को सौंपा। इस काम में हमें डेढ़ साल तक इतना परिश्रम करना पड़ा, जितना हमने आज तक अपनी बहुतेरी हिंदी-पुस्तकों पर नहीं किया, चाहे वह स्वयं हमारी बनाई हो, चाहे किसी दूसरे की। भूषण-ग्रंथावली के संपादन में हमने भूषण के ग्रंथों की विविध प्रतियाँ एकत्र कीं, और यथासंभव शुद्ध और पूर्ण कविता छापने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि हमारे प्रकाशित शिवराज-भूषण-ग्रंथ में तब तक की अन्य प्रतियों से प्रायः ब्योढ़े छंद हैं। इस प्रयत्न में हमें भूषण-कृत छंद बहुत बार पढ़ने पड़े, और तब हमें भूषण की कविता का महत्त्व जान पड़ा।

पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे, पर पीछे से इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुकाबला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्रायः १० या

१२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता, और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त ठहर नहीं सकते, पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यों के सामने ठहर नहीं सके। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशवदास से मिलाया, तो भी भूषण ही की कविता में विशेष चमत्कार देख पड़ा। प्रथम तो हमें इस बात पर आश्चर्य-सा हुआ, क्योंकि हम पहले केशवदास को भूषण से बहुत अच्छा समझते थे, पर ज्यों-ज्यों अधिक मिलाते गए, त्यों-त्यों हमारी दृष्टि में भूषण का ही चमत्कार बढ़ता गया। तब हमने इन्हें बिहारीलाल से मिलाया, पर उन कवि-रत्न के सम्मुख इनके पद्य ठहर न सके। यह तुलना केवल पद्य पढ़कर ही नहीं की गई, वरन् प्रत्येक पद्य को नंबर देकर, मनोहर पद्यों की संख्या और प्रति सैकड़े उनका औसत लगाकर, सब बातों पर कई दिन तक ध्यान-पूर्वक विचार करने के उपरांत की गई थी।

इसी बीच में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हमसे प्रायः २०० पृष्ठों में हिंदी-साहित्य का एक इतिहास लिखने के लिये कहा। उस समय हम कालिदास-कृत रघुवंश का पद्यानुवाद कर रहे थे। वह ढाई सगौं तक हो भी चुका था। हमने उसी जगह उसे छोड़ दिया, और इतिहासवाले काम के लिये समालोचनाओं का लिखा जाना आवश्यक समझकर यही काम फिर हाथ में ले लिया। तब, सं० १९६४ में, हमने बहुत-से कवियों पर समालोचनाएँ लिखीं। यह काम करते-करते धीरे-धीरे इसमें बुद्धि फैलने लगी, अर्थात् सब प्रकार के कवियों की उत्तमता अथवा निकृष्टता समझ पड़ने लगी। धीरे-धीरे यह विचार उठा कि पाँच परमोत्कृष्ट कवियों को लेकर, संस्कृत-कवि-पंचक की भाँति, भाषा-कवि-पंचक नाम का एक ग्रंथ हम भी लिखें। उसमें सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशवदास के नाम रखने का विचार हुआ। फिर भूषण की कविता का चमत्कार जब ध्यान में आया, तब उनको छोड़ देना अनुचित जान पड़ने लगा, और भाषा-कवि-षट्क लिखने का विचार उठा। पीछे से सेनापति की कविता में ऐसा अनूठापन देख पड़ा, और वह ऐसी अच्छी समझ पड़ी कि उनका भी नाम मिलाकर कवि-सप्तक बनाने का संकल्प हुआ। अनंतर भारतेन्दु तथा चंद की रचनाएँ भी उत्कृष्ट तथा परम मनोहर देख पड़ीं। इस प्रकार हिंदी-नवरत्न का नाम ध्यान में आया, और इसी नाम से प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का दृढ़ संकल्प हुआ। पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ; किंतु अंत को, उसे कई बार ध्यान से पढ़ने पर, उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा, और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में

समझ पड़ा। यह पढ़ाकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की, और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है। धीरे-धीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम-कृत रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नव कवियों की स्थिति हुई। अनंतर कवीरदास को भी नवरत्न में लेना ठीक जँचा, किंतु किसी को निकाल डालना उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी-बंधु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रक्खा।

इस ग्रंथ का साहित्य के इतिहास से बहुत घनिष्ठ संबंध है, अतः उचित समझ पड़ता है कि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन की तरह उसका भी थोड़ा-सा सारांश लिख दिया जाय। बंगाल और दक्षिण को छोड़कर प्रायः समस्त भारत-वर्ष की मातृभाषा हिंदी है। इसके कवि सभी जगह हुए हैं, और सभी स्थानों पर इसका मान रहा है। कवि की पदवी भी इतनी ऊँची है कि मनुष्य महाराजा-धिराज होने पर भी कवि होने से अपना गौरव समझता है। जापान के महाराज मत्सुहितो मिकाडो भी राजकाज से समय निकालकर नित्य कुछ कविता करते थे। महाराजों की कवि बननेवाली लालसा से हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार हुआ, और हो रहा है। कविता करनेवाले कुछ तो ऐसे होते हैं, जो शौक्रिया, बचे हुए समय में, करते हैं, पर अपना प्रधान कार्य मुख्य रूप से किया करते हैं। ऐसे लोग संसार के सभ्य देशों में बहुत होते हैं; पर बहुत कुछ उत्साह रहने पर भी इन लोगों से बहुत कार्य नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं, जो व्यापार की भाँति कविता ही करते हैं, और यही उनका प्रधान कार्य है। ऐसे मनुष्यों के लिये कविता ही सब कुछ है, और वे लोग बहुत अधिक काम कर सकते हैं। पर उनकी जीविका के दो ही उपाय हो सकते हैं, अर्थात् या तो वे अपने ग्रंथों की बिक्री से गुजर करें, या किसी राजा-महाराजा का आश्रय लें। जब तक भारत में प्रेस न था, तब तक ग्रंथों की बिक्री से जीविका चलना सर्वथा असंभव था। आज प्रेस के होने पर भी जीविका इस प्रकार नहीं चल सकती, क्योंकि भारत में इतने शिक्षित मनुष्य नहीं हैं कि किसी उत्कृष्ट ग्रंथ की भी इतनी प्रतियाँ बिक जायँ कि कवि की गुजर उसी के लाभ से हो सके ॥ इंग्लैंड में विद्या का प्रचार बहुत दिनों से यथेष्ट है; पर वहाँ भी ऐसा

* अब कुछ लेखकों की गुजर इस प्रकार हिंदी-पुस्तकें बिककर भी होने लगी है।

समय थोड़े ही दिनों से आया है कि कविगण ग्रंथों की विक्री का ही भरोसा कर सकें। ऐसी दशा में, धनिकों के आश्रित होकर रचना करने के सिवा, निर्धन कवियों के लिये कोई और उपाय न पहले था, और न अब है। हर्ष की बात है कि भारत में पहले ही से धनी लोग बहुत अधिक कविता-प्रेमी रहे हैं। 'जाने सोई माने' के अनुसार अगुणज्ञ धनिक कविता की कदर या सत्कार नहीं कर सकते थे। गुणी लोगों के आश्रय से ही हिंदी का कलेवर पुष्ट हुआ है। गुणी धनिकों में भी जो लोग स्वयं कविता करते थे, उनकी लक्ष्मी कवियों के लिये कामधेनु हो जाती थी। साहित्य का इतिहास, कवियों का हाल और चक्र देखने से विदित होगा कि महाराजा छत्रसाल और महाराजा भगवंतराय खीची के यहाँ इतने कवियों को आश्रय मिलता था, जिसका बार-बार नहीं। ये दोनों क्षत्रिय राजा कवियों के कल्पवृक्ष थे। इनके अतिरिक्त बांधव-नरेश एवं काशी-नरेश के यहाँ भी कई पुस्तों तक बहुत-से कवियों को आश्रय मिलता रहा और अब भी मिलता है। महाराजा मानसिंह अयोध्या-नरेश ने भी कवियों का अच्छा मान किया था। चित्तौर के महाराणा कुंभकर्ण कवियों के बड़े सहायक थे; पर उनके आश्रित कवियों का अब पता नहीं लगता। आश्रयदाताओं के विषय में इतना लिखकर अब हम साहित्य के इतिहास का सूक्ष्म रूप से कुछ वर्णन करते हैं।

हिंदी की जननी प्राकृत है, अर्थात् वही बदलते-बदलते अपभ्रंश होती हुई हिंदी हो गई है। इस परिवर्तन का समय स्थिर करना कठिन है, क्योंकि ऐसा अदल-बदल किसी एक समय में नहीं होता, वरन् धीरे-धीरे शताब्दियों तक होता रहता है। यह कहना बहुत कठिन है कि किस स्थान से व्रजभाषा समाप्त होती और पूर्वी बोली शुरू होती है, अथवा पूर्वी बोली समाप्त होती और वंग-भाषा चलती है। इन समाप्ति और प्रचारों का कोई एक स्थान नहीं है, वरन् धीरे-धीरे ग्राम-प्रतिग्राम एक भाषा मंद पड़ती जाती है, और दूसरी का अंश कुछ-कुछ बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि बहुत दूर चलकर एक पूर्ण रूप से मिट जाती और दूसरी का पूरा जोर हो जाता है। समयानुसार भाषाओं के परिवर्तन और उत्थान-पतन की ठीक यही दशा है। दूसरी शताब्दी संवत् पूर्व के वैयाकरण महर्षि पतंजलि के कथनों से प्रकट है कि उस काल प्राचीन प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश का जन्म हो रहा था। समय के साथ धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया। कालिदास के विक्रमोर्वशी-ग्रंथ में विद्विप्त पुरुरवा के कथनों में इसका आभास देखा गया है। महाराजा हर्षवर्धन के समकालीन विक्रमीय छठी शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक बौण भट्ट की रचना में प्राकृत के साथ देश में भाषा

नाम्नी एक बोली का भी चलन लिखा हुआ है। भाषा-शब्द से हिंदी का प्रचार माना जा सकता है। स्थूल रूप से हिंदी का उत्पत्ति-काल उसी शताब्दी में कहा जा सकता है। उस काल से संवत् १२०० तक अब ३३ कवियों के नाम, समय, ग्रंथ, उदाहरण आदि मिल चुके हैं। इनके विवरण मिश्रबंधु-विनोद में हैं। इनमें मुख्य पुंड (सं० ७७०), सरहपा (८००), शबरपा (८२५), लूहिपाद (८४५), भूसुक (८७०), खुमान रासोकार (८७०), देवसेन (९३३), बुद्धिसेन (दसवीं शताब्दी), राजा नंद (१०७५) आदि हैं। संवत् १२१२ में नरपतिनाल्ह ने वीसलदेव-रासो-नामक ग्रंथ बनाया, जो प्रकाशित हो चुका है। प्राचीन ग्रंथ होने से यह बहुत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३ से ११९३ तक), निर्वार्क स्वामी (मृत्यु १२१९), स्वामी साधवाचार्य (१२५४-१३३४) और विष्णु स्वामी इस काल के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हो गए हैं। चंद कवि ने प्रायः संवत् १२२५ से १२४९ तक कविता की। इनके नाम पर बहुत कविता मिलती है। चंद के समकालीन जगनिक वंदीजन ने आल्हा बनाया; पर लिखित न होने के कारण जगनिक की भाषा का भी अब आल्हा में पता नहीं है। केदार, वरवै सीता और वारदरवेणा नाम के कवियों का भी उल्लेख इसी समय के यास-पास के ग्रंथों में है, पर इनकी भी कविता अब नहीं मिलती। संवत् १२४७ में मोहनलाल द्विज ने पतलि-ग्रंथ रचा। यह हाल ही में मिला है। गद्य के पुराने उदाहरण मिश्रबंधु-विनोद के चतुर्थ संस्करण में बहुतेरे हैं, और पद्य के भी। चंदवरदाई की रचना छितर जाने से महाराणा अमरसिंह के समय (सं० १६२६-४२) तक अन्य कवियों द्वारा रासो का पुनः निर्माण हुआ, जिसमें जितनी मिली, उतनी चंदीय कविता रक्खी गई, तथा बहुत प्राचुर्य से नवीन रचना चंद ही के नाम पर पृथ्वीराज-रासो में मिला दी गई, ऐसा समझा जाता है।

चंदवरदाई के अनंतर उसका पुत्र जल्हन हुआ, जिसने रासो के शेष भाग को समाप्त किया, और चंद के मरने के पीछे ग्रंथ को सुरक्षित रक्खा। १२८६ में महाराष्ट्र-देश के प्रसिद्ध हिंदी-कवि ज्ञानेश्वर का समय है। सं० १३२६ से १३५० तक कविवित्री उमावाई और मुक्तावाई का समय है। संवत् १३५७ के लगभग शाङ्गधर नाम के एक कवि ने रणथंभौर-नरेश हम्मीरदेव के यहाँ शाङ्गधर-पद्धति, हम्मीर-काव्य और हम्मीर-रासो नाम के तीन ग्रंथ बनाए। यह पहला कवि है, जिसकी भाषा वर्तमान रचनाओं से मिलती और श्रेष्ठ भी है। यथा—

“सिंह-गमन, सुपुरुष-बचन, कदलि फरै इक सार;

तिरिया - तेल, हमीर - हठ नचहुँन दूजी वार ।”

उपर्युक्त समय के कुछ और भी कवि मिले हैं, जिनके कथन हमने अपने इतिहास-ग्रंथ में किए हैं।

उर्दू और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो का देहांत संवत् १३८२ में हुआ। इनकी कविता उर्दू से मिलती हुई हिंदी में होती थी। वह मनोहर भी है। प्रसिद्ध ग्रंथ खालिक्वारी इन्हीं का बनाया हुआ है। प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ का कविता-काल संवत् १४०७ के लगभग है। इन्होंने कितने ही संस्कृत के पूज्य ग्रंथ बनाए, और भाषा के तो बहुत-से ग्रंथ इन महात्मा ने भक्ति-पद्धति में रचे। इनकी कविता-शैली पुराने ढर्रे से बहुत मिलती है। इस रचना में छंदोभंग भी देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, यह बात लेखकों की असावधानी से आ गई है, नहीं तो संस्कृत का इतना बड़ा पंडित भट्टे छंदोभंग कैसे कर सकता था? गोरखनाथ और ज्योतिरीश्वर ठाकुर ही ऐसे कवि हैं, जिनके गद्य-ग्रंथ भी मौजूद हैं। उनकी रचना बड़ी जोरदार और मनोहर है। ज्योतिरीश्वर एक मैथिल गद्य-लेखक थे। यह रचना शुद्ध मैथिल-भाषा में संस्कृत-शब्द-गर्भित है, जो बहुत श्लाघ्य बन पड़ी है। समय प्रायः १३५४ और ग्रंथ-वर्ण या वर्णन रत्नाकर है। समझ पड़ता है कि समय-समय पर गुरु-शिष्य के रूप में दो-तीन मत्स्येन्द्रनाथ (मुछंदरनाथ) तथा गोरखनाथ हिंदी-जगत् में हुए हैं। चित्तौर के प्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण का राज्य-काल १४१६ से १४६६ तक है। इन्होंने हिंदी-कविता रची, और कवियों का बहुत मान किया, पर इनकी रचना अथवा इनके सम्मानित कवियों के नाम अब अप्राप्य हैं। गीत-गोविंदवाली इनकी टीका मिलती है।

संवत् १४५३ में नारायणदेव ने हरिचंद-पुराण-कथा नाम का ग्रंथ बनाया। प्रसिद्ध महात्मा महर्षि रामानंद का समय संवत् १४५७ के निकट है। इन्होंने कुछ कविता भी की। इनके शिष्य भवानंद, रैदास, सेन नाई आदि इसी समय हुए। ये लोग भी कविता करते थे। रामानंद के प्रसिद्ध शिष्य महात्मा कबीर-दास का समय संवत् १४५५ से १५७५ तक है। इन्होंने भी हिंदी के बहुत-से ग्रंथ बनाए। इनकी भाषा वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिल जाती है। वह साहित्य की दृष्टि से भी प्रशंसनीय है। इन्होंने उल्टवाँसी आदि के पदों में साधारण शब्दों से बहुत गूढ़ अर्थ, बड़े जोरदार छंदों में, निकाले। कमाल, भगोदास, श्रुतगोपाल और धरमदास कबीर के शिष्यों में थे। ये लोग भी इसी समय के लगभग रचना करते थे। इसी समय बिहार में विद्यापति ठाकुर-नामक एक बड़े ही सत्कवि हो गए हैं। इन्होंने विशेष रूप से संस्कृत की रचना की; पर इनकी मैथिली तथा अवहट्ट हिंदी-रचना भी बहुत ही लोक-प्रिय और जोरदार है। बिहार के कवि जयदेव और उद्यापति ने भी इसी समय छंद रचे।

बाबा नानक का जन्म संवत् १५२६ में हुआ, और १५६६ में यह महात्मा पंचत्व को प्राप्त हुए। यह महात्मा सिक्ख-मत के संस्थापक थे। इन्होंने ग्रंथ-साहब का बड़ा अंश तथा अष्टांगयोग-नामक एक और भी ग्रंथ बनाया। महात्मा चरणदास ने १५३७ में ज्ञान-स्वरोदय आदि कई ग्रंथ रचे; पर यह संवत् संदिग्ध है। सेन कवि ने संवत् १५६० में रचना की। इनकी कविता वर्तमान ब्रजभाषा हिंदी से विलकुल मिलती है। अतः हमारी हिंदी चंद कवि के समय से उन्नति करते-करते सूरकाल के समय के प्रथम ही, प्रायः ३०० वर्षों में, वर्तमान हिंदी से विलकुल मिल गई। सेन कवि के साथ-ही-साथ कुतबन शैख ने मुगावती नाम की एक मनोहर प्रेम-कहानी कही। इसकी रचना-शैली जायसी की-सी है, यद्यपि यह उसकी समता नहीं कर सकती। इधर संवत् १५३५ में महाप्रभु श्रीवल्लभा-चार्य का जन्म हो चुका था। उन्होंने उत्तर-भारत में निर्गुणवाद से मिलती-जुलती अलौकिक भक्ति का स्रोत बहाया। उधर बंगाल में महात्मा चैतन्य ने भक्ति की अखंड धारा प्रवाहित की। महात्मा वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने इनके मत में राधा-संबंधी शृंगार-रस भी बहुतायत से जोड़ा। इस प्रकार समस्त उत्तर-भारत में इस समय भक्ति का समुद्र-सा लहराने लगा। कविता के लिये तल्लीनता एक बहुत ही आवश्यक गुण है। यह हमारे कवियों को भक्ति से प्राप्त हो गई। अब संभव था कि यह कविता की ओर झुक पड़ती, या तपस्या की ओर झुककर ज्ञान-विज्ञान को जाग्रत् करती, अथवा कोरी तपस्या ही की ओर लगती। तल्लीनता एक भारी बल है। यह जिस ओर लग जाती, उसी ओर कुछ करके दिखला देती। हिंदी के सौभाग्य-वश महाप्रभु वल्लभाचार्य ने यह तल्लीनता कविता की ओर लगा दी। आपने स्वयं भी कविता की। उनके पुत्र महाप्रभु विठ्ठल स्वामी ने भी ऐसा ही किया। फिर क्या था, तल्लीनता ने भक्ति के सहारे पूर्ण विकास पाकर हिंदी-साहित्य का भंडार भर दिया। चैतन्य महाप्रभु की वैष्णवता से भी हिंदी-काव्य को लाभ पहुँचा। स्वामी रामानंद और उनके संप्रदाय ने सीताराम के सहारे पवित्र भक्ति का प्रसार किया। सूफ़ी भक्तों ने बंगाल और युक्त प्रांत में इस मत का अच्छा प्रचार किया, तथा जैनों ने भी प्रचुर परिश्रम किया। इस काल सं० १५६० पर्यंत हिंदी ने चार समय देखे, अर्थात् चंद से पूर्व की हिंदी, रासो-काल की हिंदी, उत्तर प्रारंभिक हिंदी और पूर्व माध्यमिक हिंदी। चंद से पूर्व के अब तक ३३ कवि मिले हैं। इस काल के कवि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, किंतु न तो उनका साहित्य ही श्रेष्ठ है, न देश पर धार्मिक से इतर उनका कोई कथन-योग्य प्रभाव पड़ा। इनमें से अधिकांश थे प्राकृत-भाषा के कवि, किंतु इन रचनाओं में कुछ

पंक्तियाँ हिंदी की भी मिलने से ये हिंदी के भी कवि समझे गए हैं। इसी समय मुसलमानी शक्ति पहले कुछ-कुछ शांति-पूर्वक सिंध में स्थापित हुई, और फिर उदंडता के साथ उत्तर-पश्चिमी पंजाब में। धर्म पर बल-प्रयोग होने से हिंदुओं को समाज-संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा, जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर भी चलने लगी। चंद के प्रथमवाले कवियों ने इस विषय पर कोई कथनीय प्रभाव न डाल पाया, यद्यपि दाक्षिणात्य वैष्णवों ने बहुत कुछ कर दिखलाया। यह समय सं० ७०० से १२०० तक चलता है। रासो-काल सं० १२०० से १३४३ तक समझा गया है। इसमें अब तक १८ कवि मिले हैं, जिनमें नरपतिनाथ, चंदबरदाई, जल्हन आदि प्रधान थे। चंद-पूर्व-काल तथा रासो-काल मिलकर पूर्व प्रारंभिक समय माने जाते हैं। उत्तर प्रारंभिक हिंदी (१३४४-१४४४) में जज्जल, अमीर खुसरो, महात्मा गोरखनाथ, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मुख्य थे। इस काल हिंदी में गद्य-काव्य का प्रारंभ हुआ, और पंथ-स्थापन द्वारा समाज-संगठन का प्रणाली चली। प्रयोजन मुसलमानी धार्मिक आक्रमण से हिंदू-समाज के रक्षण का था। पूर्व माध्यमिक हिंदी (१४४५ से १५६० तक) में स्वामी रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि ने भक्तिवाद के सहारे समाज को दृढ़ किया। मुसलमानी संतों ने भी सूफ़ी-साहित्य द्वारा प्रेम-मार्ग से हिंदुओं में मुसलमानी मत से सहानुभूति स्थापित करनी चाही। यह समय आगे आनेवाले का गुरु था। इसमें नवीन प्रणालियाँ अच्छी स्थापित हुई, तथा सामाजिक सुधार उत्कृष्टता-पूर्वक चलाया गया। अब प्रौढ़ माध्यमिक (१५६१-१६८०) समय आता है। संवत् १५३५ में महात्मा सूरदास का जन्म हुआ। उन्होंने प्रायः १५६० से रचना का आरंभ किया। उधर वल्लभजी और विठ्ठलजी के अन्य शिष्यों ने भी पदों की रचना में पूरा जोर लगाया। इस प्रकार सैकड़ों कवियों ने इस समय उत्कृष्ट पद बनाए। यह देख विठ्ठलनाथजी ने चार पिता के और चार अपने शिष्यों को सत्कवि समझकर छाँट लिया, और उस चुनी हुई कवि-समिति का नाम 'अष्टछाप' रक्खा। अष्टछाप में सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नंददास और गोविंददास के नाम थे। इस अष्टछाप में सूरदासजी तो अनुपम कवि थे ही, नंददास भी अच्छे थे। इनकी गणना पद्माकर की श्रेणी में हुई है। नंददासजी गोस्वामी तुलसीदास के गुरु भाई या चचेरे भाई थे। नंददास के अतिरिक्त, अष्टछाप में कृष्णदास और परमानंददास भी सुकवि थे। इनकी गणना तोष कवि की श्रेणी में है। इसी समय महात्मा हरिदास, नरसैयाँ आदि ने भी मनोहर कविता की। सौर काल में चित्तौर की महारानी मीराबाई ने कृष्ण-संबंधी

परमोत्कृष्ट कविता की, और कई ग्रंथ रचे। इस स्त्री-रत्न के चरित्र से सब नर-नारी अभिज्ञ हैं। कवि-शिरोमणि कृपाराम ने, १५६८ में, हिततरंगिणी-नामक एक अलंकारों का बड़ा ही विशद दोहा-ग्रंथ रचा। इसके दोहे मनोहर हैं। संवत् १५७५ से १६०० तक में मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत-नामक एक सुंदर सूक्ती-ग्रंथ, पूर्वी भाषा में, बनाया। इनका अखरावट-ग्रंथ भी अच्छा है। इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ, जिनका अवतारों आदि से कोई सरोकार नहीं, हिंदी में पहले-पहल बहुत करके मुसलमान-कवियों ही ने लिखीं। इनमें इस काल कुतबन और जायसी के नाम आते हैं। आगे चलकर नूरमुहम्मद ने भी इंद्रावती-नामक एक ऐसा ही बढ़िया ग्रंथ रचा। हिंदू-कवियों ने ऐसे जितने ग्रंथ उस समय रचे, उनमें धार्मिक विचार से बहुधा देवतों, अवतारों, पौराणिक कथाओं आदि का सूत्र नहीं छोड़ा। कुतबन, जायसी, कृपाराम आदि को छोड़कर १५६० से प्रायः १६३० तक पदों के निर्माण का काल रहा, और कृष्णानंद ही में हमारे कविगण मग्न रहे। इसे हम सौर काल कह सकते हैं। इसमें अच्छी कविता बहुत बनी।

संवत् १६३० के पीछे १६८० तक तुलसीदास का कविता-काल समझना चाहिए। इस समय पद बनानेवालों का वैसा प्राधान्य नहीं रहा, और राम-चरित्र-मानस के साथ-ही-साथ विविध विषयों के वर्णन की परिपाटी पड़ने लगी। कृष्ण की सच्ची भक्ति भी सौर काल के पीछे उतनी अधिकता से नहीं रही। अभक्त लोगों ने तुलसी-काल से ही कुछ-कुछ सिर उठाया, और भक्ति-विचार को छोड़कर शृंगार-सौंदर्य के लिये कृष्णचंद्र को नायक बनाकर नायिकाओं की चेष्टाओं में ध्यान लगाना शुरू किया। महाकवि केशवदास ने इसी समय रसिक-प्रिया ग्रंथ बनाया, जिसमें उन्होंने सब रसों के उदाहरण रस-गर्भित शृंगार में ही दिए।

तुलसी-काल में एक तुलसीदास का होना ही कवियों के एक दल के बराबर है। इस एक ही कवि ने ऐसी कविता की, जैसी चार-पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार के परमोत्कृष्ट कवि करते। इनके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है, क्योंकि इनका बृहत् वर्णन ग्रंथ में मिलेगा। गोप, कृपाराम आदि के अतिरिक्त महाकवि केशवदास ने ही रीति-ग्रंथों की प्रणाली डाली। सौर काल में निपट-निरंजन और नरोत्तमदास भी अच्छे कवि हुए, और स्वयं सूरदास के पीछे गोस्वामी हितहरिवंश की कविता बहुत ही टकसाली होती थी। यह महाशय संस्कृत के कवि और एक संप्रदाय के संस्थापक थे। भाषा में इन्होंने केवल ८४ पद बनाए; पर उन्हीं में कलम तोड़ दी। • •

तुलसी-काल में केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र भी श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इन्होंने प्रधान ग्रंथ केवल एक नख-शिख बनाया; पर उसी से यह आचार्य गिने जाते हैं। इनकी रचना बड़ी गंभीर है। रहीम, नाभादास, रसखानि और मुबारक भी इस काल में अच्छे कवि हैं। अकबर बादशाह भी इसी काल में हुए। यह स्वयं कविता करते थे। इनके यहाँ कवियों का मान भी अच्छा होता था। रहीम, बीरबल, गंग, टोडरमल, मानसिंह आदि सब अकबर ही के यहाँ कविता करते थे। इनमें से कई श्लाघ्य कवि थे। आईन-अकबरी में लिखा है कि संवत् १६५४ के लगभग सूरदास अकबर के यहाँ गवैयों में थे। यह सूरदास प्रसिद्ध सूरदास नहीं समझ पड़ते, क्योंकि एक तो सूरदास की जीवनियों में उनका अकबर के यहाँ रहना नहीं वर्णित है, दूसरे, सूरदास का १६४२ के पीछे जीना सिद्ध नहीं है। तुलसी-काल में ही महात्मा विठ्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता नाम के दो प्रसिद्ध मौखिक गद्य-ग्रंथ रोज़ाना बोलचाल की ब्रजभाषा में रचे। इन्हीं के वंशवाले स्वामी हरिराय ने कुछ आगे चलकर दो संपादनों द्वारा उन्हें लिपिबद्ध किया। वास्तव में वर्तमान वार्ता-ग्रंथों के ये ही रचयिता हैं। महात्मा गोरखनाथ के पीछे हिंदी में ये ही दो उत्कृष्ट गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। ८४ वार्ता में अकबर की सूरदास से भेंट वर्णित है। जैन-कवि बनारसीदास तुलसी-काल ही में हुए। घासीराम भी इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। महात्मा तुलसीदास के राम-चरित्र-मानस का प्रभाव भाषा-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा, और दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रासंगिक काव्य करने की प्रणाली-सी पड़ गई। इसी समय से रामायण लिखने का हमारे यहाँ ऐसा शौक बढ़ा कि बहुतेरे कवियों ने राम-यश गाया। केशवदास का भी प्रभाव कवि-समाज पर बहुत पड़ा।

गोस्वामीजी के पीछे पूर्वालंकृत-काल (१६८१-१७६०) चलता है। इसमें, थोड़े ही दिनों में, पाँच बहुत बड़े कवि हुए, अर्थात् सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम और लाल। सेनापति ने अनूठापन सबसे अच्छा दिखलाया। इनका ग्रंथ संवत् १७०६ में बना। बिहारी ने १७१६ में सतसई समाप्त की। भूषण ने १७३० में शिवराज-भूषण बनाया। यही समय मतिराम की भी कविता का है। लाल कवि ने छत्रप्रकाश-नामक, छत्रसाल की जीवनी का, एक बहुत ही मनोहर ग्रंथ, केवल दोहे-चौपाइयों में, बनाया। इनकी रचना बड़ी जोरदार और प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में छत्रसाल का, प्रायः संवत् १७६५ तक का, हाल बड़ी ही कुशलता-पूर्वक वर्णित है। इसी समय लाल कवि एक युद्ध में मारे गए। कवि होने के अतिरिक्त छत्रसाली दल में आप युद्धकर्ता भी थे। देवजी का जन्म उसी

संवत् (१७३०) में हुआ, जिसमें शिवराज-भूषण समाप्त हुआ । ईश्वर ने मानो ऐसे पूज्य ग्रंथ के पुरस्कार में ही ऐसा बढ़िया कवि संसार को दे दिया । देव का कविता-काल प्रायः १८२४ संवत् तक है । इस भूषण और देववाले काल में अच्छे कवियों की संख्या बहुत बढ़ी, और वीर-काव्य का भी अच्छा निर्माण हुआ । जैसे सूरदास के समय में भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा था, वैसे ही इस काल में शौर्य की ध्वजा ऊँची हुई । चिर-विमर्दित हिंदू-राज्य का उत्थान और चिर-विजयी मुसलमान-बल का पतन इसी काल में हुआ । ऐसे अमूल्य समय में वीर-काव्य का बाहुल्य स्वाभाविक ही था, और हुआ भी; पर इसी के साथ शृंगार-काव्य ने अधिक बल प्राप्त किया, और इसका भी सिक्का जम गया । शृंगार की ऐसी लोक-प्रियता बढ़ी कि सेनापति-जैसे ऋषि-कवि ने भी रसवान् शृंगार-काव्य करने में कोई दोष न माना । है तो भक्ति की भी गणना शृंगार-काव्य में ही, किंतु शृंगार-मात्र कहने से स्त्री-संबंधी रति-भाव-पूर्ण काव्य पर ही ध्यान जाता है ।

इस समय जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने दोहों में भाषा-भूषण नाम का एक परमोत्कृष्ट अलंकार-ग्रंथ बनाया, जो अब भी जिज्ञासुओं के काम आता है । आपके यहाँ कवियों का मान भी बहुत था । महाराजा छत्रसाल ने इसी समय कवियों का परम प्रशंसनीय सम्मान किया । इनके यहाँ जाने-आनेवालों में भूषण, नेवाज, हरिकेश और लाल परम प्रशंसित कवि थे । नेवाज ने संयोग-शृंगार बहुत ही अच्छा कहा । शेष तीन महाकवियों ने बड़ी ही ज़ोरदार रचना की । इनके अतिरिक्त वीसों कवि छत्रसाल के यहाँ जाते और मान पाते थे । इस समय भाषा का अन्य उन्नतियों के साथ आचार्यों की भी अच्छी वृद्धि हुई । देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवींद्र, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति आदि सब आचार्य्य थे । इन सबकी रचना भी परम मनोहर होती थी । गोकुलनाथ के पीछे सूरति मिश्र ने भी गद्य में प्रशंसनीय रचना की । अतः इस समय तक ज्योतिरीश्वर, गोरखनाथ, हरिराय और सूरति मिश्र ही गद्य के मुख्य लेखक थे । इनके अतिरिक्त देव आदि ने भी एक-आध स्थान पर गद्य का उदाहरण देते हुए वचनिकाएँ लिखीं, पर उनसे वे लोग गद्य-लेखक नहीं कहे जा सकते । कालिदास, घनश्याम शुक्ल, आलम, शेख, गंजन आदि प्रसिद्ध और परमोत्कृष्ट कवि इसी समय में हो गए हैं ।

कविता की उन्नति इस काल अवश्य बहुत हुई, पर उसमें भक्ति-हीन शृंगार की मात्रा भी बहुत बढ़ गई । सूर एवं तुलसी के काल में अनुप्रास का उतना मान न था, पर इस काल में पद-मैत्री का हिंदी-कविता पर प्रगाढ़ अधिकार हुआ । इस प्रकार भाषा श्रुति-मधुर और सुंदर हो गई, पर बहुत-से कवियों ने शब्दा-

डंबर के फेर में पड़कर भाव का समुचित ध्यान रखना छोड़ दिया। इसी समय सेनापति ने षड्भूत पर ग्रंथ रचकर इस विषय पर पृथक् ग्रंथ बनाने की नौव डाली। देव कवि ने उसे और भी बढ़ाकर अष्टयाम-नामक ग्रंथ रचा, जिसमें एक दिन के भी प्रति पहर और प्रति घड़ी का वर्णन किया। कई अन्य वैष्णव-कवियों ने भी अष्टयाम रचे। रस-भेद, भाव-भेद आदि पर ग्रंथ बनने की प्रथा ने इस समय बहुत जोर पकड़ा, और रीति-ग्रंथों का प्रचार बढ़ा। ब्रज-भाषा ने इस काल में चरम उन्नति कर ली, क्योंकि इसके पीछे उसके ऐसे कवि नहीं हुए। सौर काल के प्रथम हिंदी का प्रचार तो बहुत दिनों से था, पर न तो चंद आदि तीन कवियों को छोड़कर उसमें कोई बहुत अच्छा कवि हुआ, और न गणना में कवियों की संख्या ही बहुत हुई। बहुत दिन बीत जाने के कारण कविताएँ लुप्त हो जाने से भी गणना में कमी हुई है, पर वह कमी है अवश्य। प्रायः शिथिल कवियों की ही कविता लुप्त भी होती है। सौर काल तथा तुलसी के समय में कवियों की संख्या एवं उत्तमता, दोनों में एकाएक बहुत बड़ी और संतोष-प्रद वृद्धि हुई। इस काल में जो ग्रंथ बने, उनमें से कुछ हिंदी क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा का शृंगार कहे जा सकते हैं। अकबर शाह (सं० १६१२-१६६२) ने हिंदुओं से प्रेम-पूर्ण व्यवहार करके हिंदू-मुसलमानों की प्रायः साढ़े तीन शताब्दियों की सामाजिक शत्रुता हटानी चाही, देश में सत्य-युग-सा स्थापित हो गया। कवियों ने अकबर को हिंदूपति के पवित्र नाम तक से पुकारा। हिंदी-काव्य की उन्नति के साथ हिंदू-समाज भी सुखी हुआ। भारत में दक्षिण को छोड़ एकाधि-पत्य स्थापित हुआ। १७२५ पर्यंत मोगल-राज्य का विस्तार होता रहा। इस काल हिंदुओं का नत प्रभाव कुछ बढ़ा अवश्य, किंतु तुलसीदास ने इसी समय “भूमि-चोर भूप” तथा “साधु सीधमान” कहे हैं। इसके पीछे शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब ने धार्मिक बखेड़ा फिर से उठाया, और दक्षिणी भारत का भगड़ा बढ़कर उत्तर में भी फैल गया। हम सं० १७२५ तक मोगल-प्रभाव-विस्तार पाते हैं, १८७५ तक हिंदू-साम्राज्य-स्थापन और अनंतर ब्रिटिश-शासन-काल। सूर-तुलसी-काल में अकबरी प्रभाव से मुसलमानों के अत्याचार और तज्जन्य हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य प्रायः पूर्णतया या कम-से-कम बहुत कुछ स्थगित रहे।

इस समय के पीछे सेनापति, भूषण और देव के समय में हिंदुओं की राजनीतिक बातों में अच्छी उन्नति हुई, यहाँ तक कि महाराष्ट्रों ने चिर-संस्थापित मुसलमान-राज्य को विध्वस्त कर एक विशाल साम्राज्य बना ही लिया, यद्यपि काल की कुटिल चाल से वह भी चिरस्थायी न रह सका। इसी समय बूंदेलखंड, बघेलखंड, राजपूताना, पंजाब आदि प्रायः सभी स्थानों में जातीयता जग उठी। इस

जागृति की झलक साहित्य में भी भली भाँति देख पड़ती है । अन्य उन्नतियों के साथ-साथ इसने भी अभूतपूर्व उन्नति की । यह महत्ता कवियों की संख्या और उत्तमता, दोनों बातों में बहुत ही संतोष-प्रद हुई । इस समय भारत में वीर पुरुष थे, और वे स्वभावतः वीर-कविता का अच्छा मान भी करते थे । इस कारण भाषा में वीर-कविता का अच्छा समावेश हुआ, पर पीछे से कायरता की वृद्धि के कारण वे वीर-ग्रंथ जहाँ-के-तहाँ पड़े रहे, और उनका अच्छा प्रचार न हो सका । इसका फल यह हुआ कि उनमें से बहुत-से लुप्त हो गए, और उनका पता तक नहीं लगता । हिंदी-प्रेमी अब धीरे-धीरे खोज-खोजकर वे ग्रंथ प्रकाशित करते जाते हैं । यही कारण है कि विविध विषयों के ग्रंथ होते हुए भी हिंदी में शृंगार-रस की प्रधानता समझ पड़ती है । यह प्रधानता वर्तमान साहित्य में लुप्त हो गई है ।

यद्यपि देव कवि के पीछे प्रायः पचास वर्ष तक हिंदुओं के बल और जातीयता की अच्छी उन्नति रही, पर न-जाने किस कारण दुर्भाग्य-वश हिंदी ने वैसा एक भी कवि उत्पन्न नहीं किया, जैसे देव, तुलसी और सूर के समय में अनेक हो गए थे । कवियों की संख्या में देव के पीछे और भी विशेष उन्नति हुई, सत्कवि भी बहुत हुए, पर बहुत ही अच्छे कवियों का एक प्रकार से अभाव ही रहा । देव के पीछे हिंदी में भिखारीदास तथा पद्माकर का समय आता है । देव-काल के कुछ ही पीछे दास, रघुनाथ और दूलह, ये तीन बड़े प्रधान आचार्य और सुकवि हुए । दूलह अलंकार के आचार्य थे, और दास दशंग कविता के । रघुनाथ ने अलंकार और नायिका-भेद, दोनों बहुत स्पष्ट कहे । सूदन कवि ने इसी समय सुजान-चरित्र-नामक एक बड़ा मनोहर युद्ध-ग्रंथ रचा, और गोकुलनाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव ने भाषा-भारत रचकर हिंदी का अपार उपकार किया । इन तीनों कवियों ने अन्य ग्रंथ भी अच्छे बनाए, विशेषकर गोकुलनाथ ने । इनका समय संवत् १८८५ के लगभग तक है । रघुनाथ और दास का समय संवत् १८०० के इधर-उधर है । दूलह का भी १८०२ के लगभग पड़ता है । सूदन का कविता-काल १८११ के इर्द-गिर्द पड़ेगा । इनकी रचना से यदि प्रायः १०० पृष्ठों का संकलन निकाला जाय, तो उसमें इतिहास की मूर्ति खड़ी मिलेगी, और युद्ध की तैयारी बहुत श्रेष्ठ है । युद्ध-काव्य में सूदन की तैयारी, लाल-कृत युद्ध तथा भूषण-कृत युद्धानंतर आतंक दर्शनीय हैं । पद्माकर कवि ने प्रायः १८८३ तक ग्रंथ-रचना की । इन्होंने सात-आठ ग्रंथों में केवल जगद्धिनोद ही शृंगार का ग्रंथ बनाया, पर काल की गति से इनका यही ग्रंथ अधिक लोक-प्रिय हुआ । अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह ने भी इसी समय दोहों में उत्कृष्ट कविता

की। सोमनाथ, ठाकुर, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, मनोराम मिश्र, बोधा, सीतल, रामचंद्र पंडित, मनियार, थान, वेनी, लल्लूताल, सदल मिश्र, दत्त, वेनीप्रवीन, रामसहाय, प्रतापसाहि आदि बहुत-से निपुण कवि इस समय में हुए। इसकी अवधि संवत् १७६१ से १८८६ तक है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त सोमनाथ, बैरीसाल, मनोराम मिश्र और प्रतापसाहि भी इस काल अच्छे आचार्य हो गए हैं। ठाकुर और बोधा प्रेमी कवि हैं। सीतल ने पहलेपहल खड़ी बोली में बहुत प्रशंसनीय कविता की। यह महा-कवि श्रेष्ठ खड़ी बोली के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। १८६० में लल्लूताल और सदल मिश्र ने वर्तमान साधु भाषा के गद्य की नींव डाली। इनके प्रथम गोरखनाथ, हरिराय, सूरति मिश्र आदि ने भी गद्य में ग्रंथ रचे थे, पर उनमें से बहुतों का गद्य साधारण ब्रज-भाषा में ही लिखा गया था। उपर्युक्त दोनों कवियों तथा इनके कुछ ही पूर्ववर्ती मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाख़ाँ ने खड़ी बोली के श्रेष्ठ गद्य की नींव डाली, जिसका प्रयोग आजकल गद्य में सर्वत्र किया जाता है। इनके प्रथम भी कुछ लोगों ने खड़ी बोली में गद्य-रचना की थी, पर उसका प्रचार नहीं हुआ। गणना में इस समय अन्य सभी समयों की अपेक्षा प्रशंसनीय कवि अधिक हुए; पर न-जाने क्यों कोई भी कवि नवरत्न के कवियों की योग्यता को न पहुँचा।

लल्लूताल तथा सदल मिश्र के पीछे राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिव-प्रसाद सितारे-हिंद अच्छे गद्य-लेखक हुए। प्रथम ने अधिकतर अनुवादों की रचना की, और द्वितीय ने पाठशालाओं के लिये पाठ्य-पुस्तकें ही विशेष बनाईं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य-समाज चलाया, तथा इस परिवर्तन-काल में केवल आपने स्थायी ग्रंथ रचे। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी हिंदी के प्रतिपादक थे, राजा लक्ष्मणसिंह और स्वामीजी विशुद्ध हिंदी के तथा भारतेंदु प्रचलित उर्दू-शब्द-मिश्रित शुद्ध हिंदी के। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र वर्तमान गद्य-प्रणाली के सुधारक और सुदृढ़ संस्थापक हुए। इन्होंने हिंदी का बड़ा उपकार किया। इनके प्रोत्साहन और परिश्रम से सैकड़ों मनुष्य सुलेखक बन गए, और काशी में हिंदी की जड़ बहुत ही पुष्ट होकर जम गई। इस समय बहुत-से ऐसे लेखक वर्तमान हैं, जिनका गद्य स्वयं भारतेंदु के गद्य से टकर ही नहीं लेता, बल्कि आगे भी निकल जाता है। इस स्थान पर हम वर्तमान गद्य-लेखकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

पद्माकर के पीछे देवकाष्ठजिह्वा, नवीन, पंजनेस, सेवक, सरदार, कुमारमणिभट्ट, द्विजदेव, भौन, गदाधरभट्ट, औध, लछिराम, सहजराम, लेखराज, ललित और

प्रतापनारायण मिश्र सुकवि हुए। आजकल भी बहुत-से सुकवि विद्यमान हैं। अब ऐसा समय आ गया है कि प्राचीन प्रथा की पद्य-रचना भी धीरे-धीरे उठती जाती है। लोग भक्ति एवं प्रेम को छोड़कर पाश्चात्य प्रकार के विषयों पर पद्य-रचना अब अधिक पसंद करते जाते हैं। यह बात उचित भी है। हिंदी में भूत-काल के कवियों ने प्रधानतः धर्म और शृंगार पर ही ध्यान रक्खा, और इन विषयों पर मान्य ग्रंथ भी बहुत बन चुके हैं। अब इन्हीं पर रचना करके एक तो भूत-कालवाले महाकवियों के सम्मुख यश प्राप्त करना बहुत कठिन है, दूसरे, उसी चर्चित चर्चण से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। फिर वह समयानुकूल भी नहीं है। इन कारणों से पाश्चात्य प्रणाली से लाभ उठाकर, भाषा में सामयिक कविता करके उसकी अधिकाधिक उन्नति करनी ही उचित है। यशःप्राप्ति के लिये यही बुद्धिमत्ता की बात भी है। अब इस प्रकार के कवि होते भी अधिकता से हैं।

सूर और तुलसी के समय तक भाषा में अनुप्रास का आदर तो था, पर उस पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। बिहारी तथा सेनापति ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उधर मतिराम ने सरल, साधु भाषा लिखकर भी यमक आदि का विशेष मान नहीं किया। सो इस काल में अनुप्रास-पूर्ण कविता के विषय में कुछ गड़बड़-सी थी। इसी समय में महाकवि देव का जन्म हुआ, जिन्होंने पद-मैत्री से परम प्रगाढ़ मैत्री रक्खी, और उसका परमोत्कृष्ट प्रयोग किया। इसी समय से इसका संबंध भाषा-साहित्य से बहुत घनिष्ठ हो गया। पद्माकर ने तो इसे दोनों हाथों से अपनाया। पद-मैत्री से इतना लाभ तो अवश्य है कि संसार में किसी भाषा की रचना हिंदी-कविता के समान सुष्ठु और श्रुति-मधुर न होगी। श्रुति-कटु वणों का जितना बराब इसमें है, उतना किसी अन्य भाषा में न होगा। पद-मैत्री में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि उसके लालच में भाव न बिगड़ने पावे, और अनुचित शब्दों का प्रयोग न हो। यदि ये दूषण बचाकर कोई पद-मैत्री लावे, तो वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

बहुत दिनों से कुछ कवियों का विचार तुकांत-हीन छंद लिखने का है। आल्हा-छंद तुकांत-हीन होने पर भी ललित है। फिर भी अभी बहुतों को तुकांत-हीन छंदों में कोई ग्रंथ बनाने का साहस नहीं हुआ है। जिस दिन कुछ श्लाघ्य तुकांत-हीन ग्रंथ बन जायेंगे, उसी दिन ऐसे छंद भी चल जायेंगे। इनका प्रयोग बढ़ भी रहा है। अब यह प्रयोग बहुत कुछ बढ़ गया है, तथा छंदों के नियमों की भी खासी अवहेलना हो रही है। एक ही विवरण में पंक्तियाँ अनेकानेक छंदों में क्या, गद्य के-से छंदों में मिलती हैं। विषयों में भी छायावाद, प्रगतिवाद आदि का मान बढ़ा है, तथा घासलेटी और कभी-कभी चाकूलेटी साहित्य भी बनने लगा है।

इसी स्थान पर साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास समाप्त होता है। इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि नवरत्न के कविगण कैसे-कैसे समयों में हुए, और उनका प्रभाव साहित्य पर कैसा-कैसा पड़ा ?

अँगरेज़ी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं—कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है ? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है ? इन प्रश्नों का प्रयोग हिंदी-नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, सो यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है, और उन्होंने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। उस काल मुसलमानी धार्मिक प्रकोप कई शताब्दियों से चला आता था, सो भक्ति के द्वारा हमारा समाज संगठित किया गया। महाकवि सूर का भी वही संदेश है, और उन्होंने भी उसे बहुत अच्छा कहा है, किंतु भक्ति को शृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका संदेश हर जगह साधारण पाठक को याद नहीं रहता। महात्मा कबीरदास ने भी सखी-भाव की भक्ति की है, किंतु उन्होंने हर जगह जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बहुत दृढ़ रक्खा, और शृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनके सखी-संप्रदाय-वाले वर्णनों में साहित्यानंद अपर्याप्त है। इधर सूरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के भाव को गौण रक्खा है, और शृंगार को प्रधान। इससे उनकी रचना में साहित्यानंद तो अच्छा है, किंतु उनका संदेश गौण पड़ गया है। हमारी समझ में सखी-संप्रदाय की भक्ति का वर्णन संदेश और साहित्य, दोनों को कठिनता से दृढ़ रख सकेगा। यदि संदेश सबल रहेगा, तो साहित्य गौण होकर फाँका पड़ जायगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश झूब जायगा। हम यह नहीं कहते कि संदेश सबल रखने पर सखी-भाव से सरस काव्य नहीं बन सकता, किंतु सूर और कबीर की रचना में कुछ ऐसा हो अवश्य गया है। तुलसी ने दास-भाव की भक्ति को कथा से मिलाकर संदेश और साहित्य, दोनों को बहुत दृढ़ रक्खा है। इसीलिये आप मध्यकालीन सर्वोत्कृष्ट धार्मिक उपदेशक हुए, और हमारे समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही आज भी है।

देव और विहारी शृंगारी कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नहीं है, किंतु इन्होंने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं; कहा बहुत ही अच्छा, किंतु संदेश विल-कुल गौण हैं। देव मुख्यतया साहित्याचार्य थे। इन्होंने जो कुछ रचना की, वह प्रधानतया काव्यांगों के उदाहरणार्थ हुई। इनका कोई धार्मिक संदेश नहीं है, किंतु आचार्यता का होने से वह भाषा की उन्नति का माना जा सकता है। विहारी का यह भी संदेश नहीं है, क्योंकि वह आचार्य न थे। गौण रूप से इन

दोनों कविरत्नों का भी भक्ति का संदेश कहा जाता है, और उसका कुछ आभास मिलता भी है। हमारा स्वभाव सदा से आम को आम और इमली को इमली कहने का रहा है। किसी स्थान पर खींच-तान से कोई भाव स्थापित करना हम मिथ्यावाद समझते हैं। भक्ति-हीन शृंगारी वर्णनों में केवल राधा-कृष्ण का नाम जोड़ देने से हम उसे भक्ति-पूर्ण कविता नहीं कह सकते। भक्ति के लिये भाव में भी तत्संबंधी विचारों का आना आवश्यक है, जैसा कि तुलसी और कबीर की रचना में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अतएव देव और विहारी की रचनाओं में हम भक्ति का संदेश नहीं पाते। यदि कुछ हो भी, तो, गौणातिगौण रूप में होने से, वह नहीं के बराबर है। साहित्योन्नति का संदेश देव और विहारी, दोनों की रचना में माना जा सकता है।

भूषण ने जातीयता का संदेश दिया, और उसे कहा भी अच्छा। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिंदूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश था, क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। केशवदास के कथन अच्छे हैं, और उनकी रचना में भक्ति का संदेश माना गया है, किंतु हमारी समझ में वह पुष्ट नहीं होता। रामचंद्रिका में भक्ति गौण रूप से है। उसमें कथा-प्रसंग तथा वर्णनोत्कर्ष की मुख्यता है, न कि भक्ति की। विज्ञान-गीता में परमोच्च विचार कम हैं। उसमें चलतू अथवा काम-काजू धर्म कहा गया है। रसिकप्रिया शृंगार-प्रधान ग्रंथ है, और कविप्रिया आचार्यता-पूर्ण। इनके शेष ग्रंथ साधारण हैं। कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यता एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, इतर कोई नहीं। कबीरदास का संदेश ऐक्य का है। उनके मतानुसार ईश्वर एक, धर्म एक, मनुष्य की प्रतिष्ठा एक, सत्य एक और सभी संसार एक है। सभी बातों में उनका अद्वैत-विचार है। हिंदू और मुसलमानी धर्मों को वह एक मानते, सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा को समान समझते और सभी प्रकार से दाक्षिण्य-पूर्ण उपदेश देते हैं। उनका संदेश परमोच्च है, किंतु कथन उत्कृष्ट होने पर भी वैसे नहीं हैं। विचारों की अपेक्षा उनकी भाषा कुछ लची हुई है। मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है, और उनकी भाषा बहुत ललित है। चंद बरदाई ने कथा अच्छी कही है, और उनके वर्णन भी ठीक हैं। भारतेंदु का संदेश जातीयता है, और वह सफलता-पूर्वक व्यक्त हुआ है।

लखनऊ
सं० १९६७

}

मिश्रबंधु

हिंदी-नवरत्न के कवियों का आनुमानिक समय

क्र.सं.	नाम	जन्म- संवत्	मृत्यु- संवत्	अवस्था	जाति	कालांतरः	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा	
१	चंदबरदाई	११८३	१२५०	६७	ब्रह्मभट्ट	×	×	×
२	कबीरदास	१४५५	१५७५	१२०	जुलाहा	२७२	नं० २ व ३ = ३५	
३	सूरदास	१५३५	१६४२	१०७	सारस्वत ब्राह्मण	८०	नं० २ व ३ = ४०, नं० ३ व ४ = ५३, नं० ३ व ५ = ३०	
४	तुलसीदास	१५८९	१६८०	९१	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	५४	नं० ३ व ४ = ५३, नं० ४ व ५ = ६२, नं० ४ व ६ = २०	
५	केशवदास	१६१२	१६७४	६२	सनाढ्य ब्राह्मण	२३	नं० ५ व ४ = ६२, नं० ५ व ३ = ३०, नं० ५ व ६ = १४	
६	विहारीलाल	१६६०	१७२०	६०	माथुर ब्राह्मण	४८	नं० ६ व ४ = २०, नं० ६ व ५ = १४, नं० ६ व ७ (क=२८, नं० ६ व ७ (ख)=२४)	

❁ अर्थात् वह कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के जन्म से कितने वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ ।

हिंदी-नवरत्न के कवियों का आनुमानिक समय

क्र.सं.	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा।			
७	(क) मूषण	१६९२	१७९७	१०५	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३२	नं० ७ (क) व ६ = २८, नं० ७ (क) व ७ (ख) = ७७, नं० ७ (क) व ८ = ६७			
	(ख) मतिराम	१६९६	१७७३	७७	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	४	नं० ७ (ख) व ६ = २४, नं० ७ (ख) व ७ (क) = ७७, नं० ७ (ख) व ८ = ४३			
८	देवदत्त	१७३०	१८२४	९४	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३४	नं० ८ व ७ (क) = ६७, नं० ८ व ७ (ख) = ४३			
९	हरिश्चंद्र	१९०७	१९४१	३४	अग्रवाल वैश्य	१७७	×	×	×	×

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी



“आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः ।

कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥१॥”

“एक लहै तप-पुंजन के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ॥ २ ॥”

“कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो ॥ ३ ॥”

“कविता-करता तीन हैं—तुलसी, केसव, सूर ।

कविता-खेती इन लुनी, सीला विनत मँजूर ॥ ४ ॥”

“तुलसी, गंग, दुवौ भए सुकबिन के सरदार ॥ ५ ॥”

“राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेष पावा तिन नाहीं ॥ ६ ॥”

ऐसा कौन हिंदी-अक्षरों का ज्ञान एवं ‘हिंदी, हिंदू, हिंद’ से कुछ भी संबंध रखनेवाला हत-भाग्य पुरुष होगा, जो महात्मा श्रीतुलसीदासजी महाराज के नाम, यश एवं पीयूष-वर्षिणी कविता से थोड़ा-बहुत भी परिचित न हो ? आज हम इन्हीं महर्षि के पवित्र चरित्र से अपनी जड़ लेखनी को पुनीत करने बैठे हैं। हिंदी के अनेकानेक सुलेखकों ने, समय-समय पर, इन महात्मा के विषय की

* जंगम तुलसी-तरु लसै आनंद-कानन-खेत,
जाकी कविता-मंजरी, राम-भँवट रस लेत ।

गवेषणा में जितना श्रम किया है, उतना शायद ही हिंदी अथवा संस्कृत के किसी भी कवि के संबंध में किया गया हो। हमारी समझ में तो वेद-भगवान् और श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर और किसी भी हिंदी-ग्रंथ पर इतना समय लोगों ने न व्यय किया होगा, जितना गोस्वामीजी की रामायण पर किया है।

खोज से दृढ़ अनुमान किया गया है कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील और परगना मऊ, जिला बाँदा में, संवत् १५८६ में, हुआ था। गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रसिद्ध रामायण-रसिक रामगुलाम द्विवेदी के कथन पर निर्धारित किया गया है, और उसे बड़े-बड़े लेखकों ने ठीक माना है। हाथरस के तुलसी साहव सं० १८२० से १६०० सं० तक रहे। यह अपने को हमारे गोस्वामीजी का अवतार कहते थे। वह सं० १५८६ का जन्म राजापुर में मानकर सोरों का नाम भी नहीं लेते तथा गोस्वामीजी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाते हैं। आप निर्गुणी संत थे। उधर सं० १६३१ से ३३ तक में संकलित बाँदा-गज़ेटियर कहता है कि सोरों से आकर गोसाँईजी राजापुर में रहे। जन्म-स्थान के विषय में वह कुछ नहीं कहता, किंतु राजापुर को यह मान देने में मौन है। कथाओं का कथन है कि राजापुर में जन्म ग्रहण करके आप सोरों गए तथा वहाँ से फिर राजापुर आए। राजापुर एक अच्छा कस्बा है। यह यमुनाजी के किनारे, करवी रेलवे-स्टेशन (जी० आई० पी०) से १६ मील पर, बसा है। यहाँ तुलसीदास की कुटी अब तक वर्तमान है, जिसमें उनकी पाषाण-मूर्ति एक मंदिर में है। वह गोस्वामीजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी ब्रजलाल चौधरी के आधिपत्य में है, और वहाँ अँगरेजों ने महात्माजी के स्मारक-स्वरूप संगमरमर की एक तस्ती लगा दी है। राजापुर में डाकघर भी है, और करवी से वहाँ तक अच्छी कच्ची सड़क गई है। बाबू शिवनंदनसहाय का विचार है कि तारी-नामक स्थान वास्तव में गोस्वामीजी का जन्म-स्थान है, पर अभी तक लोग राजापुर ही को ठीक मानते हैं। आजकल सोरों-क्षेत्र से दो ग्रंथ प्रकट किए गए हैं, जिनमें से एक इनकी स्त्री-कृत कहा जाता है। उनमें सोरों इनका जन्म-स्थान कहा गया है, और नंददास चचेरे भाई। अभी हिंदी-संसार ने इन पर कोई पूरा निश्चय नहीं किया है, किंतु कुछ लोगों को ये ग्रंथ जाली समझ पड़ते हैं।

इनके पिता का नाम आत्माराम दुवे और माता का तुलसी था। इनका असल नाम रामबोला था, परंतु वैरागी होने पर तुलसीदास हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-चरित्र लिखने के लिये हम पहले विविध शीर्षक स्थापित करके उनका समर्थन उन्हीं के छंदों से करेंगे, जिनसे जीवन-चरित्र का बृहदंश आप-से-आप पुष्ट हो जायगा। अनंतर दूसरे लोगों के कथन उद्धृत करके शेष

जीवनी पर प्रकाश डालेंगे । आगे से इन्हीं शीर्षकों के अनुसार विवरण चलता है—

(अ) जन्म और दरिद्रता के विषय में—

(१) जायो कुल मंगन, वधावनो बजायो सुनि,

भयो परिताप पाप जननी-जनक को ;
 वारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
 जानत हो चारि फल चारि ही चनक को ।

(क० नं० ७३, उत्तरकांड)

(२) मातु-पिता जग जाय तड्यो, विधिहू न लिखी कछु भाग भलाई;
 नीच, निरादर-भाजन, कायर, कृकर, दूकन लागि ललाई ।

(क० नं० ५७, उत्तरकांड)

(आ) अब केवल दरिद्रता के संबंध में देखिए, उन्हीं में कहीं-कहीं महत्ता भी कही गई है—

(३) कै न आयों, करौं, न करौंगो करतूति भली,

लिखी न विरंचि हूँ भलाई भूलि भाल है ।

(क० नं० ६५, उत्तरकांड)

(४) जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि-बस

खाए दूक सबके बिदित बात दूनी सो ;
 राम-नाम को प्रभाउ पाउ महिमाप्रताप,
 तुलसी हू जग मानियत महामुनी सो ।

(क० नं० ७२, उत्तरकांड)

नाभादास ने इन्हें वाल्मीकि का अवतार कहा । वह इनके समसामयिक थे ही, सो इनका इन्हीं के समय में महामुनि-सा माना जाना प्रमाणित भी होता है ।

(इ) महत्ता के साथ में भी दरिद्रता कहीं-कहीं मिली हुई है—

(५) नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान-निवास ;

जो सुमिरत भे भाग तें तुलसी तुलसीदास ।

(दोहावली नं० ११)

इस छंद से यह भी ध्वनि समझ पड़ती है कि शायद पहले भी इनका नाम तुलसी हो, और संत होने पर वही तुलसीदास हो गया हो। यह ठीक मानने से रामबोलावाला नाम कहने-भर का मानना पड़ेगा। कहते हैं, महाराज मानसिंह जयपुर-नरेश ने इनका बड़ा मान किया था।

(६) घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पांय ;
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ।
(दोहावली नं० १०६)

(७) राय दसरत्थ के समत्थ, तेरे नाम लिए ,
तुलसी-से कूर को कहत जग राम को ।
(क० नं० १४, उत्तरकांड)

(८) केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे ,
अपनायो तुलसी जो धींग धमधूसरो ।
(क० नं० १६, उत्तरकांड)

(९) हौं तौ सदा खर को असवार, तिहारेई नाम गयंद चढ़ायो ।
(क० नं० ६०, उत्तरकांड)

(१०) तेहू तुलसी को लोग भलो-भलो कहैं ,
ताको दूसरो न हेतु एक नीके कै निदानु है ;
लोक-रीति विदित विलोकियत जहाँ-तहाँ ,
स्वामी के सनेह स्वानहू को सनमानु है !
(क० नं० ६४, उत्तरकांड)

(११) तुलसी बनी है राम ! रावरे बनाए, न तो
धोबी कैसे कूकर न घर को, न घाट को ।
(क० नं० ६६, उत्तरकांड)

(१२) जीवन और महत्ता के विषय में गोस्वामीजी ने लिखा है—

(१२) बालपने सूधे मन राम सनमुख भयों ,
राम-नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं ।
पर्यों लोक रीति मैं पुनीत प्रीति राम राय ,
मोह-बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं ।
छोटे-छोटे आचरन आचरत अपनायो ,
*अंजनीकुमार, सोध्यो राम - पानि - पाक हौं ।

तुलसी गोसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ।

(क० नं० ४०, उत्तरकांड)

गोस्वामीजी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि पहले लङ्कन में आप नरहरिदास (या नरसिंहदास) के साथ शूकरक्षेत्र में रहे, जहाँ आपने राम-कथा सुनी, तथा पांडित्य प्राप्त किया । अनंतर गृहस्थ हो 'पत्नी की फटकार से लुब्ध होकर' विराग धारण किया । इस कथा का कुछ अंशों में इस छंद द्वारा समर्थन होता है । गुरु और उनकी कृपा-विषयक छंद आगे आवेंगे । गोसाईं होना लोलार्क-मठ से संबद्ध समझ पड़ता है, जहाँ के आप गोसाईं वृद्धावस्था में हो गए थे !

(उ) अब आपके पुराने नाम, संबंधियों का अभाव और बुढ़ापे से संबंध रखनेवाले छंद देखिए—

(१३) सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल ! तुम,
जाहि वालो चाहिए, कहौं धौं राखै ताहि को ?
हौं तौ दीन-दुबरो, विगारो ढारो रावरो न,
मैं हूँ तैं हूँ ताहि को, सकल जग जाहि को ।
काम-कोह ताइ कै देखाइयत आँखि मोहिँ,
एते भान अकस कीबे को आपु आहि को ?
साहेब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
रामवाला नाम हौं गुलाम राम राय को ।

(क० नं० १००, उत्तरकांड)

इस तथा छंद नं० १५ में गोस्वामीजी साफ़-साफ़ अपना नाम रामबोला कहते हैं । शायद गुरु ने तुलसीदास नाम रक्खा हो, किंतु लोग तुलसी-तुलसी पहले कहते हों, और माहात्म्य बढ़ने पर तुलसीदास कहने लगे हों, जिसका कथन छंद, नं० ५ में है ।

(१४) जाप की न तप खप कियो न तमाइ जोग,
जाग न विराग त्याग तीरथ न तन को ;
भाई को भरोसो न खरो-सो बैर वैरिहू सो,
बल अपनो न हितु जननी न जनको ।
लोक को न डर, परलोक को न सोच, देव-
सेवा न सहाय मद धौंम को न जन को ।

राम ही के नाम ते जो होय सोई नीको लागै,
 ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को ।
 (क० नं० ७७ उत्तरकांड)

इस छंद में आप माता-पिता दोनों को अहित् कहकर उनसे शिकायत करते हैं, जिससे छंद नं० २ का त्याग असली त्याग समझ पड़ता है, न कि माता-पिता की जल्दी मृत्यु-मात्र का ।

(१५) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो, राम !
 काम यहै नाम द्वै हौं कवहूँ कहत हौं ;
 लोग कहैं पोच सो न सोच न सकोच मेरे,
 व्याह न वरेखी जाति-पाँति न चहत हौं ।
 बूझ्यो ज्यों ही कह्यो हौं हूँ चरो है हौं रावरोजू,
 मेरो कोऊ कहुँ नाहीं चरन गहत हौं ;
 मीजो गुरु पीठि अपनाइ गहि बाँह बोलि,
 सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं ।
 (विनय-पत्रिका नं० ७६)

इस छंद से संबंधियों तथा वरवालों का पूर्ण अभाव या असद् व्यवहार समझ पड़ता है ।

(१६) जोर जरा जरि गात गयो, मनमानी गलानि कुबानिन मूकी ।
 (क० नं० ८८, उत्तरकांड)

(ऊ) समय तथा काशी में गंगा-तट-निवास का वर्णन इस प्रकार है—

(१७) संबत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरि-पद धरि सीसा ;
 नवमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।
 (रामचरितमानस)

(१८) अपनी बीसी आप ही पुरिहि लगाए हाथ,
 केहि विधि विनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ।
 (दोहावली नं० २४०)

(१९) बीसी बिस्वनाथ की, बिषाद बड़ो वारानसी,
 बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की ;
 कैसे कहै तुलसी, वृषासुर के वरदानि !
 • वानि जानि सुधा तजि पियनि जहर की ।
 (क० नं० १७०, उत्तरकांड)

(२०) लोक - वेदहू विदित वारानसी की बड़ाई,
 बीसी नर-नारि ईस अंविका सरूप हैं ;
 कालनाथ कोतवाल, दंडकारि दंडपानि,
 सभासद गनप-से अमल अनूप हैं ।
 तहाँऊ कुचालि कलिकाल की कुरोति, कैधौ
 जानत न मूढ़ इहाँ भूतनाथ भूप हैं ;
 फलै फूलै फैलै खल, सीदै साधु पल-पल,
 खाती दीपमालिका उठाइयत सूप हैं ।
 (क० नं० १७१, उत्तरकांड)

यहाँ शैवों से शिकायत की-सी ध्वनि मिलती है !

(२१) संकर सहर सर नारि - नर वारिचर,
 विकल सकल महामारी माया भई है ;
 उछरत उतरत दहरत मरि जात,
 भभरि भगात, जल - थल मीचुमई है ।
 देव न दयाल, महिपाल न कृपालु - चित,
 वारानसी वाढ़ति अनीति नित नई है ;
 पाहि रघुराज ! पाहि कपिराज रामदूत !
 रामहूँ की विगरी तुही सुधारि लई है ।
 (क० नं० १७६, उत्तरकांड)

(२२) एक तौ कराल कलिकाल सूल - मूल, तामैं
 कोढ़ में को खाज-सी सनीचरी है मीन की ;
 वेद-धर्म दूरि गए, भूमि-चोर भूप भए,
 साधु सीधमान जानि रीति पाप पीन की ।
 (क० नं० १७७, उत्तरकांड)

हिंदू-शास्त्रों में साठ सालों की एक कक्षा होती है। उनमें से हर एक का एक-एक नाम है। प्रति इकसठवें साल से वे ही नाम फिर आदि से चलने लगते हैं। इन साठ सालों में बीस-बीस की तीन वीसियाँ कहलाती हैं, जो रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के नामों से चलती हैं। शनैश्चर प्रत्येक राशि पर ढाई साल रहता है। उस काल सं० १६६५ से १६८४ तक रुद्र-बीसी थी। मीन-राशि पर शनैश्चर सं० १६६६ से १६७१ तक ढाई साल रहा था। इसी समय काशी में महामारी का प्रकोप हुआ, जिसका उपर्युक्त वर्णन गोस्वामीजी ने आँखों-देखा किया है। मुसलमान-काल में वह समय बहुत ही अच्छा और शांति-पूर्ण माना जाता है,

किंतु उसमें भी गोस्वामीजी भूप को 'न कृपालु-चित' तथा 'भूमि-चोर' कहते हैं, जिससे समझ पड़ता है कि हिंदू-प्रजा को उस समय भी सुख न था। आप प्रत्यक्ष ही साधुओं को सीधमान बतलाते हैं।

(ए) अब गंगा-तट पर गोस्वामीजी के वास-संबंधी छंद उपस्थित किए जाते हैं—

(२३) देवसरि सेवौ वामदेव द्वार रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं ;
दीवे जोग तुलसी न लेत काहू को कछूक,
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं ।
एते पर हूँ जो कोऊ रावरो है जोर करे,
ताकौँ जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं ।

(क० नं० १६५, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि महादेव के किसी पुजारी आदि ने इन्हें शायद तंग किया था।

(२४) भागीरथी जल-पान करौँ अरु नाम द्व राम के लेत नितै हौं ;
मोको न लेनो न देनो कछू कलि ! भूलि न रावरी ओर चितैहौं ।
जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्हें पछितैहौ पै हौं न भितैहौं ;
ब्राह्मन ज्यों उगिलयो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं ।

(क० नं० १०२, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि कलि के नाम पर गोस्वामीजी किसी ऐसे को संबोधन कर रहे हैं, जो इनको इंद्रिय-सुखादि का लालच देकर लुभा रहा था। इसमें इनके जप का कथन है तथा ब्राह्मण होने का भी।

(२५) चैरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर !
पायँ तर आनि वस्योँ सुरसरि-तीर हौं ;
वामदेव, राम को सुभाव सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत रघुवीर भीर हौं ।
अविभूत वेदन विषम होति भूतनाथ !
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं ;
मारिए तौ कासी-वास अनायास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा कारे निरुज सरीर हौं ।

(क० नं० १६६, उत्तरकांड)

यहाँ मृत्यु का सामीप्य आपको जान-सा पड़ने लगा था ।

(ऐ) स्वतंत्रता—

- (२६) धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ;
काहू कि बेटी सों बेटा न ब्याहव, काहू कि जाति बिगार न सोऊ ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ;
माँगि कै खैवो, मसीत को सोइवो, लेवे को एक न देबे को दोऊ ।
(क० नं० १०६, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि जाति के कल्पित नियमों को सर्वस्व माननेवाले बहुतेरे मूर्ख लोग इस महर्षि के स्वच्छंद आचरणों पर भी दंश देने का साहस करते थे । उपर्युक्त छंद में गोस्वामीजी उन्हीं नीचों को फटकार रहे हैं ।

- (२७) कोऊ कहै करत कुसाज दगावाज बड़ो ,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है ;
साधु जानै महासाधु, खल जानै महाखल ,
वानी भूठी-साँची कोटि उठत हबूब है ।
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू ,
सबकी सहत उर-अंतर न ऊब है ;
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के ,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है ।

(क० नं० १०८, उत्तरकांड)

• इस छंद से प्रकट है कि संसार में भलों-से-भले के भी निदक काफ़ी संख्या में रहते हैं ।

(ओ) भक्ति और धार्मिक विचार—

- (२८) हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरहु सो तन केहि काम ;
द्रवहिं, स्रवहिं, पुलकहिं नहीं, तुलसी सुमिरत राम ।
(दाहावली ४१)
(२९) रहैं न जल भरिपूरि, राम-सुजस सुनि रावरो ,
तिन आँखिन मैं धूँरे, भगि-भरि मूठी मेलिए ।
(दाहावली ४५)
(३०) हम लखि लखहि हमार लखि, हम हमार के बीच ;
तलसी अलखहि का लखै, राम-नाम जपु नीच ।
(दाहावली १६)

यहाँ निर्गुण-मत की निंदा की गई है, सो भी कड़े शब्दों में ।

(३१) तुलसी परिहरि हरि-हरहिं पामर पूजत भूत ;
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के-से पूत ।
(दोहावली ६५)

(३२) लही कव आँधरे, बाँझ पूत कव ल्याय ;
कव कोढ़ी काया लही ? जग बहराइच जाय ।
(दोहावली ४६६)

इस स्थान पर मुसलमान पीरों के पूजनेवाले मूर्ख हिंदुओं को समझाया जा रहा है ।

(औ) गोस्वामीजी की स्त्री के वचन और उत्तर सुनिए—

(३३) खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय ! तिय-त्याग ;
कै खरिया मोहिं मेलि, कै बिमल विवेक विराग ।
(दोहावली २५५)

हम तौ चाखा प्रेम-रस पतिनी के उपदेस ।

यह दोहा स्मरण है, किंतु कहाँ का है, सो अभी पता नहीं, है इन्हीं का ।

(अं) रोग तथा क्लेश ।

इन अवतरणों में जहाँ पता न लिखा हो, वहाँ उन्हें हनुमानवाहुक से प्राप्त जानना चाहिए—

(३४) रोग-निकर, तनु जरठपनु, तुलसी संग कुलोग ;
राम कृपा करि पालिए, दीन पालिवे जोग ।
(दोहावली १७८)

(३५) तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज-रुज गज वरजोर ;
दलत दयानिधि देखिए, कपि - केसरी - किसोर !
(दोहावली २३४)

(३६) भुज-तरु कोटर रोग-अहि बरबस कियो प्रवेस ;
विहँगराज-वाहन ! तुरत काढ़िय, मिटै क्लेश ।
(दोहावली २३५)

(३७) वाहु-बिटप सुख-विहँग-थलु, लगी कुपीर-कुआगि ;
राम कृपा-जल सींचिए बेगि दीन-हित लागि ।
(दोहावली २३६)

- (३८) ढारो बिगारो मैं काको कहा ?
केहि कारण सीदत ? हौं तौ तिहारो । (१६)
- (३९) साहसी समीर के, दुलारे रघुवीरजू के,
बाँह - पीर महावीर बेगि ही निवारिण । (२०)
- (४०) बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनो कियो,
दीनबंधु दया कीन्हों निरुपाधि न्यारियै;
केसरी - किसोर, रनरोर, बरजोर वीर,
बाहु-पीर राहु - मातु ज्यों पछारि मारिये । (२१)
- (४१) पोषरी विसाल बाहु, बलि, वारिचर पीर,
मकरी ज्यों पकरि कै वदन विदारिण । (२२)
- (४२) महावीर बाँकुरे बराकी बाहु - पीर क्यों न,
लंकिनी ज्यों लात घात हो मरोरि मारिण । (२३)
- (४३) बात तरुमूल, बाहु-सूल कपि - कच्छु - बेलि,
उपजी, सकेलि कपि खेल ही उपारिण । (२४)
- (४४) पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की
बाहु-पीर महावीर तेरे मारे मरेगी । (२५)
- (४५) भाल की कि काल की कि रोष की त्रिदोष की है,
वेदन विषम पाप ताप छल छाँह की;
करमन कूट की कि जंत्र - मंत्र बूट की,
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की;
पैहहि सजाय, ननु कहत वजाय तोहि,
बावरी न होहि जानि वानि कपिनाँह की;
आन हनुमान की, दाहाई बलवान की,
समत्थ महावीर की जो रहै पीर बाँह की । (२६)
- (४६) भीर बाँह - पीर की निपट राखी महावीर,
कौन के सकाच, तुलसी के सोच भारी है । (२७)
- (४७) साम - दाम - भेद - विधि वेदहु लवेद सिद्धि,
हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर - साहु की;
आलस, अनख, परिहास की सिखावन है ?
एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की ? (२८)
- (४८) टूकन को घर-घर डोलत कँगाल बोलि,
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पभलि पोसो हैं ;

- साँसति सहत दास, कीजै पोख परिहास,
चींटी को भरन, खेल बालकनि को-सो है । (२९)
- (४६) आपने ही पाप ते त्रिताप ते कि साप ते,
बढ़ी है बाहु - वेदन न नेकु सहि जाति है ;
ओषध अनेक जंत्र - मंत्र टाटकादि किए,
वादि भए, देवता मनाए अधिकाति है ।
करतार भरतार हरतार कर्म काल,
को है जग जाल जो न मानत इलाति है ;
चेरो तेरो तुलसी, तु मेरो कह्यौ, रामदूत,
ढोल तेरी वार मोहिं पीर ते पिराति है । (३०)
- (५०) एते बड़े साहेब समर्थ को निवाजो आजु,
सीदत मुसेवक वचन - मन - काय को ;
थोरि बाहु-पीर की, बढ़ी गलानि तुलसी की,
कौन पाप कोष लोष प्रगट प्रभाय को ? (३१)
- (५१) तुलसी के साथे पर हाथ फेरौ कीसनाथ,
देखिए नङ्ग दास दुखी तो - से कनिगर को ; (३२)
- (५२) भोरानाथ भोरे हौ, सरोष होत थोरे दोष,
पोषि - तोषि थापि आपने न अवडेरिए ;
बालक विकल जानि, पाहिप्रेमपहचानि,
तुलसी की बाँह पर लाम्बी लूम फेरिए । (३४)
- (५३) घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों,
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है ;
वरषत वारि पीर जारिए जवासे जस,
रोष विन दाष, धूल मूल मलिनाई है ।
करुनानिधान हनुमान महा बलवान,
हेरि - हँसि हाँकि फूकि फौज तैं उड़ाई है ;
खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड़ राकसनि,
केसरी - फिसोर राखे वीर बरियाई है । (३५)
- (५४) श्रीरघुवीर निवारिए पीर,
रहौ दरवार परो लटि लूलो । (३६)
- (५५) काल की करालता, करम - कठिनाई कैधौ,
पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे ;

वेदन कुभ ति सो सही न जाति राति-दिन ,
 सोई बाँह गही जो गही समीर ढावरे ।
 लायो तरु तुलसी तिहारो, सो निहारि बारि ,
 सींचिए, मलीन भो, तयो है तिहुँ ताव रे ;
 भूतनि की, आपनी, पराई के कृपानिधान ,
 जानियत सब ही की रीति राम रावरे । (३७)
 (५६) मानस - वचन - काय सरन तिहारो पाय ,
 रावरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै ;
 कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ, भूतनाथ ,
 राग - सिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै । (४३)
 (५७) कहाँ हनुमान सों, सुजान राम रायसों ,
 कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनियै ;
 हरष - विषाद - रोग - राष - गुन - दोषमई ,
 विरची विरंचि सब देखियतु दुनियै ।
 माया जीव काल के, करम के, सुभाय के ।
 करैया राम, वेद कहैं, साँची मन गुनियै ;
 तुमते कहा न होय हाहा सो बुझै मोहिं,
 होहूँ रहौ मौन ही वयो सो जानि लुनियै । (४४)
 छंद-नंबर ५३ में एक बार रोग-मुक्त हो गए, किंतु जान पड़ता है, फिर रोग
 ने बेरा, सो फिर से विनती की गई है ।

(अः) रोग के संबंध में मरण श्रेष्ठतर—

(५८) जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं ,
 मालुम है तोहिं मरिवेई को रहतु हौं ;
 कामरिपु राम के गुलामनि को करुपतरु ,
 अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं ।
 रोग भयो भूत सां, कुसूत भयो तुलसी को ,
 भूतनाथ पाहि पद-पंकरु गहू हौं ;
 ज्याइए तौ जानकी-रमन जन जानि जिय ,
 मारियौ तौ माँगी मीचु सूधिये चहतु हा ।
 (क० नं० १६७, उत्तरकांड)

(५९) जीवौ जग जानकी - जीवन को कहाय जन,
 मरिवे को बारानसी, बारि सुरसरि को ;

तुलसी के दुहू हाथ मोदक हैं ऐसे ठाऊँ,
 जाके जिए - मुए सोच करिहै न लरिको ।
 मोको भूठो-साँचो लोग राम को कहत सब,
 मेरे मन मान है न हर को न हरि को ;
 भारो पार दुसह सरीर तैं विहाल होत,
 सोऊ रघुबीर बिनु सके दूरि करि को । (२४)

(६०) असन - बसन - हीन, विषम विषाद-लीन,
 देखि दीन दूबरो करै न हाय - हाय को ;
 तुलसी अनाथ, सो सनाथ रघुनाथ कियो,
 दियो फल सोल - सिंधु आपने सुभाय को ।
 नीच यहि बीच पति पाय भरुआयगा,
 बिहाय प्रभु - भजन वचन - मन - काय को ;
 ताते तनु पेखियत घोर वरतोर मिस,
 फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को । (४१)

गोस्वामीजी अपने रोग को वरतोर समझते थे ।

(क) गुरु के विषय में—

(६१) वंदौ गुरु-पद-कंज, कृपा - सिंधु, नर - रूप हरि । (नरहरि)
 महा - मोह - तम - पुंज, जासु वचन रविकर निकर ।
 वंदौ गुरु - पद - पदुम-परागा; सरस सुवास सहित अनुरागा ।
 अमिय मूरिमय चूरन चारु; समन सकल भव-रुज परिवारु ।
 सुकृत संभु तन विमल विभूती; मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती ।
 जन-मन-मजु-मुकुर-मल-हरनी; किए तिलक गुन-गन बस करनी ।
 श्रीगुरु-पद-नख मनि गन जोती; सुभिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
 दलन मोह-तम सो सुप्रकासू; बड़े-भाग उर आवहिं जासू ।
 उघरहिं विमल विलाचन ही के; मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के ।
 सुसूहिं राम-चरित-मनि-मानिक; गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक ।

यथा सुअंजन आँज दृग साधक सिद्ध सुज्ञान ;
 कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निदान ।
 गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन; नैन-अमिय दृग-दोष-विभंजन ।
 तोह करि विमल विवेक विलोचन; वरनउँ रामचरित भवमोचन ।

(रामच० भा०, बालकांड)

(६२) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सुसूकर खेत ;
समुझि नहीं तस वालपन, तब अति रह्यो अचेत ।
तदपि कही गुरु वारहिं वारा; समुझ परी कछु मति अनुसारा ।
भाषा-बद्ध करव मैं सोई ; सोरे मन प्रतीति असि होई ।

(रामच० मा०, बालकांड)

उपर्युक्त छंद नंबर १५ भी देखिए। गोस्वामीजी के जीवन-चरित्रकारों ने इनके गुरु का नाम बाबा नरहरिदास लिखा है, और कहा है कि पाँच वर्ष की अवस्था में अपनी पालिका मुनिया के मरने पर गोस्वामीजी अनाथ होकर इधर-उधर भटकने लगे। तब बाबा नरहरिदास ही ने पालन करके इनको विद्वान् भी बनाया। सोरों में लोग यह नाम नरसिंहदास बतलाते हैं। नरहर्यानंद भी कहा गया है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि तुलसीदास द्वारा कथित शूकर-क्षेत्र वास्तव में सोरों न होकर जिला गोंडा का शूकर-खेत-नामक स्थान है, किंतु इस कथन का ऐतिहासिक समर्थन नहीं है। कुछ काल में विवाह के पीछे अपनी स्त्री रत्नावली की फटकार से क्षुब्ध हो गोस्वामीजी वैरागी होकर इन्हीं बाबाजी के मंत्र-शिष्य भी हो गए। जान पड़ता है, इन बाबाजी ने गोस्वामीजी पर वालपन से ही भारी कृपा की थी, क्योंकि उन्हें (गोस्वामीजी को) इनके ऊपर अगाध श्रद्धा थी। यह बाबाजी ऐसे बड़े राम-भक्त थे कि एक अवोध बालक को भी बार-बार राम-चरित्र समझाने में नहीं उकताते थे। समझ पड़ता है, इनकी भारी राम-भक्ति का प्रभाव गोस्वामीजी के कोमल चित्त पर बहुत अधिक पड़ा, जिससे छोटी ही सी गृह-कलह से आप सदा के लिये गृह-त्यागी हो गए, और स्त्री के बहुत कुछ विनती करने तथा गिड़गिड़ाने पर भी फिर घर न लौटे। बाबा नरहरिदास रामानंद महाराज के शिष्यसंप्रदायवाले कहे जाते हैं।

(ख) अब गोस्वामीजी से संबंध रखनेवाले इन्हीं के तथा अन्य लोगों के कुछ और छंद दिए जाते हैं।

हुलसी माता के संबंध में—

(६३) शंभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी; रामचरित मानस कवि तुलसी ।

(रामच० मा०, बालकांड)

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी-सो सुत होय ।

(खानेखानान)

लोगों ने इनकी माता का नाम हुलसी बतलाया है। गोस्वामीजी ने राम-चरित-मानस में इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है। पिता का नाम आत्माराम द्विवेदी कहा गया है। इनके विषय में गोस्वामीजी ने केवल इतना कहा है कि माता-पिता ने जन्म देकर त्याग दिया, और इन्हें न तो भाई का भरोसा था, न जननी-जनक तक इनके हितू थे। ऐसे स्थान पर भी आपने केवल गुरु की कृपा का यश गाया है। आत्माराम का कथन हमने गोस्वामीजी के ग्रंथों में नहीं पाया।

स्त्री के संबंध में—

(६४) लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ ;

धिक-धिक ऐसी प्रीति को कहा कहौ मैं नाथ !

अस्थि-चामस्य देह मम तामैं इतनी प्रीति ,

जो होती रघुनाथ सों, तौ न होति भव-भीति ।

जितना चित्त हराम में, तितना हरि में होय ;

चला जाय बैकुंठ को, पल्ला गहे न कोय ।

(दूसरों के छंद)

उपर्युक्त छंद नंबर ३३ भी देखिए। इन छंदों में कितनी तीव्रता है ? जान पड़ता है, स्त्री ने इतना उग्र भाषण न किया होगा। इसमें अत्युक्ति होगी। फिर भी यदि बहुत ही कटु भाषण न होता, तो उससे खिन्न होकर गोस्वामीजी गृहस्थी छोड़ते क्यों ? माता-पिता ने जन्मते ही छोड़ दिया तथा स्त्री ने भी अपने से प्रीति-त्याग का उपदेश देकर छोड़ दिया। इन्हें सवने छोड़ा, किंतु राम ने न छोड़ा। इनके पिता की अकथनीय क्रूरता एवं स्त्री की प्रचंड मूर्खता भारतवर्ष के काम आ गई। स्त्री ने सहधर्मिणी होकर भी गोस्वामीजी को न पहचाना। उसका विचार था कि गोस्वामीजी की उसके प्रति अमोघ प्रीति केवल ऐंद्रिय सुख-जन्य थी। इसी भाव से प्रेरित हो, मायके में पहली ही रात को पति को अनुचित प्रकार से पास आते देख मिथ्या लोक-लाज के कारण वह गड़ गई, और आपे से बाहर होकर इन्हें पत्नी-प्रीति-परित्याग का कटु उपदेश परम तीव्र शब्दों में दे बैठी। इधर गोस्वामीजी के परिवार में तो कोई था ही नहीं, और आपमें तल्लीनता की शक्ति परम अमोघ थी। अतएव स्वभावशः आप पूरा प्रेम स्त्री में लगा बैठे। सशक्त थे ही, सो उसने इस प्रीति को न पहचानकर इसे केवल इंद्रिय-सुख-जन्य मान लिया। बाबा नरहरिदास के पौर्वकालीन संयोग से राम-भक्ति का बीज इनमें था प्रचुर प्राबल्य से, किंतु कौटुंबिक जीवन में दबा हुआ था। कुटुंब की मूलाधार स्त्री के अनुचित तथा उद्दंड भाषण से वह उमड़ पड़ा,

और यह ब्रह्मर्षि सदा के लिये गृह-त्यागी हो गया, अथच संसार को एक परमोत्कृष्ट कविरत्न और अमूल्य धर्मोपदेशक प्राप्त हो गया। कहते हैं, गोस्वामीजी के श्वशुर दीनबंधु पाठक ने इनके पांडित्य पर ही रोमकर अपनी कन्या रत्नावली इन्हें ब्याही थी, किंतु वह सौंदर्य के अहंकार में इस पांडित्य से नितांत अनभिज्ञ रही। इन दोनों का एकमात्र पुत्र तारक बच्चा ही था, जब संसार से उठ गया।

(ग) मृत्यु—

(६५) राम-नाम-जस वरनि कै भयो चहत अब मोन ;
तुलसी के मुख दीजिए अवहीं तुलसी-सोन ।
सबत सोह सै असी, असी गंग के तीर ;
सावन सुकुला सत्तिमी तुलसी तज्यो सरीर !
(या "सावन कृष्ण तीज दिन".....)

(दूसरों के छंद)

पहले श्रावण-शुक्ला सप्तमी मानी जाती थी, किंतु अब श्रावण-कृष्ण तीज अधिक मानी जाती है, क्योंकि गोस्वामीजी के प्रगाढ़ मित्र टोडरमल खत्री के वंशधर अब भी इस तिथि को इनके नाम पर सीधा निकालते हैं।

(घ) गोस्वामीजी के संबंध में दूसरों के कथन—

कहते हैं, बाबा वेनीमाधवदास तथा बाबा रघुवरदास दोनों स्वयं गोस्वामीजी के शिष्य थे। इन दोनों महात्माओं ने छंदों में गोस्वामीजी के दो बृहत् जीवन-चरित्र लिखे हैं, जो संपूर्ण रूप में अभी तक देखने में नहीं आए, किंतु गोसाईं-चरित्र का एक अध्याय प्रकाशित हो चुका है। इसमें ग्रंथ का सारांश छंदों में दिया है। इन दोनों महात्माओं को गोस्वामीजी का शुद्ध जीवन-वृत्तांत ज्ञात अवश्य होगा, और यदि चाहते, तो जैसे-का-तैसा उसे लिख सकते थे, किंतु माहात्म्य-वर्द्धन या अन्य किसी कारण से इन दोनों के कथनों में पुराणादि के समान असंभव कथन आ गए हैं, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो गई है। एक स्थान पर लिखा है कि पत्थर की नंदीगणवाली भारी मूर्ति घास चरने लगी। इसी भाँति यह कहा गया है कि गोस्वामीजी द्वारा 'प्राकृत कवि' कहे जाने से प्रसिद्ध महाकवि केशवदास ने एक ही रात में प्रायः चालीस अध्यायों की भारी पुस्तक रामचंद्रिका रच डाली। इसी प्रकार कई ऐसे महापुरुषों का गोस्वामीजी से मिलना मुख्य-मुख्य संवतों में लिखा है, जिन्हें पंडितों ने इतिहास द्वारा असिद्ध प्रमाणित कर दिया है। महात्मा सूरदास शिष्यों की-सी नम्रता से गोस्वामीजी को मिलते हैं, यद्यपि वह इनसे बहुत वयोवृद्ध थे, और माहात्म्य में भी कम नहीं थे।

इसी प्रकार उधर २५२ वैष्णवों की वार्ता-नामक तत्कालीन ग्रंथ में लिख दिया गया है कि जब महात्मा विठ्ठलनाथ के पुत्र ने कृष्ण का रूप तजकर धनुष-बाण लिया, और राम का रूप धारण किया, तब तुलसीदास ने शिष्यों की भाँति उनको प्रणामादि किए। “तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बाण ल्यो हाथ”-वाला दोहा इसी संबंध में यारों ने बनाकर गोस्वामीजी के मुख में रख दिया, यद्यपि इनके ग्रंथों में यह हमें नहीं देख पड़ा। इस प्रकार के अनर्गल कथन, सूखों में विश्वास-वृद्धि के लिये, करके जाने हुए प्रामाणिक कथनों में भी लोग संदेह डाल देते हैं। २५२ वैष्णवों की वार्ता में उस काल से पीछे के भी कथन हैं, जिससे उसमें पीछे भी बातें जोड़ी जाना सिद्ध है। गोस्वामीजी का नंददास का भाई होना उसी में कथित है, किंतु गोसाईं-चरित्र में गुरुभाई-मात्र होना लिखा है। नाभादास नंददास को एक बहुत ही साधारण पुरुष चंद्रहास का अग्रज कहते हैं। यदि वह तुलसीदास-से महात्मा के भाई होते, तो नाभादास इस बात को अवश्य कहते, चाहे उन्हें चंद्रहासवाला कथन स्थानाभाव से छोड़ना भी पड़ता। सं० १७६६वाली प्रियादास-कृत भक्तमाल की टीका में भी नंददास का भ्रातृत्व अकथित है, यद्यपि उसमें गोस्वामीजी पर ११ छंद हैं।

जन-श्रुति गोस्वामीजी का एक ही विवाह मानती है, किंतु गोसाईं-चरित्रकार तीन विवाह बतलाकर एक में इनके पिता को ६०००) का दायज भी दिलाते हैं। गोस्वामीजी अपना पुराना नाम रामबोला लिखकर कहते हैं कि मेरे कोई कहीं भी नहीं है, किंतु चरित्रकार उनका पुराना नाम तुलाराम कहकर उनके कई भाई-बहन भी बतलाते और घराने को संपन्न-सा कहते हैं। ऐसे विवरण स्वयं गोस्वामीजी के कथनों के प्रतिकूल पड़कर अग्राह्य समझ पड़ते हैं। चरित्रकारों का भी यह कथन है कि गोस्वामीजी सदैव उत्पन्न हुए थे, और इन्होंने जन्मते ही राम-नाम लिया। कुछ लोगों का विचार है कि किसी नव-जात शिशु के दाँत होना डॉक्टरों की राय में भी असंभव नहीं है। हमको यह कथन संदिग्ध जान पड़ता है, और राम-नाम लिया जाना असंभव ही प्रतीत होता है। हमारे यहाँ बहुतेरे ऐसे लोग हैं कि महात्माओं के विषय में जब तक असंभव घटनाएँ न कही जायँ, तब तक उनको स्वाद ही नहीं आता। वेनीमाधवदास के ग्रंथ का नाम ‘गोसाईं-चरित्र’ है और रघुवरदासवाले का ‘तुलसी-चरित्र’।

सरोजकार का निराधार कथन यह है कि गोस्वामीजी का जन्म सं० ११८३ में हुआ। मृत्यु-काल सभी १६८० मानते हैं। प्रसिद्ध रामायणी रामगुलाम द्विवेदी का समय सं० १६०१ माना जाता है। आपने गोस्वामीजी पर प्रचुर परिश्रम और खोज करके उनके विषय में बहुतेरे कथन किए हैं। आपके भजन

‘रागसागरोद्भव’ में हैं, तथा और ग्रंथ भी खोज में मिले हैं। आप जन्म-काल सं० १५८६ मानते हैं। हाथरसवाले उपर्युक्त तुलसी साहब भी यही जन्म-संवत् वतलाते हैं। इसी को डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी माना है, किंतु उपर्युक्त चरित्रकार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ लिखते हैं। ऐसा मानने से मृत्यु के समय आपकी अवस्था १२६ वर्षों की बैठती है, जो असंभव तो नहीं, किंतु संदिग्ध अवश्य है। जब उन महात्माओं के बहुतेरे अन्य कथन भी अग्राह्य और इतिहास-विरुद्ध सिद्ध हो चुके हैं, तब इस पर भी विश्वास नहीं बैठता। कहते हैं—‘वेश्या वरस घटावई, जोगी वरस बढ़ाव,’ सो जान पड़ता है, इन दोनों महाशयों ने माहात्म्य-वर्द्धन के लिये ही गोस्वामीजी का जन्म-संवत् बहुत पीछे फेंका है। द्विवेदीजीवाला संवत् १५८६ मानने से भी इनकी अवस्था ६१ वर्षों की आती है। इससे अधिक बढ़ाने का प्रमाण असंदिग्ध प्रकार से नहीं मिलता। संवत् १६३१ में रामचरित-मानस प्रारंभ करके गोस्वामीजी ने थोड़े ही दिनों में उसे समप्त कर दिया। इस ग्रंथ-रत्न का लेखक संसार में पूरा मन लगाता तथा उचित स्थानों पर क्रोधादि के अच्छे विवरण देता है। यह समझ में नहीं आता कि कोई ७७ वर्ष का जप्पल ऐसा अमूल्य ग्रंथ बना सकेगा। गोस्वामीजी ने अपना “गात जोर जरा” से जला हुआ अवश्य लिखा है, किंतु प्रायः ६० वर्ष का वृद्ध ऐसा कह सकता है। यह कथन कवितावली में है, जो इनके स्फुट कवितों का संग्रह है। इसमें इनके सभी समयों के छंद हैं।

गोस्वामीजी सरयूपारीण द्विवेदी ब्राह्मण कहे जाते हैं। एक समय हमारा इनके कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का विचार राजा प्रतापसिंह-कृत ‘भक्त-कल्पद्रुम’ के आधार पर था, किंतु कुछ अन्य प्रमाण इन्हें सरयूपारीण भी सिद्ध करते हैं, और सरयूपारीण हैं कान्यकुब्ज ही। अतएव उपर्युक्त दोनों आधारों में वास्तविक भेद भी अधिक नहीं रह जाता। आप स्वयं अपने को मंगन-कुल में उत्पन्न कहते हैं, जो बात वंश के विषय में असंदिग्ध तो नहीं, किंतु कान्यकुब्ज के मुक्काविले में सरयूपारीण की ओर झुकती है। उधर तुलसी साहब आपको कान्यकुब्ज कहते हैं, और यह सबसे पुराना निश्चित प्रमाण है भी। अतएव यह मामला अब इसी ओर झुकता है।

भक्तमालकार महात्मा नाभादासजी गोस्वामीजी को अपने भक्तमाल का सुमेरु मानते थे। उन्होंने लिखा है—

“कलि-कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो।”

नाभादास गोस्वामीजी के समकालीन थे। सं० १७६६-वाले उनके शिष्य प्रियादास ने गोस्वामीजी के संबंध में ११ छंद कहे हैं। उनमें इनके द्वारा स्त्री-त्याग

का भी कथन है। ये छंद भक्तमाल की टीका में हैं। इनके द्वारा एक हत्यारा ब्राह्मण पवित्र माना जाने से लोगों ने मान लिया कि उसकी हत्या छूट गई। उसके द्वारा राम-राम सुनने से ही गोस्वामीजी को उस पर दया आ गई थी। बाबा वेनोमाधवदास और रामगुलाम द्विवेदी गोसाईंजी को सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। हमारी राजापुरवाली स्थानीय जाँच भी यही कहती है। महाराज रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश ने 'राम-रसिकावली' में गोसाईंजी का जीवन-चरित्र लिखा है, तथा पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने 'भक्त-विलास' में। रामगुलाम द्विवेदी और बदन पाठक ने भी गोसाईंजी की जीवनी दी है। बाबा रघुवरदास गोसाईंजी को गाना का मिश्र कहते हैं। पंडित लोग इन्हें स्मार्त वैष्णव मानते हैं, और कुछ लोगों का विचार है कि इनके अभुक्त मूल में जन्म-ग्रहण करने से ही पिता ने इन्हें छोड़ा होगा।

गृह-त्याग के पीछे गोस्वामीजी प्रायः तीर्थ-स्थानों में घूमते रहे। यह महाशय मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, जगन्नाथपुरी, शूकर-क्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में जाया-आया करते थे, और अयोध्या में अधिकतर रहते थे, पर इनका मुख्य वास-स्थान काशी थी। यह लोलार्क-मठ के गोस्वामी हो गए थे। लोलार्क काशी का एक मुहल्ला है। यह मठ पीछे से 'स्थान' कहलाने लगा। मठ और स्थान में भेद यह है कि स्थान केवल वैष्णवों का होता है, और मठ किसी भी संप्रदाय का हो सकता है। वहाँ बहुत-सी जगहों पर अब तक इनके स्मारक वर्तमान हैं। उनमें निम्न-लिखित चार प्रसिद्ध हैं—

(१) असी पर गोस्वामीजी का घाट। यहाँ इनके स्थापित हनुमान्जी और इनकी गुफा हैं। यहीं यह विशेषकर रहते थे, और इसी स्थान पर इनका शरीर-पात भी हुआ।

(२) गोपाल-मंदिर। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के वाग्न में इनकी एक कोठरी है, जिसमें इनकी बैठक थी। यह स्थान विदुमाधवजी के समीप है।

(३) प्रह्लाद-घाट।

(४) संकटमोचन हनुमान्। इन्हीं महाशय की स्थापित की हुई यह मूर्ति, नगवे के समीप, असी के नाले पर, अब तक वर्तमान है। संभवतः इसी हनुमन्मूर्ति की प्रशंसा में 'संकटमोचन' बना।

गोस्वामीजी पहले हनुमान-फाटक पर रहते थे, फिर मुसलमानों के उपद्रव के कारण गोपाल-मंदिर में आए, और वहाँ बल्लभ-संप्रदायवाले गुसाइयों से विरोध हो जाने के कारण असी-घाट पर रहने लगे। असी पर गोस्वामीजी ने अपनी मायण के अनुसार रामलीला आरंभ कर दी थी, जो वहाँ अब तक

होती है। यह लीला काशी की सब लीलाओं से पुरानी है। गोस्वामीजी कृष्ण-लीला भी कराते थे, और इनके घाट पर कार्तिक-कृष्ण ५ को अब तक कालिय-दमन-लीला होती है। अंत में गोस्वामी होकर लोलार्कमठ में भी रहे।

वनारस के खत्री टोडरमल (प्रसिद्ध मंत्री टोडरमल नहीं), ज्ञानज्ञाना, महाराजा मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती और नाभादासजी से इनकी मित्रता थी। ज्ञाने-ज्ञानान रहीम कवि सं० १६४६ से ४८ तक काशी के गवर्नर थे। उसी समय इनका प्रेम गोस्वामीजी से हुआ होगा। इन्हें बरवै-छंद बहुत पसंद था। सोचा जाता है कि शायद इन्हीं के कहने से आपने बरवै-रामायण लिखी हो। टोडरमल के कुटुंबियों में कुछ भगड़ा हुआ था, जिसमें गोस्वामीजी पंच नियत हुए। इसका फ़ैसलनामा, स्वयं इनके हाथ का लिखा, महाराजा वनारस के यहाँ अब तक सुरक्षित है। इनके छ और लेख कहे जाते हैं, किंतु जाँच करके प्रसिद्ध विद्वान् बाबू माताप्रसाद ने उन्हें असत्य ठहराया है। केवल यही फ़ैसलनामा उनका असली लेख है। गोस्वामीजी से एक बार मल्लूकदास भी मिले। अवध-देश के मुक्तामणिदास की कविता को गोस्वामीजी ने बहुत पसंद किया। वह छंद बाबू शिवनंदनसहाय ने अपने ग्रंथ 'गोस्वामी तुलसीदास' के पृष्ठ १०१ पर लिखा है। तुलसी साहब का कथन है कि गोस्वामीजी सं० १६१५ में काशी पधारे। यह महाशय एक बार लखनऊ भी आए, और यहाँ से चलकर कुछ दिन मलिहाबाद में रहे। कहते हैं, वहाँ एक भाट को इन्होंने अपने हाथ से एक रामायण लिख दी, जो वहाँ के महंत जनार्दनदास के पास अब तक विद्यमान है। इस पुस्तक को एक बार लगभग आध घंटे तक हमने भी देखा, परंतु हमकी इसके गोस्वामीजी के हाथ की लिखी होने में संदेह है। इनका लिखा अयोध्याकांड (रामायण) अब तक राजापुर की कुटी में विद्यमान है। उसके अक्षरों का फ़ोटो हमने देखा है। उन अक्षरों से मलिहाबादवाली पुस्तक के अक्षर नहीं मिलते, और केवल आधा ही घंटा तक ढूँढ़ने पर हमें उसमें गंगा-उत्पत्ति की कथावाला क्षेपक भी मिला। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने 'भक्त-विलास' में गोस्वामीजी का जो वर्णन किया है, उसमें यह लिखा है कि इनकी सूरदासजी से भेंट हुई थी।

सबसे पहले खड्गविलास-प्रेस के स्वामी बाबू रामदीनसिंह ने एक भव्य भूमिका-सहित रामायण की शुद्ध प्रति निकाली। फिर इंडियन-प्रेस, प्रयाग के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने बड़े श्रम और व्यय से रामायण की एक अतीव शुद्ध, सचित्र प्रति, संवत् १९५६ में, प्रकाशित की। इसमें बहुत-सी प्राचीन प्रतियों से मिलाकर शुद्ध पाठ लिखा गया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी,

बाबू राधाकृष्णदास, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू कार्तिकप्रसाद और बाबू अमीरसिंह ने इसका संपादन किया। इसमें ६३ पृष्ठों की बढ़िया भूमिका दी गई है। संपादकों ने इसमें रामायण के कठिन शब्दों की टिप्पणी दी है, और जो कथाएँ रामायण में उदाहरण-स्वरूप लिखी गई हैं, उनका भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है। रामायण की ये दोनों प्रतियाँ परम प्रशंसनीय हैं।

गोस्वामीजी स्मार्त-वैष्णव माने गए हैं। इन्होंने रामायण में लिखा है, संवत् १६३१ के—

नवमी, भौमवार, मधु मासा; अवधपुरी यह चरित प्रकासा।

इस मंगलवार को उदय-काल में राम-नवमी न थी। मध्याह्न-व्यापिनी होने के कारण स्मार्त-वैष्णवों के मतानुसार ही उस दिन नवमी माननीय थी। शेष वैष्णवों के मत से राम-नवमी बुध को थी। स्मार्त-वैष्णव किसी मत का विरोध न करके भक्ति की प्रधानता रखते हैं। स्मार्त-मतवाले बहुधा शैव होते हैं। उनकी यह भी विशेषता है कि वे सब देवतों को बिलकुल समान मानते हैं। आपने शिव की महत्ता गाई है, जो उस काल के वैष्णव नहीं करते थे। इसी से विरोधाभाव के कारण किसी-किसी ने आपको स्मार्त कहा है। वास्तव में आपने राम का परत्व रक्खा ही है, अतः पूर्णतया स्मार्त न मानकर हम इन्हें भागवत-मत का मान सकते हैं। भागवतों का भी विरोध किसी से नहीं होता, यद्यपि किसी की मुख्यता वे मान सकते हैं। आपकी भक्ति दास-भाव की थी।

गोस्वामी तुलसीदास की मुख्य सहताएँ दो हैं। आप परमोत्कृष्ट कवि तथा धर्मोपदेशक थे। जब आपका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय धार्मिक विश्वासों की दशा कुछ अवांछनीय थी। मुसलमानों ने एकेश्वर-वाद पर पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके भारतीय धार्मिक विचारों में कुछ नवीनता-सी उपस्थित की थी। प्राचीन काल में हमारे यहाँ एकेश्वर-वाद पूर्ण रूप से दृढ़ था, किंतु पीछे से बौद्ध त्रिरत्न के जोड़ पर हमारे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विचारों ने इसमें कुछ गड़बड़ कर दी थी। यह त्रिमूर्ति-संबंधी विचार वास्तव में एकेश्वर-वाद के अणु-मात्र प्रतिकूल नहीं है। वही ईश्वर उत्पादक होकर ब्रह्मा, पालक होकर विष्णु और विनाशक होकर रुद्र है। वास्तव में ये तीन व्यक्ति नहीं हैं; वरन् एक ही ईश्वर के तीन भाव हैं। पंडित लोग अब भी इस बात को मानते हैं, तथा सदैव मानते रहे हैं, किंतु साधारण जनता चिर काल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को तीन पृथक्-पृथक् देवता मानती आई है। पुराणों में भी ये देवता मात्र-मात्र न माने जाकर तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो गए, यहाँ तक कि इनमें परस्पर युद्धादि भी होने लगे।

इन्हीं बातों से राह भूलकर जनता इन्हें तीन देवता मानने लगी, और आदि-शक्ति को भी पृथक् देवी समझ बैठी। फल यह हुआ कि शैव, वैष्णव और शाक्त एक दूसरे को बुरा कहने लगे, यहाँ तक कि बिना एक दूसरे के मतों को गाली दिए बहुत-से शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों का चित्त ही प्रसन्न नहीं होता था। उधर हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचारों में भी अच्छा-खासा झगड़ा उपस्थित था। इस प्रकार हिंदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट् था, और हिंदुओं में शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों का दूसरा। इसे मिटाने को पहले महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने एकेश्वर-वाद का सच्चा उपदेश दिया, और हिंदू-मुसलमानों की एकता दिखलाई। आपने सगुणोपासना को हेय ठहराकर मुख्यतया निर्गुणोपासना का उपदेश दिया, वरन् उससे भी ऊँचे भाव प्रकट किए।

शुद्ध निर्गुणोपासना का प्रयोजन स्थूल रूप से इस भाँति है कि परमेश्वर शक्ति-स्वरूप है। उसके नियम दयामय हैं, किंतु नियमातिरिक्त दया वह नहीं कर सकता, या नहीं करता। यदि एक गेहूँ बोइए और उसे युक्ति से पालिए, तो समय पर ईश्वरीय नियम आपको उसके बदले पचास गेहूँ देंगे, किंतु यदि उचित उपाय न कीजिए, तो वह एक गेहूँ भी सूख जायगा। अतएव ईश्वरीय नियम दयामय हैं, किंतु उस दया से लाभ उठाने के लिये यत्न की भी आवश्यकता है, और कौरी प्रार्थना से काम नहीं चलता। बीमारी से बचने के लिये बुद्धि से काम लेकर उचित दवा करनी होगी, केवल उपासना से रोग-शांति न होगी। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ये विचार तार्किक रीति से शुद्ध होने पर भी मनुष्य की मानसिक निर्वलता के कारण उसे पसंद कम आते हैं। इनको पसंद करनेवाले थोड़े ही से पंडित निकलेंगे, अथच साधारण जनता इनसे लाभ उठाने में नितांत असमर्थ रहेगी, क्योंकि उसे केवल तार्किक शुद्धता की ही नहीं, वरन् प्रेम करनेवाले और गज-ग्राह की-सी पुकार सुननेवाले ईश्वर की भी आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुननेवाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं। सुतराम् उनका उपदेश साधारण जनता के लिये इतना ऊँचा था कि वह उसे प्रायः अलभ्य था। इसी प्रकार हिंदू-मुसलमानी मतों को एक मानने को भी जनता तैयार न थी। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिये वैसी लाभदायक नहीं हुई। संसार को एक ऐसे उप-देशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोक-मान्य उपदेशों का प्रचार करे।

महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्रायः ५० वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया। हिंदुओं में एकेश्वर-वाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया। आपने सब देवताओं पर रामचंद्र का परत्व सिखलाया, और अद्वैतवाद को पूर्णतया दृढ़ करके ईश्वरीय महत्ता को भली भाँति स्थापित किया। आपने राम को “विधि हरि विष्णु नचावनहारे” बतलाया, और साधारण इंद्रादि देवताओं को ऋषियों, मुनियों तक से कम कहकर उनकी अनीश्वरता प्रकट की (देवताओं के विषय का वर्णन देखिए)। फिर भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतों को निंदा न कहकर आपने शक्ति, शिव, विष्णु आदि का उचित मान स्थिर रखला।

इस प्रकार हिंदुओं के ईश्वरत्रयवाद को ध्वस्त करते हुए भी आपने त्रिमूर्ति की निंदा नहीं की, और शैवों, वैष्णवों आदि की एक दूसरे को गाली देनेवाली प्रकृति को यह सिखलाकर दूर किया कि जो भक्त इनमें से एक को बुरा कहकर अपने को दूसरे का दास मानता है, वह वास्तव में भक्त न होकर पापी है, और नरक में पड़ता है। निर्गुणोपासना को मानते हुए भी आपने सगुण ईश्वर तथा अवतार भी माने। तथापि इन्हें तर्क-हीन बतलाकर प्राचीन तर्क-वाद को प्रकट रूप में बिना काटे हुए ही नवीन भक्तिवाद दृढ़ किया, क्योंकि इनके समय में शंकर तथा रामानुज का तर्क-वाद अपना काम पूरा कर चुकने से अनावश्यक-सा हो गया था। इस प्रकार गोस्वामीजी ने हिंदुओं के मत-वादों का वैमनस्य दूर करके उनमें ऐक्य स्थापित किया! जैसे गौतम बुद्ध, नानक आदि महात्माओं ने जनता तक उपदेश पहुँचाने के विचार से देश-भाषाओं ही में शिक्षा दी थी, उसी प्रकार हमारे गोस्वामीजी ने सर्व-साधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए। महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखलाई थी, किंतु कठिन भाषा और शृंगार-पूर्ण वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया। इधर गोस्वामीजी ने भगवान् रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव तथा मर्यादा-पूर्ण किया, जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा, और सरल भाषा के कवि होने से आप उत्तर-भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित्र-संशोधक हुए। शंकराचार्य के पीछे आप ही हमारे सर्वोत्कृष्ट उपदेशक थे। हिंदू-धर्म को जैसा आपने बनाया, वैसा ही वह आज है। उस काल उसका वह रूप उचित भी था। आजकल, समय के फेर से, उसकी कई बातें अनुचित हो गई हैं, और धीरे-धीरे दूर होकर समाज की वर्तमान दशा के अनुसार हमारे आचरण बन रहे हैं।

गोस्वामीजी के नाम से निम्न-लिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—

(१) रामचरित-मानस	(१३) रामलला-नहछु
(रामायण दोहे-चौपाई में)	(१४) जानकी-मंगल
(२) कवितावली-रामायण	(१५) पार्वती-मंगल
(३) गीतावली-रामायण	(१६) कृष्ण-गीतावली
(४) छंदावली-रामायण	(१७) हनुमान्-बाहुक
(५) वरवै-रामायण	(१८) संकट-मोचन
(६) पदावली-रामायण	(१९) हनुमान्-चालीसा
(७) कुंडालिया-रामायण	(२०) राम-शलाका
(८) छप्पै-रामायण	(२१) राम-सतसई
(९) कइखा-रामायण	(२२) वैराग्य-संदीपिनी
(१०) रोला-रामायण	(२३) विनय पत्रिका
(११) भूलना-रामायण	(२४) कलि-धर्माधर्म-निरूपण
(१२) रामाश	(२५) दोहावली

रामचरित-मानस में पीछे के कवियों ने स्थान-स्थान पर नई कथाएँ लगा दी हैं, जिन्हें अब छेपक कहते हैं । ये कविगण ऐसे परोपकारी थे कि इन्होंने अपना नाम तक नहीं लिखा, और केवल यही इच्छा की कि इनकी कविता गोस्वामीजी के साहित्य में मिल जाय । कुछ छेपककारों ने रामायण में किसी कथा की कमी समझकर वह त्रुटि पूरी करने को अपनी ओर से उतनी कथा मिलाकर लगा दी, और कुछ महाशयों ने यह दिखलाने को कि वे भी गोस्वामीजी के स्मान काव्य कर सकते हैं, वहसा-वहसी में नई कथा बनाकर रामायण में चिपका दी होगी । केवल वाल और लंका-कांडों पर छेपककारों ने विशेष अनुग्रह किया है । अयोध्या-कांड में प्रायः किसी को छेपक लगाने का साहस नहीं हुआ । छेपकों में राम-सेना-वर्णन तथा महिरावण-वध सर्वोत्कृष्ट हैं । गंगोत्पत्ति एवं सुलोचना के सती होने का वर्णन भी अच्छा है । ये छेपक गोस्वामीजी की रामायण में ऐसे लग गए हैं कि प्रायः राम-लीलाओं में भी खेले जाते हैं । फिर भी कहना ही पड़ता है कि ये मूल-कथा के बीच में वैसे ही अखर जाते हैं, जैसे हलुआ खाने में कंकड़ का टुकड़ा जान पड़े । गोस्वामीजी ने अपनी रामायण कवडि़ए का गल्ला तो बनाया नहीं है कि उसमें जो रख दो, वही खप जाय । उन्होंने पूरा ग्रंथ बनाने में उसके अंग-प्रत्यंगों को अपने ग्रंथ की गुरुता के अनुसार यथा-योग्य छोटा या बड़ा बनाया है । अतः जिस किसी स्थान पर कोई अंग बढ़ या घट जायगा, उसी जगह ग्रंथ का रूप बिगड़ जायगा । लोग यह समझ बैठे कि

जब किसी कथा का वाल्मीकि अथवा व्यास ने उल्लेख किया, तो गोस्वामीजी ने उसे न लिखने में गलती की । कम-से-कम उसे उस स्थान पर लिख देने में कोई दोष नहीं । पर जिस आकार और प्रकार का ग्रंथ वे महात्मा बनाते थे, उसमें वे कथाएँ लिखी जा सकती थीं, किंतु गोस्वामीजी की रचना में नहीं स्थान पा सकती । कुछ चोपकों का उल्लेख यहाँ किया जाता है ।

बाल-कांड

(१) रावण-दुर्दशा तीन पृष्ठों की है । इसमें जहाँ गोस्वामीजी ने रावण की विजयों का वर्णन किया है, वहाँ चोपककार ने उसमें त्रुटि समझकर कई युद्धों में उसकी पूरी दुर्दशा करा डाली है, यहाँ तक कि एक वृद्धा ने रावण का पैर पकड़कर “गई दूरि धरि-धरि भकभोरा ; डारेसि सिंधु-मध्य अति जोरा ।” गोस्वामीजी का यह प्रयोजन था कि रावण का महत्त्व और उसकी ज़बरदस्ती दिखाकर रामावतार का कारण प्रस्तुत करते, पर इस कवि ने उसकी पूर्ण प्रतिकूलता करके अपनी समझदारी तथा कवित्व-शक्ति दिखा दी । यदि रावण ऐसा निर्बल था, तो उसके लिये रामावतार की क्या आवश्यकता थी ? यों इसकी कविता बुरी नहीं है ।

(२) गंगावतरण आठ पृष्ठों का है । बुरा नहीं है । गोस्वामीजी राम को जल्दी से जनकपुर पहुँचानेवाले थे, इसी से विस्तृत अहल्या-कथा आदि को छोड़ते गए हैं, पर इस कवि ने उस जल्दी पर ध्यान न देकर बीच में यह अलाप दिया ।

लका-कांड

(३) राम-सेना का वर्णन चार पृष्ठों का है । यह उत्कृष्ट भाषा में लिखा गया है । इसमें अच्छी रचना है, अच्छा जोर देख पड़ता है, और कविता की बहुत-सी बातें वर्तमान हैं । इस महाकवि ने क्या ही अच्छी-अच्छी उपमाएँ दी हैं । वाल्मीकीय रामायण पर बहुत कुछ अवलंबित होने पर भी इस चोपक में कोई विशेष दोष नहीं है । केवल इसका रावण से कहा जाना-भर अयोग्य है । यदि यह रामायण में भिला दिया जाय, तो उसकी शोभा बढ़ा दे । गोस्वामीजी ने भारी सेना-वर्णन कहीं नहीं किया, अतः इसके बढ़ा देने से प्रायः कोई भी दोष नहीं आता । उदाहरण—

“यह जो आवत अचल - समाना ;
चौदह ताड़ ऊँच परमाना ।
रक्त - कमल - दल - सम सब देहा ;
जनु बिकस्यो संध्या कर मेहा ।

हनै मेदिनी पूछ भवौई ;
लंका सौह चितव जनु खाई ।
हृदय - गगन यहि के प्रभु भानू ;
पंच पदुम कपि निकर पयानू ।
करै वज्र वासव कर भंगा ;
उदयाचल कहँ लेइ उछंगा ।

पाँच धरा धरि घापै, पन्नग होय अकाज ;
सैन अग्रसर देखहु, यह अंगद युवराज ।”

(४) सुलोचना सती वारह पृष्ठों का है । भाषा अच्छी है, परंतु रावण इतना अपमान कभी न सहता कि उसकी पुत्र-वधू राम से मेघनाद का सिर माँगने जाती, इसलिये खटकती है । कथा की द्रुत गति को यह क्षेपक रोकता है । गोस्वामीजी ने केवल मेघनाद और कुंभकर्ण का स्वल्प युद्ध लिखकर रावण के युद्ध का विस्तार-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है । अतएव मेघनाद की स्त्री को स्वयं मेघनाद से अधिक स्थान नहीं मिल सकता ।

(५) महिरावण-वध आठ पृष्ठों का है । कुछ-कुछ रुचिर भाषा में लिखा गया है । कवि ने तुलसीदास की रचना-शैली का अनुकरण करने में सफलता भी पाई है, पर हनुमान् के लंगूर-कोट का पता न तुलसीदास की रामायण में है, और न वाल्मीकीय में । फिर जब महिरावण राम और लक्ष्मण को ले जाते समय लंगूर को कूदकर निकल जा सकता था, तो कोट के अंदर जाने में उसको विभीषण का वेश बनाने की क्या आवश्यकता थी ? इसका कारण नहीं जान पड़ता कि राम और लक्ष्मण इतने शक्ति-हीन क्यों हो गए थे कि उनसे हाथ-पाँव भी नहीं डुलाए जाते थे, और बिना हनुमान् की सहायता के उनका उद्धार ही असंभव था । गोस्वामीजी प्रतिदिन युद्ध की भीषणता को बढ़ाते गए हैं, यहाँ तक कि रावण-वध का वर्णन अति घोर सर्वोच्च कला की ओर है । महिरावण-युद्ध के शिथिल होने से इसका क्रम-भंग हो जाता है । इन बातों को छोड़कर यह वर्णन मनोहर है ।

(६) नरांतक-वध ३५ पृष्ठों का है । इससे भी उपर्युक्त युद्ध का क्रम विगड़ता है । यह कथा मनोहर है, पर इसको इस रामायण में स्थान मिलना अनुचित है ।

गोस्वामीजी के उपर्युक्त पचीस ग्रंथों में बहुत-से दूसरे लोगों के बनाए हुए हैं । उन्होंने भी, क्षेपककारों की भाँति, अपने ग्रंथ का प्रचार होने के लिये या गोस्वामीजी के समान कवित्व-शक्ति का परिचय देने ही के अर्थ तुलसीदास के नाम से

उनकी रचना की हागी। कुछ ग्रंथ किन्हीं अन्य तुलसीदासों के हो सकते हैं। मिश्रबंधु-विनोद में कई तुलसीदास हैं भी। बहुतों का विचार है कि गोस्वामीजी के जितने ग्रंथ बहें, उतनी ही महत्ता-वृद्धि होगी। समझदार लोग ऐसा न सोचेंगे। ठाकुर शिर्वासह ने लिखा है कि गोस्वामीजी ने सब मिलाकर ४६ कांड रामायण बनाई हैं, और यही बात जन-समुदाय में भी प्रसिद्ध है। पर उपर्युक्त सूची में ११ रामायणों के नाम दिए गए हैं, और उनके सब कांड ७७ हो जाते हैं। अतः इनमें से चार अवश्य अन्य लोगों की रचनाएँ हैं। हमें कुछ अन्य रामायणों के भी स्नेह होने का पूरा संदेह है। यदि केवल चार ही को कल्पित मानें, तो कड़खा, कुंडलिया, छप्पय और पदावली-रामायण को भी ऐसा ही मानना चाहिए, क्योंकि इनमें गोस्वामीजी के काव्य के प्रायः कोई भी गुण नहीं पाए जाते, और रचना भी बड़ी शिथिल है। कड़खा-रामायण का तो थोड़े ही दिनों से नाम सुन पड़ा है। रामचरित-मानस इनका है ही। इतने ग्रंथों की जाँच मानसकार के ही विचारों से होगी। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में प्रसंग-वश बहुत बार राम-कथा संक्षेप में वर्णन की है। इन संक्षिप्त वर्णनों से विदित हो जाता है कि वह किस विषय को कितना ज़रूरी समझते थे। उन्होंने इतने बड़े मानस में भी लव-कुश-चरित्र या सीता-त्याग का वर्णन कहीं भी नहीं किया, और भरत तथा अन्य लोगों की भक्ति के वर्णन को प्रधानता दी है। इस दृष्टि से देखने पर बहुत-सी रामायणें कल्पित जान पड़ेंगी। गोस्वामी-कृत दोहावली में रामायण की कथा का वर्णन नहीं है। उसमें भक्ति, नीति आदि के स्फुट दोहे कहे गए हैं। यदि इनका कोई ग्रंथ दोहावली-रामायण कहा जा सकता है, तो वह रामाज्ञा है, क्योंकि उसके दोहों में क्रम-वद्ध रामायण कही गई है, परंतु यह काव्य अत्यंत शिथिल है। इसमें परशुराम के आगमन की कथा वरात के लौटते समय कही गई है। यह तुलसीदास की रामायण में वर्णित मत के विरुद्ध है। इस ग्रंथ को भी हम कल्पित ही समझते, परंतु मिरज़ापुर-निवासी मुंशी छकनलाल को खुद गोस्वामीजी के हाथों की (सं० १६५५, ज्येष्ठ-सुदी दशमी, रविवार की) लिखी हुई रामाज्ञा की एक प्रति मिली थी, जिसका गोस्वामि-कृत होना असंदिग्ध-सा हो गया है। फिर भी रामाज्ञा के विषय में कुछ संदेह बाक़ी है। कुछ लोगों के कथनानुसार छकनलाल को रामाज्ञा नहीं, रामशलाका मिली थी। जो हो, रामायणों में मानस के अति-रिक्त हम केवल कवितावली और गीतावली को गोस्वामीजी-कृत समझते हैं।

‘रामलाला-नहछू’ में यद्यपि जनकपुर का वर्णन है, तथापि उसमें नाइन, भाटिन इत्यादि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण कथन है कि वह गोस्वामीजी की रचना नहीं हो सकती। ‘उनरत जोवन देखि नृपति मन भावइ हो’ में बेचारे

दशरथ ३५० रानियों के होते हुए भी नाइन, मालिन आदि पर भी सुग्ध होते हैं। फिर इसमें परिहास की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है। राम-लक्ष्मण के विषय में यहाँ तक लिख डाला गया है कि वह दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं—

“काहे राम जिउ साँवर लछिमन गौर हो।

कीदहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो।

राम कहहिं दशरथ के लछिमन आनक हो।”

इसके कल्पित होने में कोई संदेह ही नहीं होना चाहिए। ऐसे छंद गोसाई-जी-से संत को छोड़ साधारण कवियों को भी शोभा न देंगे।

‘पार्वती-मंगल’ में १० पृष्ठ एवं १६४ छंद हैं। इसकी रचना संवत् १६४३ की कही जाती है। इसमें कालिदास के वर्णनानुसार पार्वतीजी की तपस्या के पीछे उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये स्वयं महादेवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर गए हैं, और जिस प्रकार की बातचीत ‘कुमारसंभव’ में है, उसी भाँति की बातें की हैं। इसमें महादेवजी की वरात एवं विवाह के समय का हास्य-योग्य वर्णन रामायण का-जैसा नहीं है। यह ऐसी रचना है, जिसे शिव-भक्त भी बना सकता था। यही कथा मानस में देखने और इन दोनों को मिलाने से जान पड़ता है, ये दोनों कथाएँ एक ही व्यक्ति की रचना होने में संदेह है। हम इस ग्रंथ को भी कल्पित समझते हैं। इसकी कविता न तो शिथिल है, न श्रेष्ठ। इतना तो भी कह देना चाहिए कि हमारा संदेह बहुत दृढ़ नहीं है, क्योंकि ग्रंथ जानकी-मंगल के समान है, किंतु इन दोनों से मानसकार को गौरव नहीं मिलता।

‘वैराग्य-संदीपिनी’ में ४ पृष्ठ एवं ६२ दोहे हैं। इसकी कविता शिथिल है। इसमें कवि ने ज्ञान को भक्ति का भूषण मानकर कहा है कि अंतिम सुख शांति में मिलता है, न कि भक्ति में (दास को भूषण भक्ति है, भक्ति को भूषण ज्ञान)। यह मत यथार्थ हो या नहीं, पर तुलसीदासजी के प्रतिकूल है। इस कारण यह रचना उनकी नहीं समझ पड़ती।

‘वरवै-रामायण’ में ४ पृष्ठ एवं ६६ छंद हैं। यहाँ सीता का शृंगार-रसमय वर्णन विशेष रूप से किया गया है, पर उसके पीछे, तुलसीदास की आदत के माफ़िक, जगज्जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शांत नहीं किया गया। अयोध्या-कांड में भरत का और उत्तर-कांड में भक्ति का वर्णन नहीं है। यह भी रचना उनकी नहीं जान पड़ती। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि वरवै-रामायण की रचना उत्कृष्ट है। यह ग्रंथ किसी अन्य तुलसीदास-कृत हो सकता है। इसका रचयिता सुकवि था, और इससे मानसकार को हेयता न मिलेगी। कहा जाता है,

बरवै-रामायण कोई पूर्ण ग्रंथ न होकर स्फुट छंदों का संग्रह-मात्र है। इसका निम्न-लिखित छंद मानसकार का-सा नहीं है—

सिय-वियोग-दुख केहि विधि कहउँ बखानि ;
फूत-वानते मनसिज वैधत आनि ।

कवितावली

इसमें ५४ पृष्ठ एवं ३१८ छंद हैं। इसमें सवैया, झूलना और घनाक्षरी के सिवा और छंद नहीं लिखे गए। उत्तर-कांड समस्त ग्रंथ का प्रायः अर्धांश है। शेषार्द्ध में बाक्री छहों कांड आ गए हैं। यह ग्रंथ वास्तव में परमोत्कृष्ट है। इसमें अनेक सवैए एवं दंडक बड़े ही सुपाठ्य बन पड़े हैं। कई एक सवैयों का साधुर्य तो कुछ कहते ही नहीं बनता। इसके बहुत-से पद्य खूब जोरदार हैं। प्राकृतिक वर्णनों की भी इसमें कमी नहीं है। जगह-जगह हास्य की झलक भी अच्छी आ गई है। इसकी भाषा ब्रज-भाषा है। लंका-कांड तक इसमें हनुमान् की प्रधानता है, पर उत्तर-कांड में श्रीरामचंद्रजी की ही भक्ति सर्वोपरि कर दी गई है। बाल-कांड में भी श्रीरामचंद्र ही की मुख्यता है। इसके कुछ कवित्तों में अपना नाम देने में कवि ने दो अक्षर बढ़ा दिए हैं, जिससे उन पदों में छंदोभंग की झलक आ जाती है। इस ग्रंथ में गोस्वामीजी ने अपने विषय की बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे उनका हाल लिखने में अच्छी सहायता मिलती है। ग्रंथ आत्मीयता-पूर्ण है।

शिष्य-परंपरा का मत है कि हनुमान्-बाहुक इसी ग्रंथ का अंग है। इन दोनों ग्रंथों की कविता अवश्य ही मिलती-जुलती है, पर इनके विषयों में बड़ा अंतर है, और ये एक ही ग्रंथ नहीं हो सकते। कवितावली में श्रीरामचंद्र की बाल-लीला, लंका-दहन, हनुमान् का युद्ध और काशी में महामारी की वीमारी के बड़े ही विशद वर्णन हुए हैं। उत्तर-कांड में, कोई २० पृष्ठों में, रामचंद्र की स्तुति है। उसमें कहीं भी रामायण में उल्लिखित सिद्धांतों और सम्मतियों से विरोध नहीं पाया जाता, और बार-बार मानस की-सी बातों का प्रतिपादन हुआ है। हमको पहले संदेह होता था कि शायद यह ग्रंथ गोस्वामीजी का नहीं, बल्कि किसी अन्य 'तुलसी' नाम के सुकवि का है, क्योंकि—

(१) इसमें उनकी भाषा से पार्थक्य है।

(२) सुंदर और लंका-कांड में हनुमान् का उत्कर्ष राम से भी अधिक बढ़ा-सा दिया गया है, यहाँ तक कि कवि ने राजाओं से राम-लक्ष्मण के युद्ध को केवल तीन-चार छंदों में भुगता दिया, और हनुमान् के संग्राम का बड़े ही विस्तार एवं समारोह के साथ वर्णन किया है।

(३) इसकी रचना कावता-प्रणालीवाले लेखकों से अधिक मिलती है, और गोस्वामीजी-जैसे कथा-प्रणालीवाले कवियों की रीति से बिल्कुल पृथक् है ।

(४) इसमें भरतजी की महिमा बहुत कम कही गई है । उधर गोस्वामीजी उनके बड़े ही भक्त थे ।

ध्यान देकर सब बातों पर विचार करने से हमारा उपर्युक्त संदेह जाता रहा, और हमें निश्चय हो गया कि यह ग्रंथ वास्तव में गोस्वामीजी का ही बनाया हुआ है । इसके कारण भी नीचे दिए जाते हैं—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि विनय-पत्रिका से, जो निस्संदेह इन्हीं की रचना है, इस ग्रंथ की कई बातें पूर्ण रूप से मिल जाती हैं । उसमें इन्होंने लङ्कपन में अपना अत्यंत निर्धन होना लिखा है । यह बात कवितावली में भी पाई जाती है । दूसरे, इन दोनों ग्रंथों में इन्होंने स्पष्ट रूप से अपना नाम 'रामबोला' लिखा है, जिससे संदेह बहुत कुछ दूर हो जाता है । तीसरे, इन दोनों ही ग्रंथों में कवि ने लिखा है कि उसका ऋषि के समान मान होता था । अतः यदि कवितावली किसी अन्य कवि की रची हुई मानी जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि (क) इस ग्रंथ का रचयिता भी लङ्कपन में वैसा ही धन-हीन था, जैसे गोस्वामीजी । (ख) पहले उसका नाम भी गोस्वामीजी की भाँति ही 'रामबोला' था, (ग) उसका भी गोस्वामीजी के समान ऋषि-सदृश सम्मान अंत को होने लगा था, और (घ) वह भी इन्हीं की भाँति काशी में रहता था । हमें किसी दूसरे ऐसे तुलसीदास का हाल अब तक नहीं ज्ञात है, जिसके विषय में ये सब बातें ठीक बैठ जायँ । निस्संदेह विनय-पत्रिका और कवितावली एक ही कवि की रचनाएँ हैं, और वह कवि गोस्वामीजी के सिवा और कोई न था । विनय-पत्रिका को कोई मनुष्य तुलसी-कृत मानने में नहीं हिचकता । उसके विषय में हम आगे चलकर अपने विचार लिखेंगे ।

भाषा-पार्थक्य के विषय में हमें यही ज्ञात होता है कि सबैए और दंडक प्रायः ब्रज-भाषा में ही लिखे जाते हैं । फिर तुलसीदास-जैसे प्रवीण कवि के लिये दूसरे प्रकार की भाषा में भी उत्कृष्ट कविता कर सकना कोई बड़ी बात नहीं थी ।

(२) हनुमान् के प्रकांड उत्कर्ष के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि 'राम ते अधिक राम कर दास' के सिद्धांतानुसार यह भी कोई वैसी बात नहीं है । फिर हनुमान्जी को श्रीरामचंद्र का दास तो गोस्वामीजी बराबर कहते ही गए हैं ।

(३) इसके विषय में १ नंबर के अंत में ऊपर जो हम लिख आए हैं, वही इस कविता और कथा-प्रणालीवाली बात पर भी ठीक उतरता है ।

(४) इसमें सब बातें सांगोपांग नहीं लिखी गईं, और इसी से शायद भरत के विषय की अधिक बातें नहीं आईं । ग्रंथ पूरा न होकर स्फुट छंदों का संग्रह-मात्र है ही ।

यदि कहा जाय कि किसी कवि ने जान-बूझकर वेईमानी से तुलसीदास के नाम से ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसी ही बातें लिख दी हैं, जिनसे यह ग्रंथ उन्हीं महानुभाव का माना जाय, तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसा सोचने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे, हनुमान्-बाहुक की कविता इससे इतनी मिलती-जुलती है कि इन दोनों ग्रंथों को कोई भी भिन्न-भिन्न कवियों की रचना नहीं कह सकता । तीसरे, हनुमान्-बाहुक के रचयिता की कविताएँ और प्रार्थनाएँ इतनी सच्ची तबियत से कही गई हैं कि उसे कोई कदापि जालिया और धोकेबाज़ नहीं कह सकता । चौथे, बाहु के दर्द का हाल गोस्वामीजी ने हनुमान्-बाहुक एवं दोहावली में बार-बार बड़े ही करुणोत्पादक शब्दों में कहा है, और वही बात कवितावली के भी दो छंदों में वर्णित है । इसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता कि यह विषय वेईमानी से वर्णित है, अतः कवितावली अवश्य गोस्वामीजी-कृत है ।

पंडितों ने इसका रचना-काल संवत् १६६६ से १६७१ के बीच में स्थिर किया है । उनका यह भी मत है—और हम भी ऐसा ही मानते हैं—कि यह पुस्तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि इसमें तुलसी-कृत रामायण-विषयक छंदों का एक जगह संग्रह-मात्र कर दिया गया है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें ठीक क्रम और प्रबंध से कथा नहीं वर्णित है । यथा—रामचंद्र का जन्म, कैकेयी का वरदान, शूर्पणखा का वृत्तांत, सीता-हरण, सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध, मेघनाद-वध और राम-राजगद्दी का इसमें कुछ भी हाल नहीं है । ग्रंथ बहुत ही रोचक, गंभीर, महत्त्व-पूर्ण तथा पूज्य है । उदाहरण—

“पग नूपुर औ’ पहुँची कर-कंजन, मंजु बनी मनि-माल हिए ;
नय नील कलेवर, पीत भँगा भलकै पुलकै नृप गोद लिए ।
अरबिंद-सो आनन रूप-मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए ;
मन में न बसो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए।”

हनुमान्-बाहुक

में छप्पय, वनादरी और सवैया-छंदों में रचना की गई है । इसमें ७ पृष्ठ एवं ४४ छंद हैं, तथा विशेष रूप से हनुमान्जी की स्तुति है । इसके कल्पित न होने के प्रमाण कवितावली में दिए गए हैं । यह एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है । इसमें प्रत्येक स्थान पर कवि की सच्ची और आप-वीती घटनाएँ लिखी हैं । इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । गोस्वामीजी ऐसे धर्मात्मा थे कि अपनी

बाहु-पीड़ा का कारण नहीं समझ सकते थे । इसमें इन्होंने लिखा है कि मैंने पातक नहीं किए, तो फिर यह पीड़ा क्यों पाता हूँ ? वह औषधादि से स्तुति को श्रेष्ठतर समझते थे, परंतु ऐसे प्रगाढ़ भक्त को भी दो-एक जगह साधारण देवतों पर अश्रद्धा-सी होती जान पड़ती है । इस ग्रंथ के उदाहरण गोस्वामीजी की जीवनी में मिलेंगे । भाषा आदि में यह कवितावली से मिलता है, परंतु साहित्य-प्रौढ़ता में उससे कुछ विशेष है ।

संकट-मोचन

में केवल ८ घनाक्षरियों द्वारा हनुमान्जी की साधारणतः अच्छी स्तुति की गई है । इसमें महिरावण का भी हाल दिया हुआ है । यह एक छोटा-सा बढ़िया स्तोत्र है, और जान पड़ता है कि हनुमान्-बाहुक से पहले बना । कारण, इसमें यह माँगा गया है कि मेरे जो कुछ संकट हों, उन्हें हनुमान्जी दूर करें । बाहु-पीड़ा उठने के पहले यह बना था, ऐसा अनुमान होता है । इसके किसी छंद में गोस्वामीजी का नाम नहीं आया; केवल अंत में यह दोहा दिया है—

यह अष्टक हनुमान को विरचित तुलसीदास ;

गंगादास जु प्रेम सों पढ़े होय दुख हुआस ।

गंगादास ने किसी समय इसका संपादन किया होगा ।

हनुमान्-चालीसा

में दो-दो पदों की एक-एक चौपाई गिनने से चालीस चौपाइयाँ होती हैं । इसमें हनुमान्जी की अच्छी स्तुति है, और प्रायः नित्य-प्रति बहुत लोग इसे स्तोत्र की भाँति पढ़ते हैं । रामशलाका में मानस की कुछ चौपाइयाँ ही शकुन विचारने को हैं । यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है ।

गीतावली-रामायण

११२ पृष्ठ एवं ३३० पदों की एक बहुत ही अपूर्व रामायण है । इसकी रचना क्रम-वद्ध की गई है । हिंडोले, होली आदि का वर्णन इसमें अच्छा किया गया है । विशेषता यह है कि भाषा की आधुनिक प्रणाली की भाँति इन महाकवि ने किसी स्थान पर शृंगार-वर्णन में भी कोई अश्लील या अनुचित उक्ति नहीं कही है । इसकी कथा रामायण की भाँति है, भेद इतना ही है कि गुह ने अयोध्या को एक पत्र भेजा कि रामचंद्रजी विराध को मारकर नर्मदा और विंध्याचल के बीच में बसे हैं, और उत्तर-कांड में रामचंद्र की दिनचर्या, जानकी-त्याग और लव-कुश-जन्म का भी वर्णन किया गया है, पर उनके कल्पित युद्ध को इन्होंने नहीं लिखा । किष्किंधा-कांड में बालि-मरण या सुग्रीव के राजतिलक का वर्णन कवि ने नहीं किया, उन्हें केवल राजा की तरह माना है । सुंदर-कांड में हनुमान्जी के समक्ष

सीता और रावण की बातचीत नहीं कराई गई है। इसके वर्णन बड़े ही अच्छे और जोरदार हैं। भाषा बड़ी ही मधुर, गंभीर और प्रशंसनीय है। इसमें युद्ध का वर्णन कम किया गया है। दो पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

जब रघुवीर पयानो कीन्हों।

छुभित सिंधु, लुगमगत महीधर, सजि सारंग कर लीन्हो ।
 सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके विधि त्रिपुरारि ;
 जटा-पटल ते चली सुरसरी, सकत न संभु सँभारि ।
 भए विकल दिगपाल सकल, भय-भारे भुवन दसचारि ;
 खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिँ अरि-नारि ।
 पवन पंगु, पावक, पतंग, ससि दुरि गए, थके विमान ;
 गए पूरि सर धूरि, भूरि भय, अग, थल, जलधि समान ।
 चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न वरनत भीर ;
 किलकिलात, कसमसत, कुत्ताहल होत नीर-निधि-तीर ।

जब रघुपति सँग सीय चली ।

विकल वियोग लोग, पुर-तिय कहैं अति अनियाव अली ।
 कोउ कह, सनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली ;
 कोउ कह, कटु-कुबेलि कैकयी दुख-विष-फलनि फली ।
 एक कहैं, वन-जोग जानकी ! विधि बड़ विषम बली ;
 तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलक दली ।

गीतावली की रचना बहुत अच्छी है। इसमें लालित्य एवं साधुर्य भरा हुआ है।

छंदावली-रामायण

१७ पृष्ठों का एक छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें विविध छंदों में कथा कही गई है। इसकी कविता साधारणी है। हमने इसकी कोई मुद्रित प्रति नहीं देखी। इसकी एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

सुभ सगुन अवध जनाय तेहि छिन होत मुद-मंगल महा ;
 सीतल सुगंध सुमंद मारुत, अमल जल सरजू बहा ।
 सुभ अंग फरकत, भरत के हिय हुलसि सुभ आनंद लहा ;
 तेहि काल श्रीहनुमान प्रभु को आय संदेसो कहा ।

पदावली-रामायण

पचास पृष्ठों का एक बृहत् ग्रंथ है, और इसकी रचना विशेषकर पदों में

की गई है। राम-जन्म इसमें कुछ विस्तार से कहा गया है, और कुछ अच्छा भी है, पर कुल मिलाकर यह ग्रंथ शिथिल है। इसकी कोई मुद्रित प्रति हमारे देखने में नहीं आई। हाँ, एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

भरतजू, कपि ते उरिन हम नाहीं।

सौ जोजन मरजाद सिंधु की, कूदि गयो छिन माहीं ;

वन विध्वंस, जारि गढ़, खल हाति, सिय-सुधि दिय हम काहीं।

लाय सजीविनि लखन जिआए, जे मम दाहिन बाहीं ;

तुलसिदास बलि बल हनुमत को श्रीमुख जाहि सिदाहीं।

जानकी-मंगल

में १३ पृष्ठ एवं २१६ छंद हैं। परशुराम का संवाद इसमें बरात लौटते समय कराया गया है। मानस तथा इसकी रचना में इतना ही अंतर है। इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन बढ़िया रीति और छंदों में किया गया है। इसकी रचना प्रशंसनीय और मानस से मिलती हुई है।

उदाहरण देखिए—

मंगल-विटप, मंजुल विपुल दधि, दूध, अच्छत, रोचना ;

भरि थार आरात सजहिँ सब सारंग-सावक लोवना।

देत पाँवड़े अरघ चलीं लै सादर ;

उमंगि चलेउ आनंद भवन, भुँइ, वादर।

यद्यपि पार्वती-मंगल की रचना भी इससे मिलती है, तथापि हम उसे कल्पित समझते हैं। मानस में गोस्वामीजी ने ये दोनो विवाह कहे हैं, परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोक-प्रियता दिखाकर अपने मुख्य उपास्य देव रामचंद्र की प्रच्छन्न रूप से महिमा एवं प्रभाव प्रदर्शित किया है। यदि गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता, तो वही बात यहाँ भी होती। जानकी-मंगल की रचना ऐसी अच्छी नहीं है कि कोई दूसरा कवि वैसी न कर सके। अतः इन दोनो की रचनाओं की समता हमारे इस मत में बाधक नहीं समझ पड़ती। दोनो ही पुस्तकें कल्पित अथवा तुलसी-कृत हो सकती हैं।

कृष्ण-गीतावली

में १४ पृष्ठ एवं ६१ पद हैं, जिनमें श्रीकृष्णचंद्र की बहुत-सी लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसकी रचना खास ब्रज-भाषा में की गई है। इसमें दो

छंदों में बाल-लीला, फिर कई पदों द्वारा उराहना, ऊखल-बंधन (जिसमें लकुटिया का वर्णन खूब है), गोवर्धन-धारण (बहुत ही मनोहर), कृष्ण-रूप-वर्णन (इसमें खंडिता के वर्णन में भी घृणित शृंगारी रचना नहीं की गई), कृष्ण का मथुरा-गमन और गोपी-विरह-वर्णन (उत्कृष्ट है), उद्धव-संवाद (३६ पदों में विस्तार-पूर्वक और बड़ा ही मनोहर एवं हृदयग्राही है) एवं दो पदों द्वारा द्रौपदी-चीर-हरण कहा गया है ।

गोस्वामीजी ने यह ग्रंथ ठेठ ब्रज-भाषा में लिखा है, और वर्णन-शैली भी कृष्ण-गुण-गान करनेवालों ही के समान है । फिर भी इन्होंने दिखला दिया है कि सुकवि शृंगार-विषय को भी अनुचित प्रेम-वर्णन से अलग रखकर बढ़िया ढंग से कह सकता है । यह ग्रंथ बड़ा ही सुंदर है, और गोस्वामीजी की सब विषयों के उत्तम रीति से वर्णन करने की शक्ति को प्रमाणित करता है । इस छोटे-से ग्रंथ में अच्छे वर्णनों और रुचिर छंदों की संख्या बहुत अधिक है । इसमें प्रेम-वर्णन भी बहुत अच्छे ढंग से किया गया है । इन्होंने साधारण नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम को छोड़कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है ।

उदाहरण—

वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन विसारौं ;
जोग, जुगुति अरु मुकुति विविध विधि वा मुरली पर वारौं ।
नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल - बिनोद निहारो ;
नाहिन रास - रसिक - रस चाख्यो ताते डेल सो भारो ।
ब्रज पर धन घमंड करि आए ।
अति अपमान विचारि आपनो कोपि मुरेस पठाए ।
दमकति दुसह दसौ दिसि दामिनि, ओ तम सघन गंभीर ;
गरजत घोर वारिधर धावत, प्रेरित प्रवल समीर ।
बार - बार पविषात, उपल धन वरखत बूढ़ विसाल ;
सीत सभीत पुकारत आरत गोसुत गोपी - ग्वाल ।

सतसई या राम-सतसई

में ७४० दोहे हैं । अधिकतर दोहों में राम-भक्ति अथवा भक्ति करने के उपदेश का वर्णन है । इसमें सात सर्ग हैं । इसकी कविता अधिकतर बढ़िया नहीं है, परंतु कुछ दोहे अच्छे भी हैं । कुछ पंडितों का विचार है कि इन सात सर्गों में क्रमशः प्रेमाभक्ति, परा-भक्ति उपासना, आत्मज्ञान, कर्म-सिद्धांत, ज्ञान सिद्धांत तथा राजनीति का दार्शनिक मतानुसार उपदेश है ।

उदाहरण—

का भाषा, का संस्कृत, विभव चाहिए साँच ;
 काम तौ आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥ १ ॥
 तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर ;
 बसीकरन यक मंत्र है, परिहरु वचन कठोर ॥ २ ॥
 है अधीन जाँचत नहीं, सीस नवाय न लेइ ;
 ऐसे मानी माँगनहिँ को बारिद विन देइ ॥ ३ ॥
 तुलसी सब छल छाँड़ि कै कीजै राम - सनेह ;
 अंतर पति सों है कहा, जिन देखी सब देह ॥ ४ ॥
 राम काम - तरु परिहरत, सेवत कलि - तरु ठूठ ;
 स्वारथ परमारथ चहत, सकल मनोरथ भूँठ ॥ ५ ॥

दोहावली

में ५७३ दोहे हैं, परंतु उनमें से अधिकतर रामचरित-मानस एवं अन्य तुलसी-कृत ग्रंथों के हैं। कितने ही सतसई के भी हैं। विशेषकर यह ग्रंथ एक संग्रह-मात्र है, और इसके दोहों का संग्रह गोस्वामीजी ही के ग्रंथों से हुआ है। संभव है, इसमें कुछ दोहे नवीन भी हों। कहते हैं, यह संग्रह टोडरमल के अनुरोध से गोस्वामीजी ने किया। यह टोडरमल महाराजा नहीं समझ पड़ते, वरन् गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल होंगे। इस ग्रंथ की रचना प्रशंसनीय है, और रामचरित-मानस के जो दोहे इसमें हैं, वे अधिकतर अच्छे हैं। इसमें भी सतसई की भाँति भक्ति का ही वर्णन हुआ है। भक्ति-पत्र के प्रतिपादन में ऐसे-ऐसे छंद इन महात्मा ने लिखे हैं, और उसे पुष्ट करने में ऐसे-ऐसे प्रमाण दिए हैं कि कुछ कहते नहीं बनता।

उदाहरण—

मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर ;
 सुजस - धवल चातक नवल रङ्गो भुवन भरि तोर ॥ १ ॥
 तुलसी जो पै राम सों नाहिन सहज सनेह ;
 मूढ़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ २ ॥
 राम - नाम मनि - दीप धरु जीह - देहरी द्वार ;
 तुलसी भीतर - बाहिरहु जो चाहसि उजियार ॥ ३ ॥

विनय-पत्रिका

में ६६ पृष्ठ एवं २८० पद हैं। कवि ने गणेशजी की वंदना से इसका आरंभ किया है, और फिर शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, हनुमान्, अन्नपूर्णा आदि

की स्तुति में बहुत-से उत्कृष्ट, मनोहर तथा गंभीर पद लिखे हैं। बिंदुमाधवजी का नख-शिख तथा काशी-कामधेनु के रूपक पढ़ने ही योग्य हैं। इसके पश्चात् आनंद-कंद श्रीरामचंद्र की स्तुति के पद कहे गए हैं। स्तुतियों में बहुधा बड़े-बड़े विशेषणों से काम लिया गया है। इस ग्रंथ में रूपकों का बाहुल्य है। जप, भक्ति तथा नाम-माहात्म्य का इसमें विशेष वर्णन है, और अंत में सब प्रकार से नाम पर भरोसा रक्खा गया है। अपने कुकर्मों पर भी आपने बड़ा जोर दिया है, और उद्धार के लिये इतनी विनती और किसी ग्रंथ में नहीं की है।

इसमें गोस्वामीजी ने अपने विषय में भी इधर-उधर कुछ बातें लिखी हैं। अपना ब्राह्मण होना एवं लङ्कपन से माता-पिता का वियोग वर्णित है। आपने इसमें अपना पहला नाम और शिष्य होने के समय का भी हाल लिखा है। गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ को एक प्रकार से अर्जों की भाँति लिखा है, और अंत में कहा है कि लक्ष्मण ने रामचंद्र से इसको मंजूर करा दिया। इसमें गोस्वामीजी ने व्रज-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है; परंतु संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्राधान्य है। कई स्थानों पर संस्कृत की संधियाँ आ गई हैं, और मिलित वर्णों का भी प्रयोग हुआ है। फिर भी भाषा में माधुर्य का अभाव नहीं। विनय में बढ़िया पदों का बाहुल्य अवश्य है, परंतु फिर भी यह सब स्थानों पर रोचक नहीं। प्रायः एक ही प्रकार के भाव बार-बार आ जाने से एकदम पढ़ने से इसमें वैसा मनोविनोद नहीं होता। फिर भी यह गोस्वामीजी के उत्तम ग्रंथों में से एक है। इसमें इनकी आत्मीयता प्रायः सब स्थानों पर वर्तमान है।

उदाहरण—

सेइय सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी ;
समनि सोक, संताप, पाप, रुज, सकल सुमंगल-रासी ।
मरजादा चहुँ और चरन वर सेवत सुरपुर-बासी ;
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिङ्ग अभित अविनासी ॥१॥

अव चित चेति चित्रकूटहि चलु ।

कोपित कलि, लोपित मंगल-मग, विलसत वदत मोह - माया - मलु ;
भूमि बिलोकि राम-पद-अंकित, वन बिलोकि रघुवर - बिहार-थलु ।
शैल - शृंग भव - भंग - हेतु लखु, दलन कपट, पाखंड, दंभ - दलु ;
न क बिलंब, बिचारु चारु मति, वरष पाछिले सभ अगिलेहु पलु ॥ २ ॥

विद्वानों ने विनय-पत्रिका के विषय को इन सात भागों में विभक्त किया है—
दीनता, मानसमर्षण, भय-दर्शन, भर्त्सन, आश्वासन, मनोराज्य और विचार ।
इसमें बहुतेरे देवतों की स्तुति की गई है, और भाव सच्चे तथा मनोहर हैं ।

बहुत-से पंडितों का मत है कि यह गोस्वामीजी के ग्रंथों में श्रेष्ठ है। हम भी इस ग्रंथ को प्रशंसनीय समझते हैं। विनय-संबंधी ऐसा अद्भुत और भाव-पूर्ण ग्रंथ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा। वेद भगवान् के पीछे सर्वोत्कृष्ट विनय-ग्रंथ यही जँचता है।

कलि-धर्माधर्म-निरूपण

में १० पृष्ठों द्वारा दोहे-चौपाइयों में कलि-धर्म बहा गया है। इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मनोहर और प्रशंसनीय ग्रंथ है। इसके तुलसी-कृत होने में कोई संदेह नहीं।

शिष्य-परंपरा आदि

शिष्य-परंपरा में रामगुलाम द्विवेदी और पं० शेषदत्त स्वयं गोस्वामीजी से संबंध रखते थे। कोदोराम शेषदत्तात्मज के शिष्य थे। इन महाशयों ने गोस्वामीजी के ग्रंथों पर विचार किया है, तथा भक्तमाल, हरिभक्ति-प्रकाशिका एवं भक्त-कल्पद्रुम में भी ऐसा ही हुआ है। बाबू शिवनंदनसहाय ने इन तथा अन्य आधारों पर विचार करके तथा हमारे हिंदी-नवरत्न पर भी ध्यान देकर गोस्वामीजी के असली ग्रंथों का निर्णय किया है। उनके निर्णय हमारे इस विषय के उपर्युक्त विचारों से प्रायः पूरे-पूरे मिल जाते हैं। खोज में गोस्वामीजी-कृत ज्ञानकोपरिकरण, मंगल-रामायण, गीता-भाष्य, राम-मुक्तावली, ज्ञानदीपिका, अंकावली, ध्रुव-प्रश्नावली, बानी, सूर्य-पुराण, नामगीता-स्वयंवर और कृष्ण-चरित्र, ये ग्रंथ और मिले हैं; पर हमने इन्हें देखा नहीं। तुलसी-त्रिशतजयंती (श्रावण-शुक्ला ७, संवत् १६८०) के अवसर पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने गोस्वामीजी के १२ ग्रंथों को प्रकाशित किया।

रामचरित-मानस को छोड़कर गोस्वामीजी के १५ ग्रंथ और कहे जाते हैं, जिनमें से कतिपय इसी नामवाले अन्य कवियों के हो सकते हैं। जैसा कि ग्रंथ में लिखा जा चुका है, आपकी शिष्य-परंपरा में कई महाशय स्वयं आप ही से संबंध रखते थे। इस परंपरा ने गोस्वामीजी-कृत ग्रंथों पर विचार करके मानस के अतिरिक्त रामलला-नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा, दोहावली, गीतावली-रामायण, कवितावली-रामायण, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका को तुलसी-कृत माना है। परंपरा के विचारों को दृढ़ मानना ठीक ही था; किंतु उनके असली माने हुए कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें कथित विचार रामचरित-मानस के कुछ दृढ़ विचारों के प्रतिकूल पड़ते हैं। जैसे वैराग्य-संदीपिनी में लिखा है कि ज्ञान भक्ति का भूषण है, और अंतिम सुख शांति से मिलता है, न कि भक्ति से। ये विचार शुद्ध हों अथवा अशुद्ध, किंतु मानसकार

के विचारों से पूर्णतया अनमिल हैं। हमारी धारणा है कि ये विचार महात्मा तुलसीदास के नहीं हो सकते। इसी प्रकार रामलला-नहछू में नाइन, भाटिन आदि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण वर्णन है, जो गोस्वामीजी की लेखनी से नहीं निकल सकता था। इसमें परिहास की मात्रा इतनी बड़ी हुई है कि राम-लक्ष्मण महाराजा दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं, ऐसा भी कह डाला गया है। हमें इन दोनों शिथिल ग्रंथों को तुलसी-कृत मानने में पूर्ण संकोच है। यदि शिष्य-परंपरा द्वारा असली मानी हुई ग्रंथावली में एक बार कुछ भी घटाव-बढ़ाव हो जाय, तो शेष ग्रंथों पर भी स्वतंत्र विचार करना ही पड़ता है।

शिष्य-परंपरा द्वारा माने हुए ग्रंथों में से हमें उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त वरवै-रामायण, पार्वती-मंगल तथा रामाज्ञा-प्रश्न भी कल्पित जँचते हैं। वरवै-रामायण के कई छंद ऐसे उत्कृष्ट हैं, जो किसी भी कवि के यश को वर्द्धित कर सकते हैं। फिर भी उपर्युक्तानुसार इस ग्रंथ की रचना-प्रणाली कई स्थानों में गोस्वामीजी की प्रणाली से प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है। यह ग्रंथ किसी सत्कवि द्वारा रचित अवश्य है, किंतु वह कवि कोई दूसरा तुलसीदास होगा। मानस में गोस्वामीजी ने पार्वती के विवाह की दुरवस्था तथा सीताजी के विवाह की उत्तमता दिखलाकर एक प्रकार से अपने इष्ट देव की महत्ता प्रकट की है। यह बात पार्वती-मंगल में नहीं है, केवल इतनी ही कमी इस ग्रंथ में शैथिल्य के अतिरिक्त है भी। हम इसे कल्पित अवश्य मानते हैं, किंतु बहुत दृढ़ता-पूर्वक नहीं। इसकी रचना-शैली जानकी-मंगल से बहुत मिलती है, किंतु दोनों ग्रंथ शिथिल हैं, और इनसे गोस्वामीजी की महत्ता नहीं बढ़ सकती। रामाज्ञा-प्रश्न में गोस्वामीजी के से विचार अवश्य हैं, किंतु इसकी रचना ऐसी शिथिल है कि इसे गोस्वामीजी-कृत कहने की जी नहीं चाहता। उपर्युक्त छ ग्रंथ मानसकार को दीप्ति भी नहीं देते।

शिष्य-परंपरा द्वारा असली माने हुए शेष ग्रंथों में दोहावली और कृष्ण-गीतावली अच्छे हैं। गीतावली इनसे भी श्रेष्ठ है, और विनय-पत्रिका तथा कवितावली परमोत्कृष्ट हैं। हनुमान्-वाहुक शिष्य-परंपरा में कवितावली का अंग माना गया है, किंतु हमें यह पृथक् ग्रंथ समझ पड़ता है। साहित्यिक प्रौढ़ता में यह उससे भी बड़ा-चढ़ा जान पड़ता है। विनय-पत्रिका में हमें प्रायः ५० पद परमोत्कृष्ट देख पड़ते हैं, गीतावली में प्रायः ७५ और कवितावली में प्रायः ५०। इनमें उत्कृष्ट छंद कुछ और भी हैं, किंतु परमोत्कृष्ट इतने ही समझ पड़ते हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी श्रीराम के पीछे हनुमान् को ही मुख्य मानते थे। यह बात मानस में तो अति प्रकट नहीं है, किंतु इतर ग्रंथों में स्पष्ट है। आपका रामशलाका-नामक एक और ग्रंथ है, जो स्वतंत्र न होकर मानस से चुने

गए चौपाई-छंदों का संग्रह है, जिनसे प्रश्न उठाए जाते हैं। संकट-मोचन ग्रंथ को आपके मित्र गंगादास ने आप ही के छंदों से संकलित किया। हनुमान्-चालीसा एक प्रकार का सुंदर स्तोत्र है।

मानस को छोड़कर गोस्वामीजी-कृत शेष ग्रंथों से उत्कृष्ट छंद छूँटकर यदि तुलसी-सुधा अथवा अन्य नाम से कोई संग्रह बनाया जाय, तो सौ-सवा सौ पृष्ठों का एक परमोत्कृष्ट ग्रंथ बन सकता है। अभी मानस के अतिरिक्त आपके ग्रंथों का विस्तार प्रायः ७०० पृष्ठों का है, जिनमें हर स्थान पर राम-भक्ति का आनंद तो मिलता है, किंतु तादृश साहित्य-गौरव प्रत्येक पृष्ठ पर नहीं है। मानस को पढ़कर गोस्वामीजी-कृत साहित्य-विषयक जो उच्च विचार उठते हैं, वे इनके अन्य ग्रंथों से पूर्णरूपेण दृढ़ नहीं होते। यदि उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथ बनाया जाय, तो वह मानसकार को भी गौरव प्रदान कर सकता है। फिर भी आपकी साहित्यिक महत्ता मानस पर ही निर्भर है, और इनके शेष ग्रंथ निकाल डालने से भी इनका नंबर साहित्य-गौरव में अटल रहेगा, किंतु मानस के निकल जाने से अन्य सब ग्रंथ मिलकर भी शायद इन्हें हिंदी-नवरत्न में स्थान न दिला सकें। ऐसे कथन में मतभेद संभव है, किंतु हमारे अपने विचार इसी प्रकार के हैं।

रामचरित-मानस (तुलसी-कृत रामायण)

राम-कथा कलि कामद गाई; सुजन सजीवन - मूरि सुहाई।

साइ वसुधा - तल सुधा - तरंगिनि; भय-भंजनि भ्रम - भेक-सुअंगिनि।

बुध - विसराम, सकल जन-रंजनि; राम-कथा कलि - कलुष-विभंजनि।

असुर-सेन - सम नरक-निकंदिनि; साधु विबुध-कुल हित गिरिनंदिनि।

संत - समाज - पयोधि रमा - सी; विश्व - भार-धर अचल छमा-सी।

राम - कथा सुंदर करतारी; संसय - विहंग उड़ावनहारी।

राम - चरित चिंतामनि चारु; संत - सुमति - तिय सुभग सिंगारु।

राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेख पावा तिन नाही।

इस संसार-साहित्य के मुकुट की रचना का श्रीगणेश संवत् १६३१ विक्रमीय, राम-नवमी, भौमवार को हुआ। गोस्वामीजी ने इसके आदि में संस्कृत के छ श्लोकों द्वारा वाणी, विनायक, भवानी, शंकर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और मायाधेश राम-नामवारी ईश्वर हरि (रामाख्यमीशं हरिम्) की वंदना की है, और फिर सप्तम श्लोक में अपने ग्रंथ के आधार और रचना का कारण लिखा है। यह महाशय वाल्मीकीय रामायण में कथित, नाना-पुराण - निगमागम - सम्मत तथा अन्यत्र की बातों को अपना आधार मानते और अपने अंतःकरण की प्रसन्नता के अर्थ राम-कथा कहते हैं। हिंदी में गोस्वामीजी ने पाँच सौ ठों

द्वारा गणेश, परमेश्वर (राम), विष्णु, शिव और गुरु नरहरिदास की वंदना की है । फिर २८ पृष्ठों तक यह वंदनाएँ ही लिखते चले गए हैं । यही रामायणांतर्गत बाल-कांड की जगद्विख्यात वंदना है । इसमें कवि ने क्रम से गुण, संत-समाज, सत्संगति, खलगण और जीव-मात्र की स्तुति करके रामायण और कविता का कुछ हाल कहा है । इन्होंने स्वयं अपनी प्रचंड बुराईयों कहकर औरों की निंदा न करने का अनुरोध किया । फिर व्यास आदि पुराने तथा कलि के कविगण, नारद, सुर-सरिता, महेश, भवानी, वाल्मीकिजी इत्यादि एवं प्रायः सभी देवता, दैत्य आदि की स्तुति की है । उसमें स्थान-स्थान पर दुर्जनों और कुपात्रों की व्यंग्य द्वारा खूब ही निंदा की है । उसके बाद यह लिख दिया है—

सियाराम-मय सब जग जानी, करौं प्रणाम सप्रेम सुबानी ।

गोस्वामीजी ने राम, नाम, कथा आदि का भी अच्छा माहात्म्य कहा है । अंत में रामायण का बहुत बड़ा रूपक—मान - सरोवर के रूप में—बाँधा गया, और उसमें रामचरित-मानस की मानस से प्रायः सभी बातों में समता दिखाई गई है ।

गोस्वामीजी ने अपनी कथा, पुराणों की भाँति, अन्य महाशयों के वार्तालाप के रूप में कही है । ऐसा करने से तुकांत रखने और छंदों के खाली भागों के भरने का सुवीता रहता है । यह रामायण याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, शिव और पार्वती तथा काकभुशुंड और गरुड़ के संवाद-रूप में है । कुछ पंडितों ने शिव-पार्वती-संवाद को ज्ञान - घाट, याज्ञवल्क्य - संवाद को कर्म-कांड-घाट, काकभुशुंड - गरुड़ - संवाद को उपासना-घाट तथा गोस्वामीजी और मनु के संवाद को दैन्य-घाट माना है । ये संवाद मिलाने को गोस्वामीजी ने सती-मोह, दत्त-यज्ञ और पार्वती-विवाह के वर्णन कुछ विस्तार के साथ किए हैं । अंतिम वर्णन में सदन-दहन भी आ जाता है । याज्ञवल्क्य प्रायः आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के थे, जिनका विशेष माहात्म्य बृहदारण्यकोपनिषत् में है । उधर भरद्वाज प्रायः तेरहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के वेदर्षि थे, जिन्होंने ऋग्वेद का छठवाँ मंडल गाया । आप याज्ञवल्क्य से विशेष महत्ता-युक्त थे । फिर भी गोस्वामीजी ने इन्हें याज्ञवल्क्य के साथ शिष्य की भाँति दिखलाया है, जो बात कुछ अनुचित-सी है ।

बाबू मुखदेवलाल ने दोहा, चौपाई, छंद आदि के विषय में रामायण-महामाला दिखाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है, और यह दिखाया है कि प्रत्येक स्थान पर आठ-आठ अर्द्ध - चौपाइयों के पीछे दोहे और इसी प्रकार

गणनानुसार अन्य छंद हैं। यह मत २१वें तथा २२वें पृष्ठ की चौपाइयाँ देखने एवं अन्य कितने ही स्थानों पर इस गणना के टूटने से खंडित हो जाता है। उन्होंने अपना मत पुष्ट करने को जहाँ कहीं चौपाइयाँ अधिक हो गई हैं, वहाँ उन्हें छोड़ दिया है, और जहाँ कम हो गई हैं, वहाँ दोहों में ढेर-फेर कर दिया है। उनका मत समर्थनीय नहीं है। मानस के संबंध में लोग प्रायः अर्द्ध-चौपाई को ही चौपाई मानते हैं। यद्यपि दोहा, सोरठा और चौपाई भी छंद ही हैं, तथापि गोस्वामीजी ने इनसे भिन्न छंदों को ही छंद करके लिखा है। अतः हम भी इस प्रबंध में ऐसा ही कहते हैं। पृष्ठों की संख्या जहाँ लिखी हो, वहाँ इंडियन-प्रेस में छपी हुई रामायण की बड़ी साँची के पृष्ठ समझने चाहिए। ६८ पृष्ठों तक गोस्वामीजी ने एक प्रकार से रामायण की भूमिका लिखी है। उसके बाल-कांड का अंश होने पर भी हम वास्तविक बाल-कांड का प्रारंभ ६८वें पृष्ठ से समझते हैं, जहाँ से राम-जन्म के कारणों का वर्णन शुरू हुआ है।

गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथ का नाम रामचरित-मानस रक्खा, और उसके विभागों को सोपान लिखा है, परंतु लोगों में रामायण और कांड के नाम से उनका अधिक प्रचार हुआ। अतः इस लेख में जहाँ मानस अथवा रामायण नाम आए हों या आवें, वहाँ यदि प्रसंग से दूसरा ग्रंथ न निकले, तो इसी ग्रंथ से प्रयोजन समझना चाहिए।

इस स्थान पर रामायण के आधारों का भी कुछ कथन कर देना अनुचित न होगा। गोस्वामीजी के पूर्व रामायण की कथा महाभारत, पुराणों आदि के अतिरिक्त विशेषता के साथ वाल्मीकीय रामायण, ब्रह्मांड-पुराणांतर्गत अध्यात्म-रामायण, प्रसन्न-रावण, महावीर-चरित्र, उत्तर राम-चरित्र (दोनों भवभूति-कृत) तथा हनुमत्कांड में कथित है। ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी के पूर्व चारों वेदों में तो भगवान् का सूक्ष्म वर्णन है। किंतु पीछे उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म की विशेषता रही, जिसका प्रचार भारतीय जनता के विशेषतया अपठित होने से लोकायत-मत (चार्वाक-सिद्धांत) के आगे कट गया, और देश में अनीश्वरता चलने लगी। इसी के अनुसार जैन और बौद्ध-मत चले। अनंतर ईश्वरवाद की रक्षा के विचार से अधिक लोक-ग्राह्य सगुणवाद के साथ परम शुद्ध परब्रह्म के स्थान पर अपरब्रह्म के प्रचार का समय आया, तब ख्रीष्ट-पूर्व छठी या पाँचवीं शताब्दी में पहले तो वासुदेव-मत चला, जो एक प्रकार से अवतार-गर्भित था, क्योंकि स्वयं वासुदेव अवतार - से थे। अनंतर श्रीभगवद्गीता में सगुणवाद के साथ कृष्ण-अवतार का विचार चला, तथा समय के साथ इनका वासुदेव से एकीकरण हो गया। गीता में विष्णु सगुण ब्रह्म थे। उन्हीं के अवतार कृष्ण थे।

गीता ने ईश्वरवाद को जनता में चलाने के विचार से थोड़ी-से-थोड़ी स्थूलता हिंदू-मत में आने दी । किंतु जनता स्थूलता से ही प्रसन्न थी । अतएव पुराणों द्वारा वह समय के साथ बढ़ती गई ।

जब अपने धर्म में शंकर स्वामी ने आठवीं शताब्दी में स्थूलता की महती वृद्धि देखी, तब तर्कवाद चलाकर रत्नत्रय द्वारा इसका निराकरण करना चाहा । अनंतर मुसलमानों के आने और उनके द्वारा एकेश्वरवाद पर विशेष हठ होने से ग्यारहवीं शताब्दी में महर्षि रामानुजाचार्य को तर्कवाद के साथ भक्तिवाद जोड़ना पड़ा । फिर भी उन्होंने अपने संप्रदाय में शूद्रों को स्थान न दिया था, जिससे इनकी उदासीनता से समाज में संगठन की कमी थी, तथा मुसलमानों के धार्मिक प्रसार के प्रतिकूल हिंदुओं का समुचित प्रभाव नहीं पड़ता था । अतएव चौदहवीं - पंद्रहवीं शताब्दी में महर्षि रामानंद ने शूद्रों का भी मान अपने संप्रदाय में किया तथा कवीर जोलाहे, रैदास (चमार), सेन (नाई), धना कसाई आदि को भी शिष्यत्व में लिया । मुस्लिम कट्टरता के कारण अब तर्कवाद की आवश्यकता न रह गई थी, जिससे तुलसीदास ने उसका त्याग करके केवल भक्तिवाद को रामायण में चलाया । आपने कहा—

चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जायँ वुद्धि - बल - वानी ।

यह विचारि जे चतुर विरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी ।

“जाति - पाँति पूछे ना कोय, हरि का भजे, सो हरि का होय ।”

यह वाक्य रामानंद के समय से ही चल रहा था । आपका मानस चलता तो मुख्यतया वाल्मीकीय रामायण पर है, तो भी अध्यात्म-रामायण की ओर बहुत कुछ झुकता है । आपने राम की महत्ता बढ़ी हुई दिखलाई है । इसी से केवल धनुष-कर्णवाले जनक के प्रण को धनुष-भंग का ही प्रण बतलाया है, जिसमें राम का कोई दोष न निकले । सीता की पृथ्वी से उत्पत्ति की कथा छोड़ दी है, तथा धनुष-भंग भरी सभा में दिखलाया है, न कि वाल्मीकि की भाँति निराले में । इसीलिये परशुराम का आगमन भी सभा ही में कहा गया है, न कि वाराण के पलटने पर ! अयोध्या-कांड इनका बहुत कुछ स्वतंत्र है । लंका में वाल्मीकि के विभीषण से हनुमान् से भेंट नहीं हुई, और न उन्होंने सीता का पता बतलाया । उनके रावण ने लात भी न मारी, केवल राजभक्ति पर व्यंग्य द्वारा आक्षेप किया । गोस्वामीजी ने रावण का अपराध बढ़ाकर लिखा है । वन-विध्वंस के विषय में वाल्मीकि के हनुमान् ने सीता से आज्ञा नहीं ली । अयोध्या-कांड के महर्षिवाली सीता - लक्ष्मण आदि के विचार कुछ उग्र हैं, जिन्हें गोस्वामीजी ने सौम्य कर दिया है । वाल्मीकि ने रामेश्वर की स्थापना का कथन

नहीं किया है। गोस्वामीजी पर महारामायण का कुछ प्रभाव है, तथा अध्यात्म का विशेष। वाल्मीकि ने पहले केवल पंचकांडात्मिका रामायण पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसा-पूर्व में रची, जो दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व पर्यंत बाल-कांड तथा उत्तरकांड के बढ़ने से सप्तकांडात्मिका हो गई। गोस्वामीजी ने अपना उत्तर-कांड एक अनोखे ढंग से लिखा है, जिसमें लव-कुश-चरित्र नहीं है, क्योंकि उसका राम-सीतावाला वियोग इन्हें असह्य था। अहल्या के विषय में वाल्मीकि ने उसे ऐंद्रिय सुख-शून्य पाषाणवत् रहने को लिखा है। किंतु गोस्वामीजी ने पाषाण ही करके राम का माहात्म्य बढ़ाया है।

अध्यात्म-रामायण में केवल उमा-महेश्वर-संवाद है, किंतु गोस्वामीजी ने गरुड़-भुशुंडि तथा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद भी जोड़े हैं। सती-चरित्र, काम-दहन, पार्वती-मंगल, भानुप्रताप आदि की कथाएँ अध्यात्म में नहीं हैं। जनकपुर की फुलवारी भी नहीं है, न लक्ष्मण-कोप। अंगद-रावण के अनुचित संवाद भी उसमें नहीं है। वाल्मीकि के मूल-भाग में राम केवल राजपुत्र हैं, तथा नवीन भागों में अवतार भी, जहाँ व्यूह-पूजन का भी कथन है। वाल्मीकि लक्ष्मण को चार आने कहते हैं तथा भरत को दो आने। गोस्वामीजी का कथन इसके प्रतिकूल है। अध्यात्म-रामायण में राम विष्णु के अवतार हैं। इधर तुलसी-कृत में वह “विधि हर विष्णु नचावनहारे” परब्रह्म हैं। अध्यात्म में सीता लक्ष्मी हैं, किंतु तुलसी-कृत में आदि-शक्ति। प्रसन्न-राघव का लक्ष्मण-परशुराम-संवाद गोस्वामीजीवाले से मिलता है। उत्तर-राम-चरित्र की कुछ उक्तियाँ-मात्र गोस्वामीजी ने ला हैं। यही दशा हनुमन्नाटक की है।

गोस्वामीजी पर योरपियनों में H. H. Wilson ने १८३१ में विचार किया तथा गार्साद तासी ने १८३६ में। ग्राउस साहब ने रामायण का उल्था अँगरेजी में किया। लाला सीताराम ने १६०८ में कुछ लिखा, तथा १६१० में हमारा हिंदी-नवरत्न पहलेपहल निकला।

अब गोस्वामीजी के कांडों के वर्णन उठाने के पूर्व हम उनके विषय में दो-चार बातें लिखना चाहते हैं।

गोस्वामीजी राजा को ईश्वर का अंश समझते थे—

साधु, सुजान, सुसील नृपाला : ईस-असंभव, परम कृपाला।

यद्यपि कथा की रचना ‘स्वान्तःसुखाय’ करते थे, फिर भी इनकी राय थी कि जिस कविता का आदर बुधजन न करें, वह वृथा है—

जो प्रबंध बुध नहिँ आदरहीं, सो सम वादि बाल कवि करहीं।

इन्होंने पुरानी कथाओं की प्रतिकूल घटनाओं और पौराणिक अन्य विरोधों

का इस प्रकार समर्थन किया है कि हर कल्प में प्रभु का अवतार होता है, और वह विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं। इसलिये विरोधों को कल्प-भेद के कारण यथार्थ मानना चाहिए। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अग्राह्य है ही, किंतु पंडित लोग ऐसा कहा अवश्य करते हैं। इन्होंने ऐसा निरभिमान-भाव या नम्रता दिखाई कि कोरे कागज़ पर लिख दिया कि मुझको भाव-भेदादि नहीं ज्ञात हैं। आप सरयू-नदी को मानस-नंदिनी कहते हैं। जान पड़ता है, इन्होंने सरयू के उद्गम-स्थान को देखा था। सरयूजी पहले कौडियाली नाम धारण कर मानस से निकलती हैं।

निर्जीव पदार्थों की सजीवतावाली चरम सीमा उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ हिमाचल ने सब वन, सागर, नदी और तालाबों को न्योता भेजा, और वे सब काम-रूप सुंदर शरीर रखकर वहाँ जा पहुँचे। गोस्वामीजी 'रोदति, वदति' बहुत लिखते हैं—

रोदति, वदति बहु भाँति करुना करति संकर पहुँ गई ।

विवाह के अवसर की गालियाँ केशवदास ने अच्छी लिखी हैं। गोस्वामीजी अपनी कथाओं के सुनने का फल बहुधा कह देते हैं, और कथाएँ कहकर प्रायः उनका प्रभाव श्रोताओं के प्रति वर्णन करते हैं। यथा—

संभु-चरित मुनि सहज सुहावा ; भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ।
बहु लालसा कथा पर वाढ़ी ; नैन - नीर, रोमावलि ठाढ़ी ।
प्रेम-विवस मुख आव न बानी ; दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी ।
जब भुशुंडि ने कथा समाप्त की, तब गरुड़ की भी यही दशा हुई—

सादर खगपति पंख फुला ।

अवतार का कारण इन्होंने यह कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, ब्राह्मणों आदि को दुःख होता है, तभी ईश्वर अवतार लेते हैं। यही गीता का भी मत है। अन्य कवियों की भाँति यह भी नाम कहने में मुख्य नाम न कहकर उनका कभी-कभी अर्थ-मात्र कह देते हैं। यथा—हिरण्यकशिपु के स्थान पर कनककशिपु, हिरण्याक्ष के स्थान पर हाटकलोचन। यदि कोई महाशय भूमिका को 'कुका' अथवा 'सागरांवराका' कहें, तो पता लगना कठिन हो जाय, परंतु नामों के विषय में यह रीति भाषा और संस्कृत, दोनों में प्रचलित है। क्षत्रियों और राजों को यह कुटिल तथा अविश्वास-पात्र समझते थे—

वैरी, पुनि क्षत्री, पुनि राजा ; छल-बल कौन्ह चहै निज काजा ।

इन्होंने ब्राह्मणों को मांसाहारी कहा, और यह भी लिखा कि वे क्षत्रियों का परोसा खाते थे—

विविध मृगन कर आमिष रँधा ;

× × ×
परसन लाग जवै महिपाला ;

गोस्वामीजी इतने बड़े भक्त थे कि श्रेष्ठ मनुष्यों की कौन कहे, राजसों तक को रामचंद्रजी के सम्मुख लाकर दर्शन के आनंद में मग्न कर देते थे। मारीच, विभीषण और कुंभकर्ण की राम से भेंट करने के समय की दशा देखिए। यह प्रायः सगुन-असगुन का ध्यान रखते थे। इसमें केवल राम-सीता का वनवास होने के प्रथम सगुन दिखाने में, देखने-भर को, विरोध देख पड़ता है, परंतु शायद यह उनकी वन-यात्रा मांगलिक समझते थे, अतः सगुन दिखाना अनुचित न था।

संकर-चाप जहाज, सागर रघुवर - बाहु - बल ;

बूड़े सकल समाज चढ़े जु प्रथमहि मोह - बस ॥

इस सोरठे के विषय में कुछ लोग यह कहते हैं कि जब गोस्वामीजी 'बूड़े सकल समाज' यह लिख गए, तो उनकी लेखनी रुक गई—वह आगे कुछ न लिख सके ; क्योंकि सब समाज में तो जनक, विश्वामित्र और स्वयं राम भी थे। इस पर महावीरजी ने 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' बनाकर सोरठा ठीक कर दिया। परंतु यह बात बिल्कुल उपहासास्पद है, क्योंकि यह पद लिखने के लिये गोस्वामीजी पहले ही से चार चौपाइयों में, 'झुवनेवालों का समाज' बना चुके थे, जो 'सबकर संसय यरु अज्ञान' से 'चहत पार नहीं कोउ कनहारा' तक लिखा है। तब उनकी लेखनी क्यों रुकती, और 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' लिखने के लिये हनुमान् को क्यों कष्ट उठाना पड़ता ? आपने रावण और बाण को धनुष-यज्ञ में इस कारण नहीं उपस्थित किया कि उन्हें परशुराम द्वारा सब राजों को भय-विह्वल बनाना इष्ट था, और उन्होंने संभवतः रावण और बाण की ऐसी दुर्दशा करानी उचित नहीं समझा होगा। गोस्वामीजी की चौपाइयाँ प्रायः दीर्घांत होती हैं, इसी कारण हजारों स्थानों पर इनको ह्रस्वांत शब्द दीर्घांत करने पड़े हैं।

बाल-कांड

इन्होंने रामावतार होने के कुछ कारण दिए हैं, जिनको हमने बाल-कांड का आदिम भाग माना है। यथा—सबसे प्रथम जय और विजय का शाप ; द्वितीय, जलंधर-युद्ध-संबंधी उसकी स्त्री का शाप ; तृतीय, नारद-मोह और उनका विष्णु को शाप ; चतुर्थ, स्वयंभुव मनु और शतरूपा रानी का तप करना ; पंचम, राजा भानुप्रताप को विप्र-शाप होना। इसमें नारद-मोह, मनु-तपस्या और भानुप्रताप की कथाएँ बहुत ही ललित रीति से कही गई हैं। आपने लिखा है

कि उपर्युक्त भानुप्रताप, उसका भाई अरिमर्दन और सचिव भर्मरुचि क्रम से रावण, कुंभकर्ण और विभीषण हुए। रावण और उसके कुटुंबियों के प्रभाव एवं दिग्विजय आदि का वर्णन गोस्वामीजी ने बहुत ही ज़ोरदार और प्रशंसनीय किया है। आपने उसको यहाँ तक कहा कि—

ब्रह्म सृष्टि जहाँ लगी तनु-धारी ; दसमुख-वसवर्ती नर-नारी ।

तत्पश्चात् निशाचर लोग बहुत ही अनीति करने और ऋषियों को सताने लगे, यहाँ तक कि—

अतिसय देखि धरम कइ हानी ; परम सभित धरा अकुलानी ।

तब तो उसकी विनती सुन परब्रह्म परमेश्वर ने रामचंद्र के रूप में अवतार लेने की प्रतिज्ञा की। इधर अयोध्याधिपति महाराज दशरथ का चौथापन आ चुका था ; तथापि अपने कोई पुत्र न देख उन्हें चिंता उत्पन्न हुई। अंत को वशिष्ठजी के परामर्श से उन्होंने शृंगी ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इस यज्ञ का चरु रानियों को इस प्रकार बाँटा गया कि कौशल्या को आधा भाग और कैकेयी को चतुर्धश दिया गया, शेष के दो भाग करके कौशल्या और कैकेयी द्वारा सुमित्रा को दिए गए। यथासमय रानियों के पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकिजी ने १ में लक्ष्मण को तथा १ में भरत और शत्रुघ्न को रक्खा है ; परंतु आप तो शूरता के सामने भक्ति को प्रधान मानते थे, अतः इन्होंने भक्त-शिरोमणि भरतजी को मुख्य रक्खा। इन्होंने बाल-लीला का अच्छा कथन किया है, पर यह कहना ही पड़ता है कि सूरदास का यह वर्णन इनसे कहीं अच्छा है। तुलसीदास ने श्रीरामचंद्र का यश कहा है, और सूरदास ने श्रीकृष्णचंद्र का। गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक था, परंतु दुर्भाग्य-वश उनके नायक श्रीरामचंद्रजी ने स्वयं ईश्वरत्व का दावा बहुत ही कम किया। उधर सूरदास को इसका वर्णन बहुत नहीं रुचता था ; पर श्रीकृष्णचंद्र का वह शौक बड़ा-चढ़ा हुआ था— वह प्रायः अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे। इस प्रकार नायक को कवि और कवि को नायक अच्छे मिल गए थे, और लेखा-ड्योढ़ा मिलाने से ईश्वरत्व की मात्रा किसी में कहीं अणु-मात्र भी कम नहीं पड़ने पाई है। इतने ही में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को माँगने आए; पहले दशरथ ने उनके साथ राजकुमारों को भेजना अस्वीकार कर दिया। ऋषिवर इससे अप्रसन्न नहीं हुए। वह तो क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ही कर चुके थे। केशवदास का इस अवसर पर यह लिखना कि “जान्यो विश्वामित्र के क्रोध बढ़यो उर आय।” अनुचित है। ताड़का और सुबाहु को मार, विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण कर और अहल्या (वैदिक अहल्या) को तारकर श्रीरामचंद्रजी सीता-स्वयंवर देखने को मिथिलापुरी में जा पहुँचे।

जनकपुरी में कुछ रामचंद्र ही प्रधान न थे, तो भी गोस्वामीजी ने उन्हीं का मुख्यता सभी बातों में सभी जगह रखी है ; यहाँ तक कि कथन तो जनकपुरी का करने चले, पर वहाँ भी राम ही का वर्णन होता रहा । जनकपुर कैसा था, और उसके निवासी कैसे थे, इस वर्णन को प्रधानता नहीं दी गई, वरन् यह लिखा गया कि मिथिलापुरी के लोग रामचंद्र को यों देखते और उनके विषय में यों बातें करते थे—इत्यादि । वस, जहाँ देखिए, वहाँ राम-ही-राम हैं । क्या विश्वामित्र और जनक का संवाद, क्या धनुष-यज्ञ का वर्णन, क्या राम की वन-यात्रा और ऋषियों के आश्रमों का वर्णन, सर्वत्र राम ही की बात प्रधान है । मुख्य विषय की मुख्यता बहुत कम है । राम जहाँ-जहाँ जाते थे, उन स्थानों का वर्णन गोस्वामीजी को अन्य कवियों की भाँति अभीष्ट नहीं । वह हमारी समझ में तो सदैव सर्वत्र उन स्थानों और पदार्थों के सहारे राम ही का वर्णन करेंगे । यदि कोई ग्रंथ पूर्ण रूप से 'रामायण' कहाने के योग्य है, तो यही है ।

'फुलवारी-वर्णन' से शृंगार-रस के कथन में भी इन महाराज की अनुपम कवित्व-शक्ति और प्रौढ़ता प्रकट होती है । रामचंद्र जब से धनुष तोड़ने उठे, और जब तक उन्होंने उसे तोड़ा, इस बीच में इन कविवर ने अपनी सारी कवित्व-शक्ति खर्च कर दी है । अन्य कवियों ने सभा-भंग होने के पश्चात् श्रीराम से धनुष तुड़वाया है, मगर आपने ऐसा करना उचित नहीं समझा, और भरी सभा में राम का यश बढ़ाना ठीक माना । रामचंद्र का नख-शिख भी इन महाकवि ने कई जगह लिखा, जो प्रायः सभी कहीं सुंदर बन पड़ा है । कई स्थानों पर तो इन वर्णनों की छुटा अनिर्वचनीय है । रामचंद्र का यश बढ़ाने तथा अन्य राजों का भगड़ा मिटाने के विचार से ही आपने परशुराम को भी भरी सभा में ही बुलाया, और उनसे बातें कराने में रामचंद्र का गांभीर्य एवं गौरव भी खूब ही निवाहा । हाँ, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद अवश्य ही अच्छा नहीं जान पड़ता । इस पर आगे लिखा जायगा । विवाह की रीतियाँ इन्होंने खूब ही सांगोपांग लिखी हैं ।

बाल-कांड में १८६ पृष्ठ हैं । उनमें से ६८ पृष्ठों में भूमिका एवं शेष में कथा वर्णित है । यों तो समस्त बाल-कांड की रचना परमोत्कृष्ट है, तथापि उसमें भी वंदना, मदन-दहन, नारद-मोह, प्रतापभानु का उपाख्यान, पृथ्वी तथा अहल्या की स्तुति, राम-जन्म के छंद, फुलवारी-वर्णन और धनुष-यज्ञ, ये स्थल बहुत ही सुंदर हैं । इस कांड के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा; सुरुचि - सुवास, सरस अनुरागा ।

अभिय - मूरि - मय चूरनु चारू ; समत सकल भव - रुज - परिवारू ।

सुकृत-समुत्तन विमल विभूती ; मंजुल मंगल मार - प्रसूती ।
जन-भन मंजु मुकुर मल-हरती ; किए तिलकु गुन-गन-वस-करनी ।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन अभिय दृग - दोष - विभंजन ।
तेहि करि विमल विवेक विलोचन ; वरनउँ राम-चरित भव - मोचन ।

जनम सिंधु, पुनि बंधु विष, दिन मलीन - सकलंकु ;
सिय - मुच समता पाव किमि चंद बापुरो रंकु ?
घटइ, बढ़इ विरहिनि-दुखदाई ; प्रसइ राहु निज संधिहि पाई ।
कोक-सोक - प्रद पंकज - दोही ; अलगुन बहुत चंद्रमा, तोही ।

नृप सब नखत करहिँ उजियारी ; टारि न सकहिँ चाप-तम भागी ।
उयउ भानु विनु स्रम तम नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
रवि निज उदय-व्याज रघुराया ; प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया ।
तव भुज - बल - महिमा उदयाटी ; प्रगटी धनु - विवटन परिपाटी ।

सुरन कही निज विपति सब, सुनि मन कोन्ह विचार ;
संभु-विरोध न कुसल मोहिँ, विहँसि कछो अस मार ।
तदपि करब मै काज तुम्हारा ; खुति कह परम धरम उपकारा ।
पर - दिल लागि बनइ जो देही ; संतत संत प्रसंसहिँ तेही ।
अस कहि चलेउ सबहिँ सिर नाई ; पुमन-धनुष कर सहित सहाई ।
तव आपन प्रभाव विसतारा ; निज बस कोन्ह सकल संसारा ।

अयोध्या-कांड

की रचना अन्यों से इतनी अच्छी है कि इसकी प्रशंसा करने के लिये कोष में शब्द नहीं मिलते । जिस प्रकार की कथा जितनी उत्तमता से इस ग्रंथ-रत्न के इस अंश में पाई जाती है, उसकी आधी भी अन्यत्र नहीं मिलती । अयोध्या-कांड की रचना केवल भाषा-साहित्य में ही नहीं, संसार-भर के साहित्य में अपना सानी नहीं रखती । इस कांड के पृष्ठ उलटते ही पाठक आनंद-सागर में निमग्न-सा हो जाता है । अलौकिक आनंद देनेवाली और सुंदर काव्य की इतनी बढ़िया और प्रचुर सामग्री दो-चार को छोड़कर शेष ग्रंथों में नहीं मिलती । इसकी कथा यों है—विवाह के बाद रामचंद्र बहुत दिनों तक अवध में रहे । तदनंतर राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाना चाहा । इस समय भरत अपने ननिहाल में थे । राजा की तीसरी पटरानी कैकेयी ने, मंथरा की सलाह से, राजा से वर

मौंगकर, भरत को युवराज और रामचंद्र को चौदह वर्ष के लिये वनवासी बना दिया। रामचंद्र के साथ लक्ष्मण और सीता भी चली गई। इस स्थान पर कैकेयी-मंथरा-संवाद तथा कैकेयी-दशरथ-संवाद में कवित्व-शक्ति परा काष्ठा को पहुँचा दी गई है। राम-लक्ष्मण और राम-सीता की बातचीत भी वैसी ही है। कौशल्या के व्याख्यान से जान पड़ता है कि पुत्र-वधू का वैसा सम्मान होना चाहिए। रामचंद्र निषादपति गुह से मिलकर चित्रकूट चले गए। इधर उनके विरह में दशरथ ने शरीर त्याग दिया।

भरत के आने पर सवने उनसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया, परंतु वह राजी न हुए, और सपरिवार, सेना-सहित, मुख्य पुरवासियों के साथ रामचंद्र को बुला लाने के लिये वन गए। यहाँ पर भरत के व्याख्यान देखने ही योग्य हैं। मार्ग में उनके प्रेम के वर्णन में कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति खर्च कर डाली है। भरत को ससैन्य आते देखकर गंगा के समीप केवट-राज को तथा चित्रकूट पर लक्ष्मण को उनके युद्धोन्मुख होने का संदेह हुआ। इन अवसरों पर गोस्वामी-जी-कृत वीर-रस का वर्णन दर्शनीय है। ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय सब प्रकार के वर्णनों को बहुत ही सफलता के साथ कर सकते थे। राम और भरत के वार्तालाप में काव्य-प्रौढ़ता की परा काष्ठा हो गई है। अयोध्या-कांड के वार्तालापों की यह खास बात है कि किसी ने कभी किसी दूसरे की बात नहीं मानी, परंतु इस खूबी से बातचीत हुई कि कोई किसी मनुष्य को अनुचित-भाषी अथवा बुरा भी नहीं कह सकता, वह चाहे जितना उत्कट समालोचक क्यों न हो। भरत रामचंद्र की पादुका लेकर चित्रकूट के सब स्थानों को देखते हुए अयोध्या लौट आए। अयोध्या-कांड में पूर्वार्द्ध के नायक रामचंद्र और उत्तरार्द्ध के भरत हैं। कहते हैं, गोस्वामीजी ने पहले सीता-स्वयंवर और अयोध्या-कांड की कथा ही लिखी थी। इतना बन जाने पर उन्हें समग्र रामायण बनाने की इच्छा हुई, और तब उन्होंने शेष ग्रंथ भी बनाया। इस बात की पुष्टि इस उत्तरार्द्ध में भरत के नायक हो जाने से होती है।

इस कांड में इन्होंने लिखा है कि गुरु रामचंद्र से अधिक हैं—

तुमते अधिक गुरुहिँ जिय जानी; सकल भाव सेवहिँ सनमानो।

बाल-कांड में इन्होंने गुरु को शंकर-रूप बताया है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

गोस्वामीजी ने सत्कर्मों की नामावली वाल्मीकि और रामचंद्र के वार्तालाप में गिनाई है। उससे जान पड़ता है कि यह किस काम को कितना अच्छा समझते थे। इस कांड में १५३ पृष्ठ हैं। इसके वर्णनों में किसी स्थान को श्रेष्ठ और किसी

को साधारण कहना गोस्वामीजी के साथ अन्याय करना है। इसका एक अन्तर भी साधारण या विशेषता से ज्ञाती नहीं है। यह सब स्थानों पर एकरस, परम मनोहर और औवल दर्जे का है। गोस्वामीजी दर्शकों का भी परस्पर वार्तालाप बड़ा ही विशद करवाते थे। इसके उदाहरण जनकपुर के लोगों और राम तथा भरत की वन-यात्रा-संबंधी मार्गस्थ जनों के कथनों में देख पड़ेंगे। उदाहरण—

मैं पुनि पुत्र-वधू प्रिय पाई ; रूप-रासि, गुन - सील सुहाई ।
नयन - पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ; राखउँ प्रान जानकिहि लाई ।
कल्प-बेलि जिमि बहु विधि लाली ; साँचि सनेह-सलिल ; प्रतिपाली ।
फूलत-फलत भयउ विधि बामा ; जानि न जाइ काह परिनामा ।
पलंग-पीठ, तजि गोद, हिँडोरा ; सिय न दोन्ह पग अवनि कठोरा ।
जिवन-मूर जमि जुगवत रहऊँ ; दीप-वाति नहिँ टारन कहऊँ ।
साँइ भिय चलन चहात वन साथा ; आयसु काह होइ रघुनाथा ?
चंद-किरनि-रस-रसिक चकोरी ; रवि-रूख नैन सकइ किमि जोरी ?
मानस - सलिल - सुधा-प्रतिपाली ; जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ?
सुर-सुर सुभग वनज - वनचारी ; डाबर - जोग कि हंसकुमारी ?

❀

❀

❀

कानन कठिन, भयंकरु भारी ; घोर घाम, हिम, वारि, बयारी ।
कुस, कटक मग कंकर नाना ; चलव पयादेहिँ बिनु पद-त्राना ।
कंदर, खोह, नदी, नद, नारे ; अगम अगाध न जाहिँ निहारे ।
भालु, बाघ, बृक, केहरि नागा ; करहिँ नाद, सुनि धीरज भागा ।
डरपहिँ धीर गहन सुधि आए ; मृगलोचनि तुरुह भीरु सुभाए ।
नव-रसाल-वन - विहरन - सीला ; सोह कि कोकिल विपिन करीला ।

❀

❀

❀

जे पुर गाँउ वसहिँ मग माहीं ; तिनहिँ नाग-सुर-नगर सिहाहीं ।
केहि सुकृती, केहि घरी बसाए ; धन्य पुन्यमय, परम सुहाए ।
जहँ-जहँ राम-चरन चाल जाहीं ; तहँ समान अमरावति नाहीं ।
परास राम - पद - पदुम-परागा ; मानति भूरि भूमि निज भागा ।

❀

❀

❀

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ ; जियतन सुरसरि उतरन देखूँ ।
समर-मरन, पुनि सुरसरि-तीरा ; राम-काजु, छन-भंगु सरीरा ।

भरत भाय नृप, मैं जन नीचू ; बड़े भाग अस पाइय मीचू ।
स्वामिकाज करिहौ रन रारी ; जस धवलहौ भुवन दस-चारी ।

कुटिल कुबधु कुआँसर ताकी ; जानि राम बनवासु यकाकी ।
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू ; आए करन अकंटक राजू ।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई ; आए दल बटोरि दोउ भाई ।
जो जिय होति न कपट कुचाली ; बेहि सोहाति रथ-वाजि-गजाली ?
उठि कर जोरि रजायसु माँगा ; मनहुँ वीर-रस सोवत जागा ।
बाँधि जटा सिर, कसि कटि भाथा ; साजि सरासन, सायक हाथा ।
आजु राम-सेवक जसु लेऊँ ; भरतहिँ समर सिखावन देऊँ ।
राम-निरादर कर फल पाई ; सोवहु समर-सेज दोउ भाई ।
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू ; तेइ लपेटि लवा जिमि वाजू ।
तैसेइ भरतहिँ सेन - समेता ; सानुज निदरि निपातउँ खेता ।

तिमिर तरुन तरनिहिँ मकु गिलई ; गगन मगन मकु मेघहिँ मिलई ।
गोपद - जल बूझि घटजोनी ; सहज छमा वरु छाँड़ि छोनी ।
मसक फूँक सकु मेरु उड़ाई ; होइ न नृप-मद भरतहिँ भाई ।
लखन तुम्हारि सपथ पितु आना ; सुचि, सुबधु नहिँ भरत-समाना ।

तुम तौ देउ सरल सिख सोई ; जो आचरत मोर हिन होई ।
जदि यह समुझत हौं नीके ; तदपि होत परितोष न जो के ।
बादि बसन विनु भूषन-भारु ; बादि बिरति विनु बरम्ह-विचारु ।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा ; विनु हरि-भगति जाइ जप, जोगा ।
जाइ जीव विनु देह सुहाई ; बादि मोर सब विनु रघुराई ।
मोहिँ समान को पाप-निवासी ; जेहि लागि राम-सीय बन-वासी ?
केकइ-सुवन जोगि जग जोई ; चतुर विरंचि रचा मोहिँ सोई ।
दसरथ-तनै, राम लघु भाई ; दीन्ह मोहिँ विधि बादि बड़ाई ।
ढरु न मोहिँ जगु कहइ कि पाचू ; परलोकहु कर नाहिन सोचू ।
एकइ उर बस दुसह दशारी ; मोहिँ लागि भे सिय-राम दुखारी ।

‘जे पुर गाँउ’ आदि जो दो चौपाइयाँ उद्धृत की गई हैं, उनमें साहित्य का सार कूट-कूटकर भरा है। इनके गुणों का वर्णन हमने मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में किया है; वहीं देखा जाय। अंगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर-कृत

जूलियस-सीज़र नाम के नाटक में ऐंटोनी का एक व्याख्यान दिया हुआ है। उसके समान समस्त अँगरेज़ी-साहित्य में दूसरा व्याख्यान नहीं माना जाता, अयोध्या-कांड के व्याख्यानों के सामने उसका भी मान-मर्दन हो जाता है।

आरण्य-कांड

में शूर्पणखा को कुरूप करने की, खर, दूषण और त्रिशिरा के मारे जाने की और सीता-हरण की कथाएँ ४२ पृष्ठों में वर्णित हैं। जान पड़ता है, बद-चलन स्त्रियों की नाक काटने की रीति रामचंद्र ही की चलाई हुई है। शूर्पणखा-विरूपकरण भगवान् का असमर्थनीय कार्य था। शूर्पणखा तथा मंथरा की निंदा रामायण में कुछ अनुचित भी है। शूर्पणखा विवाह चाहती थी, बदचलनी नहीं। इसमें खर-दूषण-युद्ध और सीता-हरण की कथाएँ अच्छी हैं। अंत में नारद और रामचंद्र के वार्तालाप में संतों के लक्षण कहे गए हैं। उदाहरण—

तव चले वान कराल ; फुंकरत जनु बहु ब्याल ।
कोपेउ समर श्रीराम ; चले विनिख निसित निकाम ।
अवलाकि खरतर तीर ; मुरि चले निसिचर वीर ।
भे क्रुद्ध तीनिउ भाय ; जो भाजि रन ते जाय ।
तेहि वधव हम निज पानि ; फिरे मरन मन महुँ ठानि ।
आयुध अनेक प्रकार ; सनमुख ते करहि प्रहार ।
चिक्करत लागत वान ; धर परत कुधर - समान ।
नभ उड़त बहु भुज, मुंड, विनु मौलि बावत रुंड ।



दसमुख गयउ जहाँ मारीचा ; प्राय साथ स्वारथ - रत, नीचा ।
नवनि नीच कह अति दुखदाई, जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।
खर वास्तव में रावण का विमात्र भाई था, दूषण तथा त्रिशिरा का नहीं।

किष्किंधा-कांड

में हनुमान् द्वारा राम-सुग्रीव की मित्रता हुई, और राम ने वानरराज बालि का वध करके सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बना दिया। उधर सुग्रीव राज्य करने लगे, और इधर रामचंद्र वर्षा-भर प्रवर्षण-पर्वत पर रहे। इस स्थान पर वर्षा तथा शरद्-ऋतु का बड़ा ही अच्छा और शिक्षा-प्रद वर्णन है, परंतु उसका अधिकांश मसाला श्रीमद्भागवत से लिया गया है। शरद्-ऋतु में सुग्रीव ने सीता के खोजने को कपिगण भेजे। कांड में केवल १८ पृष्ठ हैं, तथापि इसकी कविता परम प्रशंसनीय है। प्रायः लोग 'भास दिवस तहँ रहेउँ ख रारी' का अर्थ एक महीना नहीं मानते, अतः हम बाल-कांड से एक प्रमाण दिए देते हैं—

कौतुक देखि पतंग भुलाना ; एक मास तेहि जात न जाना ।

मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानै कोय ।

गोस्वामीजी इस बात पर प्रायः जोर दिया करते हैं कि राम बड़े ही कृपाळु हैं, और फिर भी यदि लोग उन्हें न भजें, तो वे क्यों दुखारी न हों ? इसमें मित्रता के विषय में पूज्य विचार कहे गए हैं। पंडितों का सिद्धांत है कि इस कांड से गोस्वामीजी ने काशीजी में रचना आरंभ की, क्योंकि इसकी वंदना में काशी की स्तुति पहले की गई है। इसके आगे के भी सब कांड काशी ही में बने, ऐसा ख्याल है। वालि-वध आड़ से क्यों हुआ, इसका कोई समुचित उत्तर प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। शायद वानर वालि के भाग जाने का भय हो। परम प्राचीन घटना होने एवं पूर्ण वर्णन के अभाव में इसके औचित्य पर युक्ति-पूर्ण कथन नहीं हो सकता।

उदाहरण—

जे न मीत-दुख होहि दुखारी ; तिनहि बिलोक्त पातक भारी ।
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना ; मीत के दुख रज मेरु-समाना ।
जिनके असि मति सहज न आई ; ते सठ हठि कत करत भिताई ।
विपति-काल कर सतगुन नेहा ; सति कह संत मीत-गुन एहा ।

*

*

*

घन घमंड नभ गरजत घोरा ; प्रिया-हीन डरपइ मन मोरा ।
दामिनि दमकि रह न घन माहीं ; खल कइ प्रीति जथा थिर नाहीं ।
बरपहि जलद भूमि नियराए ; जथा नवहि बुध विद्या पाए ।
सिमिटि-सिमिटि जल भरइ तलावा ; जिमि सतगुन सज्जन पहुँ आवा ।
खोजत कतहुँ मिलइ नहि धूरी ; करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी ।
ऊसर बरपइ तिनु नहि जामा ; जिमि हरिजन-हिय उपज न कामा ।

*

*

*

पंक न रेनु सोह असि धरनी ; नीति - निपुन नृप कइ जसि करनी ।
जल संकोच विकल भइ मीना ; अबुध कुटुंबी जिमि धन - हीना ।
सुखी मीन जहँ नोर अगाधा ; जिमि हरि - सरन न एकउ बाधा ।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ; सुंदर खगरव नाना - रूपा ।

*

*

*

राम - काज लगि तव अवतारा ; सुनि कपि भयउ परबताकारा ।
सिंह - नाद करि बारहि बारा ; लीलहि नाँवौ जलधि अपारा ।

सुंदर-कांड

में हनुमान् समुद्र फाँदकर लंका गए, और वहाँ सीता से मिल, अक्षयकुमार आदि को मारकर मेघनाद द्वारा पकड़े गए। फिर लंका-दहन करके उन्होंने रामचंद्र से सब हाल कहा। भगवान् सब सेना लेकर समुद्र के किनारे आए। यहीं विभीषण राम से मिले। गोस्वामीजी खास हनुमान् के भक्त न थे, नहीं तो उनके समुद्र लौघने पर यह लिखकर कि—

उमा न कछु कपि की अधिकाई ; प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई।

उनके समस्त यश पर पानी क्यों फेर देते ? इनका तो यह सिद्धांत था—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते।

सो जिसका राम से जितना अधिक संबंध होता है, उसको यह उतना ही पूजनीय मानते हैं। गोस्वामीजी ने मंदोदरी के सम्मुख सीता से रावण की बातचीत कराई है, फिर भी सीता के प्रति रावण से यह कहला दिया कि “अगर तू एक बार मेरी ओर देख ले, तो मंदोदरी आदि रानियों को तेरी दासी बना दूँ।” ये बातें हमें अनुचित जान पड़ती हैं। इस कांड में लंका-वर्णन कुछ-कुछ श्रेष्ठ है। इसमें ३२ पृष्ठ हैं। उदाहरण—

हैं सुत सव कपि तुनहि समाना ; जातुधान भट अति बलवाना।

मारे हृदय परम संदेहा ; सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा।

कनकभूधराकार सरीरा ; समर - भयंकर, अतिबल वीरा।

सीता - मन भरोस तव भयऊ ; पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ।

सुनु माता, साखामृगदि नहिँ बल, बुद्धि विसाल ;

प्रभु - प्रताप ते गरुड़ ही खाय परम लघु व्याल।



देह विसाल परम हरुआई ; मंदिर ते मंदिर चाढ़ जाई।

जरइ नगर, भे लोग बिहाला ; लपट-भाट बहु कोटि कराला।

लंका-कांड

में सेतु-रचना, अंगद की बसीठी, मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण के युद्ध तथा पतन, सीता के अग्नि-प्रवेश और विभीषण के सिंहासनारूढ़ होने के वर्णन हैं। इसकी वंदना उत्कृष्ट है, और एक स्थान पर रामचंद्र का ध्यान भी अच्छा लिखा गया है। चंद्रमा पर उक्तियाँ और उनमें आप-बीती के वर्णन भी अच्छे हैं। अंगद-पैज में राजसभा के गांभीर्य का ध्यान नहीं रक्खा गया। गोस्वामीजी का युद्ध-वर्णन प्रतिदिन घोर से भी घोरतर होता गया है। अंत में रावण ने लक्ष्मण

तक को पराजित कर दिया है। गोस्वामीजी ने उत्तरोत्तर युद्धोत्कर्ष बढ़ाने के विचार से मेघनाद के युद्ध में उतनी उद्दंडता नहीं दिखाई, जितनी रावण के रण में। वाल्मीकीय रामायण देखने से जान पड़ता है कि मेघनाद ने दो बार राम-लक्ष्मण-समेत सारी सेना को जीत लिया था, और जब सब प्रधान पुरुष अचेत हो गए थे, तब वह विजयी हो लंका को चला गया। गोस्वामीजी ने नाग-पाश के वर्णन में केवल इतना ही कह दिया है कि “नागपास-वस भए खरारी”, परंतु वाल्मीकीजी ने कहा है कि उसने सब पुरुष-प्रधानों के अंग-प्रत्यंग बाणों से इस तरह छेद डाले थे कि किसी में हिलने की भी शक्ति नहीं रही थी। किंतु वाल्मीकीय रामायण में युद्ध का दिनोंदिन वह उत्कर्ष नहीं दिखाया गया, जो गोस्वामीजी को अभीष्ट था। यही गुण ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर में पाया जाता है, जिसके कारण योरप के साहित्य में उसकी बड़ी प्रशंसा है। गोस्वामीजी ने रावण द्वारा एक ही समय में क्रमशः रामचंद्र को मूर्च्छित और विभीषण, हनुमान् तथा वानर-सेना को पराजित करा दिया है। इसी प्रकार एक बार रामचंद्र के सिवा शेष सेना को पराजित और मूर्च्छित करा दिया है। इतना करने पर भी गोस्वामीजी ने लंका के किसी भी वीर को पूर्ण रूप से विजयी होकर कभी नहीं जाने दिया; या तो किसी से उसे हरा दिया, या दुर्दशा करा डाली। एक बार मेघनाद और दूसरी बार रावण ने जब रामसमेत समस्त सेना को पराजित किया, तब भी वे प्रसन्नता-पूर्वक लंका नहीं जाने पाए, बल्कि दोनों ही को जांबवान् के प्रहार से मूर्च्छित होना पड़ा। इसी भाँति जब कुंभकर्ण कपि-सेना को पराजित कर लंका जा रहा था, और अपने भाई के अपमान का बदला चुकाने को बालि के भाई को काँख में दावे था, तब निर्बल सुग्रीव द्वारा उसके नाक-कान कटवा लिए गए। गोस्वामीजी ने कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध बड़े ही भयंकर और प्रभाव डालनेवाले लिखे हैं, तथा रावण का युद्ध भी बड़ी ही उत्तमता से कहा है।

यह महाशय राम-भक्त होने के कारण रावण तथा अन्य निशाचरों को दुष्ट, खल इत्यादि की उपाधियों से सदैव भूषित किया करते थे। इन महाकवि ने लंका और उत्तर-कांड में विविध व्यक्तियों द्वारा श्रीरामचंद्र की स्तुति या बहुत ही प्रशंसा कराई है। प्रत्येक स्तुति में निराला ही आनंद प्राप्त होता है। समस्त रामायण में इस प्रकार की स्तुतियाँ बहुतेरी होंगी। इसी प्रकार रामचंद्र के नख-शिल्प-वर्णनों का बाहुल्य है। इन दोनों विषयों की रचना में इन महाकवि ने अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति और पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है।

लंका-कांड में बहुत लोगों ने कई स्थानों पर कई बार रावण को युद्ध न

करने के वास्ते समझाया, और मंदोदरी ने तो अनेक बार ऐसा किया, परंतु क्या मारीच, क्या विभीषण, क्या माल्यवान्, क्या मंदोदरी और क्या कुंभकर्ण, सभी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उसे उपदेश दिया है। इसमें काल-विरुद्ध दूषण है, क्योंकि उस काल तक अवतार का विचार भारत में उठा ही न था। मंत्र-दाताओं में केवल प्रहस्त ने रामचंद्र की ईश्वरता नहीं दिखलाई। उसका उपदेश भी बहुत ही प्रभाव-पूर्ण और गंभीर है। उससे प्रहस्त के पांडित्य और नीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

प्रथम वसीठि पठाइय नीती ; सीतहिँ देइ करिय पुनि प्रीती ।

नारि पाइ फिरि जाँहिँ जो, तौ न बढ़ाइय रारि ;

नाहिँ त सनमुख समर महँ तात करिय हाँठ मारि ।

यह मत जो प्रभु मानहु मोरा ; उभय प्रकार सुजसु जग तोरा ।

केवल मेघनाद ने रावण को कभी शिक्षा नहीं दी ! उसे गोस्वामीजी ने बड़ा ही पितृभक्त, आज्ञाकारी, कार्य-कुशल तथा शूर माना है। जब माल्यवान् के शांति-उपदेश से रावण क्रोधित हो रहा था, तब मेघनाद ने केवल इतना कहा कि—

कौतुक प्रात देखियहु मोरा ; करिहौँ बहुत, कहत हौँ थोरा ।

और, उसके इतने ही कथन पर रावण को पूर्ण विश्वास आ गया। मंत्र-दाताओं से बहसों में अथवा अन्यत्र भी रावण का पक्ष पूर्ण योग्यता से नहीं कहा गया। उसका राम ने भगिनी-विरूप-करण द्वारा पहले अपमान किया, और तब सीता-हरण द्वारा उसने भी अपमान का बदला अपमान से लिया। तो भी सीता को विरूप न किया, न कोई ज़बरदस्ती की। वह चक्रवर्ती भूपाल था। यदि राम से दब जाता, तो मांडलिक नरेश-मात्र रह जाता। कहाँ भारतवर्ष-भर पर प्रभाव, और कहाँ लंका-भर का छोटा-सा राज्य ! रावण के लड़कर मरने में शौर्य था और दबने में कादरपन। ऐसे विचारों पर गोस्वामीजी ने भक्ति के कारण जोर नहीं दिया है। रामचंद्र ने अयोध्या लौटते समय पहले प्रयाग और अयोध्या का दर्शन करके फिर त्रिवेणी में स्नान किया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि विमान ऊँचा उठने के कारण प्रयाग से अयोध्या देख पड़ना असंभव नहीं।

उदाहरण—

इहाँ सुबेल - सैल रघुवीरा ; उतरे सेन - सहित अति भीरा ।

सैल-सृंग यक सुंदर देखी ; अति उत्तंग, सम, सुभ्र विसेखी ।

तहँ तरु-किसलय, सुमन सुहाए; लखिमन रचि निज हाथ डसाए ।

तापर रुचिर, मृदुल मृगझाला ; तेहि आसन आसीन कृपाला ।

प्रभु कृत सीस कपीस-उल्लंघा ; वाम, दहिन दिसि चाप-निखंगा ।
 दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना ; कइ लंकेस मंत्र लागि काना ।
 बड़भागी अंगद, हनुमाना ; चरन-कमल चापत विधि नाना ।
 प्रभु पाछे लखिमन वीरासन ; कटि निखंग, कर वान-सरासन ।
 यहि विधि करुना-सीव ; गुन-धाम राम आसीन ;
 ते नर धन्य, जु ध्यान यहि रहत सदा लवलीन ।

पूरव दिसि गिरि-गुहा-निवासी ; परम प्रताप - तेज - बल - रासी ।
 मत्त - नाग - तम - कुंभ विदारी ; ससि - केसरी गगन - बनचारी ।
 विथुरे नभ मुकुताहल - तारा ; निसि - सुंदरी केर सिंगारा ।
 विष - संजुत कर - निकर पसारी ; जारत विरहवंत नर - नारी ।

देखु विभोषन, दच्छिन आसा ; घन - घमंड, दामिनी - प्रकासा ।
 मधुर - मधुर गरजइ घन घोरा ; होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा ।
 कहइ विभोषनु सुनहु कृपाला ; होइ न तड़ित, न बारिद - माला ।
 लंका - सिखर रुचिर आगारा ; तहँ दसकंधर केर अखारा ।
 छत्र मेघ - डंबर सिर धारी ; साइ जनु जलद - घटा अति कारी ।
 मंदोदरी - स्रवन - ताटंका ; साइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ।

जरत बिलोकेउँ जवहिँ कपाला ; विधि के लिखे अंक निज भाला ।
 नर के कर आपन वध बाँची ; हँसेउँ जानि विधि-गिरा असाँची ।
 सो मन समुझि त्रास नहिँ मोरे ; लिखा विरंचि जरठ मति - भोरे ।

मेघनाद सुनि स्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ ;
 उतरि दुर्ग ते वीरवर सनमुख चलेउ बजाइ ।
 कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता ; धन्वी, सकल लोक - विख्याता ।
 कहँ नल, नील, दुबिद, सुग्रीवाँ ; कहँ अंगद, हनुमत बल-सीवाँ ?
 कहाँ विभोषनु भ्राता - दोही ; आजु सठहि हठि मारउँ ओही ।
 अस कहि कठिन वान संधाने ; अतिसय क्रोध स्रवन लागि ताने ।
 सर - समूह सो छाँड़इ लागा ; जनु सपच्छ धावहिँ बहु नागा ।
 जहँ - तहँ परत देखियहि वानर ; सनमुख होइ न सके तेहि अवसर ।

भागो भय-व्याकुल कपि, रिच्छा ; विसरी सबहि जुद्ध की इच्छा ।
 सो कपि-भालु न रन महि देखा ; कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा ।
 मारोसि दस - दस विखिल, सब परे धरनि कपि धीर ;
 सिंह - नाद गरजत भयउ सेवनाद रन - धीर ।

नभ चढ़ि बरखड विमुल अंगारा ; सहि ते प्रगट होहि जल - धारा ।
 नाना भाँति पिसाच, पिसाची ; मारु-काडु धुनि बोलहि नाची ।
 बरखि धूरि कीन्हेसि आवियारा ; सूफ न आपन हाथ पसारा ।

भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ;
 का दंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद-भय-मारुत ग्रसे ।
 मंदोदरी उर कंठ कंपति कमठ, भू, भूधर त्रसे ;
 चिक्काहि दिग्गज दसन गहि सहि, देखि कौतुक सुर हँसे ।
 इस कांड में ८० पृष्ठ हैं, और कविता श्रेष्ठ है ।

उत्तर-कांड

में रामचंद्र का अयोध्या-गमन, रामाभिषेक, राम-राज्य, देवतों की की हुई
 राम-स्तुति, संत-महिमा, राम का अपनी प्रजा को उपदेश, काकभुशुंडि के पूर्व-
 जन्म का वृत्तांत और मोह, ज्ञान-भक्ति-भेद और राम-कथा-माहात्म्य के वर्णन हैं ।
 काकभुशुंडि के पूर्व-जन्म में गुरु-माहात्म्य पर जोर दिया गया है । कलि-वर्णन
 भी है । भुशुंडि-मोह में राम-बाल-लीला का अच्छा कथन हुआ है । ज्ञान-भक्ति-
 भेद में ज्ञान-दीपक के परम परिश्रम से जलाए जाने और परम सुगमता से बुझ
 जाने का कथन कुछ उपहासारूप-सा हो गया है । गोस्वामीजी ने भक्ति को प्रधान
 रक्खा है । इन्होंने निम्न-लिखित दोहे में नानक, कबीर, दादू आदि के पंथों की
 निंदा की है—

कलि-मल गसेउ धरम सब; गुपुत भए सदग्रंथ ;
 दंभिन निज मत कल्प करि प्रगट मोह बहुपंथ ।

जिस प्रकार गोस्वामीजी ने कलि-धर्म के विषय में भविष्यद्वाणी-सी कही है,
 उसी प्रकार भारतेंदुजी ने भी किया है । इन वर्णनों से इन कवि-रत्नों की पैनी
 दृष्टि तथा संसार-चक्र की गति परखने की शक्ति प्रकट होती है । कुछ महाशयों
 का मत है कि उत्तर रामायण के कांडों में सर्वोत्कृष्ट है । हमारे मत में, इस कांड
 में गोस्वामीजी ने अपने सिद्धांतों का वर्णन अवश्य किया है, परंतु काव्य की दृष्टि
 से हम इसे ऐसा नहीं मान सकते । इसमें बिनती, कलि-धर्म, भुशुंडि-कथा और

ज्ञान-दीपक के वर्णन अच्छे हैं। रामचंद्र के आते समय भरत की उत्कंठा भी खूब दिखाई गई है।

काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से हम सातों कांडों को इस तरह क्रम-बद्ध करेंगे—

अयोध्या, बाल, उत्तर, लंका, किष्किंधा, सुंदर और आरण्य।

रावण के विषय में इन महाकवि ने लिखा है—

बीस पयोधि अगाध, अपारा ; को अस वीर, जु पावै पारा ?

इसी प्रकार गोस्वामीजी के सातों कांडों के विषय में कहा जा सकता है—

सात पयोधि अगाध, अपारा ; को अस सुकवि, जु पावै पारा ?

उत्तर-कांड में ८२ पृष्ठ हैं। इसकी कविता सर्वथा प्रशंसनीय है। उदाहरण—

जय सगुन निरगुन रूप राम अनूर भूय-सिरोमन ;

दसकंवरदि प्रचंड निसिंहर प्रबल खल भुज-बल हने।

अवतार नर संसार - भार विभंजि दारुन दुख दहे ;

जय प्रनतपाल, दयालु, प्रभु, संजुक्त सक्ति नमामहे।

जे चरन सिय-अज पूज्य रज सुभ परसि मुनि पतिनी तरी ;

नख - निगेता, सुर - बंदिता, त्रैलोक्य-पावनि सुरसरी।

ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत, वन फिरत कंटक जिन लहे ;

पद - कंज द्वंद मुकुंद राम रमैस नित्य भजामहे।

❀

❀

❀

जो कलु भूठ, मसखरी जाना ; कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।

निराचार जो सुति-पथ-त्यागी ; कलिजुग सोइ ग्यानी वैरागी।

जाके नख अरु जटा विसाला ; सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।

मारग सोइ, जाकहँ जोइ भावा ; पंडित सोइ, जोइ गाल बजावा।

नारि विवस नर सकल गोसाईं ; नाचहिँ नट - मरकट को नाईं।

गुन - मंदिर, सुंदर पति त्यागी ; भजहिँ नारि पर-पुरुष अभागी।

पर - तिय - लपट, काट-सयाने ; लोभ - मोह - ममता - लपटाने।

नारि मुई, घर संपति नासी ; मूड़ मुड़ाय भए संयासी।

❀

❀

❀

बहु दाम सँवारहिँ धाम जती ; विषया हरि लीन्ह गई विरती।

तपसी धनवंत, दरिद्र गृही ; कलि-कौतुक तात न जात कही।

धनवंत कुलान मलीन अपी ; दुज-चिह्न जनेउ उधार तपी।

कलि बारहिवार दुकाल परै ; बिन अन्न दुखी सब लोक मरै।

अबला कच-भूषन, भूरि छुथा ; धनहीन, दुखी, समता बहुधा ।
 सुख चाहहि मूढ़ न धर्मरता ; मति थोरि, कठोरि, न कोमलता ।
 नर पीड़ित राग न भोग कहीं ; अभिमान, विरोध अकारनहीं ।
 लघु जीवन संवत पंचदसा ; कलपांत न नास, गुमान असा ।

❀

❀

❀

जय राम रमा रमनं समनम् ; भव-ताप-भयाकुल पाहि जनम् ।
 मद, मोह, महाममता रजनी ; तम-पुंज दिवाकर तेज अती ।
 बहु रोग बियोगनि लोग हये ; भवदंघ्रि-निरादर के फल ये ।
 भव-सिंधु अगाध परे नर ते ; पद-पंकज प्रेम न जे करते ।
 अति दोन, मलीन, दुखी नितहीं ; जिनके पद-पंकज प्रीति नहीं ।
 अवलंब भवत कथा जिनके ; भव-भीति कदापि नहीं तिनके ।
 नहि राग, न रोष, न मान-मदा ; तिनके सम वैभव वा विमदा ।
 सम मान, निरादर, आदर ही ; सोइ संत सुखी विचरंत मही ।

❀

❀

❀

जोबन-जुर केहि नहि बलकावा ; समता केहिकर जस न नसावा ?
 चिंता-साँपिनि काहि न खाया ; को अस, जाहि न व्यापी माया ?
 कीट मनोरथ, दारु सरीरा ; जेहि न लाग धुन, को अस बीरा ?
 यह सब माया कर परिवारा ; प्रबल, अमित को बरनइ पारा ?
 सो प्रभु-भू-विलास खगराजा ; नाच नटी इत्र सहित समाजा ।
 सोइ सरवग्य, गुनी, बर ग्याता ; सोइ महि-मंडन पंडित, दाता ।
 धरम-परायन, सोइ कुल-जाता ; राम-चरन जाकर मन राता ।
 नोति-निपुन सोइ परम सयाना ; स्तुति-सिद्धांत नीक सोइ जाना ।
 सोइ कवि-कोविद, सोइ रनधीरा ; जाइ छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ।
 साधक, सिद्ध, विमुक्त उदासी ; कवि, कोविद, विरक्त, संन्यासी ।
 जोगी, सुर अरु तापस, ग्यानी ; धरम निरत, पंडित, विग्यानी ।
 तरहि न विनु सेए मम स्वामी ; राम नमामि नमामि नमामी ।

वह न-जाने कौन पवित्र घड़ी थी, जब महात्मा तुलसीदासजी ने राम-चरित-मानस का निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की। हिंदुओं को ऐसा शुभ मुहूर्त बहुत बार नहीं मिला। इस ग्रंथ-रत्न की ३१ कोटि हिंदुओं में जो महिमा है, उसका उल्लेख करना हमारी निर्वल लेखनी की शक्ति से बाहर है। आज यह पुस्तक संख्या में समस्त भूमंडल के सप्तांश मानव-जाति का वेद, बाइबिल, जेंदावस्ता, कुरान, या जो कुछ कहिए, हो रही है। इसका आधिपत्य हम

लोगों पर जितना प्रबल है, उतना वाइबिल का ईसाइयों पर भी न होगा। जिस समय यह कवि-कुल-चूड़ामणि लेखनी हाथ में ले अपनी पीयूष-वर्षिणी कविता द्वारा संसार को आप्लावित करने लगते होंगे, उस समय अवश्य ही स्वर्गीय कवि-वरों की आत्माएँ आनन्द-सागर की तरंगों में हिलोरें लेने लगती होंगी ! यह ग्रंथ-रत्न जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं हो सका है। केवल अक्षर-ज्ञान रखनेवालों से लेकर वेदांती तक समान रूप से इसका आदर करते हैं, और “निज पौरुष परमान ज्यों मसक उड़ाहिँ अकास” के अनुसार इसकी प्रशंसा करते हैं। इसकी कविता में ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है, और इसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्यों के लिये उपयोगी इतनी बातें मिलती हैं कि सभी श्रेणियों के मनुष्यों को इससे आनन्द मिलता है।

दुर्भाग्य-वश हमारे यहाँ अभी पठन-पाठन की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं होने पाई है। फिर अच्छे-से-अच्छे ग्रंथों को भी मुद्रण का सौभाग्य ही बहुधा नहीं प्राप्त होता; यदि हुआ भी, तो दो-तीन संस्करणों के आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा में भी इस ग्रंथ-रत्न के हजारों ही संस्करण हो गए और होते जाते हैं। अधिकांश संस्करणों में हजारों से कम प्रतियाँ नहीं होतीं। प्रेस-वालों के वास्ते तो वास्तव में महात्मा तुलसीदास कल्पवृक्ष हो गए हैं। जब उनके पास कोई काम न हुआ, तब भट्ट रामायण की दस-पाँच हजार प्रतियाँ छाप डालीं, और उससे लाभ उठाने लगे। रोचकता में भी यह ग्रंथ अद्वितीय है। आउस साहब ने अँगरेजी-गद्य में और मुंशी द्वारकाप्रसाद उफ़्फ़ु ने उर्दू-पद्य में इसका अनुवाद किया। कोई भी सुकवि इतना बड़ा भक्त नहीं हुआ, और इसी कारण इतना भक्ति-भाव-पूर्ण काव्य करने में कोई भी नहीं समर्थ हुआ। हजारों मनुष्य नित्य इसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसका आद्योपांत पाठ करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। एक बार एक मुंशीजी से हमने कहा कि हम तो रामायण का सदैव इस क्रम से पाठ करते हैं कि श्रीगणेश से इतिश्री तक करके फिर प्रारंभ से ही लगा लगा दिया। इस पर मुंशीजी गद्गद होकर तुरंत ही बोल उठे—“जनाव, यह तो कायदा ही है। यह क्या कि आज यहाँ, कल वहाँ, मेढक की तरह उछलता फिरे।”

अनेक स्थानों पर रामायण-समाज स्थापित हैं, और जगह-जगह बाजे के साथ इसका गान किया जाता है। पुराणों की भाँति इसका पाठ भी होता है, जिसे सुनने को सहस्रों नर-नारी एकत्र होती हैं। यह सौभाग्य आज तक हिंदी के किसी भी अन्य ग्रंथ को नहीं प्राप्त हुआ। इसकी पुस्तकें देवालयों में रखी रहती हैं, और उनकी देवतों की भाँति पूजा होती है। लोग यंत्र में मढ़कर इसके

गुटके गले और बाहु में बाँधते हैं। कहाँ तक कहा जाय, गीता की भाँति यह ग्रंथ-रत्न भी हिंदू-धर्म में इतना मिल गया है कि उसका एक अंग हो गया है। इस ६०० पृष्ठों के बृहद् ग्रंथ में अनेकानेक विषय आ गए हैं। गोस्वामीजी ने प्रत्येक कांड के प्रारंभ में संस्कृत के श्लोकों और भाषा के छंदों द्वारा देवतों की स्तुतियाँ की हैं। उत्तर-कांड में आठ श्लोकों का एक रुद्राष्टक बना है। बहुत-से कवियों ने इस ग्रंथ की स्तुति, आरती, श्लोक आदि बनाए हैं।

कविता का परिचय

राम-वाम दिशि जानकी, लखन दाहिनी ओर;

ध्यान सकल कल्याण-कर, सुर-सर तुलसी तोर।

गोस्वामीजी के ग्रंथों के विषय में जो कुछ हमें कहना था, ऊपर कह चुके। अब उन ग्रंथों—विशेषकर रामायण—के आधार पर उनके गुण-दोषों का कुछ भाग, यथाशक्ति, यहाँ दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। शेष वर्णन आगे यथास्थान मिलेगा।

गुण-कथन

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकवारगी नहीं कह देते, बल्कि आनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना दे देते हैं, जिससे पाठक को उनका दिग्दर्शन प्रथम से हो रहे। इसी प्रकार श्रौचित्य और अनौचित्य के विषय में भी जगह-जगह पर कुछ लिखते रहते हैं, जिसमें पाठक उनसे सहमत हो जाय।

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता; मतिहि विलोकि जरे सब गाता।

यहाँ कवि दक्ष के प्रतिकूल पाठकों का क्रोध भड़का रहा है।

तुलसी जस भक्तिव्यता, तइसिय मिलइ सहाइ;

आपु न आव ताहि पै, ताहि तहाँ लइ जाइ।

यहाँ भानुप्रताप पर आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, यद्यपि अभी उसका कहीं पता भी नहीं है।

देखि राम-द्वि कोउ अस कहई; जोगि जानकी यह वरु अहई।

अस प्रतीति तिनके मन माँहीं; राम चाप तोरव, सक नाँहीं।

बाल-कांड से ही राम के विषय में—

प्रीति पुनीत भरत कह देखी; सकल सभा सुख लहेउ विसेली।

पुर - नारि सकल पसारि अंचल विधिहि वचन सुनावहीं;

व्याहिय सु चारिउ भाइ यहि पुर, हम सुमंगल गावहीं।

(बाल-कांड)

सबके उर अभिजाप असि, कहहि मनाइ महेस ;
 आपु अछत जुवराज - पद रामहिँ देखै नरेस ।
 सुवस बसिहि पुनि अवध सुहाई ; सब गुन - धाम राम - प्रसुताई ।
 तोर कलंक, मोर पछिताऊ ; सुयहु मेटि जाइहि नहिँ काऊ ।
 सीय किं विय-सँग परिहरिहिँ, लखन किं रहिहहिँ धाम ;
 भरत किं भोगव राज-पद, नृप किं जियहिँ विनु राम ?

❀ ❀ ❀
 भोरेहु भरत न पेलिहहिँ मन महँ राम रजाइ ;
 करिय न सोच सतेह - बस कहेउ राउ विलखाइ ।

(अयोध्या-कांड)

जब भरत राम को मनाने गए थे, तब ये वाक्य जनक ने अपनी रानी से कहे ।

निसिचरहीन करौं मदि, भुज उठाय पन कीन ।
 यह रामचंद्र ने सीता-हरण के प्रथम किया था ।

यहि लागि तुलसीदास इनकी कथा संक्षेपहि कही ;
 रघुवीर - सर - तीरथ - सरित नन त्यागि गति पैहैं सही ।

(सुंदर-कांड)

त्रिजटा का स्वप्न भी इसका प्रमाण है ।

जो तेहि आजु वधे विनु आबों ; तौ रघुपति-सेवक न कदावों ।

❀ ❀ ❀
 कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी ; उर सर लागत मरिहि सुरारी ।

(लंका-कांड)

(२) यह महाशय अपने को तुरंत मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, और रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं कराते ।

तापस नृपहिँ बहुत परितोषी ; चला महाकपटी, अति रोखी ।

नृप हरखे पहिँ चानि गुरु, भ्रमवस रहा न चेत ;

बरे तुरत सत - सहस वर, विप्र कुटुंब - समेत ।

(वाल्मीकि-कांड)

इनको रावण का कथन शीघ्रता से करना था, अतः केवल तीन चौपाइयों में उस राजा भानुप्रताप का नाश कह दिया, जिसकी कथा आठ पृष्ठों से कहते चले आते थे ।

खर-दूषण पहुँ गइ बिलखाता ; धिक - धिक तब पौरुष, बल आता ।
तेहि पूछा, सब कहेसि बुझाई ; जातुधान मुनि सैन सजाई ।

(आरण्य-कांड)

(३) गोस्वामीजी अमुक उवाच कहाए विना बात कहा देते हैं, परंतु यह विदित हो जाता है कि किसी ने बात कही । इसका उदाहरण उपर्युक्त छंद भी है !

अतिसै देखि धरम कइ हानी ; परम सभीत धरा अकुलानी ।
गिरि-सरि सिंधु-भार नहिँ मोही ; जस मोहि गरुअ एक पर-दोही ।
भगति-सहित मुनि आहुति दीन्हें ; भ्रगटे अग्नि चरु कर लीन्हें ।
जो बसिष्ठ कछु हृदय विचारा ; सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ।

(बाल-कांड)

तब सुग्राव विचल होइ भागा ; मुष्टि - प्रहार बज्र - सम लागा ।
मैं जु कहा रघुवीर कृपाला ; बंधु न होइ मोर यह काला ।

(किष्किंधा-कांड)

निसिचर मारि तुम्हें लै जैहैं ; तिहुँ पुर नारदादि जस गहैं ।
इ सुत, सब कपि तुमहिँ समाना ; जातुधान भट अति बलवाना ।

(सुंदर-कांड)

(४) बड़ी-बड़ी घटनाओं में गोस्वामीजी आकाश - वाणी करवा दिया करते थे ।

महादेव मन में जब सती-त्याग का निश्चय करके चले, तब—

चलत गगन भइ गिरा सुहाई ; जय महेस, भलि भगति दवाई ।

पार्वती की तपस्या समाप्त होने पर जो 'गगन-गिरा' हुई, वह कुछ आवश्यकता से अधिक लंबी है ।

मनु और शतरूपा जब तपस्या करती थीं, तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके पास आए, और बोले कि वर माँगो, परंतु वे नहीं बोले; इस पर ईश्वर ने उन्हें अनन्य भक्त समझा, और—

माँगु - माँगु वर, भई नभ-वानी ; परम गँभीर कृपासूत-सानी ।

तब उन्होंने परमेश्वर के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की, और इन्होंने दर्शन देकर उनके यहाँ अवतार लेना भी स्वीकार किया । इससे विदित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का गगन-गिरा से कोई संबंध नहीं था । राजा भानुप्रताप के यहाँ गगन-गिरा बहुत छोटी होकर भ्रामक हो गई, और राजा को शाप दिया जा चुकने पर निर्दोष होने के बारे में उसे फिर सफ़ाई देनी पड़ी । राम-जन्म-संबंधी

गिरा कुछ भ्रामक है। उसमें कहा गया है कि मैं कश्यप और अदिति को वरदान दे चुका हूँ। वे ही इस जन्म में दशरथ और कौशल्या हैं। उनके यहाँ अवतार लेकर मैं नारद के वचन सत्य करूँगा। मेरा अवतार परमशक्ति-समेत होगा। वह वाणी ब्रह्माजी-सहित सब देवतों ने सुनी। इसके विषय में लिखा है—

गगन ब्रह्म - वानी सुनि काना ; तुरत फिरे सुर, हृदय जुड़ाना ।

अतः यह वाणी स्वयं परमात्मा की थी। गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उन्हें “विधि, हर, विष्णु नचावनहारे” कहा भी है। फिर नारद-वचन सत्य कैसे हुआ ? उन्होंने तो विष्णु को शाप दिया था। बात यह है कि यद्यपि गोस्वामीजी परब्रह्म को विष्णु से पृथक् और बड़ा समझते तथा राम को उन्हीं का अवतार मानते थे, तथापि कभी-कभी उनको परब्रह्म और विष्णु के बारे में भ्रम हो जाता था। इस गिरा में मनु और शतरूपा के स्थान पर कश्यप और अदिति का नाम भ्रम-वश ही आ गया है, क्योंकि मनु और शतरूपा की तपस्या के कथा-प्रसंग में कह दिया गया है कि वे ही दशरथ और कौशल्या होंगे। एक बार भरत के विषय में लक्ष्मण का संदेह निवृत्त करने को और दूसरी बार भुगुंडि-विषयक लोमश का आशीर्वाद सत्य करने को गगन-गिरा हुई। रामायण में कुल आठ बार गगन-गिरा है।

(५) गोस्वामीजी निम्न मनुष्यों पर, कथा-वर्णन में, प्रायः क्रोध प्रकट करते हैं।

देखा सु - बस करम - मन - वानी ; तब बाला तापस वक-ध्यानी ।

एवमस्तु कहि कपट - मुनि बोला कुटिल बहोरि ।

तापस नृपहि बहुत परितोषा ; चला महाकपटी अतिरोषा ।

बड़ कुघात करि पातकिनि कहेसि कोप-गृह जाहु ।

यह सुनि, मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद ।

यहि पापिनिहि बूझि का परेऊ ; छाई भवन पर पावक धरेऊ ।

कुटिल, कठोर, कुबुद्धि अभागी ; भइ रघुवंस - बेनु - बन-आगी ।

सुरपति - सुत धरि बायस - भेला ; सठ चाहत रघुगति-बल देला ।

अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह ;

ता सन आई कीन्ह छल मूर्ख अवगुन-गेह ।

इसी भाँति निशाचरों को बात-बात पर गालियाँ दी गई हैं।

(६) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ बड़ा-घटा देने के विषय में स्वयं लिख दिया है—

— जानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं कचिदन्यतोऽपि ।

इसी से इनकी कथा कहीं-कहीं वाल्मीकिवाली से पृथक् हो जाती है। इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भाँति नहीं दिखलाया। रामचंद्र से धनुष सभा में ही तुड़वाया, सभा विसर्जन हो जाने के पीछे एकांत में नहीं। जनक का प्रण केवल धनुष उठाने और चढ़ाने का था, न कि उसे तोड़ने का, परंतु रामचंद्र ने उसे चढ़ाया, और वह टूट भी गया। अतः राम के ऊपर स्वल्प-मात्र भी लांछन न लगने देने के अभिप्राय से इन्होंने जनक से धनुष तोड़ने ही का प्रण कराया। इन्होंने रामचंद्र का प्रभाव बढ़ाने के अभिप्राय से परशुराम को सभा में बुलाया; किंतु अन्य रामायणों में बरात लौटती समय रास्ते में उनका आना कहा गया है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी रामचंद्र ने ग्रहण किया। इसका कारण यह है कि यह रामचंद्र को परमेश्वर और परशुराम को शायद विष्णु का अवतार मानते थे। अतः परमेश्वर में वैष्णव तेज का होना कैसे लिखते? जयंत ने सीता के चरण में चोंच नहीं लगाई थी, वरन् कामोन्माद-वश उन्हें बल-हीन करने का प्रयत्न किया था। गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति के कारण उसकी प्रेमासक्ति न लिखकर चरण में चोंच मारना-भर लिख दिया है।

(७) इन्होंने समय और स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ाकर लिखा है—

बीते संवत् सहस्र सतासी ; तजी समाधि सभु अविनासी ।

कह मुनि तात भयो अधियारा ; जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ।

यह भी संभव है कि कपटी मुनि ने ७० योजन दूर नगर का होना झूठ कहा, ऐसा प्रकट करना कवि को अभीष्ट हो* ।

मास दिवस का दिवस भा, भरमु न जानइ कोइ ।

(८) युद्ध-वर्णन में इन महाशय ने प्रथम दिन हनुमान् और अंगद की प्रधानता रखी है, और एक ही दिन के युद्ध में “आधा कटक कपिन संहारा ।” द्वितीय दिन मेघनाद की प्रधानता रही, परंतु यह विजयी निशाचरों को भी किसी-न-किसी प्रकार नीचा दिखा दिया करते थे। मेघनाद ने जब लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया, तब वह उन्हें उठा ही न सका। इसी प्रकार उन्हें मूर्च्छित करके रावण भी नहीं उठा सका, और हनुमान् का सूका लगने से आप ही गिर पड़ा। ऐसी ही कई और घटनाएँ कही गई हैं, जिनका उल्लेख हम लंका-कांड की समालोचना में कर चुके हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी की भक्ति उन्हें निशाचरों की प्रसन्नता में कुछ-न-कुछ दुःख मिला देने के लिये विवश करती थी।

* यह सत्तर योजन-भाजुप्रताप एक ही दिन के शिकार में चले गए थे।

तीसरे दिन कुंभ-कर्ण ने समस्त वानर-सेना को परास्त कर दिया, और रामचंद्र को घोर युद्ध करके उसका वध करना पड़ा। रामचंद्रवाली दूसरे दिन की लड़ाई बहुत थोड़ी है। चौथे दिन मेघनाद ने समस्त सेना को बहुत व्याकुल किया, और लक्ष्मण को मोहित करके रामचंद्र को भी नाग-पाश से बाँध दिया। मेघनाद-वध के पश्चात् पाँचवें दिन स्वयं रावण युद्ध के लिये आया। इस अवसर पर उसके पराक्रम को कुंभकर्ण और मेघनाद से अधिक दिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने पहले विभीषण से यह विचार कराया कि रथी रावण से राम पैदल न लड़ सकेंगे, और फिर इंद्र से भी यही सोच-विचार कराकर रथ भिजवा दिया। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध में कभी इसका विचार भी किसी को नहीं हुआ था। केशवदास ने भी कुछ यही समझकर लिखा है—

चढ़ि हनूमंत पर रामचंद्र तब रावण रोक्यो जाई।

बाल्मीकि ने रावण की चलाई शक्ति लक्ष्मण के लगने पर द्रोणाचल भँगाया है। गोस्वामीजी ने यह महत्त्व इस कारण मेघनाद को दिया कि रावण का गुरुत्व वह भली भाँति स्थापित करनेवाले थे ही, अतः मेघनाद को कुछ भी बढ़ाई न मिलने पर उसका वीरत्व बिलकुल फीका पड़ जाता। छठे दिन रावण के यज्ञ का विध्वंस किया गया, और वह बड़े क्रोध-से युद्ध करने को आया। इसी दिन पहलेपहल राम-रावण-युद्ध हुआ। इस दिन रावण ने एक बार राम के सारथी और दूसरी बार घोड़ों को गिरा दिया, और दोनों बार उन्हें स्वयं राम ही ने उठाया। इससे जान पड़ता है कि युद्ध इतना विकराल हो रहा था कि किसी दूसरे का बीच में आने का साहस नहीं हुआ। प्रथम तीन दिन की लड़ाइयों में वानरों ने राम की ओर से युद्ध आरंभ किया, परंतु अंतिम दिनों में निशाचरों ही की तरफ से लड़ाई शुरू हुई। सातवें दिन रावण ने बड़ा प्रचंड युद्ध करके रामचंद्र के अतिरिक्त समस्त सेना को पराजित और मूर्च्छित कर दिया। फिर बड़े ही क्रोध और उद्वेग के साथ राम-रावण का लोमहर्षण युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध को गोस्वामीजी ने बड़ी उत्कृष्ट और प्रभावशाली भाषा में बड़ी अच्छी रीति से वर्णन किया है। यही दशा रावण के पहले दो दिनों के युद्धों की भी रही थी। अंत को बहुत-से अपशकुन होने के बाद रावण का वध हुआ। सात दिन के युद्ध में एक दिन स्फुट, एक दिन कुंभकर्ण से, दो दिन मेघनाद से और तीन दिन रावण से युद्ध हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि गोसाईजी का युद्ध-वर्णन शिथिल है, परंतु हमारी समझ में उसमें शैथिल्य का नाम तक नहीं है; हाँ, उन्होंने युद्ध का बहुत विस्तार नहीं किया।

भवभूति ने अपने महावीर-चरित्र में लिखा है कि रावण ने धनुष-भंग होने

पर परशुराम को राम के विरुद्ध भेजा, जिसमें कुछ करना न पड़े, और शत्रु-नाश हो जाय। इसी तरह ताड़का, सुबाहु, मारीच, खर, दूषण, त्रिशिरा, विराध, कबंध आदि सब रावण के ही भेजे हुए गए थे, परंतु तुलसीदास ने ये बातें नहीं लिखी हैं।

एक प्राचीन तामिल रामायण में बालि, सुग्रीव तथा हनुमान् रावण के वैवाहिक संबंधी कहे गए हैं, और कई अन्य भी विचित्र कथन उसमें हैं। अध्यात्म रामायण की कुछ घटनाएँ आपने ली हैं।

(६) गोस्वामीजी ने अपने नायक तथा उपनायकों का शील-गुण आद्योपांत एकरस निवाह दिया है। शील का कथन करने में इन महाकवि ने पूरा ध्यान दिया है, और उसमें इन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

(क) रामचंद्र को गोस्वामीजी ने सब गुणों का आकर माना है। जो कोई देखता था, वह इनके रूप को देखते ही मोह जाता था। विश्वामित्र, परशुराम, जनक, जनकपुर-वासी, गुह, मार्ग के ग्राम-वासी, शूर्पणखा और खर-दूषण तक इनका रूप देखकर मोहित हो गए। निरभिमान इतने थे कि विश्वामित्र के पैर तक दवाते, और सरल-स्वभाव इतने कि इन्होंने सीता को देखने और उन पर एक प्रकार से मोहित होने तक का हाल विश्वामित्र से कह दिया। गंभीरता इतनी थी कि विश्वामित्र की आज्ञा पाते ही वेधड़क धनुष-भंग के वास्ते खड़े हो गए। इसी प्रकार, परशुराम को देखकर सब लोग डर गए थे, परंतु इनको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ। ब्राह्मणों को इतना मानते थे कि परशुराम के बहुतेरे दुर्वाक्य सुनाने पर भी इनको क्रोध न आया। इनकी सर्वप्रियता अभिषेक का विचार सुनते ही दशरथ के प्रधान कृपा-पात्र सुमंत के हर्ष-गद्गद हो जाने से विदित होती है। भरत का सबसे बड़कर प्यार करते थे। लक्ष्मण को भी इतना चाहते थे कि उनके पीछे नारी-हानि तक सहना स्वीकार था। गुरु-महिमा तो इनसे कोई सीख सकता है। आत्मत्याग इतना अधिक था कि इन्हें जान पड़ा—

बिमल बंस यह अनुचित एका ; अनुज विहाइ वड़ेहि अभिषेका ।

प्रजाओं का इतना प्यार था कि इनके धियोग में उनको जीना भी भारू था। जो कोई देखता था, वही सेवा करने को उद्यत हो जाता था। सच्चे प्रेम के इतने वश थे कि अनार्य-जाति की शत्रु के जूड़े बेर तक खाए। भक्तवत्सल बहुत बड़े थे—

सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ ; निज अपराध रिसाई न काऊ ।

जो अपराध भगत कर करई ; राम-रोष पावक सो जरई ।

भरत के आगमन पर इतने प्रेम-गद्गद हो गए—

उठे राम अति प्रेम अधोरा ; कहुँ धनु, कहुँ निखंग कहुँ तीरा ।

गोस्वामीजी ने इनके शील, संकोच और दयालुता की बार-बार प्रशंसा की है। मुनियों का कष्ट देखकर निश्चिन्त-हीन मही करने की प्रतिज्ञा की। सुग्रीव की विपत्ति देखकर भुजाएँ फड़क उठीं। यह महाराज बड़े ही दृढ़-प्रतिज्ञा थे, यहाँ तक कि जब कभी लंका-विजय में संदेह होता था, तो सीता के न मिलने का या अपनी बदनामी का उतना शोक नहीं करते थे, जितना विभीषण को लंका न दे सकने का। आज्ञा-पालक इतने थे कि स्वयं दशरथ की अनिच्छा होने पर भी उनकी आज्ञा का पालन किया। शूर्पणखा का विरूप-करण-मात्र इनका एक ऐसा कार्य है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। शूद्रमुनि का वध गोस्वामीजी ने नहीं लिखा है, और न किसी मान्य ग्रंथ में उसका कथन है। बालि को ओट से मारने का कारण यह जान पड़ता है कि बड़े शत्रु को छल से भी मारने में दोष नहीं है, यह प्रमाणित करना इन्हें अभीष्ट था। शायद उस वानर के भागने का भी भय हो। इस घटना के पूरे कारण प्राचीन ग्रंथों में अंकित हैं। राम का सामर्थ्य मानते हुए यह छल-कार्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। बालि के अनुचित आचरण के कारण उससे क्रोध थे, परंतु उसने ज्यों ही दीन वाक्य कहे कि इनका सब क्रोध तुरंत शांत हो गया। इतने दयालु होने पर भी इन्हें उचित क्रोध आता था—

सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ; पावा राज, कोष, पुर, नारी ।

जेहि सायक मैं मारा वाली ; तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ।

चित्त में कृतज्ञता इतनी अधिक थी कि इन्होंने हनुमान् से कहा—

प्रतिउपकार करउँ का तोर ; सनमुख ह्वइ न सकत मुख मोरा ।

इनका यह प्रण था—

कोटि विप्र अध लागइ जेही ; आए सरन न त्यागउँ तेही ।

इनकी शूरता, पांडित्य आदि के उदाहरण रामायण-भर में भरे पड़े हैं।

गोस्वामीजी रामचंद्र को परब्रह्म का अवतार मानते थे।

(ख) श्रीसीताजी को गोस्वामीजी ने आदिशक्ति का अवतार माना है। इनके शील-गुण में कवि ने पति-प्रेम और सभ्य-प्रकृति को प्रधान रक्खा है। रामचंद्र के वन जाने पर वियोग सहा नहीं गया, और यह उनके साथ ही चली गई। स्वयंवर में राजों का उपद्रव और भरशुराम का आगमन होने पर बहुत डर गई। मारीच की पुकार को रामचंद्र की आवाज़ समझ, भय-विह्वल होकर इन्होंने मर्म-भेदी वचन तक कह डाले, और लक्ष्मण को राम के पास भेज ही दिया।

रावण ने एक महीने में वध करने की धमकी-भर दी थी, परंतु इनको सचमुच डर मालूम हुआ—

मास दिवस बीते मोहिँ मारिहि निसिचर पोच ।

इतनी भीरु होने पर भी इन्होंने रावण की अनुचित बातचीत पर उसे खूब फटकारा । अति रूपवती होने के कारण ही बहुधा इन्हें क्लेश सहना पड़ा । इनकी प्रकृति का सार निम्न-लिखित छंदों द्वारा विदित होता है—

तव रावन निज रूप दिखावा ; भइ समीत जव नाम सुनावा ।

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा ; आइ गए प्रभु, खलु रहु ठाढ़ा ।

जेहि विधि कपट-कुरंग संग धाइ चले श्रीराम ;

सोइ छवि सीता राखि उर रटति रहति हरि-नाम ।

(ग) भरत में रामचंद्र का अलौकिक प्रेम बहुत ही विशेष था, और यह बात सब लोगों को भले प्रकार विदित भी थी, जैसा स्वयं दशरथ ने कैकेयी से कहा—

चहत न भरत भूप-पद भोर ; विधि-वस कुमति वसी जिय तोरे ।

प्रजा-वर्ग में भी यदि कहीं कोई भ्रम-वश कह देता था कि भरत भी माता के कुमंत्र में शरीक हैं, तो दूसरे तुरंत ही उसकी बात का खंडन कर देते थे । भरत का प्रेम गोस्वामीजी ने उस चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जिससे विशेष वर्णन करना प्रायः असंभव है । उसको कवि ने यहाँ तक कहा है—

अगम सनेह भरत, रघुवर को ; जहँ न जाइ मन विधि, हरि, हर को ।

बड़े गंभीर होने पर भी अपनी माता की कुटिलता देखकर उन्हें बुरा-भला कहा, जो कुछ अनुचित भी है । मंथरा को जब शत्रुघ्न मारने लगे, तो इन्होंने छुड़ा दिया । गोस्वामीजी ने इनकी बुद्धिमत्ता और वक्तृत्व-शक्ति के भी अच्छे उदाहरण दिखलाए हैं । स्वार्थ-त्याग की मात्रा बहुत अधिक थी । जिस राज्य के लिये राजों में प्रतिदिन भगड़े-वखेड़े होते हैं, और जिसके कारण भाई-भाई और बाप-बेटों तक में युद्ध हुआ करते हैं, उसी राज्य को पाकर भी छोड़ देना इन्हीं के समान महानुभाव का काम था । स्वार्थ-त्याग के इससे बढ़कर उदाहरण इस स्वार्थी संसार में कम मिलेंगे । जब अपने पुरुषार्थ से भी इन्होंने तक्षशिला और पुष्कर-क्षेत्र जीते, तब भी स्वयं न राज्य करके उन स्थानों पर अपने तत्त्व और पुष्कर-नामक पुत्रों को स्थापित करके आप अयोध्या लौट गए । लक्ष्मण के पुत्र को भी इसी प्रकार एक राज्य जीत दिया । इन अन्यत्र कथित बातों से इनका भ्रातृप्रेम भी प्रकट है । अपने उत्तरदायित्व को इतना समझते थे कि अंत में जब रामचंद्र ने वनवास या अयोध्या के लौटने का निर्णय इन्हीं पर छोड़ दिया, तब

इन्होंने लौटने के लिये हठ नहीं किया, क्योंकि पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना घोर पाप था। पराक्रम भी असीम था। इनके एक ही बिना फल (गौंसी) के बाण से हनुमान्-जैसे वीर भी गिर पड़े, जिस पर इन्होंने उनसे कहा—

चढ़ मम सायक सैल-समेता; पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता।

गोस्वामीजी को इनके पराक्रम-वर्णन का अवसर कभी नहीं मिला, अतः उन्होंने इस स्थान पर इन्हीं दो-चार छंदों द्वारा बल भली भाँति दिखला दिया। रूप रामचंद्र से इतना मिलता-जुलता था कि इन्हें तथा रामचंद्र के पहचानने में लोग धोखा खा जाया करते थे। यद्यपि समस्त अयोध्या कांड में भी रामचंद्र की प्रधानता वर्तमान है, तथापि इसके उत्तरार्द्ध के वास्तविक नायक महात्मा भरत ही हैं। हम इन्हीं के साथ अयोध्या में जाते, फिर जाकर रामचंद्र से मिलते और वन का परिभ्रमण करके सैन्य अयोध्या को लौट आते हैं। अयोध्या-कांड के द्वितीयांश में यही कथन है। उसमें राम का वर्णन उतना ही है, जितना वह भरत से संबंध रखता है। अंत में गोस्वामीजी कहते हैं—

भरत-चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिँ;

सीय राम-पद - प्रेम अवसि होइ भवरस - विरति।

पूरन भरत - प्रीति में गई; मति - अनुरूप अनूप सुहाई।

अब प्रभु-चरित सुनहु अति पावन; करत जो वन सुर-नर-मुनि-भावन।

गोस्वामीजी ने भरत को ईश्वर का चतुर्थांश माना। सरस्वती ने इंद्र से भरत के विषय में कहा—

सोसन कहहु भरत - मति फेरु; लाचन सहस न सूक्ष्म सुमेरु।

इस वाक्य से कवि ने यह भी स्पष्टता-पूर्वक कह दिया कि बुराई का प्रभाव दुर्बल-चित्त मनुष्यों पर ही पड़ता है, न कि दृढ़-चित्त महानुभावों पर। वास्तव में रामायण ने सब बातों में भरत को राम का प्रतिविम्ब माना है। भरत के विषय में श्रीराम स्वयं लक्ष्मण से कहते हैं—

तात तुम्हारि सपथ, पितु-आना; सुचि सुबंधु नहिँ भरत-समाना।

(घ) लक्ष्मण में रामचंद्र की आज्ञा - पालन और स्नेह के भाव खूब ही मिल गए थे। इन्होंने राम के लिये माता - पिता, भाई, स्त्री, राज्य-सुख आदि सभी कुछ छोड़ दिया। जिस समय राम के साथ वन को जानेवाले थे, और इन्हें भय था कि वह ले जायँ या न ले जायँ, वहाँ यह—

कहि न सवत कछु, चितवत ठाढ़े; दीन मीन जुनु जल ते काढ़े।

इनको अधिक बातचीत करना पसंद न था। यह वाक्य-शूर न होकर कर्म-शूर थे। जब राम ने समुद्र से रास्ता माँगा, तब इन्हें बुरा लगा, और जब उसे

धमकाने को धनुष-बाण उठाया, तब यह प्रसन्न हुए। कर्म-शूरता और युद्ध-शूरता के साथ-ही-साथ इनमें क्रोध की मात्रा भी अधिक थी, यहाँ तक कि यह दासियों तक को पीटा करते थे—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे ; दोन्हि लषन सिष अस मन मोरे ।

जब स्वयंवर में जनक ने पृथ्वी को वीर-विहीन कह दिया, तब इन्हें अमर्ष हो आया। इसी प्रकार राजों की युद्ध-चेष्टा को देखकर भी इन्हें क्रोध आया। राम के वनवास से इन्हें दशरथ, कैकेयी और भरत पर अत्यंत क्रोध था, यहाँ तक कि स्वयं सुमंत के सम्मुख इन्होंने दशरथ के प्रतिकूल कटु वाक्य कह दिया। और भी—

कहँ लागि सहिय, रहिय मन मारे ; नाथ साथ, धनु हाथ हमारे ।

आइ बना भल सकल समाजू ; प्रगट करौँ रिस पाछिलि आजू ।

केकय कहँ पुनि-पुनि मिले, जिय कर छोभ न जाय ।

इनमें चपलता की मात्रा भी बहुत बड़ी-चढ़ी थी। परशुराम से राम के सामने ही लड़े पड़ते थे। इसी प्रकार राम को थोड़ा-सा भी क्रोधित देखकर यह सुग्रीव को मार डालने के लिये उद्यत हो गए। साहसी इतने थे कि कोई कैसा भी बली क्यों न हो, उससे लड़ने को प्रस्तुत हो जाते थे। इन्होंने यहाँ तक कह डाला कि यदि शंकर भी सहाय करें, तो भरत को और वैसे ही मेघनाद को मार डालूँगा। मेघनाद को इन्हीं ने मारा।

(ङ) हनुमान् अनुपम भक्त, बली और साहसी थे। इनको राम-काज जितना प्रिय था, उतना जीवन भी नहीं। इन्होंने सुरसा से कहा कि मैं सीता की सुधि राम को सुनाकर तेरा आहार बनने का तुझे वचन देता हूँ, परंतु तू मुझे अभी जाने दे। जानकी से अजर, अमर और बल-निधि होने का वर पाकर उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने यह सुनकर कि राम तुम पर कृपा करेंगे। सुग्रीव के राम-काज भुला देने पर इन्हीं ने उन्हें सचेत किया। जामवंत से अपने बल की प्रशंसा सुनकर इतना साहस बढ़ा कि यह पर्वताकार हो गए। रामचंद्र को इन्हीं पर अधिक भरोसा था, अतः जब सब वानर, भालु जानकी को खोजने जा रहे थे, तब इन्होंने इन्हीं को मुद्रिका दी। कठिन कार्य के करने को सदा इन्हीं की नियुक्ति होती थी—यथा, समुद्र-पार जाना, लंका से सुषेण वैद्य को लाना, लक्ष्मण के वास्ते रात-भर में ही द्रोणाचल से औषध लानी आदि। बलवान् इतने थे कि द्रोणाचल को उठा लिया, और एक-ही-एक मुष्टिक मारकर मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण आदि वीर भटों तक को गिरा दिया। जहाँ कठिन कार्यों के लिये भेजे जाते थे, वहीं आनंद के कार्यों पर भी जाने का इन्हीं का एक

समझा जाता था। लंका में विजय-वार्ता सुनाने को जानकी के पास और नंदिग्राम में रामागमन की खबर सुनाने को भरत के पास यही भेजे गए। यह सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त हुआ कि भरत, लक्ष्मण आदि के होते हुए भी अयोध्या में यही विशेष पूजित हुए, और वहाँ हनुमान्गढ़ी आज तक वर्तमान है। गोस्वामीजी ने लिखा है कि हनुमान् का नाम लेते ही भूत-प्रेत निकट नहीं आते। बाहु-पीडा-निवारणार्थ उन्होंने इन्हीं की स्तुति की।

(च) अंगद भी रामचंद्र के सच्चे भक्त थे। बालि मरते समय रामचंद्र को इनकी बाँह पकड़ा गया था। इनके चातुर्य और बल पर सबको भरोसा था। जिस समय संपाति से डरकर सब वानरों के प्राण सूखे जाते थे, और किसी को कोई उपाय नहीं सूझता था, उस काल इन्हीं ने जटायु का हाल कहकर सबके प्राण बचाए। रावण के यहाँ राम-दूत होकर जाने का सम्मान सर्व-सम्मति से इन्हीं को प्राप्त हुआ, और राम ने इनकी बुद्धि पर भरोसा करके कहा—

बहुत बुझाय तुमहिँ का कहऊँ ; परम चतुर मैं जानत अहऊँ।

काज हमार, तासु हित होई ; रिपु सन किहेहु बतही सोई।

अतः रामचंद्र ने इनके विचारों की कोई भी सीमा नहीं रखी थी, और पूरा अधिकार देकर इन्हें लंका भेजा। रावण की बातों का बरजस्ता उत्तर देना इनकी चतुरता को प्रकट करता है। जब इन्होंने पाँव रोपा, और वह किसी से न उठा, तब स्वयं रावण उसे उठाने को चला। उस समय इन्होंने बड़ी ही चतुरता से पैर हटाकर उसको यह मुँह-तोड़ उत्तर दिया—

मम पद गहे न तोर उवारा।

गहसि न राम-चरन सठ जाई।

गोस्वामीजी ने इनको हनुमान् के समान दिखाने के अभिप्राय से इनके हाथ से भी लंका में रावण के एक पुत्र का वध कराया है। एक बार इन्होंने रावण को भी गिरा दिया। गोस्वामीजी ने इनका युद्ध हनुमान् के समान ही वर्णन किया है, केवल समुद्र के उल्लंघन में कहला दिया—

अंगद कहा, जाऊँ मैं पारा ; जिय संसय कछु फिरती दारा।

इनको राम ने किष्किंधा का युवराज नियत किया। इनका शील-गुण भी हनुमान्जी की छाया-सा था।

(छ) राम ने बालि-वध करके सुग्रीव को राजा बना दिया था। यद्यपि स्वभाव से यह साधु थे, तथापि राज्य पाने पर कुछ विषय-वश हो गए। पीछे हनुमान् के समझाने से तुरंत सँभल गए, और इन्होंने जानकीजी की खोज करने को चारों ओर वानर भेजे। यहाँ तक कहा—

विषय मोर हरि लीन्हेसि ज्ञाना ।

राम के भक्तों में सुग्रीव ही ऐसे थे, जिन्होंने उनसे लाभ उतना नहीं पाया, जितनी सहायता की। राम ने इनके लिये केवल एक वाण चलाया, और इन्होंने कई मास-पर्यंत अपनी सारी सेना राम-काज में नियोजित की। अंत में इन्हीं के साथ गुप्तार घाट में गुप्त हो गए।

(ज) विभीषण को गोस्वामीजी ने राम का बड़ा भारी भक्त माना है। इन्होंने रावण से विगड़कर राम का आश्रय ग्रहण किया, और फिर निशाचरों का संहार कराने में पूरा योग दिया। इनका भाई-भतीजों के मारे जाने की युक्तियाँ बताना हमको अच्छा नहीं लगा। इनको अना-जाति की जातीयता का बिलकुल ध्यान न था। रावण से विगड़कर जब रामचंद्र के पास चले गए, उसके बाद तो चाहे इनके वचाव में कुछ कहा भी जा सके, पर सुंदर-कांड में जो हनुमान् को इन्होंने सीता का पता दे दिया, और फिर उन्हें मारे जाने से बचाकर उनकी पैंछ जलाने-भर की सलाह दी, उससे यह अवश्य राजद्रोह और विश्वासघात के दोषी हुए। इनका चरित्र भक्ति के अतिरिक्त बड़ा निघ्न है। हमने केशवदास की समालोचना में इनके चरित्र की आलोचना की है। विशेष वहीं देखिए। रावण के शत्रु और विमात्र भाई कुवेर के विभीषण सेनापति भी थे। इससे समझ पड़ता है कि रावण से इनका पहले भी विगाड़ होगा। यह बात मानस के बाहर की है।

(झ) जामवंत ऋक्षराज थे। वृद्धावस्था और बुद्धि की प्रखरता के कारण राम ने इन्हें मंत्री बनाया। सब कामों में इनका मत माना जाता था। परमवृद्ध होने पर भी पराक्रम ऐसा था कि इन्होंने मेघनाद को मूर्च्छित कर दिया, और इनकी लात खाकर रावण भी अर्द्ध-रात्रि-पर्यंत अचेत पड़ा रहा। इन्हीं ने प्रोत्साहित करके हनुमान् को लंका भेजा, और अंगद को यह कहकर रोक लिया—

किसि पठवउँ सबही कर नायक ।

(ञ) रावण लंका का राजा और रामचंद्र का प्रधान शत्रु था। इसने सीता-हरण करके उन्हें अपार दुःख दिया। यह ब्राह्मणों का नहीं, बल्कि देवतों का ही शत्रु था। ब्राह्मणों को केवल इसी कारण सताता था कि उनके यज्ञादि न कर सकने से देवगण दीन, हीन होकर आप ही पस्त हो जायेंगे। रामचंद्र से यह इसी विचार से लड़ा था कि यदि वह परमेश्वर हों, तो उनके हाथ से मरकर समर में अमर-गति प्राप्त करे, और यदि कोई मनुष्य ही हों, तो दोनों भाइयों को जीतकर उनकी स्त्री हर ले। इस पुरुष-रत्न में शौर्य, पराक्रम, आत्मनिर्भरता, अभिमान और राजनीतिज्ञता कूट-कूटकर भरी थी। इसका साहस अतुलनीय था। सूर्य भी प्रथम श्रेणी की थी, यहाँ तक कि बात का समुचित उत्तर तत्काल ही दे देता

था। विवाद में इसकी बुद्धि बड़ी ही पैनी थी। राजनीतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने मतलब के लिये मारीच-जैसे छोटे आदमी से भी प्रणाम करके मिला, और उसके गड़बड़ करते ही साम-दाम की बात एकदम किनारे रखकर उस भयंकर अस्त्र का प्रयोग कर बैठा, जिससे मारीच को फिर ज़वान हिलाने की भी हिम्मत नहीं हुई। रामचंद्र का पत्र इसने बाएँ हाथ से लिया, और चारो वेदों तक का पूर्ण पंडित होने पर भी उसे स्वयं न पढ़ मंत्री से ही बँचवाया। राजनीति के मामले में अनुचित-उचित का वैसा अधिक विचार नहीं करता था, और राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में ही इसने सीता-व्रण कर डाला। संभव है, रावण ने यह सोचकर ऐसा किया हो कि उसकी मान-हानि तो शूर्पणखा के नाक-कान कटने से हो ही चुकी थी, अतः वह भी अवश्य शत्रु का अपमान कर ले; कारण, यदि शत्रु प्रवृत्त हुआ, तो खुद तार पर ऐसा हो सकना असंभव था।

शरता इतनी अधिक थी कि रामचंद्र से युद्ध करते हुए भी इसने उनकी समस्त सेना को कई बार पराजित कर दिया। बाण-विद्या में श्रीराम से और मल्ल-युद्ध में हनुमान् से सर्वरि करता था, यहाँ तक कि इससे मल्ल-युद्ध करने में, अंजनोंकुमार का भी दम उखड़ गया और उनके लिये 'संकट' आ पड़ा। आत्मनिर्भरता का यह हाल था कि यों भी 'सहज अशंक' कहलाता था। श्रीराम की चढ़ाई का हाल जानकर भी नृत्य देखता रहा, और उसके मर जाने पर बोला—

निज भुज-बल मैं बँर बढ़ावा ; देहों उतर, जा रिपु चाढ़ आवा।

मरते-मरते भी कहता रहा—

कहाँ राम, रन हनौ प्रचारी।

मंदोदरी के रोने-गाने और समझाने-बुझाने को इतना तुच्छ समझता था कि उसे सिवा हँसकर टाल देने के इसने कभी ध्यान देने लायक ही न समझा। मेघनाद और कुंभकर्ण के मरने पर अवश्य रोया, पर स्त्रियों को रोते देखते ही रोना बंद कर उन्हें समझाने लगा। अभिमान की मात्रा इतनी अधिक थी कि अपने मस्तक में ब्रह्मा का यह लेख बाँचकर कि 'मैं मनुष्य के हाथ से मारा जाऊँगा,' यह हँस पड़ा, और ब्रह्मा को इसने सठिया गया समझ लिया। जटायु को देखकर सोचा—

मम कर - तीरथ छाँड़िहि देहा।

वैसे ही विभीषण के विषय में यही कहता था—

“करत राज लंका सठ त्यागा ; हाइहि जय कर कीट अभागा।”

रामचंद्र को सिवा 'तपसी', 'तापस' आदि के कभी और कुछ नहीं कहा। शौर्य, आत्मनिर्भरता और अभिमान के कारण कभी किसी को सलाह या उपदेश

नहीं मानता था, यहाँ तक कि इसने मारीच, विभीषण, प्रहस्त, शुक, मंदोदरी, कुंभकर्ण, माल्यवान् एवं कालनेमि-जैसे हितुओं की सलाह पर भी कभी ध्यान नहीं दिया। इसने एक काम बहुत ही बेजा किया कि विभीषण को लात मार दी। वाल्मीकि का वर्णन पढ़ने से विभीषण का और भी अधिक दोष सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ लात इत्यादि का कोई कथन नहीं है, और केवल साधारण बातचीत में वह बिगड़ पड़े। हनुमान् की सुंदर-कांडवाली भारी वक्तृता के उत्तर में रावण ने क्या ही चतुरता से कहा—

मिलता हमहिँ कपि गुरु बड़ ज्ञानी ।

राजमुकुट गिर पड़ने पर जब सभासद्गण धवराए, तब कैसी चतुरता से बोला—

सिरहु गिरे संतत सभ जाही ; मुकूट गिरे कस असगुन ताही ?

इसने रामचंद्र की बहुत-सी बातें सुन यही कहा—

वैर करत तब नहिँ ढरे, अब लागत प्रिय प्रान ।

गिदान तुलसीदास रावण को, राम का वैरी होने के कारण, जा-बेजा तो सदा ही कहा करते थे, पर इसका शील-गुण उन्होंने बहुत ही अच्छा निवाहा है।

(ट) मंदोदरी के चरित्र में भय और अहिवात की रक्षा ही प्रधान हैं। भय और स्नेह के मारे यह रावण को बहुत कड़ी-कड़ी बातें तक, समझाते-समझाते, कह दैती थी; पर उसने इसकी बातों पर कभी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। न क्रोध किया।

(ठ) शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचंद्र से व्यभिचार करने नहीं गई थी, वरन् नियम-पूर्वक विवाह चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था। लक्ष्मण से भी विवाह करने पर भट से राजी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किंतु वह भी एक शूर और सुपात्र थी, और जब उनके बड़े भाई ने इसका विचार मानकर इसे उनके पास भेजा, तब इसका मान जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान् का व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता। कुल मिलाकर इसी का अपमान हुआ, सो भी अनुचित। वैवाहिक संबंध में स्त्री-पुरुष दोनों की ओर से अनुचित हठ हुआ ही करता है। सीता को खाने दौड़ना इसकी बेजाइयत थी, किंतु नाक-कान काटे बिना ही यदि भगा दी जाती, तो उचित होता। भारी अपमान बेजा था, विशेषतया ऐसी कुलवती का, जो शास्त्रीय विवाह चाहती थी। विधवापन में कभी इसका अनुचित व्यवहार नहीं लिखा हुआ है।

(ङ) कुंभकर्ण रावण का छोटा भाई था । रावण इसकी बहुत इज्जत करता था, यहाँ तक कि इसके 'शठ' कह देने पर भी वह कुछ न बोला । यह बड़ा ही प्रबल वीर था । रावण को इसका बड़ा भरोसा था । इसमें अकेले ही एक सेना के बराबर शक्ति थी । तभी तो रामचंद्र और उनकी समस्त सेना से लड़ने को निहत्था और अकेला ही चल खड़ा हुआ ।

(ढ) मेघनाद में अद्वितीय पितृभक्ति और शूरता, ये प्रधान गुण थे । रावण ने इससे जब जो कुछ भला-बुरा करने को कहा, इसने बिना आगा-पीछा सोचे वैसा ही किया । और सबने तो रावण को रामचंद्र से न लड़ने के लिये समझाया, पर इसने ऐसा कभी विचारा तक नहीं । तभी तो रावण इसके मरने पर यही कहकर विलाप करने लगा—

हा सुत ! संतत आज्ञाकारी ।

यह इंद्र तक को जीत चुका था, जिससे रावण को इसका बड़ा भरोसा था । सुंदर-कांड में हनुमान् की बड़ी बहादुरी की बातें सुनकर भी रावण जानता था कि मेघनाद को जो आज्ञा दी जायगी, उसे वह पूरी ही करेगा । इसी से उसने कह दिया—

मारोसि जनि सुत, बाँधेसि ताही ।

कुंभकर्ण के मरने पर जब रावण विकल हुआ, तब भी पितृभक्त मेघनाद ने यही कहकर समझाया—

देखेहु काल्ह मोरि मनुसाई ।

इसका चरित्र-चित्रण बहुत ही निर्दोष किया गया है ।

(ण) दशरथ के विषय में कहा जा सकता है कि उत्कट पुत्र-स्नेह एवं सत्य-प्रियता मानो इनके हिस्से में पड़ी थी । वृद्धावस्था तक कामी बने रहे । इन्होंने यहाँ तक कहा कि मैं चाहे नरक जाऊँ, पर राम मेरी निगाह की ओट न हों । वचन फेर लेने का इन्हें इतने पर भी ध्यान न आया । अंत को इन्होंने इसीलिये प्राण ही दे दिए । अन्य ग्रंथों से प्रकट है कि राम के पिता होने के अतिरिक्त आप भारी विजयी भी थे । राम के तिलकोत्सव के समय भरत को ननिहाल से न बुलाने का ही इनका कार्य संदिग्ध था, जो सारी विपत्ति का कारण हुआ । भरत को युवराज बनाने के वादे को आप राम पर विशेष प्रेम अथवा उनके शौर्य के कारण सुख से पूरा न कर सके । इनकी इतनी कमी खटक अवश्य जाती है, यद्यपि प्रजा के हित में वह योग्य थी । कैकयी के विवाह के पूर्व उसके पुत्र को युवराज बनाने की बात भूल जाना इनके कष्टों का कारण हुआ ।

(त) कौशल्या तथा देवियों के शील-गुण में गोस्वामीजी ने रत्ती-भर भी भेद नहीं रक्खा है । यद्यपि कैकेयी ने राम को वनवास दिया, तथापि उसको भी इन्होंने राम की माता ही कहा—

जो पितु-मातु कहैं बन जाना ; तौ कानन सत अवध समाना ।

दशरथ का स्वर्गवास हो जाने पर भी जब भरत आए, तो यह उनसे मिलने के वास्ते उठकर दौड़ी । दशरथ के साथ सती हो जाना चाहती थी, पर भरत के कहने तथा राम के दर्शन की अभिलाषा से रह गई । इन्होंने भरत से राज्य स्वीकार करने के लिये बहुत हठ किया । इससे इनका महत्त्व प्रकट होता है । निम्न-लिखित दोहे से यह जान पड़ता है कि इन्हें भरत के आत्महत्या कर लेने का भय था—

लखन, राम, सिय जाहिँ बन, भल परिनाम न पोच ;

गहवरि हिय कह कौमिला, मोहिँ भरत कर सोच ।

पुत्र-वधू से इनका व्यवहार अनुकरणीय था । इन्होंने कभी किसी को कोई अनुचित बात नहीं कही । धैर्य की मात्रा इनमें बहुत अधिक थी ।

(थ) कैकेयी पहले राम को बहुत चाहती और उनका प्यार पुत्रवत् करती थी । पर शायद उनके चित्त में कुछ संदेह भी कभी था, क्योंकि यह उनकी 'प्रीति-परिच्छा' ले चुकी थी । चित्त ऐसा अभिमानी था कि यह कहती थी—

नहर जन्म भरव बरु जाई ; जियत न करव सवति-सेवकाई ।

यह हृदय की बुरी न थी, क्योंकि इन्होंने—

अपने चलत न आजु लागि अनभल काहुक यीन ।

सौनिया-डाह तो इन्हें विलकुल न था, यहाँ तक कि रामचंद्र के युवराज होने के विषय में दशरथ ने इनकी सम्मति लेने की कुछ भी आवश्यकता न समझी । इन्होंने पहले यह खबर सुनकर आनंद मनाया, और कहा—

रामहि तितक साँचु जो काली ; माँगु, देहुँ मनभावत आली ।

अंत में इनके द्वारा रामचंद्र को कष्ट उठाना पड़ा । इस कारण गोस्वामीजी से इन्हें गाली दिए बिना नहीं रहा जाता ; साथ ही, भरत की माता होने के कारण, बचाव भी करना ही पड़ता है, और इसके लिये शारदा द्वारा मति पलटने की एवं भावी इत्यादि की बातें लानी पड़ती हैं । तो भी कहना ही पड़ता है कि गोस्वामीजी से, राम-भक्ति के मारे, इनका शील-गुण ठीक-ठीक नहीं दिखलाते बना । उन्होंने इन्हें पहले देवी-सी कहकर अंत को पूरी पिशाची बना दिया, और महा अनुचित बातें इनके मुँह से कहलाई । वाल्मीकीय रामायण में आया है कि कैकेयी का

दशरथ से विवाह इसी नियम से हुआ था कि उन्हीं का पुत्र राजा हो। यह बात गोस्वामीजी ने नहीं कही है। पति-विरोध का पातक कैकेयी पर था ही।

(द) सुमंत का इतना सम्मान था कि रामचंद्र इनको पिता के समान मानते थे। यह महाशय जाति के सूत थे। शायद इसी कारण गोस्वामीजी ने इनके कुल का परिचय नहीं दिया। राम से इतना सच्चा स्नेह रखते थे कि इनके वनवास पर उनको वास्तव में बड़ा ही क्लेश हुआ। घर के बड़े-बूढ़ों के समान इनका मान होता था।

(ध) निषाद-पति गुह को रामचंद्र से ऐसा सच्चा स्नेह था कि उनके वास्ते यह भरत से लड़कर मरने को तैयार हो गया था, और भरत के साथ मार्ग में चलने में इतना प्रेम-भग्न हो गया था कि चलते-चलते रास्ता भूल गया।

(न) शिव रामचंद्र के अनन्य दृढ़ भक्त थे, यहाँ तक कि इन्होंने सती-सी स्त्री को इसी अपराध पर त्याग दिया कि उन्होंने सीता का रूप धारण करके राम की परीक्षा ली थी। इस परीक्षा में कामासक्ति की भी दुर्गंध आ सकती थी। इसी से महादेव को सती का त्याग करना पड़ा। यह रामचंद्र के बाल-रूप के भक्त थे। प्रभाव में आप राम से कम, परंतु और सबसे बड़े थे। रामचंद्र का ध्यान करते ही शिव प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। यह अपना अपमान सह लेते थे, परंतु और किसी माननीय को न मानने का अपराध क्षमा नहीं कर सकते थे।

(प) काकभुशुंडि भी राम के बाल-रूप के अनन्य भक्त थे। जब गरुड़ का भ्रम किसी से दूर न हो सका, तब महादेव ने उनको इनके पास भेजा। वहाँ जाने पर उनका संदेह पूर्णतया निवृत्त हो गया।

शिव, काकभुशुंडि और गोस्वामीजी की भक्ति में कोई भेद नहीं था। इन तीनों की उपासना सब तरह समान थी।

(फ) मंथरा का शील-गुण हिंदू-समाज ने विना उचित कारणों के ही बुरा समझा है। वह दशरथ की नौकरानी न होकर कैकेयी की थी, और शायद मायके से साथ आई थी। जब दशरथ कैकेयी के प्रतिकृत हुए, तभी वह उनके खिलाफ गई, पहले नहीं। फिर निष्कपट भाव से केवल स्वामिनी का भला चाहा, अथवा अपने लिये कुछ न माँगा। उसके कठिन कोप की भी परवा न करके उसी का हित-साधन किया। इसकी सलाह के परिणाम अश्व बुरे हुए; किंतु इसका विचार नीचा या स्वार्थी न था। हम इसे कदापि विशेष निंदा नहीं समझते।

(१०) गोस्वामीजी ने विप्रगण की महिमा का सदा गान किया, और यह कहा कि गुणी अथवा गुण-हीन, सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति द्विज-शब्द से ब्राह्मण का बोध कराया है, यद्यपि वास्तव में

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों द्विज हैं। यह कहते हैं कि विप्र-कोप से कोई भी नहीं बचा सकता, और कुल-भर का नाश हो जाता है। अंतिम बात पर इन्होंने बड़ा जोर दिया है। विवाह के समय महादेव और राम ने पहले ब्राह्मणों को प्रणाम करके तब कुछ किया। युद्ध करने के प्रथम राम ने—

विप्र - चरन - पंकज सिर नावा ।

यह कहते हैं—

मंगल - मूल विप्र - परितोषू ; दहै कोटि कुल भूसुर - रोषू ।
सापत, ताड़त, परुष कहंता ; विप्र पूज्य अस गावहिं संता ।
पूजिय विप्र सील - गुन - हीना ; नहिन सूद्र गुन - ज्ञान - प्रवीना ।
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन ; रामचंद्र बैठहिं सिंहासन ।
पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा ; मन-क्रम-वचन विप्र-पद पूजा ।
सानुकूल तेहि पर सब देवा ; जो तजि कपट करइ दुज सेवा ।
सुनु मम वचन सत्य अब भाई ; हरि-तोषक व्रत दुज - सेवकाई ।
अब जनि करसि विप्र-अपमाना ; जानास वरम्ह अनंत समाना ।
इंद्र - कुलिस, मम सूल दिसाला ; काल - डंड, हरि - चक्र कराला ।
जो इनकर मारा नहिं मरई ; विप्र-रोष- पावक सोउ जरई ।
दुज-निंदक बहु नरक-भोग करि ; जग जनमइ बायस-सरीर धरि ।

ब्राह्मणों की ऐसी प्रशंसा अनुचित है ही ।

(११) गोस्वामीजी ने इंद्र तक देवतों को मनुष्यों से कुछ ही बढ़ा और ऋषि-मुनियों से बहुत कम माना है। नारद ने जब काम को जीतने का हाल इंद्र की सभा में कहा, तब उनके इस महत्त्व पर सब देवतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। देवता बड़े स्वार्थी और कभी-कभी कपटी भी हो जाते हैं। इनको राक्षसों से इतना भय था कि यद्यपि यह राम को परमेश्वर जानते थे, तथापि निशाचरों के युद्ध में इन्हें राम-पराजय का भय उपस्थित हो जाता था, यहाँ तक कि दो-एक बार सारे भय के ये भागे, और ऋषि-मुनि ऐसे अवसरों पर भी स्थिर रहे। यथा—

देव, दनुज, नर, किन्नर, व्याला ; प्रत, पिसाच, भूत, बैताला ।
तिनही दसा न वहाँ बखानी ; सदा काम के चेरे जानी ।
सिद्ध, विरक्त, महामुनि, जोगी ; तेऽपि काम-बस भए बियोगी ।



सकल कहिँ, कव होइहि काली ; विघन मनावहिँ देव कुचाली ।
ऊँच निवास, नीचि करतूती ; सकहिँ न देखि पराइ बिभूती ।
बार-बार गहि चरन सकोची ; चली विचारि विबुध-मति पोची ।

❀

❀

❀

कपट - कुचालि - सीधँ सुर-राजू ; पर अक्रान्त प्रिय आपन काजू ।
काक - समान पाकरिपु - रीती ; छली, मलीन, न कतहुँ प्रतीती ।
लखि, हँसि हिय, कह कृपानिधानू ; सारस स्वान मधवा निज वानू ।
इन वर्णनों को वेद की वंदनाओं से मिलाने पर कैसा आश्चर्य होता है ?
वास्तव में हिंदू-समाज भगवान् वेद को भूल चुका है, नहीं तो गोस्वामीजी-सा प्रति-
निधि कवि ऐसे कथन कैसे करता ?

(१२) गोस्वामीजी अन्य सभी देवतों का पूजन केवल इसी मतलब से
करते थे कि उनके सहारे श्रीराम की भक्ति प्राप्त और दृढ़ हो, यहाँ तक कि शिव
की भी वंदना इन्होंने कभी किसी अन्य कारण से नहीं की । यथा—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ ;

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ।

❀

❀

शिव - सेवा कर फल सुत सोई ; अविचल भक्ति राम - पद होई ।
विनय-पत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव और अन्य सभी देवतों की स्तुति करने
में गोस्वामीजी केवल राम - भक्ति का वर माँगते थे, और कुछ नहीं । राम-भक्त
का आप यह एक लक्षण मानते थे—

विन छल विस्वनाथ - पद नेहू ।

इसके अनेक उदाहरण हैं ।

बाल-कण्ड के प्रारंभ में कवि ने महादेव की इतनी बड़ी कथा इस कारण
से लिखी कि श्रोता की राम-कथा सुनने की पात्रता विदित हो जाय । यथा—

प्रथम कह्यौ मैं शिव - चरित, बूझा मरम तुम्हार ;

सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त विकार ।

इनका यह विचार था कि—

पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते ।

इसी कारण यह शिव, भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान् आदि को इतना
मानते थे; और, क्या कहें, सीता भी इसके परे न जा सकी—

सुमिरत रामहिँ तजहिँ जन तिनु-सम विषय-विलासु ;

राम - प्रिया, जग - जननि सिय कछु न आचरज तसु ।

देवतों में यह शिव को राम का सबसे बड़ा भक्त मानते थे, और इसी से उन्हें सबसे बड़ा देवता कहते हैं, यहाँ तक कि विष्णु से भी बढ़ा दिया है। जिस समय सब देवता विष्णु के साथ शिव से ब्याह करने की प्रार्थना करने आए, तब शिव ने उनको अन्य देवतों से पृथक् भी न माना। वह यही बोले—

कहह अमर, आयहु केहि हेनू ?

फिर विष्णु को उनसे बात करने तक की हिम्मत न हुई, और सबकी ओर से ब्रह्मा ने कहा कि देवगण शिव का विवाह देखने को उत्सुक थे। इस स्थान पर विष्णु शिव से बहुत ही छोटे दिखलाए गए हैं। इसके पहले परब्रह्म श्रीराम शिव को विवाह करने का आदेश कर गए थे, और उनसे शिव ने कहा था—

नाथ-वचन पुनि मेटि न जाहीं।

और—

सिर धरि आयसु कराय तुम्हारा ; परम धरम यह नाथ हमारा।

इसी से तो ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवों की विनती सुनकर महादेव ने—

× × × समुक्ति प्रभु बानी ; ऐमोइ होउ कहा सुख मानी।

तुलसीदास राम और विष्णु में इतना बड़ा अंतर समझते थे कि शिव राम के दास थे, और विष्णुजी शिव के वैसे ही दास थे। विष्णु अर्थात् हरि और शिववाला अंतर विनय-पत्रिका में यों दिखलाया गया है—

जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं ;

वेद - विदित तेहि पद पुरारि - पुर कीट, पतंग समाहीं।

एवं—

भिद्ध-सनकादि-योगेंद्र वृंदारका-विष्णु-विधि-बंध-चरणारविंदम।

यह शिव हैं। इधर राम का यह हात है कि—

जो संपति शिव रागनहिँ दीन्हि दिए दम माथ ;

सो संपदा विभीषनहिँ सकुचि दीन्हि रघुनाथ।

शिव, काकभुगुंडि एवं गोस्वामीजी के प्रभु और कोई नहीं, 'दशरथ-अजिर-विहारी' राम ही थे। यथा—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ ;

रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नाथउ माथ।

(१३) निर्गुण और सगुण ब्रह्म। गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका मत था कि निर्गुण ब्रह्म ध्यान-गम्य नहीं है, और सगुण ब्रह्म का ध्यान करना सहज है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है। यथा—शिव, काकभुगुंडि, शरभंग, सुतीक्ष्ण,

अगस्त्य आदि । भगवान् वेद को भी इन्होंने सगुणवादी माना है । निर्गुण-सगुण का कुछ सविस्तर वर्णन इस ग्रंथ में कबीरदासवाले लेख में आवेगा । वेदों में अवतार का कथन तो है नहीं, किंतु परमेश्वर का है । इनके मत से सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, और न ईश्वर में लीन होते हैं—

ताते मुनि हरि - लीन न भयऊ ; प्रथमहिँ राम-भगति बर लयऊ ।

वेदा ऊचु: —

जे ब्रह्म, अज, अद्वैत, अनुभव-गम्य मन पर ध्यावहीं ;

ते कहहु जानहु नाथ, हम तव सगुन जस नित गावहीं ।

सगुन - उपासक परम हित निरत नीति दृढ़ नेम ;

ते नर प्रान-समान मोहँ, जिनके द्विज - पद प्रेम ।

(१४) गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है । उनको ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का स्रष्टा और शासन-कर्ता कहा है, तथा सर्वव्यापी, अनीह, अनाम, अरूप परब्रह्म का अवतार वर्णन किया है । इन्होंने सती तथा काकभुण्डि के मोह में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अनेक रूप वर्णन किए हैं, परंतु राम का रूप कहीं भी दूसरा नहीं कहा । इन्होंने जगत् को प्रकाश्य और राम को उसका प्रकाशक, अनीह, अनंत, अज और अद्वैत माना है, परंतु परब्रह्म के रूप का वही वर्णन किया है, जो विष्णु का है । मनु और शतरूपा रानी की कथा देखिए । इसी प्रकार सीताजी को इन्होंने आदि-शक्ति का अवतार माना है । राम और सीता के इन सब गुणों को सैकड़ों स्थानों पर कहा है, परंतु फिर भी इस बात पर जोर देते गए हैं कि वह दशरथ-अजिर-विहारी राम का वर्णन कर रहे हैं । इन सब बातों के होते हुए भी इन्होंने कहीं - कहीं राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार भी कह दिया है—

अति हरख मन, तन पुलक, लोचन सजल पुनि-पुनि कह रमा ।

नख - निर्गता, सुरद्विंदिता, त्रयलोक - पावनि सुर-सरी ।

इन स्थानों पर कवि ने सीता - राम को लक्ष्मी नारायण माना है । नारद-मोह के संबंध में भी इन्हें ऐसा ही भ्रम हो गया था । शेष स्थानों पर राम तथा सीता को परब्रह्म और आदि-शक्ति माना है—

आदि सकति, जेहि जग उपजाया ; सो अवतरिहि मोरि यह साया ।

उमा, रमा, ब्रह्मानि - बदिता ; जगदंबा, संतत अनिदिता ।

एक, अनीह, अरूप, अनामा ; अज, सच्चिदानंद, परधामा ।

व्यापक, विश्व - रूप भगवाना ; तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।

आदि, अंत कोउ जासु न पावा ; मति-अनुमान निगम अम गावा ।
 बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना ; कर बिनु करम करइ विधि नाना ।
 आनन-रहित सकल रस-भोगी ; बिनु बानी वक्ता, बड़ जोगी ।
 तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा ; गहइ घान बिनु वास असेखा ।
 जेहि इमि गावहिँ वेद बुध, जाहि धरहिँ मुनि ध्यान ;
 सोइ दसरथ - सुत भगत - हित कोसल - पात भगवान ।

जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू ; मायाधीस, ज्ञान - गुन - धामू ।
 संभु, विरंचि, विष्णु भगवाना ; उपजहिँ जासु अस ते नाना ।
 ऐनो प्रभु सेवक - वस अहई ; भगत हेतु लीला - तनु गहई ।
 सुनि सेवक सुर - तरु सुर-धेनू ; विधि - हरि - हर - बंदित पद-रेनू ।
 सारद कोटि अमित चतुराई ; विधि सत कोटि अमित निपुनाई ।
 विष्णु कोटि सम पालन-करता ; रुद्र कोटि सत - सम संहस्ता ।

निरवधि, निरूपम राम-सम नहिँ आन निगमागम कहै ;

जिमि कोटि सत खद्योत रवि कहै कहत अति लघुता लहै ।

(१५) रामचंद्र के विषय में इनके बहुत उँचे विचार थे ही, सो जब उनके विषय में यह कोई साधारण मनुष्यों के समान घटना का वर्णन करते थे, तब दो-एक सिकारिशी बातें अवश्य लिख देते थे । ऐसे छंद रामायण में स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं—

जाकी सहज स्वास सुति चारी ; सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।
 लव-निमेष महँ भुवन निकाया ; रचइ जासु अनुपासन माया ।
 भगत - हेतु सोइ दीनदयाला ; चितवत चकित धनुष-मख-साला ।
 जासु त्रास डर कहँ डर हाँई ; भजन - प्रभाव देखावत सोई ।
 सुमिरत जाहि मिटइ भय-भारू ; तेहि सम यह लौकिक व्यवहारू ।
 निगम नेति सिव ध्यान न पावा ; माया - मृग पीछे सोइ धाया ।

अपने यहाँ अवतार का विचार बहुत पीछे उठा है । ऋग्वेद में शक्ति केवल ईश्वर में है, अन्य देवतों में नहीं । यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव ईश्वर हैं । उपनिषदों में भी है ऐसा ही, किंतु कहीं-कहीं विष्णु के रूप नारायण ईश्वर के पुत्र या ईश्वर हैं । उपनिषद् निर्गुण ब्रह्म को ठीक तथा सगुण को अशुद्ध मानते हैं । अनंतर बृहस्पतिवाले चार्वाक मत के भारी प्रचार के प्रभाव-वश कपिल, जैमिनि, कणाद, महावीर और गौतम बुद्ध की शिक्षा से निर्गुण के साथ ही ईश्वरवाद भी लुप्त होने लगा । बौद्ध और जैन-मतों से निर्गुणेश्वरवाद को और भी आघात पहुँचा । तब भगवान् वादरायण व्यास ने भगवद्गीता द्वारा प्रतीकोपासना के सहारे पहले-

पहल सगुणवाद तथा वैष्णव अवतार का प्रतिपादन किया। गीता के पूर्व शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति मत्स्य, कच्छ और वराह थे। यही कथन विष्णुपुराण का है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति वराह थे। शतपथ ब्राह्मण और मनु में ब्रह्मा नारायण हैं। वाल्मीकीय रामायण और लिंगपुराण में ब्रह्मा वराह हैं। विष्णु ऋग्वेद में इंद्र से कम हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव की उन्नति हुई, किंतु विष्णु की वैसी नहीं। उपनिषदों में विष्णु देवतों में तो सर्वोच्च हुए, किंतु ईश्वर नहीं। शतपथ ब्राह्मण में वामन लेटे-लेटे सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे जीतते हैं, डगों से नहीं। मैत्रेय उपनिषद् में भोजन विष्णु का रूप है। कठोपनिषद् में मानुष उन्नति का चरमोत्कर्ष विष्णु का परमपद पाना है। परमपद विष्णु का ऋग्वेद में भी है। शतपथ में नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण परमात्मा हैं। महाभारत में वह पंचरात्र का मत निकालते हैं, जिसमें वासुदेव की महिमा है। बौद्ध-मत-प्रसार के पीछे हमारे यहाँ गीता में पहलेपहल श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार कहे गए। यह पाँचवां शताब्दी संवत् पूर्व की बात है। इससे प्रायः सौ वर्ष पूर्व पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते हैं। गीताकार वादरायण व्यास उत्तर सीमांसा में वासुदेव-मत को वेद-विरुद्ध कहकर उसकी समीक्षा करते हैं। किंतु वर्तमान रूप में गीता नारायण को विष्णु ही मानती है। अनंतर पौराणिक ग्रंथों में राम, कृष्ण आदि अवतार हुए। अवतार का विचार सबसे पहले कृष्ण से चला, और उन्हीं का पूजन हुआ। वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भाग में रामचंद्र अवतारी नहीं हैं, किंतु नवीन में हैं, जहाँ लक्ष्मणादि भी अवतार हैं। यह ब्यूह-पूजन है, जिसका सबसे पुराना कथन चौथी शताब्दी संवत् पूर्व के बौद्ध-ग्रंथ निर्देश में है। इसके पीछे श्रीकृष्ण-पूजन के तो अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, किंतु पुराणों के अनिश्चित कालवाले कथनों से इतर राम के नहीं मिलते। अमरकोष तथा पतंजलि में भी राम नाम नहीं है। इधर आकर सं० १०७० का जैन-ग्रंथ धर्म - परीक्षा राम तथा गौतम बुद्ध को अवतार कहता है। आगे चलकर साधवाचार्य ने सीताराम की मूर्ति का पूजन किया, ऐसा लिखा है। यह सं० १३२१ की घटना है। कालिदास चौथी-पाँचवीं शताब्दी के समझे जाते हैं। आपने राम को अवतार माना है। तेरहवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य मंत्री हेमाद्रि ने व्रतखंड में रामनवमी का व्रत लिखा है। हरिवंश, महाभारत, श्रीभागवत, वायुपुराण आदि में राम अवतार हैं, किंतु पौराणिक ग्रंथ गुप्त-काल में नव-संपादन के साथ पूर्ण किए गए, जिससे उनका कोई विशेष कथन गुप्त-काल से पुराना नहीं माना जाता है। इल्लोरा की मूर्तियाँ तीसरी से नवीं शताब्दी तक की हैं। उनमें रावण के चित्र हैं। बजराम और जगन्नाथजी

के मंदिरों में भी राम तथा दशावतार की पाषाण-मूर्तियाँ हैं। इनका समय दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है। वाल्मीकीय रामायण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व का ग्रंथ सबसे पुराना अवतार शून्य राम का कथन करता है। बौद्ध जातकों में तीन राम का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में एक यज्ञकर्ता राम लिखे हैं, किंतु रावणारि नहीं। अतः प्रकट है कि श्रीकृष्ण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व से अवतार माने गए तथा रामसंवत् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से।

(१६) ज्ञान, भक्ति । गोस्वामीजी ने भक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा रक्खा है। इस विषय पर रामायण - भर में आपने जगह-जगह पर बहुत कुछ लिखा है। अरण्य और उत्तर-कांडों में तो अपना मत साफ़-साफ़ प्रकट रूप से कहा है। वह महापुरुष अनन्य भक्त थे। भगवान् व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान-भक्ति के विषय में बहुत कुछ कहा है। गीता में राम शस्त्रभृत् का कथन भी है। यह वर्णन परशुराम, रामचंद्र या बलराम में से किसी एक का होने से निश्चय-पूर्वक राम से संबद्ध नहीं माना जा सकता। व्यासदेव एवं हिंदू-दर्शन-शास्त्रों का मत है कि मोक्ष-पद विना ज्ञान के नहीं मिल सकता, और भक्ति ज्ञान दृढ़ करने का एक भारी साधन है। गोस्वामीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से खुले-खुले नहीं ग्रहण किया, यद्यपि वास्तव में इसे माना अवश्य है।

यह कहते हैं, ज्ञान से केवल मोक्ष-पदवी प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान का होना इतना कठिन है कि उसका मिलना वस्तुतः असंभव है। वह केवल गुणाद्वर-न्याय से मिल सकता है, अथवा यदि कहीं मिल भी गया, तो विना भक्ति के स्थिर नहीं रह सकता। केवल भक्ति से भी मोक्ष मिलती है, परंतु भक्ति मोक्ष का साधन-मौत्र नहीं है, वरन्—

राम-भगति सोइ मुकुट गोसाईं ; अनइच्छित आवैं वरियाईं ।
भगति करत विनु जतन प्रयासा ; संसृति - मूल अविद्या नासा ।
भोजन करिय तृप्ति हित लागी ; जिमि सुअसन पचवइ जठरागी ।
अस हरि-भगति सुगम सुखदाई ; को अस मूढ़, न जाहि सुहाई ?

कुछ लोग गोस्वामीजी को अद्वैतवादी समझते हैं। यही हमें भी समझ पड़ता है। कुछ महाशय रामानंदी होने से इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी भी मानते हैं। इस विषय पर बहुत से विद्वानों ने अन्य ग्रंथों में प्रचुर परिश्रम करके गोस्वामीजी का अद्वैतवादी होना सिद्ध कर दिया है * । यहाँ इस पर विशेष विस्तार करने

* इसका विशेष विवरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के गोस्वामीजीवाले ग्रंथों के भूमिका-भाग में है।

से ग्रंथ का आकार बड़ जाना संभव है, अतः सूक्ष्मतया गोस्वामीजी का मत लिखा जाता है ।

इनका मत है कि क्रोध बिना द्वैतभाव के हो नहीं सकता, क्योंकि यदि जीव-मात्र ईश्वरमय अर्थात् एक हैं, तो क्रोध किस पर करे ? और, द्वैत-मत होने से अज्ञान आ ही गया । मनुष्य की द्वैत-बुद्धि छूट जाने पर वह परमेश्वर के बराबर हो जाता है । ऐसा होना वस्तुतः असंभव है, आः ज्ञानी होना भी असंभव है ।

क्रोध कि द्वैत^४ बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान ;

माया-बस परित्रिज जड़ जाव कि इस समान ।

ज्ञान पुरुष-रूपी है, और भक्ति एवं माया स्त्री-रूपिणी । स्त्री और पुरुष में जल्दी प्रेम हो जाता है, परंतु स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं रीझती । अतः ज्ञान पर माया का प्रभाव शीघ्र हो जाता है, और भक्ति पर उसका असर नहीं होता । फिर ईश्वर भक्ति के अनुकूल है, अतः भक्ति से माया डरती है, और उसके पास नहीं आती । इधर दैवशास्त्र पूरा पारश्रम सध जाने और ज्ञान-दीपक के जल जाने पर भी स्त्री-रूपिणी माया अंचल-वायु से उस दीपक को बुझा देती है । जब मनुष्य पूरा विरक्त हो जाय, तभी उसे भक्त समझना चाहिए । गोस्वामीजी का यह मत समझ पड़ता है कि पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाने पर अविद्या-जनित अंधकार दूर हो जाता है, भक्त को बिना चाहे हुए पूर्ण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, और भक्ति द्वारा इतनी दृढ़ता हो जाती है कि माया उसके पास नहीं फटक सकती है । उधर भक्ति-हीन ज्ञान एक तो हो ही नहीं सकता, और यदि होता भी है, तो इतना अस्थिर रहता है कि वह थोड़े ही में माया के फंदे में पड़ जाता है । अतः ज्ञान बड़ा ही कठिन और दुष्प्राप्य है, एवं भक्ति बहुत ही सुगमता से प्राप्त हो सकती है । रामचंद्र कहते हैं, भक्त और ज्ञानी, दोनों मेरे पुत्र के समान हैं, परंतु मैं ज्ञानी को प्रौढ़ और भक्त को बालक के समान समझता हूँ । अतः जिस प्रकार माता छोटे बालक की सँभाल रखती है, वैसे ही मैं भक्त की हर समय रक्षा किया करता हूँ । आपके पूर्ववर्ती शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने तर्कवाद द्वारा बौद्ध और जैन पंडितों का पराभव करके लोक में पौराणिक मत की महत्ता स्थापित की । समय पर जब इस मत का कोई तर्क से सामना करनेवाला न रहा, तब परमेश्वर और नारायण के उच्च भावों का कथन-बाहुल्य छोड़कर गोस्वामीजी ने अधिक लोक-प्रिय भक्तिवाद चलाया, अथच तर्कवाद एवं ज्ञानवाद को कठिन बतलाकर भक्तिवाद के आगे उसकी हेयता दिखलाई । इतना सब होते हुए भी आपने यह भी कह दिया है कि सगुण-अवतारवाद तर्कवाद से पूर्णतया समर्थित नहीं होता, क्योंकि इसके लिये विश्वासात्मिका भक्ति की भी आवश्यकता है । आपने

मुसलमानी धार्मिक दवाव से आक्रांत हिंदू-समाज का दृढ़ संगठन भक्ति के पुष्ट उप-देश से किया। भक्ति मनुष्योपासना से प्राप्त होती है। नाम-जप और चरित्र-गान—ये दो उसके मुख्य साधन हैं, जो सत्संग से मिल सकते हैं। इसी कारण नामोपासना और ईश्वर-गुण-गान से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करना ही भक्त की अंतिम इच्छा है, यद्यपि ऐसा करने में उसे ज्ञान और मोक्ष विना चाहे ही प्राप्त हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति कही है। यथा—(१) संतों का संग, (२) राम-कथा-श्रवण, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) निष्कपट होकर राम-गुण-गान, (५) राम पर दृढ़ विश्वास रखकर नाम का जप, (६) दम, शील, विरति, सज्जनानुमोदित धर्म इत्यादि, (७) जगत् को राममय देखना, और राम से संतों को अधिक मानना (इसका प्रथमार्द्ध अनन्य भक्ति है। यथा—“सो अनन्य असि जाहि की मति न टरै हनुमंत; मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत ।”), (८) संतोष करना, पर-दोष न देखना और (९) छल-हीन होकर, हर्ष-विषाद छोड़ राम का भरोसा रखना। इनमें से जिसके एक भी हो; वह ईश्वर का प्रिय है। गोस्वामीजी के हृदय में नवधा भक्ति थी।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि राम-भक्त चार प्रकार के होते हैं, और चारों को नाम का आधार है। इनमें ज्ञानी परमेश्वर को विशेष प्यारा है। गोस्वामीजी ने भक्ति-हीन ज्ञान का पद भक्त से बहुत नीचा रक्खा है, और यह भी लिखा है कि भक्ति बहुत कम मनुष्यों में है। अतः इनको सन्निवाले मनुष्यों ने और स्वयं इन्होंने जहाँ कहीं वरदान माँगा, वहाँ भक्ति हो माँगी है। इन्होंने श्रेष्ठ मनुष्यों की इस प्रकार श्रेणियाँ बाँधी हैं, जिनका माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—धर्म-व्रत-धारी, विषय-विरक्त, सम्यक् ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्म-निरत, विज्ञानी और भक्त।

जे ज्ञान-मान-विमत्त तव भव-इरनि भक्ति न आदरा ;

ते पाय सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।

सरुज सरीर वादि बहु भोगा ; विनु हरि-भजन वादि जप-जोगा।

सोह न राम-प्रेम विनु ज्ञाना ; करनधार विनु जिमि जलजाना।

रामचंद्र के भजन विनु जो चह पद निरवान ;

ज्ञानवंत अपि सोपि नर पनु विनु पूँछ, विषान।

भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन विना बहु विंजन जैसे।

उपर्युक्त कारणों से यह महाशय राम-नाम को रामचंद्र से भी अधिक मानते हैं। यथा—

करहुँ कहाँ लगि नाम-वड़ाई ; राम न सकहिँ नाम-गुन गाई।

गोस्वामीजी की भक्ति उनके रचित ग्रंथों में प्रत्येक स्थान पर झलकती है।

भले मनुष्यों का तो कहना ही क्या, वह दुष्ट राज्ञों तक को भी भक्त ही कहते हैं, और यह बात प्रायः हरएक के मरते समय कह देते हैं कि—“मरती बार कपट सब त्यागा ।” यही दशा मारीच, कालनेमि, मेघनाद, कुम्भकर्ण, रावण इत्यादि सभी के विषय में देख पड़ती है, यद्यपि मारीच ने मरते समय भी जोर से लक्ष्मण का नाम लेकर धोखा ही दिया, और उसी के धोखे में आकर सीता ने लक्ष्मण को ज़बरदस्ती राम के पास भेजा, और वह स्वयं रावण के फंदे में पड़ी ।

सत्संग के बिना भक्ति, विवेक और मोह-हानि नहीं हो सकती । नव प्रकार की भक्तियों में एक सत्संग भी है, परंतु राम-कृपा के बिना वह भी नहीं प्राप्त हो सकता । सत्संग से कौन बड़ा नहीं होता, और कुसंग से कौन नहीं बिगड़ता ?—

को न कुसंगति पाइ नसावा ? केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ?
भगति सुतंत्र सकल सुख सानी ; विनु सतसंग न पावहिँ प्रानी ।
बरु भल वास नरक कर ताता ; दुष्ट-संग जनि देइ विधाता ।
राम-कथा के ते अधिकारी ; जिनके सतसंगति अति प्यारी ।

तात सरग - अपवरग - सुख धरहु तुला यक अंग ;
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग ।
विनु सतसंग न हरि-कृपा, तेहि विनु मोह न भाग ;
मोह गए विनु राम - पद होइ न दृढ़ अनुराग ।

(१७) माया गोस्वामीजी ने दो प्रकार की कही है—एक राज्ञों की, दूसरी परमेश्वर की । राज्ञों की माया केवल युद्धादि में काम आती थी । उससे युद्ध करनेवालों को मोहित एवं विस्मित किया जाता था—उन पर अस्त्र, जल, अग्नि, पवन इत्यादि का उत्पात किया जा सकता था, और वह प्रभावशाली अस्त्रों से निवृत्त भी हो सकती थी । परमेश्वर की माया जगत् को नचाती है, यहाँ तक कि “नारद, सिव, विरंचि, सनकादी” भी उसके फंदे में फँस जाते हैं । जीव उस माया के वश में रहता है, परंतु माया स्वयं राम के वश में है, और इसी कारण भक्ति करनेवाले को नहीं व्यापती । वह दो प्रकार की है—विद्या और अविद्या—

मैं अरु मोर-तोर यह माया ; जेहि बस कीन्हें देव - निकाया ।
गो-गोचर जहँ लगी मनु जाई ; सो सब माया जानेउ भाई ।
तेहि कर भेद सुनउ तुम सोऊ ; विद्या अपर अविद्या दाऊ ।
एक रचै जग गुन बस जाके ; प्रभु-प्रेरित, नहिँ निज बल ताके ।
एक दुष्ट अतिशय दुख-रूपा ; जा बस जीवपरा भव - कूपा ।
सो प्रभु-भ्रुव-बिलास खगराजा ; नाच न्छी इय सहिते समाजा ।

उत्तर-कांड की समालोचना के उदाहरण में भी माया का वर्णन है। यह शांकर माया के समान है। वर्तमान तार्किक सिद्धांतों से प्रकृति के शक्ति-मात्र होने, अज्ञेयवाद एवं अन्य विचारों से मायावाद अनावश्यक हो गया है। इसका कुछ विस्तृत विवरण हमने अपने ग्रंथ 'धर्म-तत्त्व पर आर्ष विचार' में किया है।

इन दोनों मायाओं के अतिरिक्त एक देवतों की भी माया है, जो साधारणतः मनुष्यों को मोहित कर सकती है। उसी ने मंथरा और कैकेयी को मोह-वश किया। अवधवासी जब भरत के साथ राम को बुलाने वन गए, तब वे भी उसी से मोहित किए गए, पर वह स्वयं भरत को नहीं मोहित कर सकी। कुंभकर्ण की मति वर माँगने के समय भी उसी से फेरी गई। उसका प्रयोग प्रायः शारदा को प्रेरित करके किया जाता था।

(१८) तपस्या को भी तुलसीदास ने बड़ा पद दिया है—

तप-बल रचइ प्रपंच विधाता ; तप-बल विष्णु सकल जग - वाता ।

तप-बल संभु करइ संहारा ; तप-बल सेष धरइ महि-भारा ।

तप-अधार सब सृष्टि भवानी ; करहु जाइ तप अस जिय जानी ।

छांदोग्य उपनिषत् में ईश्वरीय तप से जगदुत्पत्ति कथित है। यह तप शायद शक्ति का स्फुरण हो।

(१९) गोस्वामीजी ने स्त्रियों की प्रायः निंदा की है। यद्यपि उन्होंने सीता, कौशल्या आदि की स्तुति भी की है, तथापि वह स्तुति रामचंद्र से संबंध रहने के कारण की गई है। आप समष्टि रूप से नारियों के निंदक थे, तथा केवल व्यक्ति रूप से किसी-किसी की प्रशंसा करते थे। गोस्वामीजी ने स्त्रियों को सहज जड़, सहज अपावन, अनधिकारिणी, अज्ञ आदि कहकर नारी-चरित्र को गंभीर समुद्र कहा और लिखा कि स्वतंत्र होकर ये विगड़ जाती हैं।

उत्तम के अस बस मन माहीं ; सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।

मध्यम पर-पति देखहि कैसे ; भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे ।

धरम विचारि समुझि कुल रहहीं ; ते निकृष्ट तिथ, स्तुति अस कहहीं ।

विनु अवसर भय ते रह जोई ; जानेहु अधम नारि जग सोई ।

इन्होंने स्त्री-संबंधी जाँच की कसौटी बड़ी कड़ी रखी है। इसी से विदित होता है कि यह उनसे असंतुष्ट रहते थे।

भ्राता पिता, पुत्र उरगारी ; पुरुष मनोहर निरखति नारी ।

राखिय नारि जदपि उर माहीं ; शास्त्र, नृपति, जुवती बस नाहीं ।

पाप - उलूक - निकर - मुखकारी ; नारि निबिड़ रजनी अधियारी ।

अवगुन-मूल, मूल-प्रद प्रमदा सब दुख-खानि ।

ढोल, गवॉर, सूद, पसु, नारी ; इन्हें ताड़ना की अधिकारी ।
नारि - सुभाव साँच कवि कहहीं ; अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।
सादस, अनत, चपलता, माया ; भय, अविवेक, असौच, अदाया ।
साँचु कहइ कवि नारि सुभाऊ ; सब विधि अगम, अगाध दुराऊ ।
निज प्रतिविंब मुकुर गहि जाई ; जानि न जाइ नारि-गति भाई ।
का नहिँ पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ ;
का न करइ अवला - प्रबल, केहि जग काल न खाइ ?

गोस्वामीजी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे । इनके वैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती थीं, और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर-उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था । शायद यही कारण है कि इन्होंने उनकी निंदा की है । फिर भी हम तो यही कहेंगे कि ऐसे महात्मा और महाकवि को बिना सोचे इतनी प्रचंड निंदा न करनी चाहिए थी । उस काल के अन्य कविगण भी बहुधा इस महादोष के दोषी हैं । कबीरदास तक ने भी ऐसा ही लिखा है । स्त्री के पद पर ऐतिहासिक विचार करने से विदित होता है कि भारत में यह उच्च था, किंतु मुसलमानों के आगमन से बिगड़ गया । योरप में यह सोलहवीं शताब्दी से बड़ा है ।

(२०) गोस्वामीजी भाग्य पर विश्वास रखते थे, क्योंकि उन्होंने यह कहलवाया है—

होइहि सोइ, जु राम रचि राखा ।

जोगी, जटिल, अकाम तनु, नगन, अमंगल-बेल ;

अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ।

सिय, रघुवीर कि कानन - जोगू ; करम प्रधान साँच कह लोगू ।

कोउ न काहु दुख-सुख कर दाता ; निज कृत करम भोग सब आता ।

करम प्रधान बिस्व रचि राखा ; जो जस करइ, सो तस फल चाखा ।

परंतु यह महाशय प्रायः विपत्ति-पीड़ित आदमियों को समझाने के लिये धार्मिक सिद्धांतों द्वारा उन्हें आश्वासन देते थे । कार्य-कुशलता को यह कर्मों के आसरे नहीं रोकना चाहते थे । यथा—

कादर मन कर एक अधारा ; दैव-दैव आलसी पुकारा ।

सो परंतु दुख पावई, सिर धुनि - धुनि पछिताइ ;

कालहि, कर्महि, ईसुरहि मिथ्या दोष तगाइ ।

इन्होंने यह भी लिखा है कि राम और शिव की कृपा से कर्म के लेख मिट भी सकते हैं। यथा—

रामचरित चिंतामनि चारू ; संत सुमति - तिय सुभग सिँगारू ।
मंत्र महामनि विषय-ब्याल के ; मेढत कठिन कुअंक भाल के ।
जो तप करइ कुमारि तुम्हारी ; भाविहु मेदि सकैं त्रिपुरारी ।
वावरो रावरो नाह भवानी ।

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ;
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ।

(२१) यद्यपि गोस्वामीजी ने हर तरह से दीनता प्रकट की, और निरभिमान भाव भी खूब ही दिखाया है, तथापि उनको यह अवश्य विश्वास था कि उनकी रचना परमोत्तम है, और सिवा खलों के और कोई उनका उपहास न करेगा। तुलसीदास को समालोचकों से बड़ा भय था, और उन्होंने होनहार तथा वर्तमान समालोचकों से बड़ी विनती करते हुए, तर्क छोड़कर, कथा सुनने का अनुरोध किया है। ऐसा कहने से बेचारे गोस्वामीजी अपने कुछ कथनों को तर्क-हीन मानकर मानो उनके प्रतिकूल शिक्षा दे गए। फिर भी उनका प्रयोजन ऐसा न था।

चरित राम के सगुन भवानी ; तराक न जाइ बुद्धि-बल-बानी ।
अस विचारि जे परम विरागी ; रामहि भजइ तरक सब त्यागी ।
पुनि सबही विनयों कर जोरी ; करत कथा जेहि लागु न खोरी ।
छमिहहि सज्जन मोरि ढिठाई ; सुनिहहि वाल वचन चितु लाई ।
समुझि विविध विधि विनती मोरी ; कोउ न कथा सुनि देखि खोरी ।
एतेहु पर करिहहि जे संका ; मोहि ते अधम ते जड़मति रंका ।
हँसिहहि क्रूर, कुटिल, कुविचारी ; जे पर - दूषन - भूषन - धारी ।
खल - परिहास होइ हित मोरा ; काक कहाहि कलकंठ कठोरा ।
हँसिहहि बक दादुर चातकही ; हँसहि मलिन खल विमल-बतकही ।

यहाँ पर तर्कवाद तजकर केवल अमिश्र भक्ति का उपदेश है। गोस्वामीजी की कविता का उपहास तो किसी ने नहीं किया, परंतु बहुत लोग इनके छंदों के इतने अधिक अर्थ करते हैं कि वे उपहासास्पद हो जाते हैं। बहुत महाशयों ने ऐसे भी अर्थ निकाले हैं, जो प्रशंसनीय हैं; परंतु कहना ही पड़ता है कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर अर्थ निकालना कवि की आत्मा को वलेश देना है। हम इस स्थान पर एक प्रशंसनीय और एक उपहास-योग्य अर्थों का नमूना नीचे लिखते हैं—

मुक्ति - जनममहि जानि, ज्ञान - खानि अघ-हानि-कर ;
जहँ बस शंभु - भवानि, सो कासी सेइय कस न ?
जरत सकल सुर - वृंद , बिखम गरल जेहि पान क्रिय ;
तेहि न भजसि मतिमंद , को कृपालु संकर - सरिस ?

महि=म अक्षर को ; अघहानिकर=अघ-हानिक र=र अक्षर अघ-हानि करनेवाला है । जहँ=र और म अक्षरों में । सो कासी=सोक असी=शोक के लिये तलवार । ज रत=जिसमें रत हैं । शंकर=कल्याण करनेवाला ।

इस प्रकार अर्थ लगाने से उपर्युक्त दोहे काशी और शिव की स्तुति के वाचक न रहकर राम-नाम की स्तुति के वाचक हो जाते हैं । म को मुक्ति का जन्म जानो, और र को ज्ञान-खानि तथा पाप - हानि करनेवाला जानो, जिस र और म में शंभु-भवानी वास करते हैं, उस शोक की तलवार को क्यों न सेवे ! जिस राम में विषम गरल पान करनेवाला (शिव) एवं सब सुर-वृंद रत हैं, हे मतिमंद, उसको क्यों नहीं भजता ? उस कल्याणकर के समान कृपालु कौन है ?

विनय-प्रेम-वस भई भवानी ; खसी माल, मूरति मुसकानो ।

विनय-प्रेम-वस, भई भवानी ! (लाना तो) खसी-माल । मूरति मुसकानी ।

सीता ने कहा—विनय-प्रेम हो चुका, भई भवानी हो ! लाना तो बकरो का समूह । इस पर तो मूर्ति भी मुस्किराई कि अब अच्छा बलिदान मिलेगा ।

दोष-कथन

(?) गोस्वामीजी पात्रों से वातचीत कराने में कभी-कभी उसको उचित से अधिक बड़ा देते थे ।

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनउ तुम्हार ;

सोइ हम करव, न आन कछु, वचन न मृषा हमार ।

कुपथ माँगु रुज - ब्याकुल रागी ; बैद न देइ, सुनहु मुनि जोगी ।

यह भगवान् ने उस समय, जब नारद ने राज-कन्या को ब्याहने के वास्ते उनसे रूप माँगा था, नारद से कहा । इसमें दोहा-भर कह देना उचित था, परंतु चौपाई कह देने से उनकी भविष्य की कुटिलता ऐसी प्रकट हो गई कि उसे कोई पागल भी समझ जाता ।

धुआँ देखि खर, दूषन केरा ; सूपनखई तव रावन प्रेरा ।

बोला वचन क्रोध करि भारी ; देस-कोस कइ सुरति बिसारी ।

करसि पान, सोयसि दिन-राती ; सुधि न तोहि सिर पर आराती ।

राज नीति बिनु-धन बिनु धरमा ; हरिहि समरने बिनु सतकरमा ।

बिद्या विनु बिबेक उपजाए ; स्रम फल किए पढ़े अरु पाए ।
 संग ते जती, कुमंत्र ते राजा ; मन ते ज्ञान, ज्ञान ते लाजा ।
 प्रीति प्रनय विनु, मद ते गुनी ; नासहि बेगि, नीति असि सुनी ।
 रिपु, रुज, पावक, पाप प्रभु इन गनिय न छोट करि ;
 अस कहि त्रिविध विलाप करि लागी रोदन करन ।

यहाँ नाक-कान कटने पर शूर्पणखा को नीति और धर्म-शास्त्र के सिद्धांतों का उपदेश देने की कोई इतनी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, जितनी अपने दुःख एवं अपमान की बात कहने की । समझ पड़ता है, महर्षि वाल्मीकि का अनुकरण करके ही गोस्वामीजी इस भूल में पड़े ।

वाल-कांड

(२) रामचंद्र की महिमा बढ़ाने को गोस्वामीजी ने अन्य देवतों की प्रायः निंदा कर दी है । सती-मोह इस कथन का प्रमाण है । सती-मोह में उनके कामोद्दीपन का भी भ्रम हो जाता है, नहीं तो वह राम के पास सीता का रूप धरकर क्यों जाती ? यह कथन बहुत ही अनुचित है, यद्यपि कई पुराणों में भी आया है । तुलसीदास को उन व्यासों से विशेष ज्ञान दिखाना चाहिए था । सती-मोह में विधि, हरि, हर इत्यादि के अनेक रूप देख पड़े, परंतु रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता के दूसरे रूप नहीं देख पड़े । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्मण भी विधि, हरि और हर से बड़े थे । यह विचार व्यूह-पूजन के अनुकूल भी है । सती-मोह की दार्ष्टान्तिक कथा शायद हिंदू - मत-प्रस्फुटन का इतिहास कहती है । उमा मदरासी देवी थीं, जिन्हें अन्य हिंदू पहले नहीं मानते थे, न शिव का ही यजुर्वेद से पूर्व विशेष मान था । राम के समय तक शायद यही हाल था, सो आपने सती का विशेष मान नहीं किया, और शैव-मान के अभाव से सत्याग्रह करके वह दक्ष के यज्ञ में जल मरीं, जिसके पीछे ही शैव-मान स्थापित हुआ, अथच विष्णु उनसे हार गए । अनंतर केनोपनिषत् (प्रायः आठवीं शताब्दी बी० सी०) में उमा का भी मान हुआ, और उन्होंने देव-समाज को ऐश्वर्य ज्ञान सिखाया, जो शैव ईश्वरत्व का होगा । राम - कथा १३वीं शताब्दी बी० सी० के निकट की समझी जाती है ।

जाना राम सती दुख पावा ; निज प्रभाव कछु प्रगट देखावा ।

यह तो वही मसल हुई कि “मरे पर सौ दुर्गें ।” रामचंद्र से ऐसा कराना बहुत ही अनुचित हुआ । जब कोई दुःखित हो, तो उस समय उसे और दुःखित करना कौन-सी महानुभावता है ? सती से झूठ बुलाना भी अनुचित हुआ ।

गोस्वामीजी ने सती की दुर्दशा का तो सविस्तर वर्णन किया है, परंतु दत्त-व्यं-विध्वंस तीन ही चौपाइयों में कह डाला ।

सती मरत हरि सन वर भाँगा ; जनम - जनम सिव-पद-अनुरागा ।

यहाँ पर हरि से वर मँगवाना भी बेजा है । महादेव के विवाह में इन्होंने परछन तक न होने दी, और महादेव का रूप देखते ही मैना मारे डर के भागकर वर में घुस गई, तथा पार्वती को लेकर रोने लगी—

जेहि विधि तुम्हैं रूप अस दीन्हा ; तेहि जड़ वर वाउर कस कीन्हा ?

सारे रनिवास में हाहाकार मच गया । इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता । मैना तो प्रथम से ही जानती थी कि पार्वती को कैसा वर मिलेगा, और उसी के वास्ते पार्वती ने तप ही किया था, तब फिर यह हाहाकार क्यों कराया गया ? साधारण स्त्रियों की भाँति मैना अत्यंत अस्थिर मति की कैसे हो सकती थी ? संभवतः महादेव का विवाह इस कारण बिगाड़ा गया, जिसमें रामचंद्र के विवाह की शोभा बढ़ जाय । इन महाकवि की रामायण ही के आधार पर जहाँ कहीं बड़ी गड़ बड़ी या खराबी होती है, तो लोग प्रायः यह कहते हैं कि “महादेव की बरात है ।” कुमारसंभव और शिवपुराण में महादेव के विवाह का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है । यह भी साहित्यिक विचार माना जा सकता है कि शिव का सब हाल पहले ही से जानकर भी उनका पूर्णतया अभद्रिक रूप प्रत्यक्ष देखकर मैना से विना शोक मनाए न रह गया ।

(३) गोस्वामीजी ने महादेवजी से कहलाया है—

अनुज - जानकी - सहित निरंतर ; बसहु राम प्रभु, मम उर अंतर ।

सो क्या महादेव लक्ष्मण का भी ध्यान करते थे ? अस्तु । गोस्वामीजी ने ध्यान की मूर्ति के साथ वानरों और रीछों को नहीं रक्खा, यही उनकी बड़ी कृपा हुई । यह विचार भी बड़े हुए व्यूह-पूजन से साम्य रखता है ।

(४) इसी प्रकार परशुराम से यह कहला दिया कि—

छमहु छमा - मंदिर दोउ भ्राता ।

लक्ष्मण-संबंधी ऐसे कथन व्यूह-पूजन से संबद्ध होने से एक प्रकार से क्षम्य कहे जा सकते हैं, यद्यपि अशोभित अवश्य जान पड़ते हैं ।

(५) उत्तर-कांड में गोस्वामीजी ने माया का वर्णन करते हुए “नारद, सिव, विरंचि, सनकादी” को लोभ, मोह, काम आदि सभी दुर्वासनाओं का शिकार बना दिया है । यहाँ पर शिव-विरंचि आदि में ईश्वरीय भाव का निराकरण करके आपने एक ईश्वरवाद पर बल दिया है । फिर भी यह कथन अच्छा नहीं लगता ।

(६)

जो संपति सिव रावनहिँ दीन्हि दिए दस माथ ;

जो संपदा विभीषनहिँ सकुचि दीन्हि रघुनाथ ।

इससे भी इनकी निंदा की प्रवृत्ति कुछ-कुछ प्रकट होती है। कहाँ रावण का महत्त्व, कहाँ विभीषण का छोटे-से लंका का राज्य ! और वह भी दूसरे का दिया हुआ तथा उसके आश्रित। ऐसे ओछे कथन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य को शोभा नहीं देते।

(७) दो-चार स्थानों पर गोस्वामीजी ने वाक्य-रचना अशुद्ध की है—

देखि उमहिँ तप-खिन्न सरीरा ; ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा ।

प्रभु सरवग्य दास निज जानी ; माँगु-माँगु वर भइ नभ बानी ।

इन दोनों स्थानों पर 'भइ' के स्थान पर 'किय' कर देने से दुष्प्रबंध ठीक हो सकता था।

जो कछु आयसु ब्रह्मँ दीन्हा ; हरखे देव, विलंब न कीन्हा ।

इसमें जो के पीछे 'सो किया गया' यह नहीं लिखा, इतनी कमी है।

परंतु इन दो-एक व्याकरण-संबंधी त्रुटियों को कोई भी दोष नहीं कह सकता। इन्हें आर्ष प्रयोग समझना चाहिए। साधारणतया आजकल के भी लेखक ऐसे प्रयोग करते हैं।

इन महाकवि ने परशुराम और लक्ष्मण का संवाद ऐसा उपहास-योग्य लिखा है कि वैसी रचना करने में शायद त्रुटि कवि को भी लजा आती। इन्होंने परशुराम और लक्ष्मण को ऐसा दिखलाया है, जैसे एक ओर महाक्रोधी, निर्वल, अभिमानी और चिढ़नेवाला बुढ़ा खड़ा हो, और दूसरी ओर एक बड़ा ही नटखट, बिगड़ा हुआ, ठठोल छोकरा, जिसको बड़े-छोटे का कुछ भी लिहाज़ न हो। यह वर्णन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य के विलकुल ही विरुद्ध है। परशुराम के ये वाक्य—

उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे ; केवल कौसिक सील तुम्हारे ।

बोले रामहिँ देइ निहोरा ; बचइ विचारि बंधु लघु तोरा ।

साफ़ ज़ाहिर करते हैं कि वह अपने मन में जानते थे कि युद्ध में उनसे कुछ भी किया न होगा, अतः लक्ष्मण को क्षमा करने के बहाने ढूँढ़ते थे; यहाँ तक कि राम को भी मन में विचारना पड़ा—

गुनहु लखन कर हम पर रोखू ; कतहुँ सुधाइउ ते बड़ दोखू ।

टेढ़ जानिँ संका सब काहू ; बक्र चंद्रमहिँ गसइ न राहू ।

यदि कहिए कि वह “बहै न हाथ, दहै रिस छाती” के कारण विवश थे, तो उन्होंने राम और लक्ष्मण को इस प्रकार क्यों ललकारा—

देखु जनक, हठि बालक एहू ; कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ।

छल तजि करउ समर सिव-दोही ; बंधु-महित नतु मारउँ तोही ।

परशुराम के मुख से रामचंद्र के प्रति नीचे लिखे दो वाक्य कहलाने में गोस्वामीजी ने परशुराम की पूरी नीचता दिखा दी है—

संभु - सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध ।

बंधु कहै कटु सम्मत तोरे ; तू छल - विनय करसि कर जोरे ।

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े ; दुज - देउता घरहि के बाढ़े ।

लक्ष्मण से ये वाक्य कहलाकर स्वयं गोस्वामीजी को सब लोगों से यह कहलाना पड़ा कि—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।

नीचे के वाक्यों से जान पड़ता है, मानो परशुराम बेवक्रूफ़ बनाए जा रहे थे—

मैं तुम्हारे अनुचर मुनिराया ; परिहरि कोप, करिय अब दाया ।

दूट चाप नहिँ जुरइ रिसाने ; बैठिय, होइहैं पाँय पिराने ।

जौ अति प्रिय, तौ करिय उपाई ; जोरिय कोउ बड़ गुनिय बुलाई ।

किसी शूर से निम्न-लिखित बात कहलाकर भी युद्ध न कराना गोस्वामीजी का ही काम था—

विहँसे लपन, कहा मुनि पाहीं ; मूँदिय आँखि, कतहुँ कोउ नाहीं ।

द्वापर के अंत में भगवान् वेदव्यास ने भीष्म और परशुराम के युद्ध-समय जो बातचीत कराई है, उससे परशुराम का गांभीर्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है । जिस समय भीष्म ने बहुत ही अहंकार-पूर्ण बातचीत की, और कहा कि जब आपने पृथ्वी क्षत्रिय-हीन की थी, तब भीष्म नहीं था, अब मैं आपको मारकर क्षत्रियों का बदला लूँगा, उस समय इन्होंने केवल यही कहा—

कहा भयो बोलत इविधि, काल-विवस हूँ बीर ।

अयोध्या-कांड

(६) भरत के चित्रकूट जाने में गोस्वामीजी ने कहा है कि राम से मिलने के बाद वशिष्ठ तथा अयोध्यावासी लोगों ने गुह निषाद से भेंट की । यह भेंट व्यर्थ थी । जब वह शृंगवेरपुर से भरत के साथ आ रहा था, तो फिर इस दुबारा भेंट की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

अरण्य-कांड

(१०) दो-चार स्थानों पर १५ मात्राओं की चौपाई लिखकर छंद-परिवर्तन या छंद के नियम का उल्लंघन किया गया है। यथा—

तव खिसियानि राम पहिँ गई ।

सस्त्री, मरमी, प्रभु, सठ, धनी ।

परंतु ऐसी चौपाइयाँ बहुत कम हैं ।

(११) जटायु ने रामचंद्र से कह दिया था कि—

नाथ, दसानन यह गति कीन्ही ; तेहि सठ जनकसुता हरि लीन्ही ।

लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं ; बिलपति अति कुररी की नाईं ।

इतना जानने पर भी राम ने न-जाने क्यों बंदरों को सीता के खोजने के लिये सब ओर भेजा, और उनसे यह न कह दिया कि सीता लंका में हैं ? इसी प्रकार किष्किंधा-कांड में एक दफ्ते कहा—

एक बार कैसेहु सुधि पाओं ; कालहु जीति निमिख महँ लाओं ।

(१२) गोस्वामीजी कभी-कभी आकारण भी रामचंद्र की दयालुता के गीत गाया करते थे । जब जटायु ने रामचंद्र के वास्ते जान तक दे दी, तो इस विषय में यदि कुछ प्रशंसा हो सकती थी, तो उसी की, परंतु यह महाशय उस जगह भी राम ही की वड़ाई का डंका पीटते हैं—

कोमल-चित अति दीनदयाला ; कारन विनु रघुनाथ कृपाला ।

गीध अधम, खग, आमिखभोगी ; गति तेहि दीन्ह, जो जाचत जोगी ।

शबरी में नवधा भक्ति वर्तमान थी, तब भी यह कहते हैं ।

जाति-हीन अघ जनममय, मुकुत कीन्ह असि नारि;

महामंद मन, सुख चहसि ऐसे प्रभुहिँ बिसारि ।

किष्किंधा-कांड

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती ; तन विवरन, चिंता जरु छाती ।

सो सुगरीव कीन्ह कपिराऊ ; अति कोमल रघुवीर-सुभाऊ ।

इसमें कोमलता और दयालुता की कोई बात नहीं देख पड़ती, रामचंद्र और सुग्रीव में यही शर्त हुई थी । राम ने बालि को मारा, और सुग्रीव ने लंका में ससैन्य जाकर उनके लिये लड़ाई की । इस स्थान पर हमारे किसी समालोचक महाशय ने एक बार इस शर्त के होने में संदेह प्रकट किया था । उन्हें ये चौपाइयाँ देखनी चाहिए—

तेहि सन नाथ मइत्री कीजै ; दीन जानि तेहि अभय करीजै ।

सो सीता कर खोज कराइहि ; जहँ-तहँ मरकट कोटि पठाइहि ।

इनके पीछे की भी चौपाइयाँ यही भाव पुष्ट करती हैं ।

लंका-कांड

(१३) रावण और अंगद की बातचीत जो गोसाईजी ने कराई है, वह स्वाभाविक नहीं है । यद्यपि रचना वहाँ की अच्छी है, तथापि यह कहना ही पड़ता है कि महाराजों की सभा में कोई दूत इस तरह अयोग्य एवं उद्धत बातचीत नहीं कर सकता । इस संवाद में बहुत-सी चित्ताकर्षक और मज़ाक़ की बातें हैं, जिससे पढ़ने में आनंद आता है, किंतु यदि ये ही बातें किसी अन्य रीति से लिखी जातीं, तो ऊपर लिखा हुआ दोष भी न आने पाता । इन्हें कितने ही हिंदी-कवियों ने हनुमन्नाटक के आधार पर लिख दिया है ।

(१४) मंदोदरी का रावण को समझाना भी कहीं-कहीं अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है । यथा—

वान - प्रतापु जानु मारीचा ; तामु कहा नहिँ मान्यो नीचा ।

निकट काल जेहि आवत साई ; तेहि भ्रम होय तुम्हारिहिँ नाई ।

ऐसे वाक्य कदाचित् कोई भी अच्छी स्त्री अपने पति से नहीं कह सकती ।

फिर मंदोदरी का रावण के मरने पर विलाप भी इन्होंने बिगाड़ दिया है—

राम - विमुख अस हाल तुम्हारा ; रहा न कुल कोउ रावनहारा ।

अब तव सिर - भुज जंबुक खाहीं ; राम - विमुख यह अनुचित नाहीं ।

अहह नाथ ! रघुनाथ-सम कृपा-सिंधु को आन ;

मुनि-दुरलभ जो परम गात तुम्हें दीन्ह भगवान ।

ऐसे-ऐसे वाक्य मंदोदरी के मुख से कदापि नहीं निकल सकते थे । हमें आश्चर्य होता है कि गोस्वामीजी-सरीखे सत्कवि की लेखनी से ये वाक्य इस तरह कैसे निकले ! अवश्य ही उनकी अपार भक्ति ने ही कहीं-कहीं ऐसी त्रुटियाँ करा दी हैं, और प्रायः रचना को सर्वोत्कृष्ट भी कर दिया है । गोस्वामीजी की अलौकिक भक्ति के कारण जैसे उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे उत्तम वर्णन निकले हैं, जिनके सामने संसार की किसी भी भाषा के ऐसे परमोत्कृष्ट वर्णन तक शायद फीके जँचने लगेंगे, वैसे ही वही अनन्य भक्ति, इनसे बेमौक़े भी सभी जगह, रामचंद्र की प्रशंसा कराए बिना नहीं छोड़ती । जो बातें इन्होंने मंदोदरी के मुख से कहाईं, उन्हें यदि यह स्वयं कह देते, तो कोई बात न थी ।

उत्तर-कांड

(१५) इसमें राजगद्दी के पश्चात् और काकभुण्ड की कथा के पूर्व जो कथांश है, वह रुचिकर नहीं जँचता । भुण्ड की कथा आरंभ होने के पीछे का भाग नायक-हीन न समझना चाहिए । यद्यपि उसमें स्वयं राव की कथा नहीं कही

गई, तथापि प्रधानता प्रत्येक छंद में राम ही की है। यह भाग रामायण का परिशिष्ट समझना चाहिए। जैसे आरंभ में वंदनामयी भूमिका है, वैसे ही अंत में यह भाग जानना चाहिए। ज्ञान - दीपकवाला वर्णन पहले कुछ बुरा-सा प्रतीत होता है, पर अंत में इस झगड़े का दोषोद्धार कर दिया गया है, और गोस्वामीजी के मत का गीता से कोई वास्तविक विरोध नहीं रह गया है।

(१६) गोस्वामीजी को वेद का प्रमाण प्रायः सभी जगह दे देना अच्छा लगता है, चाहे वह बात वेद में हो, या न हो। यथा—

त्रिविध समीर सुसीतल छाया ; सिव-बिसराम-विटप स्तुति गाया ।
उपरोहित जेवनार बनाई ; छ रस चारि विधि जस स्तुति गाई ।
अवधपुरी रघुकुल - मनि राऊ ; वेद - विदित तेहि दसरथ नाऊ ।
तात तुम्हार बिसल जस गाई ; पाइहि लोकहु वेद बड़ाई ।

यहाँ सारे वैदिक साहित्य को वेद मान लेने से दोष-शांति शायद हो सकती हो।

गोस्वामीजी के मत

(१) तुलसीदास का मत था कि कविता टेढ़ी एवं निंघ है, पर यदि उसमें राम-कथा गाई जाय, तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है। इसी कारण यह नर-काव्य के विरोधी थे। यथा—

भगत हेतु विधि-भवन विहाई ; सुमिरत सारद आवात धाई ।
रामचरित - सर विनु अन्हवाए ; सो स्रम जाय न कोटि उपाए ।
कीन्हे प्राकृतजन - गुन - गाना ; सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ।
कवि-कोविद अस हृदय विचारी ; गावहि हरि - गुन कलि-मलहारी ।
भानत विचित्र सुकवि-कृत जोऊ ; राम - नाम विन सोह न सोऊ ।
भनित भदेस, वस्तु भलि बरनी ; राम - कथा मुद - मंगल - करनी ।

इन्हीं कारणों से गोस्वामीजी ने कभी नर - काव्य नहीं किया, यदि कभी दो पंक्तियाँ लिख दीं, तो वह केवल मित्रता-वश टोडर-नामक एक भाग्यशाली व्यक्ति के विषय में ही, किंतु टोडर भी राम-भक्त था, और उसके विषय के केवल चार दोहों में भी महात्माजी ने दो बार राम - नाम लाकर रख ही तो दिया—

चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप ;
तुलसी या संसार में अथयो टोडर - दीप ॥ १ ॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भारु ;
टोडर काँधा नू दियो, सब कहि रहे उतारु ॥ २ ॥

तुलसी-उर थाला त्रिमल, टोहर-गुन-गन वाग ;
ये दोउ नैननि सींचिहौ समुझि-समुझि अनुराग ॥ ३ ॥

राम - धाम टाहर गए, तुलसी भए असोच ;
जियवो सीत पुनीत विनु, यहै जानि संकोच ॥ ४ ॥

धन्य टोहर ! तुम्हारे लिये हिंदी के सूर्य स्वयं महात्मा तुलसीदास ने अपना दृढ़ सिद्धांत छोड़कर नर-काव्य किया ! धन्य !

(२) इनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात इनके देखने और मनन करने से नहीं छूटती थी । सास का महादेव के पैरों पर पड़ जाना, पार्वती का विदा के समय अपनी माता को दुवारा लिपटकर रोना, कौशल्या के दौड़ने पर बालक रामचंद्र का 'ठुमुकि-ठुमुकि' भागना और दूध-भात मुँह में लग ए दशरथ के चौके से 'किलकात' भाग चलना, 'टिट्ठिभ खग' का 'उताने' सोना, जुर्रा की 'कुलह' छूटनी, 'पय-फेनु' से 'पवि टाँकी' फूटना, रावण द्वारा भिभीषण को "हो-हि जव कर कीट अभागा" कहा जाना, 'नौकारूढ़' मनुष्य को संसार चलता हुआ दिखाई देना, गरुड़ का प्रसन्नता में 'पंख फुलाना' और स्त्रियों का दीपक को 'अंचल' से बुझाना इत्यादि इसके उदाहरण हैं ।

(३) यह महानुभाव लोगों का वार्तालाप बड़ी ही उत्तमता से वर्णन करते हैं । भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, समर्षि और गौरी (यह वार्ता ऐसी है, जो पुरुषों और स्त्रियों के बीच ही हो सकती है), ब्रह्मा और शिव (विवाह-विषयक), दशरथ और वशिष्ठ (रामाभिषेक-विषयक), कैकेयी और मंथरा, दशरथ और कैकेयी, राम और सुमंत, राम और सीता (वन-गमन-विषयक), भरत और वशिष्ठ, भरत और राम (वन में) इत्यादि के संवाद बहुत ही अच्छे ढंग से लिखे गए हैं । अन्य लोगों की आपस में बातचीत एवं ऊपर लिखी हुई वार्ताएँ ऐसी अच्छी हैं कि उनकी जोड़ी हिंदी-साहित्य में तो है ही नहीं, शायद और किसी भाषा में भी नहीं मिलेगी ।

(४) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिये उपनायकों की त्रुटियाँ खूब ही दिखला देते हैं । सती-मोह में लक्ष्मण की अज्ञता, राम-विवाह की श्रेष्ठता के लिये शिव-विवाह की त्रुटियाँ, रामचंद्र की योग्यता और शूरता दिखाने को लक्ष्मण एवं सब सेना का रावणादि की माया को न समझ सकना आदि इस बात के उदाहरण हैं ।

(५) तुलसीदास बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर रूपक कह सकते थे । इन्होंने बहुत-से परमोत्कृष्ट सांग रूपक भी कहे हैं । यथा—वंदना में मानस का रूपक, धनुष-यज्ञ में चाप-जहाज़ एवं राम-सूर्यवाले रूपक (बाल-कांड), कैकेयी

का नदीवाला रूपक (अयोध्या-कांड), भरत का नदीवाला रूपक (चित्रकूट पर श्रीराम से मिलने में), वसंत-ऋतु का फ़ौज की चढ़ाईवाला रूपक (अरण्य-कांड), रामचंद्र के गुणों का रथवाला रूपक (लंका-कांड), रावण के युद्ध में सेना का वर्षा ऋतुवाला रूपक (लंका-कांड), राम-प्रताप का सूर्यवाला रूपक (उत्तर-कांड), ज्ञान-दीपकवाला प्रसिद्ध रूपक एवं विनय-पत्रिका के बहुतेरे रूपक । और भी बहुतेरे रूपक हैं ।

(६) इन्होंने श्रीरामचंद्र के न-जाने कितने 'नख शिख' कहे हैं, और वे एक-से-एक बढ़िया हैं ।

(७) गोस्वामीजी की उमंग (Enthusiasm) बड़ी ही प्रबल थी । रामचंद्र के विषय में जो कोई भूलकर भी कभी अनुचित बात का संदेह तक कर दे, उसको पूर्ण रूप से फटकारे बिना यह नहीं मानते ।

पार्वती ने कहीं पूछ दिया कि रामचंद्र परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ही थे, या कोई और ? इतने ही पर शिव ने उन्हें इतना फटकारा कि बस, हद कर दी ! “एक बात नहीं मोहिँ सोहानी” इत्यादि देखिए ।

केवट द्वारा श्रीराम के चरण धोए जाने में यह क्या ही विमल पड़े—

अति आनंद उमंग अनुरागा; चरन-सरोज पखारन लागा ।

यदि कोई अन्य व्यक्ति—मित्र हो या शत्रु—श्रीराम से मिलने चलता था, तो भी यह अपनी उमंग में आकर उसे राम-दरश-लालसा-उछाह में उन्मत्त-सा कर देते थे । यथा—सुतीक्ष्ण, विश्वामित्र, मारीच, विभीषण एवं कुम्भकर्ण के उत्साह । इसी कारण इनका जो मत था, उसे यह बार-बार लिखते थे । जिसकी प्रशंसा करते, उसे सातवें आसमान पर चढ़ा देते थे, और जिसकी निंदा करने लगते, उसे पाताल तक पहुँचा दिए बिना न मानते थे । योगी, यती, तपी, विज्ञानी आदि के विषय में इन्होंने क्या ही ज़ोरों पर लिखा है कि ये सब—

तैं न बिनु सेए मम स्वामी; राम, नमामि नमामि नमामी ।

मानो श्रीराम “बिला शिरकत गैरे व बिला मुज़ाहिमत दीगरे” केवल इन्हीं के स्वामी थे । ये सब बातें इनकी प्रबल उमंग के प्रमाण हैं ।

(८) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसंद न थी, तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को इन्होंने जगह दे ही दी है । नारद-मोह-वर्णन में गुप्त हँसी की मात्रा विशेष पाई जाती है । यथा—

जेहि विधि होइहि परम हित नारद, सुनहु तुम्हार;

सोइ हम करव, न आन कछु, बचन न सुखा हमार ।

नारद से हर क गणों ने कहा—

रीम्निहि राजकुँवरि छवि देखी ; इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी ।

रामचंद्र का वचन केवट से—

सोइ करउ, जेहि नाव न जाई ।

लक्ष्मण का शूर्पणखा से कहना—

प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा ; जो कछु करइँ उनहिँ सव छाजा ।

जो जेहि मत भावै, सो लेहीं ; मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ।

सप्तर्षियों ने पार्वती से कहा—

गिरि-संभव तव देह—

महादेव की बरात में विष्णु ने कहा—

विलग-विलग हूँ चलहु सब निज-निज सहित समाज ।

(६) इन महात्मा के सैकड़ों ही पद कहावत के रूप में भी प्रचलित हो गए हैं । उदाहरण देना व्यर्थ है, क्योंकि थोड़ी भी रामायण पढ़ने से सभी जगह इसके दस-पाँच प्रमाण मिल सकते हैं ।

(१०) गोस्वामीजी ने कई प्रकार की भाषाओं में सफलता-पूर्वक कविता की है । प्रथम तो इन्होंने संस्कृत में भी श्लोक बनाए । इनके श्लोक बड़े ही रुचिर हैं, और हिंदी जाननेवाले भी उन्हें अधिकांश समझ सकते हैं । इन श्लोकों में गोस्वामीजी ने विशेषणों का अच्छा प्रयोग किया है । विद्वानों का मत है कि ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे । यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं कई स्थानों पर व्याकरण की अगुद्वियाँ आ जाने से ठीक प्रतीत होती है—

सर्वश्रेयस्करिं सीतां ननोऽहं रामवल्लभाम् ।

इस पद को थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाला भी बना सकता था । गोस्वामीजी के अधिकांश श्लोक ऐसे ही हैं ।

रामचरित-मानस में इन्होंने थोड़े-से छंदों को छोड़कर वैसवाड़ी और अवधी-भाषा का प्रयोग किया है । यह भाषा कथा-प्रासंगिक ग्रंथों की भाषा हो गई है । इसी का प्रयोग अपने छोटे छंदोंवाले अन्य ग्रंथों में इन्होंने किया है, परंतु कविता-वली, हनुमान्-वाहुक एवं संकटमोचन में इसके साथ ब्रजभाषा का भी मेल कर दिया है । गीतावली-रामायण और कृष्ण-गीतावली में शुद्ध ब्रजभाषा ही काम में लाई गई है । विनय-पत्रिका में उपर्युक्त सभी को लेकर उनमें संस्कृतवत् भाषा का भी मिश्रण कर दिया गया है । इतनी भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं में ऐसी उत्कृष्ट रचना करनी इन्हीं महाराज का काम था । तभी तो दासजी ने कहा है—

तुलसी, गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार;

इनके काव्यन मैं मिली भाषा विविध प्रकार।

हिंदी-साहित्य में विविध भाषाओं का सफल प्रयोग करनेवाला ऐसा भारी आचार्य दूसरा नहीं हुआ।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई इन महाकवि से सीख ले। यथा—

सिवहिँ बिलोकि ससंकयो मारू।

रुद्रहिँ देखि मदन भय माना; दुराधर्ष, दुर्गम, भगवाना।

विकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।

इसमें भौरों की गुंजार शब्दों ही में सुन लीजिए।

सीता-स्वयंवर में—

सिमिटे सुभट एक-ते-एका।

इसी प्रकार 'पतियानि', 'दलकि उठी', 'धुआँ देखि खर-दूषन केरा' आदि हैं।

(१२) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते थे, उसका स्वल्प प्रयोग ही करते थे। इन्होंने यमक का बहुत कम प्रयोग किया है। इनकी भाषा में बाह्याडंबर नहीं होता था। फिर भी वह बहुत ही सराहनीय है।

(१३) इन्होंने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और ठेठ ग्राम्य भाषाओं तक के शब्द इनकी रचना में बहुत-से पाए जाते हैं, परंतु ग्राम्य शब्दों का व्यवहार इन्होंने ऐसी योग्यता से किया है कि उन प्रयोगों से इनकी भाषा की रोचकता और भी बढ़ गई है। हम इनके ग्रंथों से कुछ असाधारण शब्द नीचे देते हैं। विस्तार-भय से वे छंद या पद नहीं दिए जा सकते, जिनमें इनका प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के सामने कोष्ठक में नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में जून, सन् १८९१ ई०, की मुद्रित पुस्तक की पृष्ठ-संख्या दी हुई है—

भुँइ (१६६), कोहाव (१७२), माहुर (४), गनी (१५), गरीब (१५), गरीबनेवाजू (गयउ बहोरि गरीबनेवाजू), साहेब (सरल सबल साहेब रघुराजू), गाई (१६), वाउ (वाउ कृपा-मूरति अनुकूला), अगडेरि (२६), मरायल (३६), खटाहिँ (३६), दुइ, भीतर, अयं (३८), सुनखत (४१), जिनिशि, सुअर, सयाने (४२), जहिया-तहिया (६०), चौपट (७६), भँगुलिया, हल-रावै (८७), जाननी (१४५), बाट परै (१६८), कठौता (१६६), देवा,

लेवा (१६६), कतहुँ, ठाहर, ठाढ़ (२१०), साउजु (२११), मुठभेरी (२१०), बेंहड़ (२१२), बिड़ह (२२१), थन (२२४), डोरिआए (२३७), वारहवाँट (२२४), वियानी (न तर बाँझ भलि वादि वियानी), ढरके, खँभारू- (२४६), पनहीं (२४६), गुदरत, गाँड़र (२५१), नेवाजा, वेहू (२५६), कुटीर (२८२), अक्सर (३०५), डावर (३२७), निरावहिँ (३२८), उवरिहसि (३५६), ठकुरसोहाती (३६६), धायल (४६६), फराक (४६७), हरहाई (५०१), पन्हाई (५३८), भटभेरे (५४१), गरिसा, डहरुआ, नहरुआ (५४२) इत्यादि ।

(१४) गोस्वामीजी उमंग या हर्ष के समय अक्सर छंद लिखते थे, परंतु इनके छंद प्रायः दोहे-चौपाइयों से शिथिल हैं । कुछ छंद मनोहर भी हैं । जब यह उमंग में आकर छंद लिखते हैं, तो बहुधा उस दोहे या चौपाई का अंतिम शब्द, जिसके बाद छंद होता है, छंद के आदि में लिख देते हैं । यह विनती, युद्ध, विवाह, उत्सव आदि की कथा में प्रायः छंद लिखते थे । अयोध्या-कांड में इन बातों का अभाव-सा है, अतः उसमें छंद भी बहुत ही कम हैं । लंका-कांड और बाल-कांड में छंद बहुत हैं । उत्तर-कांड और अरण्य-कांड में भी स्तुति-विषयक छंद विशेषता से हैं । इनसे प्रयोजन दोहा-चौपाई से इतर छंदों का है ।

(१५) महात्मा तुलसीदास-सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है । इनकी रचनाओं के प्रतिपृष्ठ, प्रतिपंक्ति, बल्कि प्रतिशब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है । हम इनकी कविता में ऊपर जो दो-चार त्रुटियाँ दिखला आए हैं, उन्हें पाठक केवल त्रुटि न समझ बैठें । वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं । यदि मान भी लिया जाय कि वे वास्तविक त्रुटियाँ हैं, तो भी हम बेखटके कह सकते हैं कि उनमें से अधिकांश एक प्रकार का गुण भी समझा जा सकती हैं । यदि वे गोस्वामीजी की रचना से अलग कर दी जायँ, तो कदाचित् उनकी ख्याति इतनी विस्तृत न रहे, जितनी इस समय है । हमने लक्ष्मण और परशुराम का एवं रावण तथा अंगद का संवाद दूषित बतलाया है, पर गोस्वामीजी के बहुतेरे पाठक इन्हीं संवादों को उत्कृष्ट समझते और प्रेम से पढ़ते हैं ।

इन महाबुभाव की कविता से यदि प्रशंसनीय अवतरण यहाँ दिए जाने लगे, तो इस ग्रंथ का आकार रामायण से शायद कुछ ही कम हो । अतः उनमें से थोड़े ही उदाहरण यहाँ पर दे देना हम उचित और यथेष्ट समझते हैं । हम इस पुस्तक में रामायण के प्रत्येक कांड एवं गोस्वामीजी के अथ ग्रंथों पर अपनी सम्मति प्रथम लिख चुके हैं । उसमें उन सभी के अनेक-गुण प्रदर्शित किए गए हैं । ऐसे

ही इनके पात्रों के शील - स्वभाव - वर्णन तथा कुछ अन्य प्रकरणों में भी इनकी कविता के गुण दिखाए जा चुके हैं । कुछ स्फुट गुण इस स्थान पर भी लिखे जाते हैं—

(१) मदन-दहन में—

तव सिव तीसर नैन उधारा ; चितवत काम भयो जरि छारा ।

में कितनी जल्दी जलना दिखलाया गया है ?

(२) जब यह पार्वती या सीता की सुंदरता का वर्णन करते हैं, तब साधारण स्त्रियों से उनका पार्थक्य दिखलाने को उनके विषय में 'जगदंश', 'जगत-मातु' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य कर देते हैं ।

(३) स्वयंभुव मनु और शतरूपा रानी से यद्यपि भगवान् ने यहाँ तक कह दिया था कि—

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं ; मोरे नहिँ अदेय वल्लु तोहीं ।

तथापि मनुजी से किस संकोच के साथ वरदान मँगवाया गया है कि देखते ही बनता है ।

(४) राजा भानुप्रताप ने जब कपटी मुनि की परीक्षा के लिये उससे अपना नाम पूछा, तब वह उनका और उनके पिता का नाम, जो उसे भली भाँति विदित थे, किस शीघ्रता से बताकर आगे बढ़ा, और—

गुरुप्रसाद सव जानिय राजा ; कहिय न आनहि जानि अकाजा ।

इत्यादि कहने लगा, जिसमें राजा को किसी अन्य अज्ञात विषय का प्रश्न करने को अवसर ही न मिले । इसी विचार से वह राजा को तुरंत वरदान देने को तैयार हो गया ।

(५) इसी कथा में कपटी मुनि को भानुप्रताप की राजधानी में जाना अवश्य अभीष्ट था, और उधर एकांतवासी योगी बने रहने की भी प्रबल इच्छा वह प्रकट करना चाहता था, अतः राजा को, खुशामद करके उसे अपने यहाँ बुला ले जाने को, बाध्य-सा करने के लिये उसने क्या ही युक्ति से कहा कि—

आजु लगे अरु जव ते भयऊँ ; काहू के गृह - ग्राम न गयऊँ ।

जो न जाऊँ, तव होइ अकाजू ; बना आई असमंजस आजू ।

(६) भानुप्रताप के सो जाने पर कालकेतु का आना एवं उसका कपटी मुनि से वार्तालाप बड़े ही मनोहर प्रकार से वर्णन किया गया है । उसमें नाटक का-सा आनंद (Dramatic effect) आता है । यह पूरा उपाख्यान वंदना एवं मदन-दहन की भाँति बड़ा ही उत्कृष्ट है ।

(७) जनकपुरी में विश्वामित्र और जनक की बातचीत हो चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी रामचंद्र को उस स्थान पर लाए । यदि श्रीराम पहले ही से वहाँ उपस्थित होते, तो गोस्वामीजी के हिसाब से इसमें उनकी कुछ हेठी अवश्य होती, कारण, जनक अवश्य ही पहले विश्वामित्र से वार्तालाप करते, और उनके सम्मानार्थ राम को उठना भी पड़ता ।

(८)—

स्थाम - गौर किमि कहउँ वखानी ; गिरा अनैन, नैन विनु वानी ।

इस छंद में क्या ही बढ़िया भाव, कितने कम शब्दों में, व्यक्त किया गया है ! नंददास ने भी यही भाव कहा है ।

यथा—

नैनन के नहिँ बैन, बैन के नैन नहीं हैं ।

(९)—

लोचन-मगु रामहिँ उर आनी ; दीन्हेउ पलक - कपाट सयानी ।

इसमें क्या ही उत्कृष्ट भाव है ! फुलवारी के वर्णन में इन महाकवि ने बहुत-से श्लाघ्य भाव कहे हैं ; परंतु यहाँ हम स्थानाभाव से उन सबको नहीं दिखा सकते ।

(१०) मंथरा और कैकेयी की वार्ता में दासी ने रानी की एक-एक बात का पूर्ण उत्तर प्रायः रानी के ही शब्दों में दे दिया है ।

यथा—

हाँस कह रानि गाल बड़ तोरे ।

का उत्तर—

गाल करब केहि कर बल पाई ।

दीन लखन सिख अस मन मोरे ।

का उत्तर—

बत सिख देइ हमहि कोउ माई ।

सभय रान कह कहसि किन कुसल राम महिपाल ?

का उत्तर—

रामहिँ छाँड़ि कुसल को आजू ?

पुनि अस कहुँ कहसि घर-फोरो ; तो गहि जीह कड़ावहुँ तोरी ।

का उत्तर—

एकहि बार आस सब पूजी ; अब कलु कहव जीह करि दूजो ।

पुनः—
धरोउ मोर धर-फोरी नाऊँ ।

काने, खोरे, कबरे, कुटिल, कुचाली जानि ;
तिय, विसेखि पुनि चेरि, कहि भरत-मातु मुसुकाति ।

का उत्तर—

करि कुरूप विधि परबस कीन्हा ।

चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ?

(११)—

केकयसुता सुनत कहु बानी ;

कहि न सकी कछु, सहमि सकानी ।

तन पसेउ, केदलि जिमि काँपी ।

इन थोड़े ही शब्दों में बड़ा रोमांच-जनक भाव दिखलाया गया है ।

(१२) गोस्वामीजी के वर्णन ऐसे पूर्ण होते हैं कि उनसे कथित विषय का चित्र ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है । यथा—

भूमि सयन, पट मोट, पुराना ; दिए डारि तत भूषन नाना ।

माथे हाथ, मूँदि दोउ लोचन ; तनु धरि सोच लाग जुन सोचन ।

(१३)—

बहुरि वच्छ कहि, लाल कहि, रघुपति, रघुवर, तात ;

कवहुँ बोलाइ, लगाइ उर, हराख निरखिहौँ गात ।

इस दोहे में कितना वात्सल्य-भाव भरा हुआ है ?

(१४) भरत जब कौशल्या के पास गए, तो अपना दुख रोते हुए कौशल्या ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

पितु आयसु भूषन-वसन तात तजेउ रघुवीर ;

विसमय, हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल-चर ।

इस दोहे की प्रशंसा हम कहाँ तक करें । इसकी छटा पूरा प्रसंग पढ़ने से जान पड़ती है ।

(१५) भरत के वन जाते समय निषादपति की बातों में गँवारू शब्द क्या ही उत्तमता से रखे गए हैं । जैसी बातचीत उस श्रेणी के लोग करते हैं, उसका चित्र अंकित कर दिया गया है ।

हथबासहु, बोरहु तरनि, कीजै घाटारोहु ।

बेगिहि भाय सजहु संजोरु ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं ; भाथा बौधि चढ़ावहि धनुनी ।

अँगुरी पहिरि कूँड़ि स्मिर धरहीं ।

अयोध्या-कांड के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जाय । यदि इनका कथन किया जाय, या इसके चटकीले छंद उद्धृत किए जायँ, तो एक बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है । गोस्वामीजी ने इसमें प्रेम, भक्ति, उत्साह, वर्णन-चातुरी आदि की परा काष्ठा कर दी है । करुण-रस का तो यह खजाना है ही ।

(१६) शूर्पणखा जब रावण के पास गई, तो गोस्वामीजी ने उसका क्रोध बढ़ाने के लिये उससे झूठ ही यह बात कहला दी—

तासु अनुज काटो सुति-नासा ; सुनि तव भगिनी करि परिहासा ।

(१७) सुंदर-कांड में हनुमान् के सम्मुख सीता और रावण की बातचीत कराकर गोस्वामीजी ने यह प्रमाणित कर दिया कि सीता में किसी प्रकार का लांछन न था, और उनको रावण कितना तंग किया करता था । त्रिजटावाले संवाद से यह भी दिखा दिया कि वह राम के विरह में कितनी कातरा थीं ?

(१८) लंका-कांड में युद्धारंभ के पूर्व क्या ही शांत तथा मनोहर दृश्य दिखलाए गए हैं ! सुवेल-सैल, रात्रि-वर्णन, रावण के अखाड़े का दृश्य आदि देखिए । इनमें दूष्कान से पहले की शांति का-सा मज़ा मिलता है ।

(१९) चंद्र-मंडल में स्थित कलंक के विषय में प्रत्येक व्यक्ति ने मानो अपना ही हाल कह दिया । यथा—सुग्रीव राजा हुए थे, अतः उन्हें उसमें भूमि की छाया प्रतीत हुई । अंगद का राज्य छिन गया था, इस कारण उनको यह जान पड़ा कि ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार-भाग हर लिया, अतः उसकी छाती में छेद हो गया । उधर विभीषण रावण की लात सह चुके थे, सो उन्हें यही जान पड़ा कि चंद्रमा को किसी ने मारा है, जिसकी श्यामता है । राम को भाइयों से बड़ा स्नेह था, तथा वह विरही थे, इसलिये उन्हें यह प्रतीत हुआ कि—

कह प्रभु, गरल बंधु ससि केरा ; अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा ।

विष-संजुत कर-निकर पसारी ; जारत विरहवंत नर - नारी ।

तब हनुमान् अपना दास-भाव क्यों छोड़ने लगे ? उन्होंने अंत में चट यही कह दिया—

कहेउ पवनसुत सुनहु प्रभु, सनि तुम्हार प्रिय दास ;

तव मूर्त तेहि उर बसात, सोई श्यामता भास ।

रामचंद्र ने अपने भाव से भी अधिक इस कथन का आदर किया ।

(२०) लक्ष्मण के शक्ति लगने पर श्रीराम ने जो विलाप किया है, उसमें तीन बड़ी-बड़ी भूलें जान-बूझकर कराई गई हैं । एक यह कि—“मिलइ न जगत

सहोदर भ्राता”, दूसरी—“निज जननी के एक कुमारा”, तीसरी—“सौंपेउ मोहिँ तुमहिँ गहि पानी ।” ये भूलें इस कारण कराई गई हैं कि गोस्वामीजी को रामचंद्र की व्याकुलता एवं शोक प्रदर्शित करना अभीष्ट था । इस बात को न विचारकर कुछ लोग इसमें सैकड़ों भाण्डे पैदा करते और भूलें हटाने के विचार से भाँति-भाँति के अर्थ ला जोड़ते हैं । हमारी समझ में तो गोस्वामीजी ने ऐसी स्पष्ट भूलें दिखलाकर अपनी भारी कवित्व-शक्ति एवं मानुषी प्रकृति का अपार ज्ञान प्रदर्शित किया है । क्लिष्ट-कल्पनावाले अर्थ यहाँ पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं । यह भी हम अवश्य कहेंगे कि वे अर्थ कदापि ठीक नहीं बैठते ।

(२१) युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में कुंभकर्ण से विभीषण को मिलाना बहुत ही उचित हुआ है । विभीषण ने राम से अपने मिल जाने का कारण कहकर मानो बड़े भाई को अपनी सफाई दी है । कुंभकर्ण का उत्तर कुछ अस्वाभाविक हो गया है ।

(२२) तुलसीदास ने सीता-स्वाग एवं लव-कुश की कथा जान-बूझकर इसलिये उड़ा दी कि उससे श्रीराम की निंदा हो सकती थी, और राम-सीता के ऐक्य भाव में भेद पड़ता ।

(२३) गोस्वामीजी की उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, दृष्टांतादि बड़े ही चुभते हुए हैं ।

दलकि उठो सुनि बचन कठोरा ; जनु छुइ गयउ पाक वरोरा ।

देखि लाग मधु छटिल किराती ; जनु गर्व तकर, लेउँ कोहि भाती ।

यह सुनि मन गुनि सगथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद ;

भूषन सजति वित्तोकि मृग मनहुँ किपातिनि फंद ।

किष्किंधा-कांड के अंतर्गत वर्ण एवं शरद् के वर्णन में बहुत ही अच्छी उत्प्रेक्षाएँ दी गई हैं । उनका उल्लेख यहाँ कहाँ तक करें ।

(२४) राजा भानुप्रताप की कथा पर समाजोचनात्मक विचार मिश्रबंधु-धिनीद की भूमिका में हमने लिखे हैं । उन्हें वहाँ देखना चाहिए । कुछ लोगों का मत है कि मुसलमानों को शत्रु सादी और हिंदुओं को तुलसीदास ने बिगाड़ा, पर ऐसा कहना नितांत भ्रममूलक है । अवश्य ही कतिपय अशुद्ध बातों के भी समर्थन में कुछ प्रमाण गोस्वामीजी की रचनाओं से मिल जाते हैं, पर ऐसे प्रमाण बहुत ही कम पाए जायेंगे । वास्तविक बुरे कामों का समर्थन तो इनके काव्य से हो ही नहीं सकता । गोस्वामीजी के विरुद्ध अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि इनके कतिपय वाक्य आलसी लोगों की अकर्मस्यता के सहायक हो सकते हैं । यथा—

होइहि सोइ, जो राम रचि राखा ; को करि तर्क बढ़ावइ साखा ?
पर जैसा हम इस विषय में ऊपर लिख आए हैं, इन्होंने वास्तव में अकर्मण्यता को सहारा कभी नहीं दिया। श्रीरामचंद्र के अनन्य भक्त होने पर भी जो महानुभाव ऐसा वाक्य कह सकते हैं कि—

कादर मन कर एक अवारा, दैव-दैव आलसो पुकारा।

उन्हें कोई निरुद्योग का सहायक कैसे मान सकता है ? यों तो जैसे समुद्र में रत्न, मकर और विष, सभी होते हैं, वैसे ही इन महात्मा के काव्य-महासागर में भी दो-चार दोष यदि ढूँढ़ने से कहीं निकल आवें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? परंतु, वास्तव में, इस समय हिंदू-जाति का वास्तविक अवलंब जितना तुलसी-कृत रामायण तथा उनके अन्य ग्रंथ हो रहे हैं, उतना सहारा आकाश-पाताल ढूँढ़ने पर भी और कहीं नहीं मिल सकेगा। साधारण कवियों के गंदे और विषय-वासना-पूर्ण काव्य पढ़ने से चाहे अच्छा भले ही क्यों न लगे, परंतु चित्त में विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। मगर जितनी देर तक इन महात्मा के ग्रंथ-रत्नों का परिशीलन किया जाता है, उतने समय के लिये पाठक मानो इस संसार की तुच्छ बातों के परे होकर उच्च विचारों, उच्च कर्मों और उच्च अभिताषाओं का पात्र बन जाता है। ऐसे कवि-कुल-चूड़ामणि पर उक्त प्रकार के लांछन लगाना कृतघ्नता की परा काष्ठा समझनी चाहिए। एक यह भी बात है कि तुलसीदास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे, सो हिंदुओं में उस काल जैसे विचार प्रचलित थे, उनकी छाया इनकी रचनाओं में भी स्वाभाविक थी। इनका साहित्य उच्च हिंदू विचारों का दर्पण है। वास्तव में हिंदू-समाज का पूर्ण संगठन उस काल जैसे विचारों से संभव था, वैसे ही आपने कहे हैं। हिंदू-समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही वह आज है। इसमें इनका नहीं, वरन् पीछे के सुधारकों का दोष है, जो अपने-अपने समयानुसार समाज को उन्नत न कर सके।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी की रचना कई प्रकार की हुई है। रामचरित-मानस, जानकी मंगल, कलि-धर्माधर्म-निरूपण एवं हनुमान्-चालीसा की शैली एक भाँति की है, तथा कवितावली, हनुमान् वाहुक और संकट-मोचन की दूसरे प्रकार की। राम-गीतावली और कृष्ण गीतावली की तीसरी ही शैली है। दोहावली और सतसई चौथी रीति पर बनी हैं। विनय-पत्रिका का ढंग एक पाँचवें ही कैंडे का है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रंथों में कविता-शैली बराबर बदलती गई है, पर उनकी विशेषता की छाप सब पर दूर से ही दृष्टिगोचर होती है। इनके जो विचार और सिद्धांत हैं, वे इनके सभी ग्रंथों में, स्पष्ट रूप से, सौ-सौ, पचास-पचास बार दोहरा-दोहराकर, कई प्रकार से, कहे गए हैं। हमको

कई ग्रंथों के विषय में, जो इनके रचे प्रसिद्ध हैं, संदेह हुआ करता था कि शायद उन्हें किसी अन्य कवि अथवा कवियों ने इनके नाम से बना डाला हो। इस कारण हमने अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथों को छोड़ और सभी पुस्तकों की जाँच बड़ी ही कड़ाई से की। अंत में हमें अधिकांश के विषय में पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अवश्य इन्हीं महात्मा तुलसीदास के रचे हुए हैं। यह हाल ब्योरेवार अन्यत्र लिखा जा चुका है।

निदान सब बातों पर विचार करने से विदित होता है कि इन महाकवि का काव्य हिंदी में अद्वितीय है। यदि कोई भी हिंदी-कवि इनके समीप उपस्थित किया जा सकता है, तो वे महात्मा सूरदास और देव ही हो सकते हैं। यों तो हिंदी-साहित्य में नव-दस कवि ऐसे हैं, जिन्हें हम सर्वोच्च कक्षा (Reserved Class) में रखते हैं; जैसे (१) तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देव, (४) बिहारी, (५) त्रिपाठी-बंधु भूषण और मतिराम, (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चंद और (९) हरिश्चंद्र; परंतु जैसे विष्णु भगवान् के दशायतारों में से राम और कृष्ण ही की पूर्ण महिमा है, वैसे हिंदी-साहित्य के इस 'नवरत्न' में से तुलसीदास एवं सूरदास ही सूर्य और चंद्र की भाँति महिमा एवं कवित्व-शक्ति में सबसे बड़े हुए देख पड़ेंगे। इन दोनों में भी अब हम तुलसीदास को ही प्रथम स्थान देते हैं। अधिक क्या कहें, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी, किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ। इनमें एक तो कोई दोष है ही नहीं और जो दो-चार हैं भी, वे एक प्रकार से गुण ही कहे जा सकते हैं। जब तक हिंदू-जाति पृथ्वी-मंडल पर वर्तमान है, तब तक महात्मा तुलसीदास का नाम सदा अमर रहेगा। इनकी रचना तथा भक्ति से चरित्र की शुद्धि जितनी हो सकती है, उतनी अन्य कवि की कविता से होनी कठिन है। गोस्वामीजी की रचना के उदाहरण कुछ विस्तार के साथ आगे दिए जाते हैं।

उदाहरण—

मंगल-करनि, कलि-मल-हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की ;
गति कूर-कविता-सरित की ज्यों परम पावन पाथ की ।
प्रभु सुजस संगति भनित भलि हाइहि सुजन - मनभावनी ;
भव भूति अंग मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी ॥ १ ॥

गीतावली

आइ रहे जब ते दांड भाई ।

तब से चित्रकूट-कानन-छवि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई ।

सीता-राम-लखन-पद-अंकित अवनि सुहावनि, वरनि न जाई ;
मंदाकिनि मज्जत, अवलोकत त्रिविध पाप, त्रयताप नसाई ।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई ;
फूलत, फलत, पल्लवित, पलुहत थिटप-बेलि अभिमत सुखदाई ।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन साँवारि रमा जनु छाई ;
कूजत बिहँग, मंजु, गुंजति अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई ॥ १ ॥

कृष्ण-गीतावली

कोउ सखि नई चाह सुनि आई ।

ग्रह ब्रज - भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ।
धन धावन, बग पाँति पटो सिर, वैरख तड़ित सोहाई ;
बोलत पिक नकीव गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई ।
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई ;
चाहत कियौ वास वृंदावन, विधि सों कछु न बसाई ।
सीवै न चापि सकौ कोउ तव, जब हुते स्याम दोउ भाई ;
अब तुलसी गिरिधर विनु गोकुल कौन करहि ठकुराई ॥ १ ॥

दोहावली

वरषा - ऋतु रघुपति - भगति, तुलसी सालि सुदास ;
राम - नाम - वर वरन जुग सावन - भादौ - मास ॥ १ ॥
राम - नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ;
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिँ दलि सुर साल ॥ २ ॥
रसना साँपिन, बदन बिल, जो न जपहिँ हरि-नाम ;
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता वाम ॥ ३ ॥
तुलसी जो पै राम सों नाहिन सहज सनेह ;
मूढ़ मुढ़ायो वादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ ४ ॥
सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥ ५ ॥
दीप - सिखा - सम जुवति - तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम तजि काम, मद, करहि सदा सतसंग ॥ ६ ॥
ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत - द्रोह - रत, मोह - बस, राम - विमुख, रत काम ॥ ७ ॥

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल ;
 कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ॥ ८ ॥
 होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम ;
 होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ ९ ॥
 बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ प्यास ;
 तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ १० ॥
 सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति ;
 तुलसी तापर चाहिए कीरति, विजय, विभूति ॥ ११ ॥
 लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ ;
 तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ १२ ॥
 सचिव, बैद, गुरु तीन जहँ प्रिय बोलहिँ भय - आस ;
 राज, देह अरु धरम को होय बेगि ही नास ॥ १३ ॥
 सरनागत कहँ जे तजहिँ निज अनहित अनुमानि ;
 ते नर पामर पापमय, तिन्हैं विलोकत हानि ॥ १४ ॥

कवित्त-रामायण

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद में भूपति लै निकसे ;
 अवलोकिहौं सोच-विमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से ।
 तुलसी मन - रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन - जातिक - से ;
 सजनी ससि में समसील उभै नव - नील सरोरुह - से बिकसे ॥ १ ॥
 पग नूपुर औ, पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ;
 नवनील कलेवर, पीत भँगा, झलकै, पुलकै नृप गोद लिए ।
 अरविंद-सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन - भृंग पिए ;
 मन में न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ॥ २ ॥
 तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरै ;
 अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छवि भूरि अनंग की दूरि धरै ।
 दमकै दैतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकै कल बाल-विनोद करै ;
 अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी - मन - मंदिर में बिहरै ॥ ३ ॥
 रावरे दोषु न पाँयन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ;
 पाहन ते बरु वाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है ।
 पावन पाँव पखारिकै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
 तुलसी सुनि केवट के वर वैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥ ४ ॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल - जाल मनो
लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है ;
कैधों ब्योम - बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर - रस बीर तरवारि - सी उधारी है ।
तुलसी सुरेस - चाप, कैधों दामिनी - कलाप,
कैधों चली मेरु ते कृसानु - सरि भारी है ;
देखे जातुधान जातु - धानी अकुलानी कहैं,
कानन उजारयो अब नगर पजारी है ॥ ५ ॥
कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाविष, व्याधि, दवा अति घेरे ;
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे ।
राखि है राम कृपालु, तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे ;
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥ ६ ॥
लागि दवारि पहारि ढही, लहकी कपि लंक यथा खर-खोकी ;
चारु चुआ चहुँ ओर चली, लपटैं भपटैं सो तमीचर तोकी ।
क्यों कहि जात महासुखमा, उपमा तकि ताकत हैं कवि कोकी ;
मानो लसी तुलसी हनुमान-हिए जग जीति जराय की चोकी ॥ ७ ॥

विनय-पत्रिका

मेरो मन हरिजू, हठ न तजै ।

निसि - दिन नाथ देउँ सिख बहु विधि, करत सुभाउ निजै ।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ;
है अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै ।
लोलुप भ्रम गृह-पसु ज्यों जहँ - तहँ, सिर पदवान बजै ;
तदपि अधम विचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ़ लजै ।
हौं हारयो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै !
तुलसिदास बस होइ तबहिँ, जब प्रेरक प्रसु बरजै ॥ १ ॥

ऐसी मूढ़ता या मन की ।

परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसन की ।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ;
नहिँ तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ।
ज्यों गच काँच विलोकि स्वान जड़ छाँह आपने तन की ;
दृष्ट अति आतुर अहार - बस, छुति बिसारि पानन की ।

कहँ लौँ कहौँ कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की ;
 तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन का ॥ २ ॥
 अबलौँ नसानी, अब ना नसैहौँ ।

राम - कृपा भव - निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौँ ।
 पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौँ ;
 स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित - कंचनहि कसैहौँ ।
 परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निजबस हूँ न हँसैहौँ ;
 यह मन - मधुकर पन करि तुलसी, प्रभु - पद - कमल बसैहौँ ॥ ३ ॥
 केसव, कहि न जाय, का कहिए ?

देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मन - हि - मन रहिए ।
 सून्य भीति पर चित्र रंग नहिँ तनु विनु लिखा चितेरे ;
 धोए सिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे ।
 रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ;
 बदन - हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।
 कोउ कह सत्य, भूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ;
 तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ॥ ४ ॥
 जाके प्रिय न राम-वैदेही ।

सो छाँड़िए कोटि वैरी - सम, जद्यपि परमसनेही ।
 तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी ;
 बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजवनितनि, भे सब मंगल - कारी ।
 नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौँ ;
 अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहाँ कहाँ लौँ ।
 तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्राण ते प्यारो ;
 जासों होइ सनेह राम - पद, एतो मतो हमारो ॥ ५ ॥
 मन पछितैहै अवसर बीते ।

दुरलभ देह पाइ हरि - पद भजु, कर्म, वचन अरु ही ते ।
 सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ;
 हम-हम करि धन - धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ।
 सुत - वनितादि जानि स्वारथ - रत, न करु नेह सब ही ते ;
 अंतहुँ तोहिँ तजैगे पामर, तू किन तजु अब ही ते ।
 अब नाथहिँ अनुरागु, जागु जइ, त्यागु दुरासा जी ते ;
 बुझै न काम - अगिनि तुलसी कहूँ विषय-भोग बहु धी ते ॥ ६ ॥

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ।

प्राननाथ रघुपति - से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ।
जे जड़ जीव, कुटिल, कायर, खल, केवल कलि - मल - साने ;
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि ते अधिक करि माने ।
सुख - हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ;
सदा मलीन पंथ के जन ज्यों, कवहुँ न हृदय थिराने ।
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने ;
तुलसी चित चिता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥ ७ ॥

हनुमान्-बाहुक

स्वर्ण-सैल-संकास, कोटिरवितरुन तेज धन ;
उर विसाल, भुजदंड चंड, नख वज्र, वज्र तन ।
पिंग नयन, भ्रुकुटी कराल, रसना दसनानन ;
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-वल-भानन ।
कह तुलसीदास बस जासु उर मारुत-सुत-मूरति विकट ;
संताप, पाप तिहि पुरुष के सपनेहुँ नहिँ आवत निकट ॥ १ ॥
सिंधु तरे, बड़े बीर दले, खलजाल हैं लंक-से बंक मवासे ;
तैं रन केहरि केहरि के बिदले अरि कुंजर छैल छुवा-से ।
तोसों समत्थ सुसाहिव सेइ सहे तुलसी दुख दोष दवा-से ;
वानर-वाज बड़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से ॥ २ ॥

हनुमान्-अष्टक

रावन जुद्ध अजान कियो, तब नाग कि पास सबै सिर डारो ;
श्रीरघुनाथ - समेत सबै दल मोहे, भयो तब संकट भारो ।
आनि खगेस तबै हनुमानजू बंधन काटि कुत्रास निवारो ;
को नहिँ जानत है जग में, प्रभु संकट-मोचन नाम तुम्हारो ॥ १ ॥

राम-वर्ति-मानस (रामायण)

सीतारामगुणग्रामपुष्पारण्यविहारिणौ ;
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ १ ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ;
सर्वश्रेयस्करां सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ २ ॥
कुंद-इंदु-सम देह, उमा-रमन करुना-अयन ;
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन ॥ ३ ॥

बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि ;

महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रवि-कर-निकर ॥ ४ ॥

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा ; सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ।
 अमियमूरिमय चूरन चारू ; समन सकल भव - रुज - परिवारू ।
 सुकृत संभुतन विमल विभूती ; मंजुल मंगल - मोद - प्रसूती ।
 जन - मन मंजु मुकुर मल - हरनी ; किए तिलक गुन - गन - वस - करनी ।
 श्रीगुरु-पद - नख - मनि-गन-जोती ; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
 दलन मोह - तम सोसुप्रकासू ; बड़े भाग उर आवइँ जासू ।
 उधरहिँ विमल विलोचन ही के ; मिटहिँ दोष - दुख भव - रजनी के ।
 सूझहिँ राम-चरित-मनि-मानिक ; गुपित प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।

जथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान ;

कौतुक देखहिँ सैल वन, भूतल भूरि निधान ।

गुरु - पद - रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन-अमिय - दृग-दोष - विभंजन ।
 तेहि करि विमल विवेक विलोचन ; वरनउँ राम - चरित भव - मोचन ।
 बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना ; मोह - जनित संसय सब हरना ।
 सुजन - समाज सकल गुन - खानी ; करउँ प्रनाम सप्रेम सुवानी ।
 साधु - चरित सुभ सरिस कपासू ; निरस, विसद, गुनमय फल जासू ।
 जो सहि दुख पर - छिद्र दुरावा ; बंदनीय जेहि जग जसु पावा ।
 मुद - मंगलमय संत - समाजू ; जो जग जंगम तीरथ - राजू ।
 राम - भगति जहँ सुर-सरि-धारा ; सरसइ ब्रह्म - विचार - प्रचारा ।
 विधि - निषेधमय कलि-मल-हरनी ; करम - कथा रवि - नंदिनि वरनी ।
 हरि-हर - कथा विराजति वेनी ; सुनत सकल मुद - मंगल देनी ।
 बट-विस्वासु अचल निज धर्मा ; तीरथराज समाज सुकर्मा ।
 सबहिँ सुलभ सब दिन सब देसा ; सेवत सादर समन कलेसा ।
 अकथ, अलौकिक तीरथराज ; देइ सद्य फल प्रगट - प्रभाऊ ।
 सुनि समुझहिँ जन मुदित मन, मज्जहिँ अति अनुराग ;

लहहिँ चारि फल अछत - तनु साधु - समाज पराग ।

बालमीकि, नारद घटजोनी ; निज - निज मुखनि कही निज होनी ।
 जलचर, थलचर, नभचर नाना ; जे जइ - चेतन जीव जहाना ।
 मति, कीरति, गति, भूति भलाई ; जब जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई ।
 सो जानब सतसग - प्रभाऊ ; लोकहु - बेद न आन उपाऊ ।
 विनु सतसंग, विवेक न होई ; राम - कृपा विनु सुलभ न सोई ।

सतसंगति मुद - मंगल मूला ; सोइ फल सिधि, सब साधन फूला ।
 सठ सुधरहिँ सतसंगति पाई ; पारस परसि कुधातु सोहाई ।
 विधि-वस सुजन कुसंगति परहीं ; फनि-मनि-सम निज गुन अनुसरहीं ।
 विधि-हरि-हर-कवि-कोविद - बानी ; कहत साधु - महिमा सकुचानी ।
 सो मोसन कहि जात न कैसे ; साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे ।

बंदउँ संत समान चित, हित-अनहित नहिँ कोउ ;

अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ।

संत सरल-चित जगत-हित जानि सुभाव सनेहु ;

वाल-विनय सुनि, करि कृपा राम-चरन-रति देहु ।

बहुरि बंदि खलगन सतिभाए ; जे विन काज दाहिनेहु बाँए ।
 पर-हित-हानि-लाभ जिन्ह केरे ; उजरे हरष, विषाद वसेरे ।
 हरि-हर - जस - राकेस - राहु - से ; पर - अकाज भट सहसबाहु - से ।
 जे पर - दोष लखहिँ सहसाखी ; पर - हित धृत जिनके मन माखी ।
 तेज कृसानु, रोष महिषेसा ; अध-अवगुन - धन - धनी धनेसा ।
 उदय केतु-सम हित सब ही के ; कुंभकरन - सम सोवत नीके ।
 पर-अकाजु लागि तनु परिहरहीं ; जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ।
 बंदउँ खल, जस सेष सरोषा ; सहसवदन वरनइ पर-दोषा ।
 पुनि प्रनवउँ पृथुराज - समाना ; पर-अध उनइ सहसदस काना ।
 बहुरि सक्र-सम विनवउँ तेही ; संतत सुरानीक हित जेही ।
 बधन-वज्र जेहि सदा पियारा ; सहस - नयन पर - दोष निहारा ।

उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिँ खल रीति ;

जानु पानि जुग जोरि जन, विनती करउँ संप्रति ।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा ; तिन्ह निज ओर न लाउव भोरा ।
 बायस पलिअहि अति अनुरागा ; होहि निरामिष कवहुँ कि कागा ।
 बंदउँ संत - असज्जन - चरना ; दुख - प्रद उभय, बीच कलु वरना ।
 बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ; मिलत एक दारुन दुख देहीं ।
 उपजहिँ एक संग जल माहीं ; जलज, जौक जिमि, गुन बिलगाहीं ।
 सुधा-सुरा - सम साधु - असाधू ; जनक एक जग जलाधि अगाधू ।
 भल, अनभल निज-निज करदूती ; लहत सुजस, अपलोक बिभूती ।
 सुधा, सुधाकर, सुरसरि साधू ; गरल, अनल, कलिमल, सरि, व्याधू ।
 गुन-अवगुन जानत सब कोई ; जो जेहि भाव, नीक तेहि सोई ।

भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ;
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ।

खल अघ अगुन, साधु गुन गाहा ; उभय अपार उदधि अवगाहा ।
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने ; संग्रह - त्याग न विनु पहिचाने ।
भलेउ पोच सब विधि उपजाए ; गनि गुन - दोष बेद बिलगाए ।
कहहिँ वेद, इतिहास, पुराना ; विधि - प्रपंच गुन-अवगुन-साना ।
दुख-सुख, पाप-पुन्य, दिन-राती ; साधु - असाधु, सुजाति - कुजाती ।
दानव - देव, ऊँच अरु नीचू ; अमिय सजीवनि, माहुर मीचू ।
माया - ब्रह्म, जीव - जगदीसा ; लच्छि - अलच्छि - रंक - अवनीसा ।
कासी - मग, सुरसरि - क्रमनासा ; मरु, मालव, महिदेव, गवासा ।
सरग - नरक, अनुराग - विरागा ; निगम - अगम - गुन - दोष - विभागा ।

जड़ - चेतन गुन - दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ,
संत-हंस गुन गहहिँ पय परिहरि वारि - विकार ।

खलउ करहिँ भल पाइ सुसंगू ; मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।
लखि सुवेष जग - बंचक जेऊ ; वेष - प्रताप पूजिअहि तेऊ ।
उपरहिँ अंत, न होइ निवाहू ; कालनेमि जिमि रावन राहू ।
कियहु कुवेषु साधु - सनमानू ; जिमि जग जामवंत, हनुमानू ।
हानि कुसंग, सुसंगति लाहू ; लोकहु वेद विदित सब काहू ।
गगन चढ़इ रज पवन - प्रसंगा ; कीचहि मिलइ नीच जल संग ।
साधु - असाधु - सदन सुक-सारी ; सुमिरहिँ राम, देहिँ गनि गारी ।
धूम कुसंगति कारिख होई ; लिखिय पुरान मंजु मसि सोई ।
सोइ जल - अनल-अनिल - संघाता ; होइ जलद जग - जीवन - दाता ।

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग, सुजोग ;
होहिँ कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिँ सुलच्छन लोग ।
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम-भेद विधि कीन्ह ;
ससि-पोषक, सोषक समुक्ति जग जस-अपजस दीन्ह ।

सीय-राममय सब जग जानी ; करवँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।
जानि कृपा करि किकर मोहू ; सब मिलि करहु, छाँड़ि छल-छोहू ।
निज बुधि-बल-भरोस मोहिँ नाहीं ; ताते बिनय करउँ सब पाहीं ।
करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा ; लघु मति मोरि, चरित अवगाहा ।
सुभ न एकउ अंग उपाऊ ; सम मति रंक, मनोरथ राज ।

मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी ; चहिय अमिय जय जुरइ न छाछी ।
छमिहहि सज्जन मोरि ढिठाई ; सुनिहहि वालवचन सन लाई ।

भनित मोरि सब गुन-रहित, विस्व-विदित गुन एक ;

सो विचारि सुनिहहि सुमति, जिन्हके विमल विवेक ।

यहि महुँ रघुपति-नाम उदारा ; अति पावन, पुरान - स्मृति - सारा ।
मंगल - भवन अमंगलहारी ; उमा - सहित जेहि जपत पुरारी ।
भनित विचित्र सुकवि - कृत जोऊ ; राम-नाम बिनु सोह न सोऊ ।
विधु-बदनी सब भाँति सँवारी ; सोह न बसन विना बर नारी ।
सब गुन - रहित कुकवि - कृत वानी ; राम-नाम-जस - अंकित जानी ।
सादर कहहि सुनिहहि बुध ताही ; मधुकर - सरिस संत गुन-ग्राही ।
जदपि कवित - रस एकउ नाहीं ; राम - प्रताप प्रगट यहि माहीं ।
सोइ भरोस मोरे मन आवा ; केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ।
धूमउ तजइ सहज - करुआई ; अगुरु - प्रसंग सुगंध वसाई ।
भनित भदेस, वस्तु भलि वरनी ; राम - कथा जग मंगल - करनी ।

स्याम सुरभि, पय विसद अति, गुनद करहि सब पान ;

गिरा ग्राम्य, सिय - राम - जस गावहि - सुनिहहि सुजान ।

मनि - मानिक - मुकुता-छावि जैसी ; अहि - गिरि-गज-सिर सोह न तैसी ।
नृप - किरीट, तरुनी - तनु पाई ; लहहि सकल सोभा अधिकहि ।
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं ; उपजहि अनत, अनतछवि लहहीं ।
भगतं - हेतु विधि - भवन विहाई ; सुमिरत सारद आवति धाई ।
राम - चरित - सर बिनु अन्हवाए ; सो खम जाइ न कोटि उपाए ।
कवि - कोविद अस हृदय विचारी ; गावहि हरि - जस कलि-मल-हारी ।
कीन्हे प्राकृत - जन - गुन - गाना ; सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।
हृदय सिंधु मति सीपि - समाना ; स्वाती सारद कहहि सुजाना ।
जो वरसइ वर - वारि विचारू ; होहि कवित मुकुता - मनि चारू ।

जुगुति बेधि पुनि पोहियहि रामचरित वर - ताग ;

पहिरहि सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग ।

जे जनमे कलिकाल कराला ; करतव वायस, वेष मराला ।
चलत कुपंथ वेद-मग छोड़ै ; कपट - कलेवर कलि - मल - भाँडै ।
बंचक भगत कहाइ राम के ; किंकर कंचन, कोह, काम के ।
तिन महुँ प्रथम रेख जग मोरी ; धिग धरमध्वज, धँधरक धोरी ।

बंदउँ मुनि - पद - कंजु, रामायन जेहि निरमयउ ;
सखर, सकोमल मंजु, दोष-रहित, दूषन-सहित ।

बंदउँ कौसल्या दिसि - प्राची ; कीरति जासु सकल जग माची ।
प्रगटेउ जहँ रघुपति - ससि चारू ; विस्व - सुखद, खल-कमल-तुसारू ।

गिरा - अरथ, जल - धीचि - सम, कहियत भिन्न, न भिन्न ;

बंदउँ सीता - राम - पद, जिन्हहिँ परमप्रिय खिन्न ।

बंदउँ राम-नाम रघुवर को ; हेतु कृसानु, भानु, हिमकर को ।

विधि - हरि - हरमय वेद - प्रान सो ; अगुन, अनूपम, गुन - निधान सो ।

महामंत्र जोइ जपत महेसू ; कासी मुकुति हेतु उपदेसू ।

महिमा जासु जान गनराऊ ; प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ।

जान आदि कवि नाम - प्रतापू ; भयहु सुद्ध करि उलटा जापू ।

नाम - प्रभाऊ जान सिव नीको ; कालकूट फल दीन्ह अमी को ।

बरषा - रितु रघुपति - भगति, तुलसी सालि सु दास ;

राम - नाम वर वरन जुग सावन - भादवं मास ।

सुमिरत सुलभ, सुखद सब काहू ; लोक लाहु, परलोक निवाहू ।

बरनत वरन प्रीति बिलगाती ; ब्रह्म - जीव - सम सहज सँघाती ।

नर - नारायन - सरिस सुभ्राता ; जग - पालक विशेषि जनि त्राता ।

भगति सुतिय कल करन - विभूषन ; जग - हित हेतु विमल विधु - पूषन ।

स्वाद- तोष - सम सुगति सुधा के ; कमठ - सेष - सम धर वसुधा के ।

जन - मन मंजु कंज मधुकर - से ; जीह - जसोमति - हरि हलधर - से ।

एक छत्र, इक मुकुट - मनि, सब वरननि पर जोउ ;

तुलसी रघुवर - नाम के वरन विराजत दोउ ।

यहि विधि निज गुन-दोष कहि, सबहिँ बहुरि सिर नाय ;

वरनउँ रघुवर विसद जसु, मुनि कलि कलुष नसाइ ।

निज संदेह - मोह-भ्रम - हरनी ; करउँ कथा भव - सरिता - तरनी ।

बुध-विसराम, सकल जन - रंजनि ; राम-कथा कलि-कलुष-विभंजनि ।

राम - कथा कलि - पन्नग भरनी ; पुनि विवेक-पावक कहँ अरनी ।

राम-कथा कलि कामद - गाई ; सुजन - सजीवनिमूरि सोहई ।

सोइ वसुधातल सुधा - तरंगिनि ; भय-भंजनि, भ्रम-भेक - भुयंगिनि ।

असुरसेन - सम नरक - निकंदिनि ; साधु-विबुध - कुलहित गिरि-नंदिनि ।

संत - समाज - पयोधि रमा - सी ; विस्व - भार - धर अचल छमा - सी ।

जमगन-मुँह-मसि जग जमुना - सी ; जीवन - मुकुति - हेतु अनु काशी ।
 रामहिँ प्रिय पावनि तुलसी - सी ; तुलसीदास - हित हिय तुलसी - सी ।
 सिव प्रिय मेकल - सैल - सुता - सी ; सकल सिद्धि - सुख संपति - रासी ।
 सदगुन-सुरगन अँव अदिति-सी ; रघुवर - भगति प्रेम - परमिति - सी ।

राम - कथा मंदाकिनी , चित्रकूट चित चारु ;
 तुलसी सुभग सनेह बन सिय - रघुवीर - विहार ।

राम - चरित - चिंतामनि चारु ; संत-सुमति - तिय सुभग सिँगारु ।
 जग - मंगल गुन ग्राम राम के ; दानि मुकुति, धन, धरम, धाम के ।
 सदगुरु ज्ञान विराग जोग के ; विबुध वैद भव भीम रोग के ।
 जननि - जनक सिय - राम - प्रेम के ; बीज सकल व्रत, धरम, नेम के ।
 समन पाप, संताप, सोक के ; प्रिय पालक परलोक, लोक के ।
 काम - कोह - कलिमल - करिगन के ; केहरि-सावक जन-मन - बन के ।
 अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के ; कामद - धन दारिद - दवारि के ।
 मंत्र महामनि प्रिय - ब्याल के ; मेटत कठिन कुअँक भाल के ।
 हरन मोह - तम दिनकर - कर - से ; सेवक - सालिपाल जलधर - से ।
 अभिमत - दानि देव - तरुवर - से ; सेवत सुलभ सुखद हरि - हर-से ।
 सुकवि सरद, नभ मन उडुगन - से ; रामभगत जन जीवनधन-से ।
 सेवक - मन मानस मराल - से ; पावन गंग - तरंग - माल - से ।

• × × ×
 संबत सोरह सै इकतीसा ; करउँ कथा हरि - पद धरि सीसा ।
 नौमी, भौमवार, मधु - मासा ; अवधपुरो यह चरित प्रकासा ।

× × ×
 जिन हरि-कथा सुनी नहिँ काना ; सवन-रंघ्र अहि-भवन - समाना ।
 नयनन्हि संत दरस नहिँ देखा ; लोचन मोरपंख कर लेखा ।
 ते सिर कटु - तुँवरि-सम तूला ; जे न नमत हरि-गुरु - पद - मूला ।
 जिन्ह हरि-भगति हृदय नहिँ आनी ; जीवत सब - समान तेइ प्राणी ।
 जो नहिँ करइ राम-गुन-गाना ; जीह सो दादुर - जीह समाना ।
 कुलिस-कठोर निठुर सोइ छाती ; सुनि हरि - चरित न जो हरषाती ।

राम - कथा सुर - धेनु - सम सेवत सब सुखदानि ;
 सतसमाज सुरलोक सब को न सुनइ अस जानि !

राम - कथा सुंदर कर-तारी ; संसय - विहग उड़ावनहारी ।
 राम-कथा कलि - विटप - कुठारी ; सादर मुनु गिरिराजकुमारी ।

X

X

X

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना ; विश्व वास प्रगटे भगवाना ।

नील सरोरुह, नील मनि, नील नीरधर स्याम ;

लाजहि तनु - सोभा निरखि कोटि - कोटि - सत काम ।

सरद - मयंक वदन छवि - सीवाँ ; चारु कपोल, चिबुक, वर ग्रीवाँ ।

अधर - अरुन, रद सुंदर नासा ; विधु-कर - निकर - विनिदक हासा ।

नव - अंबुज अंबक - छवि नीकी ; चितवनि ललित भावती जी की ।

भ्रुकुटि मनोज - चाप - छवि हारी ; तिलक ललाट - पटल - दुतिकारी ।

कुंडल - मकर मुकुट सिर भ्राजा ; कुटिल केस जुनु मधुप - समाजा ।

उर श्रीवत्स, रुचिर वनमाला ; पदिक - हार, भूषन मनि - जाला ।

केहरि कंधर चारु जनेऊ ; बाहु विभूषन सुंदर तेऊ ।

करि-कर - सरिस सुभग भुज - दंडा ; कटि निषंग, कर सर - कोदंडा ।

तडित - विनिदक पीत पट, उदर रेख वर तीनि ;

नाभि मनोहर लेति जुनु जमुन - भवँर - छवि छीनि ।

पद - राजीव वरनि नहिँ जाहीं ; मुनि-मन-मधुप वसहिँ जिन्ह माहीं ।

वाम भाग सोभित अनुकूला ; आदि-सकति, छवि-निधि, जगमूला ।

जासु अंस उपजहिँ गुन - खानी ; अगनित लच्छि, उमा, ब्रह्मानी ।

भ्रुकुटि - विलास जासु जग होई ; राम-वाम दिसि सीता सोई ।

छवि-समुद्र हरि-रूप विलोकी ; इकटक रहे नयन पट रोकी ।

चितवहिँ सादर रूप अनूपा ; तृप्ति न मानहिँ मनु - सतरूपा ।

X

X

X

भूप बाग वर देखेउ जाई ; जहँ वसंत - रितु रही लुभाई ।

लागे विटपि मनोहर नाना ; वरन - वरन वर वेलि - विताना ।

नव पल्लव, फल, सुमन सुहाए ; निज संपति सुर - रूख लजाए ।

चातक, कोकिल, कीर, चकोरा ; कूजत बिहँग, नटत कल मोरा ।

मध्यबाग सर सोह सुहावा ; मनि - सोपान विचित्र बनावा ।

बिमल सलिल, सरसिज बहुरंगा ; जल - खग कूजत, गुंजत भृंगा ।

बाग - तड़ाग विलोकि प्रभु हरषे बंधु - समेत ;

परम रम्य आराम यह, जो रामहिँ सुख देत ।

X

X

X

कंकन-किंकिनि - नूपुर - धुनि सुनि ; कहत लषन सन राम हृदय गुनि ।
 मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही ; मनसा विस्व - विजय कहँ कीन्ही ।
 अस कहि फिरि चितए तिहि ओरा ; सिय-मुख-सखि भे नयन चकोरा ।
 भए विलोचन चारु अचंचल ; मनहुँ सकुचि निमि तजे दगंचल ।
 देखि सीय-सोभा सुख पावा ; हृदय सराहत वचनु न आवा ।
 जनु विरंचि सब निज निपुनाई ; विरचि विस्व कहँ प्रगटि देखाई ।
 सुंदरता कहँ सुंदर करई ; छवि-गृह दीप - सिला जनु वरई ।
 सब उपमा कवि रहे जुठारी ; केहि पटतरउँ विदेहकुमारी ?

×

×

×

सोभा - सीव सुभग दोउ वीरा ; नील - पीत - जलजाम - सरीरा ।
 मोर-पंख सिर सोहत नोके ; गुच्छा विच-विच कुसुम-कली के ।
 भाल तिलक, खम - बिंदु सुहाए ; खवन सुभग भूषन छवि छाए ।
 विकट भ्रुकुटि, कच घूँघरवारे ; नव - सरोज - लोचन रतनारे ।
 चारु चिबुक, नासिका, कपोला ; हास - विलास लेत मन मोला ।
 मुख-छवि कहि न जाइ मोहिँ पाहीं ; जो विलोकि बहु काम लजाहीं ।
 उर मनि - माल, कंबु-कल ग्रीवाँ ; काम - कलभ - कर भुज-बल-सीवाँ ।
 सुमन - समेत वाम कर दोना ; साँवर कुँवर सखी सुठि लोना ।
 केहरि कटि पट पीत-धर, सुखमा - सील - निधान ;
 देखि भानु-कुल - भूषनहिँ विसरा सखिन्ह अपान ।

×

×

×

उएउ अरुन अवलोकहु ताता ; पंकज - लोक - कोक - मुख - दाता ।
 बोले लषन जोरि जुग पानी ; प्रभु - प्रभाव - सूचक मृदु बानी ।
 अरुन - उदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन ;
 तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बल-हीन ।
 नृप सब नखत करहिँ उजियारी ; टारि न सकहिँ चाप-तम-भारी ।
 कमल, कोक, मधुकर, खग नाना ; हरषे सकल निसा - अवसाना ।
 ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे ; होइहहिँ दूटे धनुष सुखारे ।
 उएउ भानु बिनु खम तम-नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
 रवि निज उदय - व्याज रघुराया ; प्रभु - प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ।
 तव भुज - बल महिमा उदघाटी ; प्रगटी धनु - विघटन - परिपाटी ।

×

×

×

पुनि मुनि-वृंद - समेत कुपाला ; देखन चले धनुष-मख - साला ।
 रंगभूमि आए दोउ भाई ; अति सुधि सब पुरवातिन्ह पाई ।
 चले सकल गृह - काज बिसारी ; बाल, जुवान, जरठ, नर - नारी ।
 देखी जनक भीर भइ भारी ; सुचि सेवक सब लिए हँकारी ।
 तुरत सकल लोगन्ह पहिँ जाहू ; आसन उचित देहु सब काहू ।
 कहि मृदु वचन विनीत तिन्ह बैठारे नर - नारि ;
 उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, निज - निज थल अनुहारि ।

राजकुँअर तेहि अवसर आए ; मनहुँ मनोहरता तन छाप ।
 गुन - सागर, नागर वर - वीरा ; सुंदर, स्यामल - गौर सरीरा ।
 राज - समाज विराजत रुरे ; उडुगन महुँ जनु जुग विधु पूरे ।
 जिन्हकै रही भावना जैसी ; प्रभु - मूरति देखी तिन्ह तैसी ।
 देखहिँ भूप महारन - धीरा ; मनहुँ वीर - रस धरे सरीरा ।
 डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी ; मनहुँ भयानक मूरति भारी ।
 रहे असुर छल - छोनिप - बेखा ; तिन्ह प्रभु प्रगट काल-सम देखा ।
 पुरवातिन्ह देखे दोउ भाई ; नर-भूषन लोचन - सुखदाई ।
 नारि बिलोकहिँ हरषि हिय निज - निज रुचि अनुरूप ;
 जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ।

विदुषन प्रभु विराटमय दीसा ; बहुमुख, कर पग, लोचन, सीसा ।
 जनक जाति अवलोकहिँ कैसे ; सजन सगे प्रिय लागहिँ जैसे ।
 सहित विदेह बिलोकहिँ रानी ; तिसु-सम, प्रीति न जाइ बखानी ।
 जोगिन्ह परमतत्त्वमय भासा ; सांत, सुद्ध, सम, सहज - प्रकासा ।
 हरि - भगतन देखे दोउ आता ; इष्टदेव इव सब सुखदाता ।
 रामहिँ चितव भाव जेहि सीया ; सो सनेह मुख नहिँ कथनीया ।
 उर अनुभवति, न कहि सक सोऊ ; कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ ।
 यहि विधि रहा जाहि जस भाऊ ; तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ।

राजत राज - समाज महुँ कोसल - राज - किसोर ;
 सुंदर, स्यामल, गौर - तनु, विस्व बिलोचन - चोर ।

सहज मनोहर मूरति दोऊ ; कोटि काम उपमा लघु सोऊ ।
 सरद - चंद - निंदक मुख नोके ; नीरज - नयन भावते जीके ।
 चितवनि चारु मार - मद - हरनी ; भावति हृदय, जाति नहि बरनी ।
 कल कपोल स्तुति कुंडल - लोला ; चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ।

कुमुद - बंधु - कर-निंदक हासा ; भ्रुकुटी कुटिल, मनोहर नासा ।
भाल बिसाल तिलक भल्लाहीं ; कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं ।
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई ; कुसुम - कली धिच - बीच बनाई ।
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ ; जनु त्रिभुवन - सोभा की सीवाँ ।

कुंजर - मनि - - कंठा कलित उरन्ह तुलसिका - माल ;

वृषभ - कंध, केहरि ठवनि, बल - निधि बाहु बिसाल ।

कटि तूनीर पीत पट बाँधे ; कर सर धनुष वान वर काँधे ।
पीत जज्ञउपवीत सोहाए ; नख - सिख मंजु महाछवि छाए ।
देखि लोग सब भए सुखारे ; इकटक लोचन टरत न टारे ।
हरपे जनक देखि दोउ भाई ; मुनि - पद - कमल गहे तव जाई ।
करि विनती निज कथा सुनाई ; रंग - अवनि सब मुनिहि दिखाई ।
जहँ - जहँ जाहिँ कुँअर वर दोऊ ; तहँ-तहँ चकित चितव सब कोऊ ।
निज - निज रख रामहिँ सब देखा ; कोउनजान कछु मरम बिसेखा ।
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ ; राजा मुदित महा सुख लहेऊ ।

सब मंचन्ह तैं मंच इक सुंदर, बिसद, बिसाल ;

मुनि - समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल ।

जानि सुअवसर सीय तव पठई जनक बुलाइ ;

चतुर सखी सुंदरि सकल सादर चलीं लेवाइ ।

सिय - सोभा नहिँ जाइ बखानी ; जगदंबिका रूप - गुन - खानी ।
उपमा सकल मोहिँ लघु लागी ; प्रकृत - नारि - अंग अनुरागी ।
सीय वरनि तेहि उपमा देई ; कुकवि कहाइ अजसु को लेई ?
जो पटतरिय तीय महँ सीया ; जग असि जुवति कहाँ कपनीया ?
गिरा मुखर तनु - अरध भवानी ; रति अति दुखित अतनु-पति जानी ।
विष, बारुनी - बंधु, प्रिय जेही ; कहिय रमा-सम किमि बैदेही ?
जो छवि - सुधा - पयोनिधि होई ; परम रूपमय कच्छप सोई ।
सोभा - रजु, मंदरु सिंगारू ; मथइ पानि - पंकज निज मारू ।

यहि विधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता - सुख - मूल ;

तदपि सकोच समेत कवि कहहिँ सीय - समतूल ।

चलीं संग लै सखी सयानी ; गावत गीत मनोहर बानी ।
सोह नवल - तनु सुंदर सारी ; जगत जननि अतुलित छवि भारी ।
भूषन सकल सुदेस सुझाए ; अंग - अंग रचि सखिन्ह बनाए ।
रंगभूमि जब सिय पगु धारी ; देखि रूप मोहे नर - नारी ।

हरषि सुरन्ह दुंदुभी वजाई ; वरसि प्रसून अपछरा गाई ।
 पानि-सरोज सोह जयमाला ; अवचक चितए सकल भुवाला ।
 सीय चकित-चित रामहिं चाहा ; भए मोह - वस सब नरनाहा ।
 मुनि समीप देखे दोउ भाई ; लगे ललकि लोचन निधि पाई ।

गुरुजन - लाज, समाज वडि, देखि सीय सकुचानि ;
 लगी विलोकन सखिन्ह तन रघुवीरहि उर आनि ।

×

×

×

तब बंदीजन जनक बुलाए ; विरदावली कहत चलि आए ।
 कह नृप, जाइ कहहु पन मोरा ; चले भाट, हिय हरष न थोरा ।
 बोले बंदी वचन वर, सुनहु सकल महिपाल ;
 पन विदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ विसाल ।

नृप-भुज-बलु विधु सिव-धनु राहु ; गरुअ, कठोर विदित सब काहु ।
 रावन, वान महाभट भारे ; देखि सरासन गवहिं सिधारे ।
 सोइ पुरारि - कोदंड कठोरा ; राज - समाज आज जेइ तोरा ।
 त्रिभुवन - जय - समेत वैदेही ; बिनहि विचार वरइ हठि तेही ।
 मुनि पन सकल भूप अभिलाखे ; भटमानी अतिसय मन माखे ।
 परिकर बाँधि उठे अकुलाई ; चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई ।
 तमकि ताकि तकि सिव-धनु धरहीं ; उठइ न कोटि भाँति बल करहीं ।
 जिनके कछु विचार मन माहीं ; चाप समीप महीप न जाहीं ।

तमकि धरहिं धनु मूढ नृप, उठइ न, चलहिं लजाइ ;
 मनहुँ पाइ भट - बाहु - बल अधिक-अधिक गरुआइ ।

डिगाइ न संभु - सरासन कैसे ; कामी - वचन सती - मन जैसे ।
 सब नृप भए जोग उपहासी ; जैसे विनु विराग संन्यासी ।
 कीरति, विजय, वीरता भारी ; चले चाप - कर वरवसु हारी ।
 श्रीहत भए हारि हिय राजा ; बैठे निज - निज जाइ समाजा ।

×

×

×

विव्शामित्र समय सुभ जानी ; बोले अति सनेह मृदु बानी ।
 उठहु राम, भंजहु भव - चापा ; मेटहु तात जनक - परितापा ।
 मुनि गुरु-वचन चरन सिरु नावा ; हरष - विषाद न कछु उर आवा ।
 ठाढ़ भए उठि सहज - सुभाए ; ठवनि जुवा - मृगराज लजाए ।

उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल - पतंग ;
 विकसे संत सरोज - वन, हरषे लोचन - भृंग ।

नृपन्ह केरि आसा-निसि नासी ; वचन नखत-अवली न प्रकासी ।
 मानी महिप कुमुद सकुचाने ; कपटी भूप उलूक लुकाने ।
 भए बिसोक कोक - मुनि - देवा ; वरषहिँ सुमन, जनावहिँ सेवा ।
 गुरु-पद बंदि सहित अनुरागा ; राम मुनिन सन आयसु भौंगा ।
 सहजहि चले सकल जग - स्वामी ; मत्त मंजु वर कुंजर - गामी ।
 चलत राम सब पुर - नर - नारी ; पुलक पूरि तन भए सुखारी ।
 बंदि पितर सब सुकृत सँभारे ; जौ कछु पुन्य - प्रभाव हमारे ।
 तौ सिव - धनु मृनाल की नाई ; तोरहिँ राम गनेस गोसाईं ।

रामहिँ प्रेम - समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ ;

सीता - मातु सनेह - वस वचन कहइ बिलखाइ ।

सखि सब कौतुक देखनहारे ; जेउ कहावत हितु हमारे ।
 कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं ; ये बालक, अस हठ भल नाहीं ।
 रावन बान छुआ नहिँ चापा ; हारे सकल भूप करि दापा ।
 सो धनु राजकुँवर - कर देहीं ; बाल मराल कि मंदर लेहीं ।
 भूप सयानप सकल सिरानी ; सखि विधि-गति कछु जाति न जानी ।
 बोली चतुर सखी मृदु बानी ; तेजवंत लघु गनिय न रानी ।
 कहँ कुंभज, कहँ सिंधु अपारा ; सोखेउ मुजस सकल संसारा ।
 रवि - मंडलु देखत लघु लागा ; उदय तासु त्रिभुवन - तम भागा ।

मंत्र परमलघु, जासु वस विधि, हरि, हर, सुर सर्व ;

महामत्त गजराज कहँ वस - कर अंकुस खर्व ।

काम कुसुम - धनु - सायक लीन्हे ; सकल भुवन अपने वस कीन्हे ।
 देवि तजिय संसय अस जानी ; भंजव धनुष राम सुनु रानी ।
 सखी - वचन सुनि भइ परतीती ; मिटा विषाद, बढी अति प्रीती ।
 तव रामहिँ बिलोकि बैदेही ; सभय हृदय बिनवति जेहि - तेही ।
 मन - ही - मन मनाव अकुलानी ; होउ प्रसन्न महेश - भवानी ।
 करहु सफल आपनि सेवकाई ; करि हित हरहु चाप-गरुआई ।
 गन-नायक वरदायक देवा ; आजु लगे कीन्हेउं तुव सेवा ।
 बार-बार सुनि बिनती मोरी ; करहु चाप-गुरुता अति थोरी ।

देखि - देखि रघुवीर तन, सुर मनाव धरि धीर ;

भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली सरीर ।

नीके निरखि नयन-भरि सोभा ; पितु-पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा ।
 अहह तात, दारुन हठ ठानी ; समुझत नहिँ कछु लाभ न हानी ।

सचिव सभय सिखि देइ न कोई ; बुध-समाज बड़ अनुचित होई ।
 कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ; कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ।
 बिधि किहि भाँति धरउँ उर धीरा ; सिरिस - सुमन कत वेधिय हीरा !
 सकल सभा कै मति भइ भोरी ; अब मोहिँ संभु - चाप, गति तोरी ।
 निज जड़ता लोगन्ह पर डारी ; होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी ।
 अति परिताप सीय मन माहीं ; लव-निमेष जुग सत - सम जाहीं ।

प्रभुहि चितइ, पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल ;

खेलत मनसिज - मीन जुग जनु विधु - मंडल डोल ।

गिरा - अलिनि मुख-पंकज रोकी ; प्रगट न लाज - निसा अवलोकी ।
 लोचन-जल रह लोचन - कोना ; जैसे परम कृपन कर सोना ।
 सकुची व्याकुलता बड़ि जानी ; धरि धीरज प्रतीति उर आनी ।
 तन-मन-वचन मोर पन साँचा ; रघुपति - पद - सरोज चितु राँचा ।
 तौ भगवान सकल उर-वासी ; करिहहिँ मोहिँ रघुवर कै दासी ।
 जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू ; सो तिहि मिलइ, न कछु संदेहू ।
 प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना ; कृपानिधान राम सब जाना ।
 सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे ; चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे ।

लघन लखेउ रघुवंस - मनि ताकेउ हर - कोदंड ;

पुलकि गात बोले वचन चरन - चापि ब्रह्मंड ।

दिसि - कुंजरहु, कमठ, आह, कोला ; धरहु धरनि धरि धीर, न डोला ।
 राम चहहिँ संकर - धनु तोरा ; होहु सजग सुनि आयसु मोरा ।
 चाप समीप राम जब आए ; नर - नारिन्ह सुर - सुकृत मनाए ।
 सब कर संसय अरु अज्ञानू ; मंद महीपन्ह कर अभिमानू ।
 भृगुपति केरि गरब - गरुआई ; सुर - मुनि - वरन्ह केरि कदराई ।
 सिय कर सोच, जनक - पछितावा ; रानिन्ह कर दारुन दुख - दावा ।
 संभु-चाप वर बोहित पाई ; चढ़े जाइ सब संग बनाई ।
 राम - बाहु - बल सिंधु अपारू ; चहत पार नहिँ कोउ कनहारू ।

राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे - से देखि ;

चितइ सीय कृपायतन, जानी विकल बिसेखि ।

देखी विपुल विकल वैदेही ; निमिष बिहात कल्प - सम तेही ।
 तृषित वारि विनु जो तनु त्यागा ; सुए करइ का सुधा - तड़ागा ?
 का वरपा, जब कृषी सुखाने ; समय - चूकि पुनि का पछिताने ?
 अस जिय जानि जानकी देखी ; प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ।

गुरुहि प्रनाम मनहिँ - मन कीन्हा ; अति लाघव उठाय धनु लीन्हा ।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ ; पुनि धनु नभ - मंडल - सम भयऊ ।
लेत, चढ़ावत, खैंचत गाढ़े ; काहु न लखा, देख सब ठाढ़े ।
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा ; भरेउ भुवन धुनि घोर, कठोरा ।

संकर - चाप जहाज, सागर रघुवर - बाहु - बल ;
बूढ़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिँ मोह-वस ।

×

×

×

वेद-स्तुति

जय संगुन - निर्गुन - रूप राम, अनूप भूप - सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज - बल हने ।
अवतार नर संसार - भार विभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे ।
तुव विषम माया वस सुरासुर, नाग, नर, अग, जग हरे ;
भव-पंथ भ्रमत खमित दिवस - निसि काल कर्म गुन्हनि भरे ।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्वहे ;
भव - खेद - छेदन - दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे ।
जे ज्ञान - मान - विमत्त तव भव - हरनि भक्ति न आदरी ;
ते पाइ सुर-दुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी ।
विस्वास करि सब आस परिहरि दास तुव जे होइ रहे ;
जपि नाम तुव विनु खम तरहिँ भव, नाथ राम नमामहे ।
जे वरन सिव-अज-पूज्य रज सुभ परसि मुनि - पतिनी तरी ;
नख - निर्गता मुनि - बंदिता त्रैलोक्य - पावनि सुरसरी ।
ध्वज - कुलिस - अंकुस - कंज-जुत वन फिरत कंटक जिन लहे ;
पद - कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ।
अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वक चारि निगमागम भने ;
षट कंध, साखा पंचबिस, अनेक पर्न, सुमन घने ।
फल जुगुल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आसित रहे ;
पल्लवत, फूलत, नवल, नित संसार - बिटप नमामहे ।
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ हम तुव संगुन - जस नित गावहीं ।
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं ;
मन - बचन - कर्म विकार तजि तुव चरन हम अनुरागहीं ।

महात्मा सूरदास

—०—

सूरदास ने बिरच सूरसागर अति भारी ;
कृष्ण-भक्ति की ललित लहर जग में विस्तारी !
लिया विषय जो हाथ, दूर तक उसे निवाहा ;
एक न छोड़ा भाव, शब्द-सागर अवगाहा ।

कर अमित विषय वर्णन विशद सभी परम सुंदर कहे ;
अब कावियों के हित ये सकल इस कवि के जूटे रहे ।

सूरदास की गणना अष्ट-छाप अर्थात् ब्रज के आठो कवीश्वरों में है । उन आठ कवियों के नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास । इनमें प्रथम चार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के और अंतिम चार श्रीस्वामी विठ्ठलनाथ के सेवक थे । नंददास गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे या गुरुभाई माने जाते हैं । ब्रज-भाषा के अरुणोदय-काल में, ब्रज में, ये आठो कवि हो गए, और सभी ने पदों द्वारा श्रीकृष्ण-चंद्र आनंदकंद के यश का कीर्तन किया । हिंदी के प्रसिद्ध लेखक बाबू राधाकृष्णदास ने खेमराज-श्रीकृष्णदास के छापेखाने में सूर-कृत 'श्रीसूरसागर' नामक ग्रंथ, संवत् १६५३ विक्रमीय में, छपाया । उसी में, भूमिका की भाँति, उन्होंने सूरदास का जीवन-चरित भी लिखा । इस लेख में घटनाओं के लिखने में उससे भी सहायता ली गई है । इसमें जहाँ पृष्ठ और संख्या का हवाला है, वह उसी पुस्तक का है ।

सूरदास का जन्म, संवत् १५३५ विक्रमीय में, महाप्रभु वल्लभाचार्य से थोड़े ही दिन पीछे, होना सिद्ध हो चुका है, और संवत् १६४२ वि० में उनकी मृत्यु गोस्वामी विठ्ठलनाथ से कुछ ही पहले हुई । बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है—
“मुझे उनकी अवस्था लगभग अस्सी वर्ष की होने का पक्का प्रमाण मिला है ।”
पर वह पक्का प्रमाण क्या है, सो उन्होंने नहीं लिखा । सूर - सारावली के विषय में सूरदास ने स्वयं उसी ग्रंथ का १००२ नंबर का छंद यों लिखा है—

गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन ;
सिव-विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिँ लीन ।

सूर-सारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची कही जा सकती है, और यह भी जान पड़ता है कि सूरसागर के कुछ ही दिन पश्चात् बनाई गई होगी; कारण, ग्रंथ बनाने पर उसकी सूची लिखने की आवश्यकता शीघ्र ही होती है। यह भी विचार है कि इसका प्रयोजन यह है कि सं० १५६७ में सूर को दर्शन हुआ, अर्थात् महाप्रभु के शिष्यत्व से लीला का दर्शन हुआ, तथा उससे पूर्व आप बहुत दिन शैव विधान से तपस्या करते रहे थे। सूरदास ने साहित्य-लहरी नाम की एक और पुस्तक बनाई, और उसमें छाँटकर सूरसागर में लिखित एवं अन्य दृष्ट-कूट पदों का संग्रह किया। जान पड़ता है, सूरसागर बन जाने के पश्चात् यह ग्रंथ भी बना होगा। इसमें सूरदास ने संवत् यों दिया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख ;
दसन गौरी-नंद को लिखि, सुबल संवत पेख ।
नंदनंदन - मास, छयते - हीन तृतिथा वार ;
नंदनंदन जनमते हैं बाण सुख आगार ।
तृतिथ ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि 'सूर' नवीन ;
नंदनंदनदास हित साहित्यलहरी कीन ।

मुनि= ७, रसन= ० (जिसमें कोई रस नहीं, अर्थात् जो कुछ भी नहीं, याने शून्य है), रस= ६, दसन गौरी-नंद = १, = १६०७; नंदनंदन-मास=वैशाख (मधु); छयते हीन तृतिथा=अक्षय-तृतीया; तृतिथ ऋक्ष=कृत्तिका नक्षत्र; सुकर्म योग (देखो सरदार-कृत सौर दृष्ट-कूट की टीका, पृष्ठ ७१)। रसन का अर्थ रसना के दो गुणों के कारण दो भी किया गया है, जिससे सं० १६२७ आता है। अतः यह विदित हुआ कि साहित्य-लहरी संवत् १६०७ या १६२७ वि० में लिखी गई। एक सुलेखक का विचार है कि सूर-सारावली किसी अन्य सूरदास की है। उसमें सूरसागर की कथाओं से बहुत अंतर है। यह विचार हमें भी पसंद है।

सूरदास लिखते हैं, उनके गुरु श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु थे, और श्रीगोस्वामी विठलनाथ ने उनको अष्टछाप में रखा। यथा—

श्रीवल्लभ गुरु-तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो ।
थापि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ।
(सूर-सारावली नं० ११०२)

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने लिखा है कि आचार्यजी के जन्म एवं मरण-काल संवत् १५३५ एवं १५८७ वि० थे, और गोस्वामीजी के १५७२ एवं १६४२ वि०।

सूरदास का मरण-काल संवत् १५७२ वि० से बहुत पीछे होगा, क्योंकि उस संवत् में जन्म-ग्रहण करके गोस्वामीजी ने बहुत दिनों में प्रतिष्ठा प्राप्त की, और तब अपने चार शिष्यों के साथ सूरदास को अष्टछाप में रक्खा। अतः इस हिसाब से भी सूरदास के जन्म और मरण-काल १५३५ और १६४२ ठहरते हैं। शिवसिंह-सरोज में इनका जन्म-काल संवत् १६४० वि० लिखा गया, परंतु उसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया, अतः वह अग्राह्य है। श्रीयुत देवीप्रसादजी ने सं० १६४२ का एक अबुलफ़ज़ल का पत्र सूरदास के नाम का लिखा है, जिसमें अकबर के इलाहाबाद जाने की सूचना है। यह पत्र काशीवाले सूर से संबद्ध है, अपने-वाले से नहीं।

श्रीगोस्वामी विठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नाम की एक पुस्तक लिखी। भक्तमाल में भी बहुत भक्तों की जीवनियाँ दी गई हैं। इन दोनों पुस्तकों में सूरदास का वृत्तांत लिखा है, परंतु वह बहुत छोटा होने के कारण संतोष-जनक नहीं है। सूरदास के वंश इत्यादि के विषय में कुछ गड़बड़ी पड़ गई है। वह दो प्रामाणिक पुस्तकों में दो प्रकार लिखा हुआ है। सरदार-कृत 'सूरदास के दृष्ट - कूट' - नामक पुस्तक के ७१वें पृष्ठ पर, छंदावली नं० ११० में, कवि-वंश वर्णित है। उससे विदित होता है कि इनका पूर्व-पुरुष प्रार्थज-गोत्रीय जगात-वंश का ब्रह्मराव-नामक भद्र पुरुष था। इन्हीं के वंश में पृथ्वीराज के राजकवि चंद उत्पन्न हुए, जिनको उन महाराज ने ज्वाला-देश दिया। उनके चार पुत्र हुए, जिनमें प्रथम राजा हुआ। उनके द्वितीय पुत्र का नाम गुणचंद था। उसका पुत्र शीलचंद, जिनका वीरचंद हुआ। वह रणार्थभौर के राजा हम्मीरदेव का सखा था। उनके वंश में हरिचंद बड़ा विख्यात हुआ। उसका बेटा आगरे में रहा, जिसके सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—कृतचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद और सूरजचंद। सातवाँ पुत्र सूरजचंद ही हमारे विख्यात कवि सूरदास थे। सूर के सब भाई शाह से युद्ध करके परम गति को प्राप्त हुए। सूरजचंद अंधे थे, अतः वह एक कुँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। किसी ने उनकी पुकार नहीं सुनी। सातवें दिन यदुपति ने उन्हें बचाया। यथा—

परो कूप, पुकार काहू सुनी ना संसार ;
 सातएँ दिन आय यदुपति कियो आपु उधार ।
 दिव्य चख दै, कही सिसु, सुनु जोग बर जो चाह ;
 हौं कही, प्रभु-भगति चाहत सनु - नास सुभाइ ।
 दूसरो ना रूप देखौं देखि राधा - श्याम ;
 सुनत करुना - सिंधु भाखी, एवमस्तु सुधाम ।

प्रबल दक्षिण विप्र - कुल ते सत्रु हैं है नास ;
अखिल बुद्धि, विचार, विद्या, मान मानै मास ।

इस लेख के अनुसार सूरदास ब्रह्मभट्ट अर्थात् भाट साबित होते हैं। कारण, एक तो जगात कोई ब्राह्मण नहीं हैं, वरन् जगातिया भाट को कहते हैं; दूसरे, पृथ्वीराज के चंद कवि तो निश्चय ही भाट थे। यहाँ शत्रु का अर्थ मुसलमान बादशाह है, क्योंकि उन्हीं से लड़कर सूर के सब भाई मारे गए थे। वरदान यह हुआ कि दक्षिण के ब्राह्मण अर्थात् पेशवा-राजा शत्रु-नाश करेंगे। उस समय न मरहठों का ज़रा भी बल था, न शिवाजी तक—जो क्षत्रिय-राजा थे—उत्पन्न हुए थे। तो फिर पेशवाओं का, जो पीछे साहूजी के सचिव हुए, इतना प्रचंड अभ्युदय सोचना कि वे मुसलमानों को परास्त करने में कभी समर्थ होंगे (जैसा कि अंत को वे हुए), किसी का काम न था। इसीलिये साफ़ ज़ाहिर है कि ये छंद सूरदास के बनाए हुए नहीं हैं। हमारा खयाल है कि उनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे पेशवाओं का अभ्युदय और मुग़लों का पतन देखकर, किसी भाट कवि ने लगभग वालाजी-वाजीराव के समय में ये छंद बनाकर सूरदास की कविता में रख दिए होंगे। इस शत्रु नाश से काम-क्रोधादि का नाश भी कहा जाता है, जो दक्षिण के विप्र महाप्रभु द्वारा हुआ। हमें पहला अर्थ ठीक जँचता है। इन छंदों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्री-गोकुलनाथ-कृत चौरासी-चरित्र की टीका में और मियौंसिंह के भक्त-विनोद में सूरदास को ब्राह्मण कहा गया है। भारतेन्दु ने चौरासी की किसी टीका तथा भक्तमाल की टीका के आधार पर लिखा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण माने जाते थे। मिश्रबंधु-विनोद में चौरासी की कई टीकाओं का कथन है, जिनमें अनेक बातें कथित होंगी, पर वे सब अप्रकाशित हैं, और सब हमारे देखने में नहीं आई हैं। फिर भी भारतेन्दु ने जब ग्रंथ देखा ही था, तब उनके आधार पर कथन अनुचित नहीं है। हरिराय गोस्वामी विठ्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ के छोटे समकालीन थे। उनकी चौरासी वैष्णवों की वार्ता की टीका में सूरदास सारस्वत ब्राह्मण लिखे हुए हैं। चौरासी-वार्ता और भक्त-विनोद में शत्रु-नाश के वरदान का कोई हाल नहीं लिखा है, यद्यपि कूप-पतन का वर्णन अंतिम में है। यह संभव नहीं कि यदि यह वरदान सूरदास को मिलना उस काल कहा गया होता, तो इन्होंने यह हाल न लिखा होता। फिर यह भी बहुधा संभव नहीं कि यदि इनके छ भाई मारे गए होते, तो ये दोनों लेखक उस बात को न लिखते। महाप्रभु बल्लभाचार्य के एक पुत्र ने भी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। इसका हवाला एक प्रसिद्ध लेखक ने दिया है, जो हमें स्मरण नहीं है।

इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, और इनके पिता का नाम रामदास था। शिवसिंह भी पिता का नाम बाबा रामदास लिखते हैं। चौरासी-वार्ता में नंबर १२, ४०, ४५ और ५५ पर चार रामदास हैं, जिनमें नंबर ५५ ठाकुर थे, ४५ वीरवल के पुरोहित और शेष दोनों सारस्वत ब्राह्मण। भक्ति करने पर नंबर १२ के पुत्र हुआ। इनका जन्म दिल्ली के समीप सीही-ग्राम के निवासी निर्धन माता-पिता के घर हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि सूरदास जन्मांध थे, या नहीं? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-कृत रामरसिकावली में, भक्तमाल के आधार पर, लिखा हुआ है—“जनमहिँ ते हैं नैन-विहीना।” चौरासी-वार्ता में आया है कि अकबर शाह ने इनसे पूछा कि अंधे होकर उपमाएँ कैसे देते हैं? इसका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। अकबर के कहने पर भी इन्होंने नर-काव्य न किया। हमें तो इनके जन्मांध होने पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा सजीव वर्णन कर सकता है। चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना साफ़-साफ़ नहीं लिखा है। एक किवंदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए, मगर पीछे प्रकृतिस्थ होकर वह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयों से आपने अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले। संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासी-वार्ता में यह हाल न लिखा गया हो। यह कथा विल्वमंगल की भी कही जाती है।

भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था। कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए। उस समय सूरदास भी उनके साथ थे। जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे विनती की कि “अब मुझे यहीं रहने दो।” इस पर उनके माता-पिता रोने लगे; बोले—“तुम्हें अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ?” तब सूर ने कहा—“कृष्णचंद्र का सहारा क्या थोड़ा है?” इस पर एक साधु ने कहा—“मैं इस बालक को अपने साथ रखूँगा।” तब माता-पिता रोते-कलपते घर चले गए, और यह महाराज व्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला। सूर के समझा, स्वयं, कृष्ण भगवान् ने इन्हें निकाला है। बस,

इन्होंने निकालनेवाले की बाँह पकड़ ली, पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया ।
इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

बाँह छोड़ाए जात हौ निवल जानि कै मोहिँ ;
हिरदे सों जय जाइहो, मरद बदौंगो तोहिँ ।

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, यह महाराज गऊघाट-नामक एक स्थान पर, जो आगरे और मथुरा के बीच में है, रहने लगे । आप वहीं वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्हीं के साथ गोकुल में श्रीनाथ के मंदिर गए, और बहुत काल तक कीर्तन करते रहे । इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी विठलनाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी, और वह इनके पद सुना करते थे । सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे, और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे । महाप्रभु ने श्रीनाथ के कीर्तन का काम इन्हें सौंपा (चौरासी-वार्ता) । यह मंदिर सं० १५७६ में पूरनमल खत्री ने बनवाया था । आचार्यजी का शरीर-पात सं० १५८७ में हुआ । अतएव इन्हीं दिनों सूर का शिष्यत्व एवं कीर्तन का सौंपा जाना जान पड़ता है । चौरासी-वार्ता के अनुसार वल्लभ की शिष्यता के पूर्व सूरदास स्वामी कहलाते और शिष्य करते थे । आपने पीछे उन्हें भी वल्लभाचार्य का शिष्य बनवाया । एक महाशय ने लिखा है कि वल्लभी शिष्य होने के पूर्व सूर हरिदास के पट्ट शिष्य विठल विपुल के चेले थे । हरिदासी मत में कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, तथा उसमें वृंदावन की मुख्यता है । इधर वल्लभी संप्रदाय में वह परब्रह्म के अवतार हैं, तथा गोकुल की मुख्यता है । सूर की रचना में इन दोनों मतों के विचार हैं । कुछ विद्वानों ने महाप्रभुवाली शिष्यता का समय सं० १५६७ के निकट तत्कालीन घटनाओं से सिद्ध किया है ।

यहीं गोकुल में रहते-रहते यह महाराज वृंदावस्था को प्राप्त हुए । जब सं० १६४२ में विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारासोली चले गए । पारासोली भगवान् के अखंड रास का स्थान माना जाता है । जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारासोली पहुँचे, और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बातचीत होती रही । उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—
“आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया ?” इस पर इन्होंने उत्तर दिया—
“मैंने सब पद गुरुजी ही के बनाए हैं । क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्ण-चंद्र में कोई भी भेद नहीं है ।” तथापि एक पद भी रचा । वह यों है—

भरोसो हढ़ इन चरनन केरो ;

श्रीवल्लभ - नख-चंद - छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ।

साधन और नहीं या कलि मैं, जासों होत निबेरो ;

‘सूर’ कहा कहि दुविधि आँधरो, बिना मोल को चरो ।

अंत-समय सूरदास कृष्ण - राधिका का एक भजन कहकर ऐसे प्रेम-गद्गद हुए कि इनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया । इस पर गोस्वामीजी ने पूछा—“सूर-दासजी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?” तब इन्होंने निम्न-लिखित भजन पढ़कर शरीर त्याग दिया—

अंजन - नयन रूप - रस-माते ;

अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल - पिँजरा न समाते ।

चलि-चलि जात निकट स्खनन के उलाटि-उलाटि ताटंक फँदाते ;

‘सूरदास’ अंजन - गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते ।

इन महाशय के विषय में कई ग्रंथकारों का कहना है कि यह उद्धव के अवतार थे । सं० १६४२ में ही गोस्वामीजी का भी शरीर-पात हुआ ।

कविता

सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए—सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी (दृष्ट-कूट), नल-दमयंती और व्याहलो । खोज में व्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे हैं, पर हमारे देखने में नहीं आए । सूर-सारावली संदिग्ध है, और साहित्य-लहरी में इनके बहुतेरे पद हैं, किंतु ग्रंथ - रूप में वह भी पीछे बना हुआ समझ पड़ता है ।

साहित्य-लहरी को सूरदास का सं० १६०७।व० में संकलन कहा जाता है । इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गए हैं । इसकी एक छंदोबद्ध टीका भी है, जो सूरदास के नाम से बनी है, परंतु यह निश्चय नहीं होता कि यह टीका सचमुच सूर-कृत है, या नहीं । टीका में प्रत्येक पद के अलंकार, नायिका आदि का वर्णन है, परंतु सूरदास ने रीतिबद्ध कविता नहीं की, वरन् स्वाभाविक रीति से जो वर्णन जहाँ उचित था, लिखा । इस कारण शंका होती है कि यह टीका सूर-कृत नहीं है । सरदार कवि ने अपनी टीका में पहले ११७ पद दिए, फिर ६३ और लिखे । इस प्रकार उनकी प्रति में कुल १८० पद हैं । इन कूटों में नायिका और अलंकार अवश्य निकलते हैं, और श्रुति-कटु दूषण भी नहीं है, परंतु यह दोष है कि बिना टीका की सहायता के इनका अर्थ लगाना कठिन है । इनमें यमकादि खूब आए हैं । यदि कोई धैर्यवान् व्यक्ति इस पुस्तक के अर्थ लगाकर देखे, तो विदित हो कि इसमें सूरदास का कितना परिश्रम है । इसके सब पद उनके हैं भी नहीं ।

सूर-सारावली में सूरसागर की सूची-सी है । इसमें ११०७ पद हैं, परंतु कुल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है, जितना इन महाकवि के अन्य ग्रंथों का । अब यह ग्रंथ संदिग्ध दिखता है ।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है, परंतु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष बहुत छोटे हैं, और उनमें साहित्यिक छटा भी प्रायः वैसी रोचक नहीं है, जैसी दशम के पूर्वार्द्ध में । जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-कांड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरसागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो इन्हें सूर्यवत् कोई भी न माने । तथापि, जैसे रामायण के अन्य कांडों में गोस्वामी-जी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण भलक मिलती है, और पूर्वोक्त दोनो कांड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते हैं, वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है । सूरसागर में श्रीमद्भागवत के आशय पर विवरण है, परंतु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं । प्रथम नव स्कंधों में विविध वार्ताएँ और कथाएँ हैं, तथा दशम में श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं का वर्णन है । एकादशम स्कंध में उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन एवं हंसावतार की कथा है । बारहवें स्कंध में बौद्धावतार, भविष्य कल्कि-अवतार एवं परीक्षित के शरीर-त्याग का वर्णन है । उस समस्त सूरसागर में, जो बाबू राधाकृष्णदास द्वारा प्रकाशित हुआ, ४०१८ पद हैं । सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया, केवल, श्रीकृष्ण ने नंद-गृह में बसकर जो लीला की, उसका और उद्धव-संवाद का कथन विस्तार-पूर्वक है; परंतु इन्हीं दोनो वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते हैं ? सूर ब्रजवासी कृष्ण, विशेषतया राधा-कृष्ण, के भक्त थे । अतः ज्यों ही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्यों ही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा । कहीं-कहीं आपने कार्यों के वर्णनों में बड़ी ही द्रुत गति का आश्रय लिया है । आप ब्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ ५६२) । ब्रजवासीदास ने ब्रजविलास को इसी पुस्तक के सहारे बनाया । इस ग्रंथ के गुणों एवं दोषों का वर्णन सौर कविता की समालोचना में किया जाता है ।

कविता की समालोचना

(१) सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके पद-पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है । प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा हो । सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे । यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो

वह सिवा चोरी के और क्या करेगा ? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है । उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया । तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे ? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो इस विषय पर उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा ! ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक्रल के कोई असली भाव न आवेगा । ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है ।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य-संबंधी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता असली और सजीव होगी । इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी इलास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक हो आओ । असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—“थारी कविता में सुल्यो लग्यो ।”

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है । यह महाराज जाति-भेद, कर्म-भेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव-हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे । इनके मत में, यदि कोई मनुष्य भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो (पृष्ठ ४, संख्या १८) । कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यों न लगाता हो, परंतु यदि शुद्ध भक्ति नहीं है, तो वह अपना समय बृथा नष्ट करता है (पृष्ठ ५, संख्या २८) । यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्त क्योंकर न हो ? जो भक्ति नहीं करता था, उस पर यह अचंभा करते थे (पृष्ठ ३५, संख्या १३) । यह कहते थे—“भगति बिनु वैल बिराने हूँ हौ” (पृष्ठ ३१, संख्या २०३) । भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

तजौ मन, हरि - बिमुखन को संग ;

जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग ।

कहा होत पय-पान कराए, बिष नहिँ तजत भुजंग ;

कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हाए गंग ।

खर को कहा अरगजा - लेपन, मरकट भूषन - अंग ;

गज को कहा न्हाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग ।

पाहन पतित बान नहिँ बेधत, रीतो करत निषंग ;
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग ।

(पृष्ठ ३१, संख्या २०४)

भजन विनु कूकर - सूकर - जैसो ;
जसे घर बिलाव के मूसा, रहत विषय-वस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हें भेद कहु कैसो ?
यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—
सोई बड़ो जु रामहिँ गावै ।

श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
विनु गोपाल द्विज - जनम न भावै ।
होय अटल जगदीस - भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै ।

(पृष्ठ १८, संख्या ११८)

और, शेष देवतों में देव-भाव नहीं रखते थे । यथा—
और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे ।

(पृष्ठ १६, संख्या १०३)

सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए ।
सगुणोपासना करने का कारण आपने इस प्रकार लिखा है—

अविगति गति कछु कहत न आवै ।

ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै ;
मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै ।
रूप - रेख, गुन, जाति, जुगुति विनु निरालंब मन धावै ;
सब विधि अगम विचाराहँ ताते सूर सगुन पद गावै ।

(पृष्ठ १, संख्या २)

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है (पृष्ठ ११, संख्या ६६, पृष्ठ १२, संख्या ७३) । इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होने पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति में भेद था । गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी, परंतु इनकी सखा और सखी-भाव की । यह महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे । इसके अतिरिक्त सखी-भाव भी आपकी रचना में आता है । तुलसीदास जब कभी राम

की नर-लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, यह केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भोंखे प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते हैं कि जी उकता उठता है, और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। यह एक-दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने, जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो-चार स्थानों पर सिकारिशी छंद दिए हैं (पृष्ठ ११६, संख्या १६, पृष्ठ १२६, संख्या ६२), परंतु श्रीकृष्णचंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक्रे-बेमौक्रे नहीं दिखाया है। पृष्ठ ४७२ पर आपने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद भी दिया है। इन्होंने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की प्रेम-पूर्ण निंदा भी की है। यथा—पृष्ठ ६, संख्या ३१, पृष्ठ ७, संख्या ३६, और—

हम विगरी, तुम सबै सुधारी ;

द्विज कानीन हमारे बाबा, कुंडज पिता, जगत में गारी ।
हम सब जग-जाहिर जारज हैं, ताहू पर यक वात विगारी ;
बड़े कष्ट सों ब्याहु भयो है, पतिनी हैं गइ पंच - भतारी ।

तुम जानत राधा है छोटी ।

हमसों सदा दुरावति है यह, वात कहै मुख चांटी-पोटी ;
कवहुँ स्याम सों नेकु न बिछुरति, किए रहति हमसों हठ जोटी ।
नंदनंदन याही के बस हैं, बिबस दोख बेदी छवि चोटी ;
'सूरदास' प्रभु वै अति खोंटे, यह उनहुँ ते अति ही खोटी ।

(पृष्ठ २१६, संख्या ७५)

सखी री, स्याम कहा हितु जानै ?

'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै ।

(पृष्ठ ४७६, संख्या ८४)

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं ।

(१) एक महाशय ने ऐसे अवसर पर हमारी नासमझी दिखलाकर अपनी समझ का परिचय दिया है। आप कहते हैं कि न सूरदास ने कृष्ण को काला-कलूटा, न राधा को खोटी कहा है, वरन् ये प्रेम के उपालंभ-मात्र हैं। उनको समझना चाहिए था कि इतनी सुगम बात जानने की शक्ति हममें भी थी। प्रति-पक्षी को मूर्ख बनाकर अपना मतलब निकालना प्रमाण की कमी-मात्र दिखलाना

हैं। हम भी समझते हैं कि ये वाक्य प्रेम के उपालंभ प्रकट करते हैं, किंतु कहाँ परमेश्वर, और कहाँ पोच मनुष्य ! भक्त लोग बहुधा ईश्वर की बड़ाई करने में भक्ति के नाते अपने को भी उचित से बहुत ऊँचा पद दे डालते हैं। सखा, सखी तथा वात्सल्य भावों की भक्ति इसी प्रकार की है। इतने बड़े ईश्वर से प्रेम के नाते भी खेलवाड़ करने का किसी को अधिकार नहीं। उस खेल को बढ़ाकर भगवान् को काला और कुटिल बनाना हमारी समझ में अद्भुत दूषण तथा भगवान् की निंदा है। जो समालोचक आलोच्य विषय का इतना मोटा विचार भी न समझ सके, उसे कहा ही क्या जाय ?

(२) भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजी के विषय में हमने गोस्वामी तुलसीदास के अवतार-संबंधी वर्णन में कुछ कथन किया है। उस स्थान पर रामचंद्र का मुख्य विवरण था। अब भगवान् श्रीकृष्णचंद्र-संबंधी शेष कथन यहाँ किया जाता है। आप विष्णु के अवतार कहे गए हैं। उन(विष्णु) की महत्ता औपनिषत्काल में नारायण के रूप में हुई। अनंतर वासुदेव, भगवत् और कृष्ण के रूपों में वैष्णव-पूजन चला। छठी (या चौथी) शताब्दी सं० पू० के पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते थे। गीताकार बादरायण व्यास उत्तर मीमांसा में वासुदेव-मत को अवैदिक बतलाकर उसकी समीक्षा करते हैं। इस मत के प्रतिकूल उनकी गीता भी न होगी, किंतु उसमें दूसरी शताब्दी तक के विचार हैं। वर्तमान रूप में गीता में श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तथा वासुदेव एवं भगवान् हैं। यह ग्रंथ प्राचीनतम भागों में पाँचवी शताब्दी सं० पू० का है। चौथी शताब्दी सं० पू० का बौद्ध-ग्रंथ निदेश बलराम के पूजन की साक्षी देकर ब्यूह-पूजन का चलन बतलाता है। तीसरी शताब्दी सं० पू० का ग्रीक-राजदूत मेगास्थनीज़ मथुरा में कृष्ण-पूजन का चलन प्रकट करता है। दूसरी शताब्दी सं० पू० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता बतलाते हैं, तथा इसी समयवाले घोसुंडी और बेसनगर के शिलालेख संकर्षण और वासुदेव का पूजन कहते हैं, और सौ वर्ष पीछे का नानाघाट-वाला शिलालेख भी यही बात लिखता है। पहली शताब्दी के निकट आभीर-जाति मथुरा के निकट बालकृष्ण का पूजन करती थी। इसी समय के घटजातक में बालकृष्ण का वर्णन है, तथा (इसी समय के) अमरकोष में दामोदर नाम आया है, जो बालकृष्ण से संबद्ध है। इस काल के पूर्व बालकृष्ण का पूजन नहीं लिखा है। राधा या प्रेम का कथन अब तक भी नहीं आया है। गुप्तकाल में भागवत, जनार्दन तथा विष्णु-पूजन के प्रमाण मिलते हैं। चौथी और पाँचवी शताब्दी के कालिदास गोपालकृष्ण का कथन करते हैं, और छठी के बराह मिहिर भागवत विष्णु का। शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के समय और बहुत पहले

भी एकांतिक मत का पता चलता है, जिसमें ब्यूह-पूजन का आधिक्य था। उद्योग पर्व में कृष्ण-पार्थ नर-नारायण हैं। बारहवीं शताब्दी में निवार्क स्वामी के साथ राधा-पूजन का चलन चलता है, और पीछे से श्रीकृष्ण का वाम-मत-पूर्ण शृंगारिक वर्णन होता है। छांदोग्य उपनिषद् में कोई देवकी-पुत्र कृष्ण अध्यात्म-विद्या-प्रेमी हैं। स्वामी शंकराचार्य का निराधार मत है कि वह कृष्ण दूसरे थे। शायद उन्हें कोई प्रमाण ज्ञात होगा, जो अब अप्राप्य है।

(३) सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिंदी के प्रेमी परमोत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे, तो भी इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है, जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। पृष्ठ ५८३ में आपने 'महलात' शब्द का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता में मिलित वर्ण बहुत कम आते हैं। माधुर्य और प्रसाद उसके प्रधान गुण हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। इनको अनुप्रास का इष्ट नहीं था, परंतु उचित रीति पर इन गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। प्रायः कहीं यमक आदि के लिये इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गंभीरता से भरे हुए हैं।

सिवा संदिग्ध सूर-सारावली के, समस्त कविता में इन्होंने छंद इतनी शीघ्रता और इस रीति से परिवर्तित किए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता में संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रखे, परंतु जहाँ कहीं वे आए हैं, वहाँ स्तुत्य रीति से। इनके कुछ घनाक्षरी-छंद भी मिले हैं (पृष्ठ ४०४, संख्या ३६ और ३७)। कुछ घनाक्षरी-छंद आपने छ पदों के भी लिखे हैं। सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिए जायेंगे, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(४) उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षादि। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसंद करते थे, और इन्होंने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ-गंभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलवीर (वीरवल) ;

केसव अर्थ-गंभीरता, सूर तीनि गुन धीर।

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए

हैं। संयोग-शृंगार में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रखी है, और वियोग-वर्णन में स्वभावोक्ति की। यथा—

अदभुत एक अनूपम बाग ;

जुगुल कमल पर गजधर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ;
रुचिर कपात बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित - फल लाग ।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग ;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर-नाग ।
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताका करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग ।

वरनौ श्रीवृषभानु-कुमारि ;

चित्त दै सुनहु स्याम-सुंदर-छवि, रति नाही उनहारि ।
प्रथमहि सुभग स्याम-बेनी को सुभमा कहहु विचारि ;
मानहु फनिक रख्यो पावन को ससि-मुख सुधा निहारि ।
वरनै कहा सीस-सेंदुर को, कवि जु रख्यो पवि हारि ;
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर विदारि ।
भृकुटी विकट निकट नैनन के राजति अति वर नारि ;
मनहु मदन जग-जीति जेर करि, राखेउ धनुष उतारि ।
ता विच बनी आइ केसरि की, दीन्हौ सखिन सँवारि ;
मानौ बँधो इंदु - मंडल मैं रूप-सुधा की पारि ।
चपल नैन नासा विच सोभा, अवर सुरंग सुठारि ;
मानौ मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुब्धयो विंच-विचारि ।
तरिवन सुधर, अवर नकबेसरि, विबुध चारु रुविकारि ;
कंठसिरो, दुलरो, तिलरी पर, नहि उपमा कहुँ चारि ।
सुरंग गुलाब-माल कुच-मंडल, निरखत तन-मन वारि ;
मानौ दिशि निरधूम अग्नि के तपि बैठे त्रिपुरारि ।
जौ मेरो कृत मानहु मोहन, करि ल्याऊँ मनुहारि ;
'सूर' रसिक तवहीं पै वदिहौँ, मुरली सकहु सन्धारि ।

(५) नख-शिल्प । पूर्वोक्त दोनो पदों में कवि की नख शिल्प-वर्णन करने का योग्यता भी प्रकट होती है। नख-शिल्प के श्रेष्ठ वर्णन पृष्ठ २८, संख्या १८२, पृष्ठ १८६ और १८७, पृष्ठ २७८, संख्या १० के छंदों में भी हैं, और वे बहुत ही श्लाघ्य तथा सुहावने हैं।

(६) प्रबंध-ध्वनि । गोस्वामी तुलसीदास की भाँति इन महाराज ने भी अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है । इस कथन के उदाहरणार्थ पृष्ठ ६, संख्या ४८ देखिए ।

(७) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं । यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते हैं, उसमें फिर औरों के लिये बहुत कम भाव रह जाते हैं । या तो बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं, या पूर्ण विस्तार के साथ । इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नहीं रखते । इसी कारण रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंहदेवजी ने यथार्थ लिखा है कि—

मतिराम, भूषन, विहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, संभु, तोष, चिंतामनि, कालिदास की ;
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव,
पजन, घनानंदऽरु घनस्यामदास की ।

सुंदर, मुरारि, बोधा, श्रीपति हूँ दयानिधि,
जुगल, कविंद त्यों गोविंद, केसौदास की ;
‘रघुराज’ और कविगन की अनूठी उक्ति

मोहि लगी भूठी जानि जूठी सूरदास की ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदानंदन तथा गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण थे । अतः इन्होंने श्रीकृष्णचंद्र के उन सभी कार्यों को, जिन्हें उन्होंने यशोदा और गोपियों के संबंध में किया, विस्तार के साथ लिखा है ।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाल-लीला का है । जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इस महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार-भर के किसी ग्रंथ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा । माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीभना, चोटी बढ़ने के वहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में भगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जानी इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से कहे गए हैं कि जान पड़ता है, सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है । इसके उदाहरण-स्वरूप किस छंद को हम लिखें ? पूरा वर्णन पढ़ने से ही । इसका स्वाद मिल सकता है । ज्यों ही माता ने कहा—“कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै”, त्यों ही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—“मैया, कबहिँ बढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहिँ दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ।” उदाहरणार्थ एक छंद नीचे लिखा जाता है—

मातु, मोहिँ दाऊ बहुत खिझायो ।

मोसों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कव जायो ?

कहा कहौ, यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिँ जात ;

पुनि - पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ?

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम - सरीर ?

चुटको दै - दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर ।

तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कवहुँ न खीझै ;

मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति अति मन रीझै ।

सुनहु कान्ह, बलभद्र चवाई, जनमत ही को धूत ;

‘सूर-स्याम’ मोहिँ गो-धन की सौँ, हौं माता, तू पूत ।

(ख) बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा हृदय-ग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सचमुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो। यशोदा के पास उलाहना आना, उनका गोपिकाओं के कथन पर प्रतीति न करनी, और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध करने के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना, बड़ी ही स्वाभाविक रीति से कहे गए हैं। बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना, बालक को समझाना और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन चुराया एवं गोपी के लड़के को भी मारा है, उन्हें रस्सी से ऊखल में बाँध देना, ये सब बातें अत्यंत स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं (पृष्ठ १४२, संख्या २५) ।

ऊखल में बाँधने पर जब-जब बालक रोया, तब-तब माता ने इस बात पर बड़ा जोर दिया कि वह चोर था। चोरी पर ऐसे समय में जोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने तथा उसे प्राणों से अधिक चाहने पर भी यशोदा बेजा काम देखकर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठकर कड़ा दंड देती थीं। माखन-चोरी-लीला का भी वर्णन अत्यंत रोचक और स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-दमन, दावानल-पान और चीर-हरण के भी बड़े ही विशद वर्णन हैं। उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते। ये वर्णन देखने ही योग्य हैं। सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार किए हैं। भोज्य वस्तुओं में आप दुग्धाच्य चीजों की बहुतायत रखते हैं। उनमें सघृत एवं मधुर वस्तुओं का प्राधान्य रहता है।

(घ.) इसके पीछे रास-लीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही अच्छे हैं। विशेषकर ३६६ से ४११ पृष्ठ-पर्यंत जो मान एवं मान-मोचन वर्णित हैं, उससे प्रकट होता है कि वाल्मीकि की भाँति यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है, अथवा महाभक्त होने पर भी शृंगार-रस के गूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है? यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस का वर्णन करनेवालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय, परंतु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास, दास आदि की भाँति इन्होंने अपनी रचना में अन्यो की कविताओं से उठा-उठाकर उल्था नहीं रक्खा है, न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता में जहाँ कहीं विस्तृत वर्णन हैं, वहीं वे सच्चे, असली, खास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने शुद्ध पाठकों से ऐसे-ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास;
अब के कवि खद्योत - सम जहँ - तहँ करत प्रकास।
कविता - करता तीनि हैं, तुलसी, केसव, सूर;
कविता - खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।
तत्त्व - तत्त्व सूर कही, तुलसी कही अनूठी;
वची - खुची कविरा कही, और कही सब भूठी।
किधौँ सूर को सर लग्यो, किधौँ सूर की पीर;
किधौँ सूर को पद लग्यो, तन - मन धुनत सरीर।

अंतिम दोहा तानसेन ने बनाकर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

विधना यह जिय जानिकै सेसहि दिए न कान;
धरा, मेरु, सब डोलते तानसेन की तान।

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता में असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है, अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। “विंध्य लगी बाढ़िबो उरोजन को पेखो है” की भाँति के कथन इन सच्चे कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम

श्रीकृष्णचंद्र के संबंध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असंभव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते; क्योंकि वे उस कथा के अंग हैं, जिसे यह महात्मा कहने बैठे हैं। इसी यथार्थ-भाषण की आदत के कारण इन्होंने कई स्थानों पर विस्तार से सुरति का वर्णन किया है, और कहीं-कहीं ऐसी-ऐसी गालियाँ दिलाई गई हैं, जिनको कविता में रखना साधारणी सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी सराहनीय अवश्य हैं।

(ड) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है, परंतु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिखकर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है, और जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का कथन न करके बहुत कम का किया, परंतु जो कुछ कहा, वह परम मनोहर है। अधिक उदाहरण न देकर केवल धीरादि-भेद का एक पद नीचे लिखते हैं—

अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे ;

मानहुँ रति-रस भए रँगभगे, करत केलि पिय पलक न पारे।

मंद-मंद डोलत संकिन-से, राजत मध्य मनोहर तारे ;

मनहुँ कमल-संपुट महुँ बीधे, उड़ि न सकत चंचल अलि-वारे।

कलमलात, रति-रति जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे ;

मानहुँ सकल जगत जीवन को काम-वान खर सान सँवारे।

अटपटात, अलसात, पलक-पुट मूँदत, कबहुँ करत उवारे ;

मनहुँ मुदित मरकत - मन - अंगन खेलत खंजरीट - चटकारे।

वार-वार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे ;

‘सूर’ स्याम सुखदायक रोचन, दुल-मोचन लोचन रतनारे।

कथाओं के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी रचना में काल-विरुद्ध दूषण आ जाता है ; जैसे दावानल में गोवर्द्धन-धारण का, और गोवर्द्धन-धारण में दावानल-पान का। ऐसे स्थानों पर कथा न मानकर साधारण साहित्य का विवरण समझना चाहिए।

(च) इन सब कथाओं के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन खड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने ‘कलम तोड़ दी’, तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह-वर्णन में इन महाकवि ने सचमुच कलम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़कर जान पड़ता है कि सूरदास वियोग-शृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का

वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छंद उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते, क्योंकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग-वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

(छ) उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह पृष्ठ ५०२ से प्रारंभ होकर पृष्ठ ५६२ पर समाप्त होता है, और ये पृष्ठ रॉयल अठपेजी के ढाईगुने होंगे! यह भी आद्योपांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा, जो इसमें न आ गया हो। इसमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है—

ऊधो, मन न भए दस - बीस ;

एक हुतो, सो गयो स्याम-सँग, को अवराधै ईस ।

इंद्री सिथिल भई केसव बिनु ज्यों देही बिनु सीस ;

आसा लगी रहति तनु-स्वासा, जीजै कोटि बरीस ।

तुम तौ सखा स्याम-सुंदर के, सकल जोग के ईस ;

‘सूरदास’ वा रस की महिमा, जो पूँछै जगदीस ।

उद्धव-संवाद में गोपियों ने कहीं-कहीं ज्ञान को व्यर्थ माना है, और कहीं-कहीं अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा। निर्गुणोपासना का खंडन अवतार के सिद्धांत को ठीक मानकर किया गया, जो तार्किक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। सगुणोपासना के उत्तर में उद्धव से जो कथन कराए गए हैं, वे ऐसे निर्जीव हैं, मानो कोई थका हुआ व्यक्ति बोझ उतार रहा हो। निर्गुणोपासना के साथ न्याय नहीं हुआ है। निर्गुण-सगुण का कुछ ब्योरा कबीर के कथन में मिलेगा। अंत में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे। उसके बाद उन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफारिश की।

(ज) अन्य राजों की कथा एवं युद्धादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास में यही अंतर है। गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने खास विषयों का बड़ा ही विशद किया है; किंतु महात्मा सूरदास ने अपने कुछ खास विषयों का वर्णन ऐसा किया है, जैसा कि गोस्वामीजी या संभवतः किसी भाषा का कोई कवि नहीं कर सका, परंतु साधारण विषयों का कथन बहुतेरे कवियों से भी खराब किया है। उनको अच्छे प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं

किया। इसी कारण सूरसागर के इधर-उधर दो-चार पृष्ठ पढ़नेवाले इन्हें साधारण कवि समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके विशद वर्णन संग्रह करके रामायण की इतनी पोथी निकाल ले, तो उसके देखने से सूरदासजी की कविता का पूरा आनंद मिल सके। कुछ दिन हुए, सूर-सुधा-नामक एक ऐसा ही संग्रह हमी ने बनाया है, जिसका प्रथम खंड मनोरंजन-पुस्तकमाला में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इधर 'संक्षिप्त सूरसागर' नाम से अन्य दो संग्रह भी प्रकाशित हो गए हैं।

(भ) इन्होंने स्फुट विषयों का वर्णन भी कहीं-कहीं अच्छा किया है। प्रीति के विषय में इनका मत है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ;
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनी देह दह्यो ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो ;
सारंग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो ।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कबू कह्यो ;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो ।

सत्संग पर सूरदास को बड़ी श्रद्धा थी। इस बात में भी तुलसीदास से इनका मत मिलता है। यथा—

जा दिन संत पाहुने आवत ;
तीरथ-कोटि अन्हान करै फल, जैसो दरसन पावत ।
नेह नयो दिन-दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत ;
मन-बच-क्रम औरन नहिँ जानत, सुमिरत औ सुमिरावत ।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै, विमलि-विमलि जस गावत ;
बंधन करम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत ।

इस छंद से सूरदास के रहन-सहन का भी पता लगता है।

इन महाशय ने पाँच पृष्ठों तक केवल मुरली का वर्णन किया है। उसमें बड़े ही बढ़िया पद लिखे हैं। जब श्याम का इतना वर्णन है, तब फिर मुरली ही क्यों रह जाय ? यह इन्हीं का काम था कि मुरली-जैसे विषय पर करीब चालीस पद लिख गए।

इन महाकवि ने पृष्ठ ३१६ से करीब १८ पृष्ठों में केवल नेत्रों का वर्णन किया है। ऐसे-ऐसे छोटे विषयों पर इतनी बड़ी एवं बढ़िया कविता रच डालना साधारण कवि का काम नहीं है। इस वर्णन में भी अच्छे पद बहुत हैं। उदाहरण लीजिए—

नैना नाहीं फळू बिचारत ;

सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत ।

अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित तोष अति आरत ;

तमकि-तमकि तरकत मृगपति उयों, घूँघट पटहि बिदारत ।

(ज) सूरदास ने कई जगह पर पदों में कथाएँ कहकर फिर उनको साधारण छंदों में सूक्ष्म रूप से दुहराया है । इन सबमें कालिय-दमन की दुबारा कथा श्लाघ्य है, परंतु उसमें भी यह दोष है कि कृष्ण और नागिन की बातचीत में कृष्ण ने उसको बहुत फटकारा है । कृष्ण उस समय बालक थे । शायद यही विचारकर सूर ने उनसे ऐसा कहलाया हो ।

(ङ) सूर ने जगह-जगह पर कूट लिखे हैं । उनमें अलंकार, रसांग आदि भी आए हैं । उदाहरण-स्वरूप सरदार-कृत सूर-दृष्ट-कूट (मुंशी नवलकिशोर के यहाँ मुद्रित हुई प्रति) के पृष्ठ ६४ पर लिखित एक कूट हम यहाँ लिखते हैं (उसका अर्थ भी उसी पृष्ठ पर सरदार ने लिखा है ।)—

जनि हठि करहु सारँग-नैनी ;

सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग-वैनी ।

सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँग सुत दृढ़ निरखनि पैनी ;

सारँग कहाँ सु कान बिचारो, सारँगपति सारँग रचि सैनी ।

सारँग सदनहि लै जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी ;

‘सूरदास’ प्रभु तव मग जोवै, अंधकरिपु ता रिपु सुख-दैनी ।

(६) इन्होंने लोगों का चरित्र भी अच्छा दिखलाया है । यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था, तथापि वह उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं । ऐसी उदार-हृदया भी थीं कि रोहिणी-पुत्र बलदेव को अपने पुत्र से भी अधिक मानती थीं । यथा—

हलधर कहत प्रीति जसुमति की ।

एक दिवस हरि खेलत मांसों, भगरो कीन्हों पेलि ;

मांसों दौरि गांढ करि लान्हों, इनहिँ दियो कर ठेलि ।

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी से जो संदेश कहला भेजा है, वह विशेष रूप से देखने योग्य है—

सँदसो देवकी सों कहियो ;

हौं तो धाय तिहारे-सुत की, मया करत नित रहियो ।

जदापि टैंव तुम जानत उनकी, तरु मोहिँ कहि आवैं ;

प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन-रोटी भावैं ।

तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भगि जाते ;
जोइ-जोइ माँगत, सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते ।
'सूर' पथिक सुनि मोहिँ रैन-दिन बढ़ो रहत उर सोच ;
मेरो अलख - लड़ैतो मोहन, ह्वै :है करत सकोच ।

यशोदा के शील-गुण में केवल यह बात अनुचित जान पड़ती है कि उन्होंने नंद से बार-बार कहा—“दशरथ तुमसे अच्छे थे, क्योंकि तुम पुत्र को मथुरा में छोड़कर जीते-जागते घर चले आए ?” इन्होंने शायद अपनी यथार्थ-भाषण की टेंब से ऐसा कहला दिया हो ।

कुब्जा का चरित्र भी नौ बड़ियों की भाँति खूब ही दिखाया गया है । वह समझती थी कि गोपी ग्रामीण थी, अतः श्याम को अपने वश में न रख सकी, परंतु वह खुद नागरी थी, सो उसने उन्हें लुभा लिया । उस दासी ने केवल यह सोचा ही नहीं, गोपियों से उद्धव द्वारा कहला भी भेजा (पृष्ठ ५०४-५०५) ।

(१०) यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि इन्होंने गोपियों के मुख से काले रंग की खूब निंदा कराई है, और अंत-पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफारिशी छंद नहीं लिखा । वे कहती थीं—

सखी री, श्याम सवें इकसार ;
मीठे वचन सोहाए वोलात, अंतर - जारनहार ।



• भँवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार ।

सखी री, श्याम कहा हिलु जानै ?

कोरु प्रीति करौ कैसे हू, वह अपने गुन ठानै ।

देखौ या जलधर की करनी, वरषत पोषै आनै ;

‘सूरदास’ सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै ।

ऊधौ, कारे सबहि बुरे ।

इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, बिना अपनी सम्मति प्रकट किए न रहा जाता । अँगरेज़ी में ऐसे कवियों को सर्वव्यापक-दृष्टि के कवि (Poets of general vision) कहते हैं । सूरदास इसी प्रकार के कवि थे । भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं । इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से खाली नहीं है । सूरदास की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों

में है। हम लोगों का अब यह मत है कि हिंदी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं।
उन्हीं के पीछे सूरदास का नंबर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास
हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिंदी के प्राचीन सत्कवि हैं,
और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वांग-सुंदर होते हैं।

गोस्वामी सूरदास के विषय में हम थोड़े में अपना मत प्रकट कर चुके हैं।
कुछ उदाहरण भी आगे लिखे जाते हैं। इनके तीन संग्रह ग्रंथ निकल चुके हैं।
इसलिये यद्यपि यहाँ उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता न थी, तो भी साम्य
के विचार से यहाँ भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। ये सूर-सुधा के छंदों से भिन्न
हैं। जो महाशय प्रचुर उदाहरण देखना चाहें, वे हमारी सूर-सुधा देखने का
कष्ट उठावें।

उदाहरण—

नीवी ललित गही हरि राई।

जबहिँ सरोज धरो श्रीफल पर तव जसुमति गइ आई ;
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो ढीठ, देति नहिँ माता, राखो गेंद चुराई ;
काहे को भकभोरत नोखे, चलहु न, देउँ बताई।
देखि विनोद बाल-सुत को, तव महरि चली मुसुकाई ;
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई ॥ १ ॥
मोहन कर ते दोहनि लीनी, गोपद बछरा जोरे ;
हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर-छीटि छल-छोरे।
आनन रही ललित पय-छींटे, छाजति छवि तन-तोरे ;
मनहुँ निकसि निकलंक कलानिधि दुग्ध-सिंधु के वोरे।
दै घूँघुट-पट ओट नील ँसि, कुँआरि मुदित मुख मोरे ;
मनहुँ सरद-ससि को मिलि दामिनि घेरि लियो घन घोरे।
यहि विधि रहसत, बिलसत दंपति, हेत हिए नहिँ थोरे ;
'सूर' उमँगि आनंद - सुधानिधि, मनो बिलावल फोरे ॥ २ ॥

डसी री माई स्याम-भुअंगम कारे ;

मोहन मुख मुसुकानि मनहुँ बिष, जाति मरे सो मारे।
फुरै न मंत्र, जंत्र गति नाहीं, चले गुनी गुन - डारे ;
प्रेम - प्रीति - बिष हिरदै लागी, डारत है तनु जारे।
निर्विष होत नहीं कैसेहु करि, बहुत गुनी पचि हारे ;
'सूर' स्याम गारुड़ी। बिना को मो सिर गाड़ू टारे ? ॥ ३ ॥

अबहीं देखे नवलकिसोर ;

घर आवत ही तनक भए हैं, ऐसे तन के चोर ।
कछु दिन करि हरि माखन-चोरी, अब चोरत मन मोर ;
विवस भई, तनु-सुधि न सँभारति, कहत बात भई मोर ।
यह बानी कहत ही लजानी, समुझि भई जिय ओर ;
'सूर' स्याम मुख निरखि चली घर आनँद लोचन लोर ॥ ४ ॥

सखियन बीच नागरी आवै ;

छवि निरखत रीझै नँद - नंदन, प्यारी मनहि रिझावै ।
कवहुँक आगे, कवहुँक पाछे, नाना भाव बतावै ;
राधा यह अनुमान कियो, हरि मेरे चितहि चोरावै ।
आगे जाइ, कनक - लकुटी लै, पंथ सँवारि बतावै ;
निरखत, छाँह जहाँ प्यारी की तहँ लै छाँह छुवावै ।
छवि निरखत तनु वारत अपनो, नागरि जियहि जनावै ;
अपने सिर पीतांबर वारत, ऐसे रुचि उपजावै ।
ओढ़ि ओढ़नियाँ चलत दिखावत, यहि मिस निकटहि आवै ;
'सूर' स्याम ऐसे भावनि सों राधा मनहि रिझावै ॥ ५ ॥

बिनती सुनहु देव मधवापति ;

कितक बात गोकुल ब्रजबासी, वार-वार रिस करत जाहि अति ।
आपुन बैठि देखियो कौतुक, बहुतै आयसु दीनो ;
छिन में वरषि प्रलय - जल पाटौं, खोजु रहै नहिँ चीनो ।
महाप्रलय हमरे जल वरषै, गगन रहै भरि छाई ;
अछै - विरछ - बट वचतु निरंतर, कह ब्रज, गोकुल गाइ ।
चले मेघ माथे कर धरिकै, मन में क्रोध बढ़ाई ;
उमड़त चले इंद्र के पायक, 'सूर' गगन रहे छाई ॥ ६ ॥

धरनि-धर क्यों राख्यो दिन सात ?

अति ही कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जमुमति मात ।
ऊँचो अति विस्तार, भार बहु, यह कहि-कहि पछितात ;
वह अगाध, तेरे तनक-तनक कर, कैसे राख्यो तात ?
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसे बल भ्रात ;
'सूर' स्याम को कितिक बात यह, जननी जोरति नात ॥ ७ ॥

मात-पिता इनके नहिँ कोई ;

आपुहि करता, आपुहि हरता, त्रिभुवन रहंत है जोई ।

कितिक बार अवतार लियौ ब्रज, ये हैं ऐसे वोई ;
जल-थल, कीट - ब्रह्म के व्यापक, और न इन सरि होई ।
बसुधा - भार उतारन कारन आपु रहत तनु गोई ;
'सूर' स्याम माता - हितकारी, भोजन माँगत रोई ॥ ८ ॥

नंद-सुअन यह बात कहावत ;
आपुन जोवन-दान लेत हैं, तापर जोइ-सोइ सखनि कहावत ।
वै दिन भूलि गए हरि, तुमको, चोरी माखन खाते ?
खीभत ही भरि नयन लेत है, डर डरात भजि जाते ।
जसुमति जब ऊखल सों बाँधति, हम ही छोरत जाइ ;
'सूर' स्याम, अब बड़े भए हौ, जोवन-दान सुहाइ ॥ ९ ॥

लरिकाई की बात चलावति ;
कैसी भई, कहा हम जानैं, नेकहु सुधि नहिँ आवति ।
कव माखन चोरी करि खायो, कव बाँधे धौँ मैया ?
भले - बुरे को मात - पिता तन हरषत ही दिन जैया ।
अपनी बात खवरि करि देखहु, न्हात जमुन के तीर ;
'सूर' स्याम तव कहत सबनि के कदम चढ़ाए चीर ॥ १० ॥
सबै रहीं जल माँझ उधारी ;

बार-बार हा-हा करि थाकीं, मैं तट लिए हँकारी ।
आई निकसि बसन विनु तरुनी, बहुत करी मनुहारी ;
कैसे हास भए तव सबके, सो तुम सुरति विसारी ।
हमहिँ कहति दधि - दूध चुराए, अरु बाँधे महतारी ;
'सूर' स्याम के भेद-वचन सुनि हँसि सकुचीं ब्रज-नारी ॥ ११ ॥
गन गंधर्व देखि सिहात ;

धन्य ब्रज - ललनानि कर ते ब्रह्म माखन खात ।
नहीं रेख, न रूप, नहिँ तन, बरन नहिँ अनुहारि ;
मात - पितु दोऊ न जाके, हरत, मरत न जाति ।
आपु करता, आपु हरता, आपु त्रिभुवन - नाथ ;
आपु ही सब घटन व्यापी, निगम गावत गाथ ।
अंग प्रति - प्रति - रोम जाके कोटि - सत ब्रह्मंड ;
कीट ब्रह्म प्रयंत जल - थल, इनहि ते यह मंड ।
विश्व विश्वंभरन एई, ग्वाल - संग विलास ;
सोई प्रभु दधि - दान माँगत, धन्य 'सूरजदास' ॥ १२ ॥

तैं मेरे हित कहत सही री ;

यह मोको सुधि भली दिवाई, तन बिसरे मैं बहुत बही री ।
जब ते दान लियो हरि हमसों, हँसि-हँसिकै कछु बात कही री ;
काके घर, काके पितु-माता, काके तन की सुरति रही री ?
अब समुझति कछु तेरी बानी, आई हौं लइ दही-मही री ;
सुनहु 'सूर' प्रातहि ते आई, यह कहि-कहि जिय लाज गही री ॥ १३ ॥

तऊ न गोरस छाँड़ि दयो ;

चहुँ फल भवन गह्यो सारंग-रिपु, वाजि धरा अथयो ।
अमी-बचन रुचि रचत कपट हठि, भगरो फेरि ठयो ;
कुमुदिनि प्रफुलित हौं जिय सकुची, लै मृग चंद जयो ।
जानि निसा ससि रूप विलोकत नवल किसोर भयो ;
तब ते 'सूर' नेक नहिँ छूटत, मन अपनाइ लयो ॥ १४ ॥

तुमसों कहा कहाँ सुंदरघन ;

या ब्रज मैं उपहास चलत है, सुनि-सुनि खवन रहति मन-ही मन ।
जा दिन सबनि वछरु-नोई करि, मो दुहि दई धेनु बंसी-वन ;
तुम गहि बाँह सुभाइ आपने, हौं चितई हँसि नेकु बदन तन ।
ता दिन ते घर-भारग जित-तित, करत चवाउ सकल गोपी जन ;
'सूर' स्याम सों साँचु सारिहौं, यह पतिवरत सुनहु नंद-नंदन ॥ १५ ॥

इह न होइ हरि माखन-चोरी ;

तब वह मुख पहिँ चानि, मानि मुख, देती जान हानि हुति थोरी ।
उन्हिँ दिननि सुकुआर हुते हरि, हौं जानत अपनो मन भोरी ;
ब्रज बसि बास बड़े के ढोटा, गोरस - कारन कानि न तोरी ।
अब भए कुसल किसोर नंद-सुत, हौं भइ सजग समान किसोरी ;
जात कहाँ बलि बाँह छुड़ाए, मूसे मन संपति सब मोरी ।
नख-सिख लौं चितचोर सकल अँग, चीन्हे पर कत करत मरोरी ?
यक सुनि 'सूर' हरयो मेरो सरबस, अरु उलटी डोलों सँग डोरी ॥ १६ ॥

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे ;

बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मैं तुमको नीके करि चीन्हे ।
माखन-चोरी करत रहे तुम, अब तो भए मन - चोर ;
सुनत रही, मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियो मन मोर ।
ऐसे ढीठ भए तुम डोलत, निदरे ब्रज की नारि ;
'सूर' स्याम मोहू निदरौगे, देत प्रेम की गारि ॥ १७ ॥

मन-ही-मन रीभति है राधा, बार-बार पिय-रूप निहार ;
 निरखि भाल बेंदी सेंदुर की, वा छवि पर तन, मन, धन वारै ।
 यह मन कहति, सखी जनि देखै, ब्रूभै पर कह कै हौं ?
 तिहुँ भुवन सोभा, सुख की निधि, कैसे उनहि दुरैहौं ।
 पग जेहरि, बिछियन की भ्रमकनि, चलत परस्पर बाजत ;
 'सूर' स्याम-स्यामा सुख जोरी, मनि - कंचन - छवि लाजत ॥१८॥

यह वृषभानु-सुता, वह को है ?
 याकी सरि जुवती कोउ नाहीं, यह त्रिभुवन-मन मोहै ।
 अति आतुर देखन को आवति, निकट जाय पहचानो ;
 ब्रज में रहति किधौं कहूँ औरै, ब्रूभै ते तब जानो ।
 यह मोहिनी कहाँ ते आई, परम सलोनी नारि ?
 'सूर' स्याम देखत मुसुकानी, करी चतुरई भारि ॥१९॥

इनते निधरक और न कोई ;
 कैसी बुद्धि रची है नोखी, देखी - सुनी न होई ।
 यहि राधा सों हाथ विधाता, बुद्धि चतुरई, आनी ;
 कैसे स्याम चुराई चली लै, अपने भूषन ठानी ।
 और कहा इनको पड़िचानै, मोपै लखे न जात ;
 'सूर' स्याम चंद्रावलि जाने, मन - ही - मन मुसुकात ॥२०॥

हरि परदेस बहुत दिन लाए ;
 कारी घटा देखि वादर की नैन नीर भरि आए ।
 वीर बटाऊ पंथी हो तुम, कौन देस ते आए ?
 यह पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाए ।
 दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए ;
 'सूरदास' गोकुल ते बिछुरे, आपुन भए पराए ॥२१॥

किते दिन हरि-दरसन बिन बीते ;
 एकौ फुरत न स्यामसुंदर बिन, विरह सबै सुख जीते ।
 मदनगोपाल बैठि कंचन-रथ, चितइ किए तनु रीते ;
 सुफलक-सुत लै गए दगा दै, प्रानन ही के प्रीते ।
 बहुरि कृपालु घोष कब आवहि, मोहन राम समीते ?
 'सूरदास' प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते ॥२२॥

जनि चालहि अलि, वात पारि ;
 नहिँ कोउ सुनै, न समुझल ब्रज में, नइ कीरति सब जात हिराई ।

जाने समाचार, सुख पाए, मिलि कुल की आरति बिसराई ;
भले ठौर बसि भली भई मति, भले ठौर पहिँ चान कराई ।
मीठी कथा कटुक - सी लागति, उपजत है उपदेस खटाई ;
उलटे न्याउ 'सूर' के के बहे जात माँगत उतराई ॥ २३ ॥

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए ;
समुझी बात कहत मधुकर सों, समाचार सब पाए ।
पहिले ही अति चतुर हुते, अरु गुरु सब ग्रंथ दिखाए ;
वाढ़ी बुद्धि, कहत जुवतिन को, जोग-सँदेस पठाए ।
आगे हूँ के लोग भले हो, पर-हित डोलत धाए ;
अब अपने मन फेरि पाइहैं, चलत जो होहिँ पराए ।
ते क्यों नीति करै आपुन, जिन औरन अपथ छुड़ाए ?
राज-धर्म सुनि है 'सूर' जिहि, प्रजा न जाहिँ सताए ॥ २४ ॥

ऊधो, हरि यह कहा बिचारी ?
सदा समीप रहत वृंदावन, करत बिहार बिहारी ।
एक तौ रंग रचे कुविजा के, बिसरि गए सब नारी ;
कछु इक मंत्र कियो उन दासी, तेहि विनोद अधिकारी ।
दिन दस और रहौ तुम इतहीं, देखौ दसा विचारी ;
प्राण रहत हैं आसा लागे, कब आवैं गिरधारी ।
तुम तौ कहत जोग है नीको, कहो, कौन बिधि कीजै ?
हम तन ध्यान नंद-नंदन को निरखि-निरखि सो जीजै ॥ २५ ॥

सुंदर स्याम-कंठ बैजंती, साथे मुकुट विराजै ;
कमल - नैन, मकराकृति कुंडल, देखत ही भव भाजै ।
याते जोग न आवै मन में, तू नीके करि राखि ;
'सूरदास' स्वामी के आगे निगम पुकारत साखि ॥ २६ ॥

ऊधो, मनमाने की बात ;
दाख-छोहारा छाँड़ि अमिय-फल बिष-कीरा बिष खात ।
जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात ;
मधुप करत घर फोरि काठ में, बँधत कमल के पात ।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात ;
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात ॥ २७ ॥

महाकवि देवदत्त (देव)

देवदत्त, उपनाम 'देव', का जन्म सं० १७३० वि० में हुआ। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ भावविलास के अंत में, निम्न-लिखित दोहे में, अपना समय कहा है—

सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष ;

कढ़ी देव - मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष ।

देवजी ने अपने ग्रंथों में सन्-संवत् का ब्योरा बहुत कम दिया है, और अपने विषय में तो प्रायः कुछ भी नहीं कहा। इन कारणों से इनके विषय में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। इन्होंने कहा है—

घोसरिया कवि देव को नगर इटायो बास ।

इससे विदित होता है कि देवजी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण एवं इटावा नगर के रहनेवाले थे। इटावे में हमने पूछ-जाँच की, तो विदित हुआ कि यह घोसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, और पंसारी टोला, बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे। इनके वंशधर इटावे से प्रायः ३२ मील पर, मौज़ा कुसमरा (मैनपुरी) में, अब तक मौजूद हैं। इन्हीं लोगों के द्वारा देवजी का वंश-वृत्त एवं इनके वंशज भोगीलाल का बनाया 'बखतेश-विलास' ग्रंथ मिला है। उक्त ग्रंथ में जो कवि-वंश दिया है, वह इस प्रकार है—

कास्यप गोत्र द्विर्बोद कुल कान्यकुब्ज कमनीय ;

देवदत्त कवि जगत मैं भए देव रमनीय ॥ १ ॥

जिनको श्रीनवरंग सुत आजमसाहि सुजान ;

जाहिर करो जहान मैं मान - सहित सनमान ॥ २ ॥

तिनके पुरुषोत्तम भए सकल सुमति के ईस ;

निपुन जु जुक्ति सुउक्ति मैं उद्यत उक्ति फनीस ॥ ३ ॥

तिनके सोभाराम सुत कविबर भए विनीत ;

सीता श्रीरघुनाथ के चरचे चरन पुनीत ॥ ४ ॥

तिनके भोगीलाल सुत बरनत बखत - बिलास ; (प्रपौत्र)

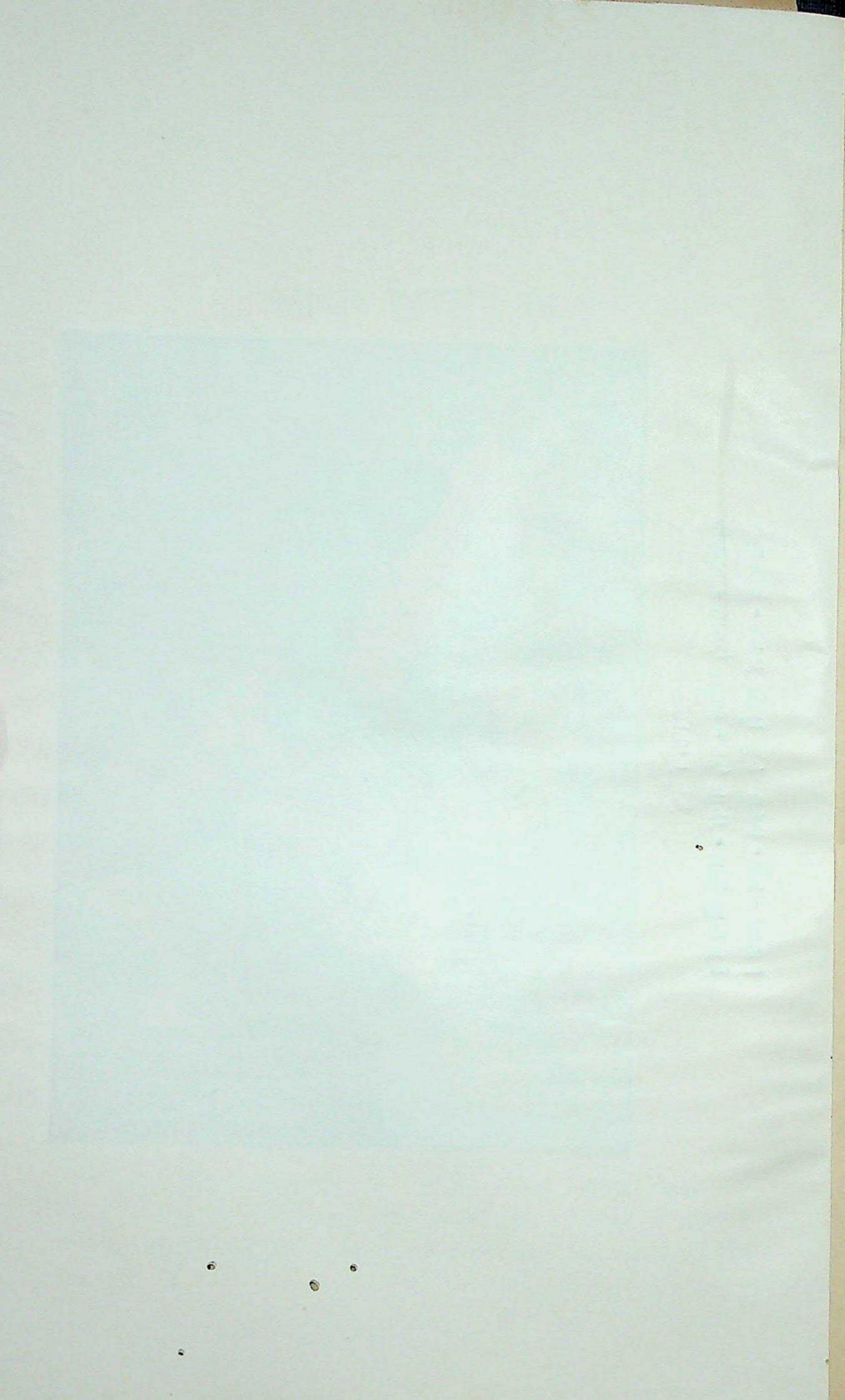
यह बखत-विलास खद भोगीलाल का लिखा हुआ सं० १८५७ का हमने

हिंदी-नवरत्न

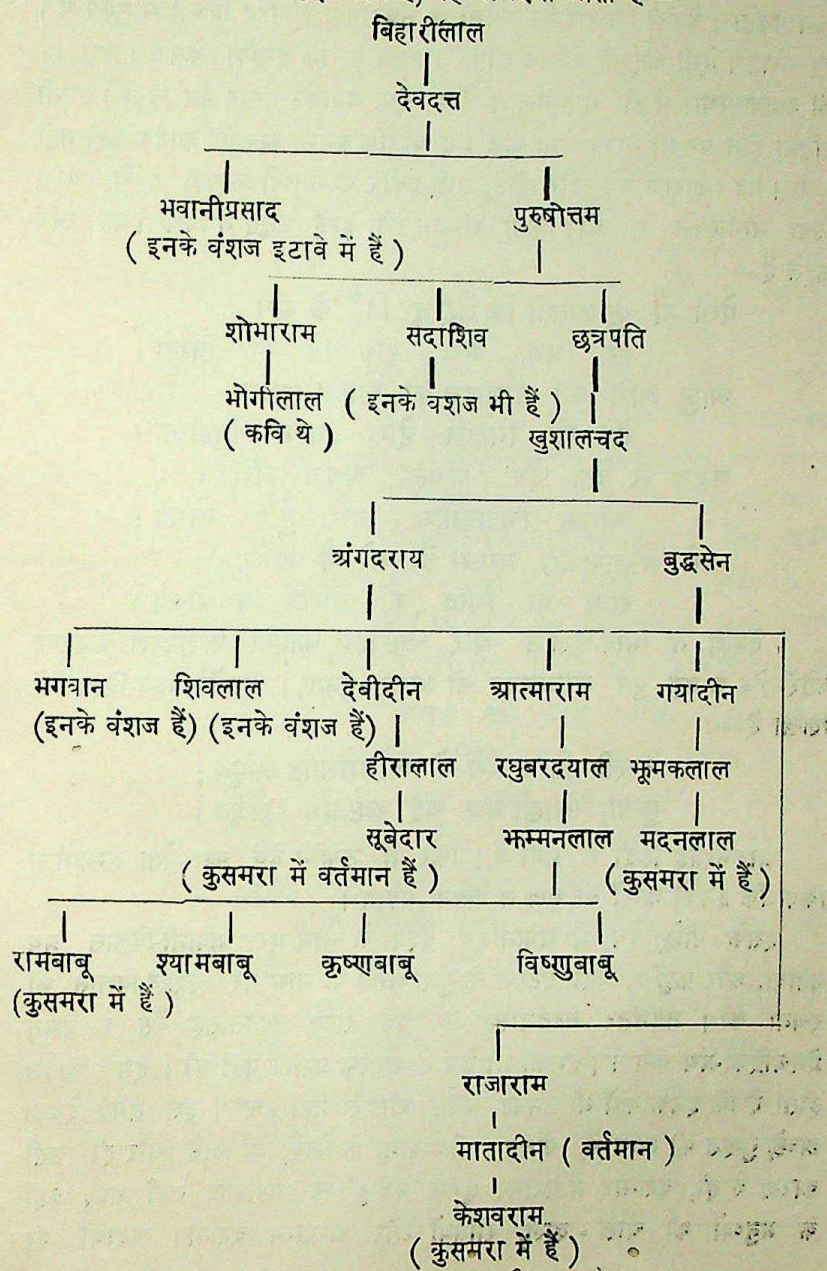


महाकवि देव

अनुभव - सागर, रसिक - वर, भाषा - भानु विसाल ;
करत छंद - रचना लखौ देव सकल - गुन - आल ।



देखा है। यह प्रति कुसमरा में पं० मातादीन मास्टर के पास प्रस्तुत है। देव के वंशजों द्वारा जो और वंश-वृत्त मिला है, वह भी दिया जाता है—



शिवसिंहसरोज में इनका निवास-स्थान समाने-गाँव में माना गया है। यह ग्राम जिला मैनपुरी में है। यह कथन उपर्युक्त प्रमाणों के आगे माननीय नहीं जान पड़ता। देवजी हितहरिवंश स्वामी के संप्रदायवाले बारह शिष्यों में मुख्य थे। यह महाशय ऐसी अद्भुत कवित्व-शक्ति से संपन्न थे कि इन्होंने केवल सोलह वर्ष की बाल्यावस्था में ही भावविलास-जैसा ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। इतनी प्रतिभा होने पर भी भाग्य ऐसा कुछ मंद था कि इनका अच्छा आदर कहीं नहीं हुआ। यह महाराज बड़े और छोटे, सभी प्रकार के मनुष्यों के यहाँ पहुँचे, परंतु सिवा भोगीलाल के और किसी श्रीमान् ने इन्हें संतुष्ट न किया। यह स्वयं कहते हैं—

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
 एरे मन मेरे, हाथ-पाँय तेरे तारतो;
 आजु लागि कत नरनाहन की 'नाहीं' सुनि,
 नेह सों निहारि हेरि, वदन निहोरतो।
 चलन न देतो 'देव' चंचल, अचल करि,
 चावुक - चितावनीन मारि मुँह मोरतो;
 भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे मैं बाँधि,
 राधा - वर - विरद के वारिधि में बोरतो।

देवजी ने 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' बनाकर पहलेपहल बादशाह औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को जाकर सुनाए। इन्होंने भाव-विलास में लिखा है—

दिल्ली-पति नवरंग के आजमसाहि सपूत;
 सुन्यो, सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम - संजूत।

आजमशाह हिंदी के प्रेमी थे। फिर भी उन्होंने देव का ऐसा सम्मान न किया कि इनको औरों का मुख न देखना पड़ता।

इसके पीछे देव ने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी-विलास' ग्रंथ बनाया, और फफूँद, जिला इटावा के कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास' की रचना की। तदनंतर मरदनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह वैस के वास्ते प्रेमचंद्रिका-ग्रंथ बनाया। इनकी भी देव ने अधिक प्रशंसा नहीं की। इससे विदित होता है कि इनके यहाँ भी उनका यथेष्ट आदर नहीं हुआ। इस समय देवजी अच्छे गुणश की खोज में, अथवा तीर्थ-यात्रा के लिये, या चाहे और ही किसी कारण से हो, देश-भर में बराबर घूमते रहे। यह महाराज जहाँ गए, वहाँ के मनुष्यों की चाल - ढाल, रीतियों और अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों पर

पूरा ध्यान देते रहे। जान पड़ता है, इन्होंने काश्मीर, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, मदरास, बंबई, गुजरात, राजपूताना, वरार आदि सब देशों को घूम-घूमकर देखा। इन महाकवि ने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अपूर्व ज्ञान को बूझा नहीं खोया, वरन् अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया है। 'जाति-विलास'-नामक ग्रंथ रचकर इन्होंने सब देशों की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। नायिकाओं के देश-भेद में इन देशों की स्त्रियों का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, अमीर, वरार, कोकनद, केरल (इसमें अब मलाबार, कोचीन और ट्रावनकोर भी शामिल हैं), द्रविड़ (तंजोर), तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर और सौवीर। इन महाकवि ने इन सब देशों की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है कि जान पड़ता है, यह वहाँ गए अवश्य थे। इस समय इनका कोई भी आश्रयदाता न था, यहाँ तक कि इन्होंने 'जाति-विलास' किसी को भी समर्पित नहीं किया।

इस प्रकार घूमते-घामते देव को एक गुणज्ञ भी मिल ही गया। वह राजा भोगीलाल थे। जैसा बढ़िया वर्णन आपने इनका किया है, वैसा किसी भी अन्य आश्रयदाता का नहीं किया। इन्होंने, सं० १७८३ में, इन्हीं के वास्ते 'रस-विलास'-नामक ग्रंथ बनाया। इन गुणज्ञ को पाकर देव ने अपने पुराने आश्रय-दाताओं को केवल भुला ही नहीं दिया, प्रत्युत छोड़ भी दिया। वह लिखते हैं—

पावस - धन चातक तजै चाहि स्वांति - जल - बिंदु ;
कुमुद मुदित नहिँ मुदित - मन, जौ लौँ उदित न इंदु ।
देव सुकवि ताते तजे राइ, रान, सुलतान ;
रस - विलास सुनि रीझिहँ भोगीलाल सुजान ।
भूलि गयो भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दोदे हैं ;
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने, उन
माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं ।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकवि,
चलेई आवैं दसहूँ दिसान के उनीदे हैं ;
भोगीलाल भूप लाख - पाखर लिवैया, जिन
लाखन खरच - रचि आखर खरीदे हैं ।

इन छंदों से जान पड़ता है कि भोगीलाल बड़े गुणज्ञ थे, उनके यहाँ बहुत-से कवि आते थे, और उन्होंने देव को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया था। परंतु देव

का भाग्य ऐसा कहाँ था कि वह इनको कल से एक स्थान पर बैठने देता ? जान पड़ता है, या तो भोगीलाल का शरीर-पात हो गया या देवजी से उनसे कुछ अनबन हो गई। जिस समय इन्होंने अपना प्रधान ग्रंथ 'शब्द-रसायन' बनाया, उस समय इनका कोई भी आश्रयदाता न था। अतः इन्होंने शब्द-रसायन भी किसी को नहीं अर्पित किया। इसके पीछे देवजी ने अपनी समस्त कविता का संग्रह-स्वरूप 'सुखसागर-तरंग-संग्रह'-नामक ग्रंथ बनाया, और उसे पिहानी के अकबरअलीख़ाँ को समर्पित किया। अकबरअली का समय सं० १८२४ है। इससे देवजी का ६४ वर्ष जीना सिद्ध होता है। देव ने 'भाव-विलास' और 'रस-विलास' के सिवा और किसी ग्रंथ में सन्-संवत् का ब्यौरा नहीं दिया है। शेष ग्रंथों का समय उनकी कविता की प्रौढ़ता एवं अन्य गुणों से यहाँ क्रम-वद्ध किया गया है। देव के स्वर्ग-वास का क्या समय था, इस बात का अभी ठीक पता नहीं लगा। कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रंथ बनाए, और कोई इन्हें ५२ ग्रंथों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रंथ बनाए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह महाशय नए ग्रंथों में भी प्रायः वही छंद इधर-उधर उलट-पलट कर रख देते थे। 'जाति-विलास' और 'रस-विलास' में बहुत ही कम अंतर है। इनका चाहे जो ग्रंथ उठा लीजिए, और देखिए, तो ज्ञात होगा कि इनके कुछ सर्वश्रेष्ठ छंद प्रायः सभी ग्रंथों में हैं। इन बातों से विदित होता है कि नया ग्रंथ बनाने में इन्हें बहुत समय नहीं लगता था। आपने 'नीतिशतक' और 'वैराग्य-शतक' भी बनाए हैं। जान पड़ता है, जब ५३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'रस-विलास' समाप्त किया, तब 'शब्द-रसायन' और 'सुखसागर-तरंग' आदि बनाने का विचार उठा। फिर सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग 'वैराग्यशतक' बनाया होगा। समझ पड़ता है, इन्होंने रामचरित्र पर भी कोई ग्रंथ अवश्य लिखा होगा, क्योंकि इस विषय पर इनके बहुत-से छंद मिलते हैं। इन अपूर्व ग्रंथों की रचना करके पूर्णायु भोगने के पश्चात् और संसार के माया-जाल से विरक्त होने के पीछे सं० १८२४ के बाद इस महाकवि का देहावसान होना सिद्ध है।

हमने देव के चौदह ग्रंथ देखे हैं। उन्हीं की समालोचना भी नीचे लिखते हैं। शोक का विषय है कि जहाँ तक हमें ज्ञात है, आपके केवल ये ही ग्रंथ मुद्रित हुए हैं—'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी-विलास', 'रस-विलास', 'शब्द-रसायन' और 'सुखसागर-तरंग'। हमने 'सुजान-चरित्र', 'राग-रत्नाकर' और 'प्रेम-चंद्रिका'-नामक इनके ग्रंथ भी देव-ग्रंथावली में छपवाए। 'देवशतक' जयपुर से प्रकाशित हो गया है, जिसमें जगदर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और

प्रेमपचीसी हैं। इनके अतिरिक्त भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संगृहीत सुंदरी-सिंदूर-नामक (देव के काव्य का) एक संग्रह भी छापा गया है। इनका संस्कृत में नायिका-भेद का एक छोटा-सा ग्रंथ छपा हुआ नागरी-प्रचारिणी सभा में रखा है। इसका देव-कृत होना संदिग्ध कहा जाता है। एक शिवाष्टक हाल में 'माधुरी' में छपा है। सं० १९६२ में इनकी रचना का संग्रह देव-सुधा के नाम से हमने छपवाया, जिसमें २७१ छंद हैं।

(१) भाव-विलास। यह देव का प्रथम ग्रंथ है। इन्होंने इसे केवल सोलह वर्ष की अवस्था में बनाया, परंतु इनकी प्रौढ़ कविता में जो गुण देख पड़ते हैं, वे सब इस बाल्य-कविता में भी पाए जाते हैं। रस-विलास तिरपन वर्ष की अवस्था में बना, और यद्यपि इन दोनों में अंतर अवश्य है, तथापि इतना अधिक नहीं, जितना होना उचित था। इससे संदेह होता है कि देव ने इस ग्रंथ के निकम्मे छंद निकालकर उनके स्थान में पीछे से बने हुए उत्कृष्ट छंद रख दिए हैं। तो भी ऐसी बाल्यावस्था में ऐसा बढ़िया ग्रंथ बनाना इन्हीं का काम था। इन्होंने इसमें लिखा है—

काव्य देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-संयुत सच्यो ;
सब नायिकादि-नायक-सहित अलंकार-वरनन रच्यो ।

इन्होंने और कवियों की भाँति छ प्रकार के भाव कहे हैं। देव भी मरणावस्था का वर्णन न करके उसके स्थान पर मूर्च्छा का कथन कर देते हैं। भरतादि आचार्यों ने तैंतीस संचारी भाव माने हैं, परंतु देव ने चौँतीसवाँ 'छल' भी कहा है। इस ग्रंथ में प्रेम का निम्न-लिखित लक्षण दिया गया है—

सुख-दुख मैं है एकसम, तन-मन-वचननि प्रीति ;
सहज बढ़े हित चित नयो, जहाँ सु प्रेम प्रतीति ।

देव ने दो प्रकाशों में भाव का वर्णन करके तृतीय में रस का कथन किया है। इन्होंने अलौकिक और लौकिक, दो प्रकार के रस कहे हैं। अलौकिक रस तीन प्रकार का कहा है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। इन्होंने भी लौकिक रस नव प्रकार का कहा है ; यथा—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत। इनमें से नाटक में केवल प्रथम आठ रहते हैं, और काव्य में पूरे नव।

शृंगार दो प्रकार का होता है—संयोग और वियोग। दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। यह कहकर देवजी ने संयोग के दस हावों और वियोग की दस दशाओं का वर्णन किया है। इन्होंने नायकों के चार और नायिकाओं के ३८४ भेद माने हैं। यौवन का निम्न-लिखित लक्षण दिया है—

वालापन को भेदिके छवि को अंकुर होय ;

जग मोहैं, दिन - दिन बढ़ैं, जोवन कहिए मोय ।

देवजी के मत में कविता और कामिनी अलंकार पहनने से उत्कृष्टतर देख पड़ती हैं। अतः यह महाशय प्रायः सालंकार नायिका का वर्णन करते हैं—

कविता, कामिनि, सुखद पद, सुवरन, सरस, सुजाति ;

अलंकार पहिरे, बिसद, अदभुत रूप लखाति ।

देव कहते हैं कि पुरातन आचार्यों की रीति से केवल ३६ अलंकार मुख्य हैं। उन्हीं का यह वर्णन करते हैं।

भाव-विलास एक बड़ा ही रोचक ग्रंथ है। आश्चर्य है कि एक सोलह वर्ष का बालक ऐसा विशद ग्रंथ बनाने में कैसे समर्थ हुआ ! यह ग्रंथ भाषा के किसी भी रीति-ग्रंथ से कविता के गुणों में न्यून नहीं है।

(२) अष्टयाम—यह देव का द्वितीय ग्रंथ है। प्रायः कविजन षट्-ऋतुओं का विवरण देते हैं। देवजी ने उससे भी आगे बढ़कर दिन के प्रत्येक प्रहर और घड़ी का वर्णन कर दिखाया है। यह ग्रंथ भी भाव-विलास के साथ ही बना। जान पड़ता है, इसमें पीछे से कोई छंद नहीं मिलाए गए हैं, सो यह भाव-विलास से कुछ हीन है, परंतु, तो भी, इसमें देव की वही मनभावनी छटा वर्तमान है। इतनी प्रगाढ़ शक्ति इन्हीं महाराज में थी कि केवल दिन-रात के वर्णन में उत्कृष्ट ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। कुछ अन्य वैष्णव कवियों ने भी अष्टयाम कहे हैं, किंतु वे ग्रंथ देव-कृत अष्टयाम की समता नहीं कर पाते।

इन्होंने भाव-विलास और अष्टयाम आज्ञमशाह, (औरंगज़ेब के पुत्र) को पढ़कर सुनाए, और उन्होंने इन दोनों ग्रंथों की प्रशंसा की। वास्तव में ये ग्रंथ बहुत प्रशंसनीय हैं।

(३) भवानी-विलास। यह ग्रंथ भवानीदास-नामक एक वैश्य महाशय के नाम पर बनाया गया। इसमें रस-वर्णन है। इसकी कविता भाव-विलास से प्रौढ़ है। उपर्युक्त तीनों ग्रंथ काशी में, बाबू रामकृष्ण वर्मा के यहाँ, भारत-जीवन-प्रेस से प्रकाशित हुए थे।

(४) सुंदरी-सिंदूर। यह देव का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संकलित, देव के चुने हुए, १११ छंदों का बड़ा ही चित्ताकर्षक संग्रह है। इसमें प्रथम पदार्थ-निर्णय है, उसके पीछे रस-वर्णन। फिर उपमा आदि कही गई हैं। इसमें पूर्ण रूप से कोई प्रबंध नहीं है, परंतु छंद बड़े ही मनोहर हैं।

(५) सुजान-विनोद । यह पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में वर्तमान है । इसमें प्रेमचंद्रिका की भाँति प्रेम का सूक्ष्म वर्णन किया गया है, जो श्रेष्ठ है । इनके मतानुसार जप या तप उतना श्रेष्ठ नहीं है, जितना प्रेम । देव ने इस ग्रंथ में सूक्ष्मतया दो-चार छंदों में उद्धव के विषय का वर्णन करके नायिका-भेद कहा है । अंत में षट् - ऋतुएँ कहकर इसे समाप्त कर दिया है । यह षट् - ऋतु-वर्णन बहुत अच्छा है । यह ग्रंथ उत्तमता तथा आकार में भवानी-विलास के समान है । इसके नाम से भ्रम हो सकता है कि यह सुजान-नामक किसी व्यक्ति के वास्ते बनाया गया होगा, परंतु ग्रंथ में किसी सुजान का नाम तक नहीं आया । अतः जान पड़ता है, यहाँ सुजान से विश्व मनुष्य का तात्पर्य है । देव का कथन है कि प्रेमी जन विषयासक्त मनुष्यों को परम नीच मानकर विषय-वासनाओं से इतर शुद्ध प्रेम की उपासना करके ब्रह्मानंद को प्राप्त होते हैं । आपके सिद्धांत बहुत ऊँचे हैं ।

(६) प्रेम-तरंग । यह भी हमने पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में देखा है । इसके केवल तीन अध्याय वहाँ हैं । इसमें बड़े विस्तार के साथ नायिका-भेद का वर्णन है । इन तीन अध्यायों में क्ररीव दो सै के छंद हैं । इस ग्रंथ का आकार शब्द-रसायन के बराबर होना संभव है । इसमें भी देवजी ने परकीया और सामान्या के संपर्क को बहुत निंदित माना है—

प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग ;
धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग ।
उत्तम रस शृंगार की स्वकिया मुख्य आधार ;
ताको पति नायक कह्यो, सुख संपति को सार ।

यह एक परम मनोहर ग्रंथ है, और इसकी कविता बहुत प्रशंसनीय ।

(७) राग-रत्नाकर । यह एक बड़ा ही श्रेष्ठ ग्रंथ है । इसमें देव ने रागों का वर्णन किया है । इसमें केवल दो अध्याय हैं । इसके विषय का सूक्ष्म वर्णन नीचे लिखा जाता है—

षड्ज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नाम के सात स्वर होते हैं । मुख्य राग छ हैं—भैरव, मालकौस, हिंडोला, दीपक, श्री और मेघ । इन सबमें दीपक रागों का राजा है । प्रत्येक राग की पाँच-पाँच भार्याएँ हैं ; यथा—भैरव की भैरवी, वरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बंगाली ; मालकौस की टोड़ी, गौरी, गुणकरी, खंभावती और कुंकुम ; हिंडोल की रामकरी, देसाख, ललित, बिलावल और पटमंजरी ; दीपक की देसी, कामोद, नट, केदारा और कान्हरो ; श्री की मालसिरी, मारू, धनाश्री, वसंत और आसावरी ; तथा मेघ की मलारी,

गूजरी, भूपाली, देशकारी और टंक। द्वितीय अध्याय बहुत ही छोटा है, और उसमें थोड़े-से उपरागों का स्वरूप वर्णन हुआ है।

रागों और रागिनियों के रूप तथा उनके विषय में अन्य जानने-योग्य बात देवजी ने एक-एक छंद में, बहुत ही श्लाघ्य रीति से, दिखा दी हैं। उदाहरणार्थ दीपक का छंद यहाँ लिखा जाता है -

सूरज के उदै तूरज राव, चढ़ो गजराज, प्रभा परिवेळ्यो;
दूसरो सूरज, सूरज-जोति, किरीट ज्यों सूरज भूषन भेख्यो।
काभिनो सग, सुरंग मैं प्यो धनी, घोषम घोस, मध्याह्न विलेख्यो;
दीपन दीप ज्यों दीपत दीपक, रागु-महीपति दीप ज्यों देख्यो।

‘रंग मैं प्यो धनी’ से रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद को समझना चाहिए। इस स्थान पर दीपक का स्वरूप, गाने का उचित समय, साथ के वाद्य, सवारी, भूषण, स्वर, लक्षण आदि का पूरा वर्णन एक ही छंद में कर दिया गया है। छंद भी बहुत ही मनोहर है।

रागिनियों के उदाहरण-स्वरूप वसंती का वर्णन नीचे लिखा जाता है—

साँवरी, सुंदरी, पीत दुकूलनि, फूल रसाल के मूल लसंती;
लोन्हें रसाल कि मंजरी हाथ, सुरंगित आँगी हिये हुलसंती।
पूरन प्रेम, सुरंग मैं प्यो धनी, संग-ही-संग विलोल हसंती;
है उत है उत ही दिन साँझ, समौ करि राखेय दसंत बसंती।

इसमें भी उपर्युक्त बातों का कथन किया गया है। यह देव का ही काम था कि ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंदों द्वारा राग-रागिनियों का सांगोपांग वर्णन कर दिया। यह भी इनका बड़ा ही विशद ग्रंथ है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह रागों के भी ज्ञाता थे।

(८) कुशल-विलास। यह तिरासी बड़े-बड़े पृष्ठों का एक प्रकृष्ट ग्रंथ है। इसमें नव अध्यायों द्वारा नायिका-भेद वर्णित है। यह फफूँद, जिला इटावा के निवासी, शुभकरन के पुत्र, कुशलसिंह सेंगर के नाम पर बना। इसमें कुशल-सिंह की साधारण बड़ाई है, जिससे जान पड़ता है कि यहाँ भी कवि का साधारण ही मान हुआ। इसके नवों अध्यायों में क्रमशः भाव-भेद ‘स्वकीया-पति-निरूपण स्वकीयादि-स्वरूप, मुग्धा के १३ भेद, मुग्धादिक-स्वरूप, मुग्धा का पूर्वानुराग मध्या की दस अवस्था, दस हाव, तीन मान और धीरादि-भेद वर्णित हैं। इसमें अपने सिद्धांत के दो दोहे इन्होंने कहे हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल - मूल सिंगार;
जा संवति दंपतिनु की, जाको जग विस्तार।

होति अनूढ़ा रस - विवस, नवल छैल - छवि देखि ;

ऊढ़ा गूढ़ विमूढ़ - मन प्रेमरूढ़ बिसेलि ।

उत्तमता में यह ग्रंथ भवानी-विलास के बराबर है । देव की कविता के सब गुण इसमें भी मौजूद हैं । यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक छंद लिखते हैं--

अंब - कुल, वकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मलैजन को मीजि कै, गुलावन की गली है ;
कौ गनै अलप - तरु जीत्यो जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों, बिकल मति अली है ।
चित्त जाके जाय चढ़ि चंपक चपायो कौन,
मोचि सुख सोचि हौं सकुच चुप चली है ;
कंचन बिचारे रुचि पाई चारु पंचन मैं,
चंपा वरनी के गरे पर्यौ चंपकली है ।

(६) देव-चरित्र । यह ४४ बड़े पृष्ठों का ग्रंथ है । इसमें श्रीकृष्णचंद्र के ऐतिहासिक चरित्र, कंस-वध-पर्यंत कुछ विस्तार से और शेष बहुत सूक्ष्मतया कहे गए हैं । इसमें सब लीलाएँ थोड़े में, अत्यंत उत्तमता के साथ, कही गई हैं, और वर्णन सबैयों तथा घनाक्षरियों में हुआ है । यह बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है । इसमें इन महाकवि ने ऐतिहासिक वर्णन की शक्ति खासी प्रकट कर दी है । कालिय नाग को नाथने और गोवर्द्धन-धारण की लीलाएँ विशेष श्लाघ्य हैं । इस ग्रंथ में गोपियों के रास और उद्धव-संदेश का अच्छा वर्णन नहीं किया गया, न उनके विस्तार का कुछ भी प्रयत्न हुआ है । उत्तमता में यह ग्रंथ भी भवानी-विलास के समान है ।

फैलि - फैलि, फूलि-फूलि, फलि - फलि, हूलि - हूलि,
भपकि - भपकि आई कुंजै चहुँ कोद ते ;
हिल - मिलि हेलिनु सों केलिनु करन गई,
बेलिनु विलोकि बधू ब्रज की विनोद ते ।
नंदजू की पौरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू माहि लीन्ही मोहनी सु मोद ते ;
गाथनि सुनत भूलीं साथनि की, फूल गिरे,
हाथनि के हाथनि ते, गोदनि के गोद ते ।
मेरे गिरिधारी गिरि धरयो धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अंगु लचकि - लुरकि जाय ;

लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि भैया,
 बोलि ल्याऊँ, बल भैया, आय उर पै उरकि जाय।
 टेकि रहि नेक जौलों हाथ न पिराय देखि,
 साथु सँगु रीते अँगुरी ते न बुरकि जाय;
 परयो ब्रज - बैर बैरी बारिद - बाहन बारि,
 बाहन के बोझ हरि - बाँह न बुरकि जाय।

(१०) प्रेम-चंद्रिका। यह ग्रंथ मरदनसिंहात्मज राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते रचा गया। इसमें प्रथम शृंगार-रस के दो छंद कहकर कवि ने राधा-कृष्ण की वंदना की है। प्रेम का वर्णन इस छंद में किया गया है—

जाके मद मात्यो न उमात्यो कहँ कोऊ, जहाँ
 बूढ़यो उछल्यो ना तरयो सोभा-सिंधु सामुहै;
 पीवत ही जाहि कोई मारयो सो अमर भयो,
 बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुखधामु है।
 चख के चखक भरि चाखत ही जाहि, फिरि,
 चाख्यो ना पियूख, कछु ऐसो अभिरामु है;
 दंपति - सरूप ब्रज औतरयो अनूप, सोई,
 'देव' कियो देखि प्रेम - रस प्रेम नामु है।

देव के मतानुसार सबों में शृंगार-रस मुख्य है। तल्लीनता की विशेषता से मुख्य प्रेम मुग्धाओं में होता है। मध्या में कभी-कभी कलह होने से उसका प्रेम क्लुषित होता है, और प्रौढ़ा में रोष-गर्वादि अधिक होते हैं। अतः उसमें उत्तम प्रेम नहीं मिलता। प्रेम पाँच प्रकार का होता है—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। सानुराग प्रेम शृंगारमय है। इस शृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। ये भी गूढ़ और अगूढ़ के उपभेदों से दो-दो प्रकार के होते हैं। वियोग-शृंगार चार प्रकार का है—पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। तीन प्रकार की नायिकाओं में से स्वकीया और परकीया में प्रेम है, गणिका में नहीं, अतः उसमें शृंगाराभास हो जाता है। इन्हीं के पति उपपति और व्यसनी नायक हैं, जिनमें क्रम से प्रेम, सुख, दुःख तथा दुर्वासना प्रधान हैं।

पूर्वानुराग स्वकीया और परकीया मुग्धाओं में होता है। उसकी उत्पत्ति श्रवण, दर्शन तथा स्मरण से है। इसी के अनंतर अभिलाष आदि दस दशाएँ मिलती हैं। पहले श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं विरह के द्वारा पूर्वानुराग होता है। तब अभिलाष आदि दस दशाएँ उत्पन्न होती हैं। उनके पीछे संयोग है। शृंगार

की मुख्य पात्र शुद्ध-स्वकीया है। उसमें भी मुग्धा विशेष है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है—

परकीया उपपति - विरह होति प्रेम - आधीन ;
पति संपति तन बिपति मैं दौरि परै पन पीन ।
पर - रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन गोत ;
आपु औटि खोवा मिलै, खात दूध फल होत ।
काची प्रीति कुचालि की, बिना नेह - रस - रीति ;
मार - रंग मारु - मही वारु की - सी भीति ।

इन कविरत्न ने प्रेम के तत्त्व, गंभीरता, महत्त्व, निःस्वार्थ भाव, तल्लीनता, चाह आदि के परमोत्कृष्ट चित्र खींचे हैं। प्रेमी जन प्रेम-पात्र के लिये समस्त संसार को कैसे और क्यों तृणवत् छोड़ देते हैं, इसका प्रत्यक्ष वर्णन वहाँ प्रस्तुत है। देव ने विषयानंद को तुच्छ कहकर ऊँचे प्रेम का वर्णन किया है। विषय-जन्य प्रेम को आप फीका और पोच समझते थे। शृंगार का प्राधान्य रखकर भी आपने अपनी रचना में विषय-जन्य प्रेम का कथन बहुत कम किया है।

इसके पीछे प्रेमचंद्रिका में स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया का प्रेम वर्णन किया गया है। परकीया के वर्णन में बड़े ही मनोहर छंद हैं। देवजी ने यह सब कहकर इस ग्रंथ के मुख्य विषय—गोपियों के प्रेम—का कथन किया है। यह विवरण देखते ही बनता है। इसके पीछे आपने भक्ति का वर्णन आरंभ किया है। उसमें प्रथम गोपियों का रास कहा है। तत्पश्चात् दो-चार भक्तों की दशा पर दो-दो, एक-एक छंद कहकर ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें हृदय को क्षुब्ध करनेवाले कितने ही बड़े-बड़े मनोहर और चटकीले छंद हैं। उद्धव का वार्तालाप इस ग्रंथ का मुख्य अंश है, और वही इसका सर्वोत्कृष्ट भाग भी है। इसमें पुराने आचार्यों के ढर्रे पर न चलकर देवजी ने एक अनोखा प्रबंध बाँधा है। उन्होंने प्रेम-संबंधी अपने अपूर्व अनुभवों का निचोड़, अपने ख़ास ढंग से, इसमें भर दिया है। जितनी जाँच की बात देवजी के इस छोटे-से ग्रंथ में पाई जाती है, उतनी इनके किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलती। यह इनका सर्वप्रिय विषय और सर्वप्रिय ग्रंथ है। इन्होंने मानो बाह्याडंबर को छोड़कर इसमें पाठकों को अपना हृदय दिखा दिया है। देवजी की प्रगाढ़ कवित्व-शक्ति एवं रसियापन जाति-विलास, रस-विलास और प्रेमचंद्रिका से ही पूर्ण प्रकट होता है। काव्य-रसायन में ये बातें उतनी अधिकता से नहीं हैं, यद्यपि उसमें भी इन सबकी झलक देख पड़ती है। काव्य-रसायन में देवजी ने आचार्यता दिखाई है। प्रेमचंद्रिका के उदाहरण-स्वरूप हम दो छंद नीचे देते हैं—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
 कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;
 कैसो पर - लोक, नरलोक वर लोकन मैं,
 लीन्हों मैं अलीक, लोक लीकन ते न्यारी हौं ।
 तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
 प्राण किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं ;
 वृंदावन - वारी वनवारी की मुकुट - वारी,
 पीत - पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥ १ ॥
 बोरयो बंसु - विरद मैं, वौरी भई वरजत
 भेरे बार - बार वीर कोई पास पैठौ जनि ;
 सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौंदी,
 गोहन मैं छाँड़ौ, मोंसों भौंहनि उमैठौ जनि ;
 कुलटा कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, क्रूर,
 काहू के न काम की, निकाम, याते ऐंठौ जनि ।
 'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढै, हौं तो
 बैठी हौं विकल, कोऊ मोहिँ मिलि वैठौ जनि ॥ २ ॥

(११) जाति-विलास । इस ग्रंथ की वंदना बड़ी ही विशद है ।

पाँयनि नूपुर मंजु वज्रें, कटि किंकिन मैं धुनि की मधुराई ;
 साँवरे - अंग लसै पट-पीत, हिए हुलसै वनमाल सुहाई ।
 माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई ;
 जै जग - मंदिर - दीपक, सुंदर श्रीव्रज-दूलह 'देव' सहाई ।

इसमें सबसे प्रथम जाति-भेद कहा गया है । फिर अष्टांगवती नायिका है । तदनंतर भारतवर्ष के समस्त देशों की वधुओं का वर्णन आरंभ हुआ है । हमारी कोपी में केरल-वधू तक का वर्णन लिखा है । उसके आगे पुस्तक अपूर्ण है । यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ, और हमको कहीं इसकी पूर्ण प्रति भी नहीं मिली । प्रायः तीन-चौथाई ग्रंथ हमारी प्रति में नहीं है । यह बड़े खेद का विषय है, क्योंकि 'जाति-विलास' देवजी के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है । जहाँ तक यह ग्रंथ हमारे पास है, वहाँ तक इसकी रचना रस-विलास से बहुत कुछ मिलती है, यहाँ तक कि दोनों ग्रंथों में प्रति सैकड़े नब्बे छंद एक ही हैं । इस कारण रस-विलास के विषय में जो कुछ लिखा जाय, वही जाति-विलास के विषय में भी समझना चाहिए ।

महाकवि देवदत्त (देव)

(१२) रस-विलास । यह ग्रंथ देवजी ने विजया-दशमी, संवत् १७८३ वि० को समाप्त किया । इसकी वंदना का छंद भी वही है, जो जाति-विलास का । यह बड़ा ही मनोहर छंद है, और इसको अच्छी ब्रजभाषा का उदाहरण मान सकते हैं । यह ग्रंथ राजा भोगीलाल को समर्पित हुआ है । देवजी ने भोगीलाल की जितनी प्रशंसा की है, उतनी किसी अन्य आश्रय-दाता की नहीं । इसमें प्रथम नायिकाओं के विभाग लिखे गए हैं, और उनका बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है । जिस कामिनी में आठो अंग पूर्ण हों, उसी को नायिका कहते हैं । आठो अंग ये हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण । देवजी कहते हैं, वह एक बार भाव-विलास रचकर नायिका-भेद कह चुके हैं, और अब उसी (नायिका-भेद) को द्वितीय बार नए प्रकार से कहते हैं ।

नायिकाओं के आठ भेद होते हैं । यथा—जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्त्व । इनके भेदांतर भी नीचे लिखे जाते हैं—

जाति के चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी ।

कर्म के तीन भेद—स्वकीया, परकीया, गणिका ।

गुण के तीन भेद—सात्त्विक, राजस, तामस ।

देश के अनंत भेद—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, आभीर, वरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर, सौवीर आदि-आदि ।

काल के दस भेद—स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, प्रवत्स्यद्भर्तृका, प्रोषितपतिका, आगतपतिका ।

वय के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा ।

प्रकृति के तीन भेद—कफ, पित्त, वात ।

सत्त्व के नव भेद—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काग ।

इसके पीछे देवजी ने नायिकाओं के संयोग और वियोग तथा नायक का वर्णन करके ग्रंथ समाप्त कर दिया है । यह ग्रंथ इनकी प्रौढ़ अवस्था में बना, और इसी कारण प्रौढ़ कविता से परिपूर्ण है । देश-देशांतरों में घूम-घूमकर कवि ने इसे बनाया । प्रेमचंद्रिका की भाँति इसमें भी आप अपनी ही बनाई हुई रीति पर चले हैं, और इस कारण भी ग्रंथ में अद्भुत कवित्व की छटा देल पड़ती है । नायिका-भेद नए ढंग का अवश्य है, परंतु उसमें किसी का वर्णन छूटा नहीं है । गुप्ता, अनुशयना आदि का विवरण इसमें स्पष्ट रूप से नहीं आया, परंतु वह सब

परकीया नायिका के अंतर्गत समझना चाहिए । इस ग्रंथ की कविता किसी भी स्थान पर शिथिल नहीं हुई, वरन् हर जगह एक ही तरह औचित्य दर्ज की होती चली गई है । इससे अच्छे ग्रंथ भाषा-साहित्य में अधिक न होंगे । केवल इतना ही खेद है कि इसका विषय नायिका-भेद है । यदि किसी श्रेष्ठ विषय पर ऐसा उत्कृष्ट ग्रंथ बना होता, तो गीता की तरह घर-घर इसकी पूजा होती । इसमें देवजी ने दिखा दिया है कि कवि की दृष्टि कितनी पैनी होती है, और वह एक ही निगाह में कितना देख सकता है । जिस जाति की और जिस देश की नायिका का कथन है, उसमें उस जाति के कर्म एवं उस देश के स्वभावों और रीतियों का ऐसा सच्चा वर्णन है कि कुछ कहते नहीं बनता । इसमें इन्होंने जाति-भेद में उपयुक्त चार प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त इन जातियों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—देवी, पुजारिन, द्वारपालिका, राजकुमारी, धाय, दूती, सखी, जौहरिन, छीपिन, पटइन, सोनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, काँदुनि, वनेनी, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरिन, गणिका, ब्राह्मणी, रजपूतिन, खत्रानी, वैश्या, कायथिन, किरारिन, नाइन, मालिन, धोविन, अहिरिन, काछिन, कलारिन, कहारिन, लुनेरिन, मुनितिय, व्याधतिय, भीलिन, सैन्या, वेश्या, मुकेरिन, बनजारिन, जोगिन, नटिन, कंजरिन, पथिक-बधू और भठियारिन । भठियारिन का वर्णन केवल जाति-विलास में है । इसमें से प्रत्येक जाति के कथन में छंद से यह भास जाता है कि अमुक का वर्णन है । यही दशा देशों की है । उदाहरणार्थ जाति और देश में से दो-दो छंद नीचे लिखे जाते हैं—

देव देखावति कंचन सो तनु, औरनि को मनु-तावै अगोनी ;
सुंदरि साँचे में दै भरि काढ़ी-सि, आपने हाथ गढ़ी विधि-सोनी ।
सोहति चूनरि स्याम किसोरी कि, गोरी, गुमान-भरी, गज गोनी ;
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी-सि, देखी सोनारि सुनारि सलोनी ॥ १ ॥

एँड़िन ऊपर घूमत बाँधरो, तैसिये सोहति सालू कि सारी ;
हाथ हरी-हरी राजै छरी, अरु जूती चढ़ी पग फूँद-फुँदारी ।
आछे उरोज, हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बेल निहारी ;
गात नहीं दिखराय - बढोहिन वातन ही बनिजै बनिजारी ॥ २ ॥

तीनिहु लोक नचावति ऊक मै, मंत्र के सूत अभूत गती है ;
आपु महा गुनवंत गोसाइनि, पाँइन पूजत भानपती है ।
पैनी चितौनि चलावति चेटक, को न कियो बस जोगि-जती है ?
कामरूकामिनि काम-कला, जगमोहनि भामिनि भानमती है ॥ ३ ॥

जोवन के रंग भरी, ईगुर से अंगनि पै,
 ँड़िन लौं आँगी छाजें छविन की भीर की ;
 उचके उचोहैं कुच भूपे मलकत मनी ,
 मिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की ।
 गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल ,
 सुधा-विंदु बोल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की ;
 'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस ,
 बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की ॥ ४ ॥

(१३) काव्य-रसायन । यह ग्रंथ देवजी के सब स्वतंत्र ग्रंथों से गुरुतर और प्रौढ़तर है । इसका दूसरा नाम शब्द-रसायन भी है । जैसे केशवदास ने कविप्रिया में आचार्यता दिखाई है, वैसे ही देवजी ने काव्य-रसायन में गुरुता प्रदर्शित की है । काव्य के विषय में सूक्ष्मतया इनका यह मत है—

ऊच-नीच तन कर्म-बस चल्थो जात संसार ;
 रहत भव्य भगवंत-जस नव्य काव्य सुख-सार ।
 रहत न घर वर वाम धन, तरुवर सरवर कूप ;
 जस-सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप ।

समर्थ काव्य का लक्षण देवजी ने यों दिया है—

शब्द सुमति मुख ते कहें, लें पद वचननि अर्थ ;
 छंद भाव भूखन सरा सो कहि काव्य समर्थ ।

पहले इन्होंने पदार्थ-निर्णय किया है । यह महाराज अभिधा-लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चौथी शक्ति 'तात्पर्य' भी मानते हैं । एकआध समालोचक लोग कहते हैं कि जब संस्कृत के आचार्यों ने तात्पर्य का वर्णन किया ही है, तब इसमें देव की मुख्यता क्या है ? उन्हें जानना चाहिए कि हम हिंदी के विषय में कथन करते हैं । शुद्ध लक्षणा, व्यंजना आदि का वर्णन करके इस महाकवि ने इनके संकीर्ण भेद कहे हैं । इन भेदों में इन कविवर ने अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना, लक्षणा में अभिधा, व्यंजना में व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा, अभिधा में तात्पर्य, लक्षणा में तात्पर्य और व्यंजना में तात्पर्य के वर्णन किए हैं । इस ग्रंथ में देव ने पढ़नेवालों के लिये यह बड़ी सुविधा कर दी है कि प्रायः प्रत्येक उदाहरण के पीछे दोहों में उसका प्रयोजन भी प्रकट कर दिया है । पदार्थ-निर्णय के पीछे आपने रस-निर्णय किया । शब्द, काव्य और रस में इन्होंने निम्न-लिखित संबंध दिखाया है—

काव्य सार सब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार ;
सो रस वरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ॥ १ ॥

ताते काव्य सु मुख्य रस, जामैं दरसत भाव ;
अलंकार सब्दार्थ के छंद अनेक सुभाव ॥ २ ॥

देव के मतानुसार यदि कविता को वृत्त मानें, तो रस उसके फलों का रस होगा । रस के स्वरूप को आपने इस छप्पै द्वारा खूब ही समझाया है—

रस - अंकुर थाई, विभाव रस के उपजावन ;
रस अनुभव अनुभाव सु सात्विक रस भलकावन ।
छिन-छिन नाना रूप रसनि संचारी उभकै ;
पूरन रस संयोग विरह रस रंग समुक्त कै ।
ये होत नायिकादिकनि मैं रत्यादिक रस-भाव षट ;
उपजावत शृंगारादि रस गावत नाचत सुकवि नट ।
इसी को सूक्ष्म रूप से कवि ने इस प्रकार कहा है—

जो विभाव, अनुभाव अरु संचारिन करि होय ;
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय ।

देव के मतानुसार रसों में शृंगार, वीर और शांत मुख्य हैं। शेष छ रसों (हास्य, भयानक, रौद्र, करुण, अद्भुत, वीभत्स) में दो-दो क्रमानुसार इनके संगी हैं; फिर वीर और शांत अपने साथियों समेत शृंगार के संगी होते हैं, अतः शृंगार-रस ही रसराज है। रसों ही से मिलता हुआ रस-मित्र, रस-शत्रु आदि का वर्णन है। फिर पात्र-विचार हुआ है। इसके पीछे कवि ने रस-रीति कही है। तदनंतर शब्दालंकार का वर्णन किया गया है। इसके विषय में इनका यह मत था—

अलंकार जे सब्द के, ते कहि काव्य - सुचित्र ;

अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर वरन विचित्र ।

अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन, नवीन ;
सुंदर छंद, अमंद रस, होत प्रसन्न प्रवीन ।
जिनहि न अनुभव अरथ को, भावत नहि रस भोग ;
चित्र कहत तिन हेत कछु, भिन्न - भिन्न - रुचि लोग ।
सरस वाक्य, पद, अरथ तजि सब्द चित्र समुदात ;
दाध, घृत, मधु, पायस तजत, वायस चाम चवात ।
मृतक काव्य विनु अर्थ के, कठिन अर्थ के प्रेत ;
सरस भाव रस काव्य सुनि उपजत हरि सों हेत ।

देव ने चित्र-काव्य की इतनी निंदा करके फिर भी कहे प्रकार की उत्कृष्ट चित्र-कविता की। इसके पीछे इन्होंने अर्थालंकार कहे हैं। उनमें आपने सबका वर्णन न करके चालीस मुख्य और तीस गौण अलंकार ही कहे। इतने पर भी संतुष्ट न होकर फिर कहा—

अलंकार मैं मुख्य द्व उपमा और सुभाव ;

सकल अलंकारन त्रिषे दरसत प्रगट प्रभाव ।

देव ने उपमा की प्रधानता समझाने के लिये बहुत तरह की उपमाएँ कही हैं। शेष अलंकारों को आपने थोड़े में इस प्रकार कहा कि एक एक छंद में चार-चार, पाँच-पाँच अलंकार भर दिए। दसवें अध्याय से इन्होंने छंदों का वर्णन आरंभ किया। छंद दो प्रकार के होते हैं, एक मात्रा-वृत्त और दूसरा वर्ण-वृत्त। लघु-गुरु मात्राओं का विचार करके देवजी ने गणगण का वर्णन किया है। इनके गद्य का उदाहरण बड़ा ही विचित्र है। गद्य तीन प्रकार का होता है—वृत्ति, चूर्ण और उत्कलिका। देव ने छंदों के लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही साथ दिए हैं; अर्थात् जिस छंद का उदाहरण कहना हुआ, उसी छंद में उसका लक्षण कह दिया। इस प्रकार एक ही साथ लक्षण और उदाहरण, दोनों ज्ञात हो जाते हैं। संस्कृत के कुछ कवियों ने इसी प्रकार छंदों के उदाहरण दिखलाए हैं। देव ने प्राचीन प्रकार के आठों सवैयों के लक्षण और नाम एक ही छंद में दिखा दिए हैं। वह छंद यह है—

सैल भगा; वसुधा, मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा ;

लै. मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, ललसात भगंग पगा ।

पी मदिरा, ब्रजनारि किरीटि, सुमालति, चित्रपदा भ्रमगा ;

मल्लिक, माधवी, दुर्मिलिका, कमला सुसवैय वसुकम गा ।

इस सवैय को समझने के लिये प्रथम भगण का रूप जान लेना आवश्यक है। भगण तीन अक्षरों का है, जिसमें प्रथम गुरु और अंत के दोनो लघु हैं।

मदिरा = सैल भगा ; सात भगण और एक गुरु ।

किरीटी = वसुधा ; आठ भगण ।

मालती = मुनि भागग; सात भगण और दो गुरु ।

चित्रपदा = सात भगोल; सात भगण और एक लघु ।

मल्लिका = लसै लभगा; एक लघु, सात भगण और एक गुरु ।

माधवी = लै. मुनि भागग; एक लघु, सात भगण और दो गुरु ।

दुर्मिलिका = लल सत्त भगी; दो लघु, सात भगण और एक गुरु ।

कमला = लल सात भगंग; दो लघु, सात भगण और दो गुरु ।

इनके अतिरिक्त मंजरी, ललिता, सुधा और अलसा-नामक चार प्रकार के नवोन मत के सबैए हैं—

मंजरी = लाष्ट भगल; एक लघु, आठ भगण, एक गुरु और एक लघु ।

ललिता = ललाष्टम ; दो लघु, आठ भगण ।

सुधा = लल मुनिभगल; दो लघु, सात भगण, एक गुरु और एक लघु ।

अलसा = सैलभर, सात भगण और एक रगण ।

रगण के तीन अक्षरों में आदि और अंत के गुरु होते हैं, तथा मध्य का लघु ।

दंडक नियत-गण-वर्ण और अनियत-गण-वर्ण के होते हैं । अनियत-गण-वर्ण को घनाक्षरी कहते हैं । ये कई प्रकार के होते हैं, जिनमें से किसी में तीस, किसी में इकतीस, किसी में बत्तीस और किसी में ततीस वर्ण होते हैं ।

देवजी ने सात प्रकार के गाहा दोहे कहे हैं । मेरु, मर्कटी, पताका आदि के विषय में इनका यह मत है—

मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट ;

कौतुक-हित प्रस्तार हू विस्तारत हैं सृष्ट !

मानुष-भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छंद ;

अलंकार पंचांग ये कहत-सुनत आनंद ।

अपने काव्य-रसायन-ग्रंथ के विषय में निम्न-लिखित दोहे देवजी ने लिखे हैं—

सत्य रसायन कविन को श्रीराधा - हरि-सेव ;

जहाँ रसालंकार-मुख, सच्च्यो-रच्यो कवि देव ।

भाषा, प्राकृत, संस्कृत, देखि महाकवि-पंथु ;

देवदत्त कवि रस रच्यो, काव्यरसायन ग्रंथु ।

देव ने वास्तविक रीति-ग्रंथ केवल काव्य-रसायन और भाव-विलास लिखे हैं । इनमें भी काव्य-रसायन में इन्होंने अपनी आचार्यता दिखलाई है । इसमें पदार्थ-निर्णय, रस, अलंकार और पिंगल के वर्णन हैं । रस का वर्णन देव ने बहुत ही उत्कृष्ट किया है । यह ग्रंथ आपके सब स्वतंत्र ग्रंथों में बड़ा है, और संभवतः सबसे पीछे बना भी हो । केवल सुखसागर-तरंग-संग्रह और नीति तथा वैराग्य की कविताएँ इसके पीछे बनी होंगी । कविता की उत्तमता में भी यह प्रेमचंद्रिका आदि के समान है । प्रत्येक छंद में देव की अलौकिक योग्यता की छटा देख पड़ती है । यह ग्रंथ भी अब प्रकाशित हो चुका है । यह ग्रंथ देव के परमोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है, और इसमें भी इनकी अनुमतियों का आविर्भाव हुआ है ।

(१४) सुखसागर-तरंग । इस ग्रंथ की वंदना में भी आपने शृंगार-रस की नहीं छोड़ा—

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आपु ;
सवै दंपतिन मैं प्रकट, देव करै तेहि जापु ।

इसको आपने पिहानी के अकबरअलीख़ाँ के वास्ते बनाया । इससे विदित होता है कि उस समय मुसलमान भी भाषा-साहित्य को खूब समझते और उसका आदर करते थे । स्वयं देवजी के समान महाकवि ने लिखा है कि अकबरअली रस-पंथ जानते थे । इससे विदित होता है कि भाषा-साहित्य पर अकबरअली का प्रगाढ़ अधिकार था । इसी प्रकार बादशाह औरंगज़ेब के पुत्र आजमशाह ने भाव-विलास और अष्टयाम सुनकर उन ग्रंथों की प्रशंसा की । इस ग्रंथ में देवजी ने प्रथम दंपति की वंदना करके तब देवियों की स्तुति की । और किसी देवता की वंदना इन्होंने नहीं की । फिर छत्तीसवें छंद में एक प्रकार से ग्रंथ के विषय का वर्णन करके आपने सवैयों और दंडकों में बहुत बढ़िया ढंग से सूक्ष्मतया नायिका-भेद कहा । इसके पीछे गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य कहकर पंचमी-महोत्सव का वर्णन किया । ये सब विवरण बहुत ही उत्कृष्ट हैं । वसंत-ऋतु के कथन में भी इन्होंने आगे चलकर होली का वर्णन किया । पंचमी-महोत्सव के पीछे देव ने शृंगार-रस की रचना की । दूसरे अध्याय को कवि ने प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रारंभ किया है । इसके पीछे सूक्ष्मतया शृंगार-रस का सांगोपांग कथन हुआ है । तदनंतर देव ने परकीया के बहुत-से छंद कहकर षडऋतु कहा । फिर अष्टयाम कहकर नख-शिलख लिखा है । इसमें से उदाहरणार्थ नेत्रे-वर्णन का एक छंद नीचे लिखा जाता है—

लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ
चौंकि वितरनि चरखीन चमकारे हैं ;
बरुनी अरुन लीक, पलक झलक भूल,
भूमत सघन - घन घूमत घुमारे हैं ।
रंजित - रजोगुन सिंगार - पुंज कुंजरत,
अंजन सोहन मनमोहन दतारे हैं ;
'देव' दुख - मोचन सकोच न सकत चलि
लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं ।

नख-शिलख कहकर इन कविवर ने नायकों की जाति कही है । फिर नायिकाओं के आठो अंगों का अच्छा वर्णन हुआ है । इसके पीछे देव ने बड़ा लंबा-चौड़ा नायिका-भेद कहा है । इसी के अंतर्गत अंश-भेद भी है । अंत के बारहवें

अध्याय में नायक और नायक के सखाओं का वर्णन किया गया है। इसी अंतिम अध्याय को इन्होंने एक प्रशंसनीय मान-लीला के साथ समाप्त किया है। इस लीला में उन्तीस छंद हैं, और वे सब बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इसका पहला ही छंद उदाहरणार्थ नीचे लिखा जाता है—

प्यारी हमारी सौं आओ इतै, कहि 'देव,' कुप्यारी हूँ कैसेक ऐए ?

प्यारी कहो जनि मोसों अहां, कहि प्यारी प्यो प्यार की प्यारी बुलैए ।

कै वह प्यार कि एतो कुप्यार ! औ, न्यारी हूँ वैठा, सो बात बतैए ;

प्यारे पराए सों कौन परेखो, गरे परि औ लागि प्यारी कहैए ।

इस ग्रंथ में देव ने मुख्य रूप से नायिका-भेद कहा है। इसको प्रायः लोग आपकी कविता का संग्रह कहते हैं। किसी अंश में यह कथन यथार्थ भी है, क्योंकि इसमें जाति-विलास, अष्टयाम, भाव-विलास आदि के विषय आ गए हैं, परंतु यह भी कहना पड़ता है कि इस ग्रंथ में न-जाने कितने ऐसे वर्णन हैं, जो कवि के अन्य प्रचलित ग्रंथों में नहीं पाए जाते। शब्द-रसायन का विषय इसमें नहीं आया, और न भाव-भेद ही पूर्ण रूप से कहा गया है। अलंकार-वर्णन से भी इस ग्रंथ से कोई संबंध नहीं है। स्थूल रूप से इसे नायिका-भेद का ग्रंथ कह सकते हैं। भाषा में नायिका-भेद का इतना सांगोपांग और सर्वांग-सुंदर कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। रस-विलास में नायिका-भेद आठ भेदों में वर्णित है, परंतु इसमें उसके दस प्रधान भेद माने गए हैं। ये शेष दो भेद रस-विलास में मुख्य भेद करके नहीं माने गए। हम तो इसे स्वतंत्र ग्रंथ ही मानते, क्योंकि यदि अन्य ग्रंथों के छंदों की कहिए, तो देव का ऐसा कोई भी ग्रंथ नहीं है, जिसमें अन्य ग्रंथों के छंद न भरे पड़े हों; परंतु देव ने स्वयं इसे संग्रह कहा है। इसमें कुल मिलाकर ८५६ छंद हैं, परंतु इसकी कविता किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुई है। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण, सतसई और सूरसागर को छोड़कर ऐसा उत्कृष्ट कोई भी ग्रंथ नहीं है। इसमें प्रत्येक विषय का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। प्रायः देखा गया है कि यदि भारी कवियों तक के ग्रंथ पढ़िए, तो उनके भी सभी स्थल अच्छे नहीं लगते। अधिक स्थलों पर कविता शिथिल पड़ जाती है, परंतु देव के किसी ग्रंथ में प्रायः किसी स्थान पर ऐसा नहीं हुआ है। सुखसागर-तरंग-जैसा बड़ा ग्रंथ भी किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुआ है। इनका यह भी एक बड़ा ही बढ़िया ग्रंथ है।

(१५) देव-माया-प्रपंच-नाटक । इसमें रूपक की तरह सद्धर्म और माया के युद्ध का वर्णन किया गया है। यह पूर्ण नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश, प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्द्ध-

नाटक-सा कह सकते हैं। इसमें छ अंक हैं। प्रथम अंक में सद्धर्म के पञ्चवालों का दिग्दर्शन एवं कलि का प्रवेश वर्णित है। द्वितीय में कलि के पञ्चवालों का स्वरूप और उनके विचार कहकर कवि ने जनश्रुति और बुद्धि का सत्संगति के यहाँ जाना कहा है। तृतीयांक में योग, मुक्ति, सत्किया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि, स्मृति, तत्त्व-चिन्ता, शांति, करुणा, तुष्टि और ज्ञान भी सत्संगति के यहाँ जाती हैं, और इनके कुछ वर्णनों के पीछे इनमें से प्रत्येक अपने-अपने मतानुसार अनुमति देती है। इसके पीछे जनश्रुति शत्रुओं का पता लगाने को उनके यहाँ छद्म-वेष में भेजी जाती है। यह अंक बड़ा मनोरंजक है, और प्रत्येक देवी के सम्मति-विषयक छंद बहुत अच्छे हैं। चतुर्थ अंक में जनश्रुति योगिनी के वेष में शत्रु-नगर में जाती और नगर तथा उसकी सब बातों का निरीक्षण करती है। यह अंक साधारणतः अच्छा है। पाँचवें में जनश्रुति सहजानंद, इच्छानंद, आत्मानंद, विषयानंद, स्पर्शानंद, भोगानंद और संभोगानंद के उपदेश सुनती एवं धूर्तराज द्वारा तंत्र, मंत्र, इंद्रजाल तथा वाग्जाल का माहात्म्य जानती है। अंत में कई परमोत्कृष्ट छंदों द्वारा माया की महिमा कही गई है। यह अंक बड़ा ही बढ़िया, रुचिकर और हास्य-रस से परिपूर्ण है। इसमें इच्छानंद के विचार अंगरेजी के एपिक्योरियन-सिद्धांत से बिलकुल मिल जाते हैं। छठे अंक में मनराज का अभिषेक हुआ, फिर युद्ध में माया की सेना सद्धर्म-दल से बिलकुल पराजित हो गई, और पुरुष की मुक्ति हुई। युद्ध-वर्णन साधारण है। ग्रंथ कुल मिलाकर अच्छा है; परंतु फिर भी इनके आस ग्रंथों की बराबरी नहीं कर सकता।

उदाहरण—

मूढ़ कहैं मरिकैं फिरि पाइए, ह्याँ जु लुटाइए भौन - भरे को ;
ते खल खोय खिस्यात खरे, अवतारु सुन्यो कहुँ छार परे को ।
जीवत तौ व्रत - भूख सुखौत, सरीर महा सुर-रूख हरे को ;
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराव मरे को ।

देवजी के जिन ग्रंथों पर ऊपर समालोचना लिखी गई है, उन सबको सम्मति लिखते समय हमने देखा है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त पंडित युगलकिशोर मिश्र कहते थे कि निम्न-लिखित देव-कृत ग्रंथ उन्होंने स्वयं देखे थे, परंतु उनकी प्रति वह प्राप्त नहीं कर सके।

(१६) वृद्ध-विलास । यह एक छोटा-सा ग्रंथ है, और इसमें देवजी ने वृद्धों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। इसमें अन्योक्तियाँ बहुत हैं।

(१७) पावस-विलास । इसमें पावस-वर्णन के बड़े बढ़िया छंद हैं। यह आकार में भाव-विलास के बराबर और एक बड़ा ही अनमोल ग्रंथ है।

(१८) देव-शतक । यह जयपुर से प्रकाशित हो गया है । इसके कुछ छंद नीचे लिखते हैं—

बागो बन्यो जरपोस को, तामहि ओस को हार तन्यो मकरी ने ;
 पानी में पाहन-पोत चलयो चढ़ि कागद की झुतुरी सिर दीने ।
 काँख में बाँधिकै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने ;
 मोम के मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने ॥ १ ॥

काम परयो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे ;
 माया के बाजने बाजि गए, परभात हो भातखवा उठि बूटे ।
 आतसबाजी गई छिन में छुटि, देख अजौ उठिकै अखिफूटे ;
 'देव' दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे ॥ २ ॥

आवत आयु को दौस अथौत, गए रवि उयों अंधियारिण पेहे ;
 दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै ।
 'देव' छितीस कि छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै ;
 जात उठी पुर - देह कि पैठ, अरे बनिए बनिए नहि रैहै ॥ ३ ॥

'देव' जियै जब पूछै तौ पीर को, पार कहूँ लहि आवत नाही ;
 सो सब झूठ भतै मत कै बकि, मौन सोऊ रहि आवत नाही ।
 ह्वै नंदनंद तरंगिनि में मन, फेन बह्यो गहि आवत नाही ;
 चाहौ कह्यो बहुतेरो कछू, पै कहा कहिए, कहि आवत नाही ॥ ४ ॥

संपति में ऐंठि बैठे चौतरा अदालति के,
 विपति में पैन्हि बैठे पाँय भुनभुनिया ;
 जेतो सुख संपति, तितोई दुख विपति में,
 संपति में मिरजा, विपति परे धुनिया ।
 संपति ते विपति, विपति हू ते संपति है,
 संपति औ' विपति बरोबरि कै गुनिया ;
 संपति में काँय-काँय, विपति में भाँय-भाँय,
 काँय - काँय, भाँय - भाँय देखी सब दुनिया ॥ ५ ॥

गुरुजन जीवन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
 मथ्यो न विवेक - रई 'देव' जो बनायगो ;
 माखन मुकुति कहाँ, छाँड़्यो न भुगुति जहाँ,
 नेह - बिनु सगरो सवाद खेह नायगो ।
 बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
 तच्यो कोप - आँच पच्यो मदन छिनायगो ;

पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सां ,
 दूध-सो जनमु बिनु जाने उफनायगो ॥ ६ ॥
 माया के प्रपंचन सां, पंचन के बंचन सां ,
 कंचन के काज मोह - मंचन ठए फिरै ;
 काम भरयो, क्रोध भरयो, कपट-कुबोध भरयो ,
 बिस्व मै विरोध ही के बीजन बए फिरै ।
 लाभ ही के लोभ भरयो रंभत अनेक दंभ ,
 मान विणै वस्तुन के पुस्तक लए फिरै ;
 चौदहो भुवन, सातौ द्वीप, नवो खंड जाके
 पेट मै परे हैं, ताहि पेट मै दए फिरै ॥ ७ ॥
 कथा मै न, कंथा मै न, तीरथ के पंथा मै न ,
 पोथी मै, न पाथ मै, न साथ की बसीति मै ;
 जटा मै न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न
 नदी - कूप - कुंडन अन्हान दान - रीति मै ।
 पीठ - मठ - मंडल न, कुंडल कमंडल न ,
 माला दंड मै न 'देव' देहरे की भीति मै ;
 आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो ,
 पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मै ॥ ८ ॥

(१६) हाल में प्रेम-दर्शन-नामक इनका एक और ग्रंथ खोज में मिला है । शायद यह प्रेम-दर्शन-पच्चीसी हो ।

(२०) देव-सुधा में हमने इनके २७१ छंदों का संग्रह किया है । वे सब उत्कृष्ट हैं । लोग प्रायः छंद न समझ सकने की शिकायत करते थे, सो सुधा के सब छंदों के अर्थ भी लिख दिए गए हैं । यह ग्रंथ ब्रज-भाषा में सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है ।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने देवजी-कृत ग्यारह ग्रंथों के नाम लिखे हैं, जिनमें से निम्न-लिखित चार ग्रंथों के अतिरिक्त शेष सात का विवरण ऊपर किया जा चुका है—

रसानंदलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिल-विनोद और राधिका-विलास ।

इन चार नए ग्रंथों के अतिरिक्त शिवसिंहसरोज में निम्न-लिखित सात ग्रंथों के नाम मिलते हैं—प्रेम-तरंग, भाव-विलास, रस-त्रिलास, सुजान-विनोद, काव्य-रसायन, अष्टयाम और देव-माया-प्रपंच-नाटक । हमारे पूज्य पिता पंडित बालदत्त

मिश्र ने देव के सुखसागर-तरंग को प्रकाशित कराया था । उसकी भूमिका में उन्होंने देव के नीतिशतक-नामक ग्रंथ का नाम लिखा था ।

इस वर्णन से विदित होता है कि अभी तक हमें इनके २४ ग्रंथों के नाम ज्ञात हुए हैं । यदि सुंदरी-सिंदूर और सूर-सुधा को ग्रंथ न मानिए, तो २२ ग्रंथों के नाम ऊपर मिलेंगे । खोज में नख-शिख और प्रेम-दर्शन-नामक इनके दो और ग्रंथ मिले हैं । बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दुर्गाष्टक-नामक एक ग्रंथ हाल में पाया ।

इन महाकवि के ग्रंथ अमूल्य रत्न हैं । समस्त भाषा - रसिकों को उचित है कि जो ग्रंथ जिस व्यक्ति के पास हो, वह उसकी सूचना समाचार-पत्रों में दे दे, या नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को लिख भेजे । इसके सिवा यदि इन महा-कवि के सब ग्रंथ प्रकाशित न हो सकें, तो भाषा-रसिकों को उचित है कि अन्य रसिकों को उनके पास की हस्त-लिपियाँ प्राप्त करने में पूरी सहायता दें ।

देवजी की कविता का परिचय

(१) देव ने घनाक्षरियाँ सवैयाँ से अधिक रचीं । उत्तमता में भी वे सवैयाँ से न्यून नहीं हैं । इनकी कविता में पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कहीं कोई बुरा छंद न पाइएगा । देव ने कई ग्रंथों में वे ही पद्य दो-दो, तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कहीं एक ही ग्रंथ में वही पद्य दुबारा रख दिया है, यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने इनके कई ग्रंथ देखे हों, तो उसको किसी नए ग्रंथ के देखने में उत्कृष्ट नवीन पद्य बहुत नहीं मिलेंगे । इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों में कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं; अतः यह महाराज एक ही छंद विविध काव्यांगों के उदाहरणों में रख देते हैं, और वह पूर्णतया बैठ भी जाता है ।

इनकी कविता में अजायबघर की भाँति अच्छे-से-अच्छे छंद देखते चले जाइए, परंतु उसमें विहारी की भाँति उतने चोज नहीं मिलते, किंतु इसके साथ-ही-साथ इनके साहित्य में अभूतपूर्व कोमलता, रसिकता, सुंदरता आदि गुण कूट-कूटकर भरे हैं । ऐसे उत्कृष्ट पद्य किसी अन्य कविता में, स्वप्न में भी, नहीं देखे जाते । इनके प्रकृष्ट पद्यों के बराबर किसी भाषा में कोई पद्य पाना कठिन है । देव ने आभूषण-सहित रूप का वर्णन अधिक किया है, खाली रूप का कम । इनके मध्या और प्रौढ़ा के भेद उतने बढ़िया नहीं बने, जितने मुग्धा के ।

इनकी कविता में चोरी बहुत कम है । अधिक निर्लज्जता भी नहीं पाई जाती; परंतु 'सुखसागर-तरंग' के पद्य नंबर ७७४ में वह पूर्ण रूप से विराजमान है । एकआध स्थान पर इन्होंने गुरु अक्षर से लघु का काम लिया है । सुखसागर-तरंग का छंद नंबर ४९५ इसका उदाहरण है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव महाराज देश-देश घूमे हैं। पूर्ण रसिक भी थे। अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को बहुत ध्यान-पूर्वक देखा। इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। देश-वर्णन देखकर कहीं-कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि संभवतः इनका चाल-चलन बहुत ठीक न था।

आपके तुकांतों में दो-चार स्थानों पर निरर्थक पद भी देख पड़ते हैं, यथा चाड़िली, रुंज आदि। इन्होंने प्रेम-चंद्रिका के आदि में कहा है कि कवि को प्रेम के ग्रंथ बनाने चाहिए, और पुरानी कथाओं में दिन बृथा ही बीत गए।

(२) देव की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इन दोनों कवियों की-सी उत्कृष्ट भाषा कोई भी अन्य कवि नहीं लिख सका है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनों कवि अन्य कवियों से बहुत बड़े-चढ़े हैं। इनकी कविता में श्रुति-कटु शब्द ढूँढ़े से भी कम मिलते हैं, और इन महाकवियों ने मिलित वर्णों का प्रयोग जितना कम किया है, उतना कम कोई भी अन्य कवि नहीं कर सका है। इन दोनों कवियों की भाषा टकसाली है, विशेषकर देव की अद्वितीय है। इसका कारण यही है कि इनकी कविता में भाषा-संबंधी निम्न-लिखित गुण मतिराम से भी कहीं अधिक हैं।

इनकी भाषा में अनुप्रास भरे पड़े हैं। आप जो शब्द उठाते थे, प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे; और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसी के शब्दों का कोई और अन्तर-क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे। इस प्रकार एक साथ आप कई भाँति के अनुप्रास रख जाते थे। ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक शब्दों का व्यवहार नहीं करना पड़ा, और प्रायः कहीं भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देवजी कृतकार्य हो सके हैं। किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाए जाते। उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

आई बरसाने ते बोलाइ बृषभानु - सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई ;
चक - चकवान के चकाए चकचोटन सों,
चौकत चकोर चकचौधी - सी चकै गई ।

‘देव’ नंद-नंदन के ननन अनंदमई,
 नंदजू के मंदिरन चंदमई छै गई;
 कंजन कलिनमई, कुंजन नलिनमई,
 गोकुल की गलिन अलिनमई कै गई ॥ ६ ॥

देवजी ने तुकांत भी निराले ही रखे हैं। अन्य कवियों ने ऐसे विलक्षण तुकांत नहीं रखे। इन महाकवि का भाषा पर इतना प्रगाढ़ अधिकार था कि इन्हें तुकांत खोजने में कुछ भी कठिनता नहीं पड़ती थी, अतः आप हर प्रकार के टेढ़े-मेढ़े तुकांत रखकर उन्हें निभा ले जाते थे। इसके उदाहरण में सुखसागर-तरंग के पद्य नंबर २५, ३६६, ६४७ और ६६३ द्रष्टव्य हैं।

इन्होंने कहीं-कहीं प्रचलित लोकोक्तियों को बहुत मनोरम प्रकार से अपनी कविता में रक्खा है। यथा—

प्राणपति परमेश्वर सों सामो कहौ कौन सो ?

गरे परि कौलगि प्यारी कहैए ?

काल्हि के जोगी, कलींदे को खप्परु।

मनु-मानिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,

ताको तुम वनिज वतावत हौ कौड़ी को ॥ १० ॥

चंचल नैनि चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै।

सूक्त साँझ-भिया न कछू सु दिया न वरै कहूँ कारे के आगे।

देव ने अपनी कविता में बड़े-बड़े विशेषण रखे हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक-एक चरण तक विशेषण लिखे गए हैं—

नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पाँयन।

बीच जरनारन की, हीरन के हारन की,

जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं।

कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने में समर्थ हुए हैं, उससे आधी सुहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका। प्रसाद, समता, साधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्त, समाधि, कांति और उदारता-नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं। कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार है। कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्रस्तुत है। भाषा की उत्तमता इनका सर्वोत्कृष्ट गुण है, और भाषा को देखते हुए इन कवि को किसी अन्य कवि से न्यून कहना अन्याय समझ पड़ता है। देव की मनोहर भाषा के उदाहरण-स्वरूप हम केवल एक ही पद्य नीचे लिखते हैं, परंतु इस विषय में नीचे लिखे छंद भी विशेष रूप

से द्रष्टव्य हैं—सुखसागर-तरंग के छंद १५१, ३०६, ४८१, ५५४, ७२७ और सुंदरी-सिंदूर के छंद नंबर ५५ इत्यादि ।

मंजु बजै गुजरी कर - कंजन, पायलें पाँय जराय लपेटी ;

नासिका मैं भ्रमकैं मुकुता, स्तुति हू भ्रमकी मनि कुंठल-जेटी ।

लालन-माल, जरी-पट लाल, सखी सँग बाल-बधू कुअँरेटी ;

सेवक 'देव' सबै सुख साजति, राजति, है गिरिराज की बेटी ॥ ११ ॥

जितने उत्कृष्ट पद्य देव की कविता में हैं, उतने किसी अन्य कवि की कविता में, पड़ता लगाने से, नहीं पाए जाते । यदि पद्यों की उत्तमता के हिसाब से विचार करें, तो देव ही सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरेंगे । उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद नंबर १७, ३४, ६६, १०३, ११४, १६३, १८०, २११, ३०६, ३७६, ४५३, ४६७, ५८२, ७६६ और ७६० देखिए । अन्य ग्रंथों के पद्य इस कारण प्रायः उदाहरणों में नहीं लिखे गए कि वे मुद्रित नहीं हैं, और उनके नंबर लिखने और देखने में कठिनाई होगी । अच्छे पद्यों के कुछ उदाहरण आगे लिखे भी जायेंगे ।

(३) देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही अच्छे किए हैं । इनके पद्यों से विदित होता है कि आप प्रकृति के अच्छे निरीक्षक थे, परंतु सिवा मानव-प्रकृति के इतर प्रकृति की ओर यह महाशय निगाह बहुत नहीं उठाते थे । मानव - प्रकृति के वर्णन में इन्होंने वेशक क्लम तोड़ दो है । इसके निम्न-लिखित पद्य उदाहरण हैं—सुखसागर - तरंग के छंद ८६, १४८, १८१, १८२, ३४१, ३७५, ४४८, ४६२, ५३३, ५४२, ६३०, ७०२, ७०८, ७१५, ७४६ और सुंदरी-सिंदूर के छंद १७, २६, ३१, ७५ । रस-विलास में जाति और देशों का प्रायः समस्त वर्णन ऐसा ही है । इसमें देव ने दिखा दिया है कि कवि कितना देखता है । वास्तविक प्रकृति और मानव-प्रकृति के उदाहरण-स्वरूप दो पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

सुनि कै धुनि चातक - मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल - कूकन सों ;

अनुराग - भरे वन - बागन मैं हरि रागत राग अचूकन सों ।

कवि 'देव' घटा उनई जु नई, वन - भूमि भई दल - दूकन सों ;

रँग-राती हरी हहराती लता, भुकि जाती समीर के भूकन सों ॥ १२ ॥

गूजरी ऊजरे जोवन को कछु मोल कहौ दधि कौ तव दैहौ ;

'देव' अहो इतराबु नहीं, ई नहीं मृदु बोल न मोल विकैहौ ।

मोल कहा अनमोल विकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा - रसु लैहौ ;

कैसी कही, फिर तौ कहौ कान्ह, अभै कछु होहौ कका कि सौ कैहौ ॥ १३ ॥

देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है। ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीर कोई भी कवि नहीं खींच सका है। इनकी कविता से विदित होता है कि कवि और चित्रकार में कितना घनिष्ठ संबंध है। ऐसी तसवीरें निम्न-लिखित पद्यों में मिलेंगी। मुखसागर-तरंग के छंद १६७, २८६, २६२, ४१८। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

आओ ओट रावटी झरोखा भाँकि देखौ 'देव',

देखिबे को दाँव फेरि दूजे दौस नाहिनै;

लहलहे अंग रंगमहल के अंगन में,

ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहनै।

लोने मुख लचनि नचनि नैन-कोरन की,

उरति न और ठौर सुरति सराहनै;

बाम कर वार हार आँचर सम्हारै, करै,

कैयो छंद कंदुक उछा। कर दाहिन ॥ १४ ॥

देव ने क्रसमें भी अच्छी खिलाई हैं—

देहौं मिलाय तुम्हैं हौं तिहारियै आनि करौं बृषभानुलली सौं;
बाँभन की सौं, बवा कि सौं मोहन, मोहिँ गऊ कि सौं, गोरस की सौं।

देव ने उपालंभ भी अच्छे दिए हैं। यथा—

कूबरी-सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो।

गोकुल - गाँव के लोग गरीब हैं वासु बराबरि ही को उहाँ तो;

बैठ रहौ, सपनेहू सुन्यो कहूँ राजन सौं परजान सौं नातो।

भाषा-संबंधी काव्यांगों के साथ इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना में बड़ी ही प्रचुरता से रखे हैं। इनके एक-एक छंद में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं, और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है। शब्द-रसायन में ऐसे छंद बहुतायत से मिलेंगे। उसमें स्वयं इन्होंने अपने छंदों के विविध भाव कहीं-कहीं दिखलाए हैं। मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में हमने इनके एक छंद के वर्णन में अलंकार, रसादि का उसमें होना दिखलाया है। इसी प्रकार यदि कोई शब्द-रसायन की टीका रचे, तो इनकी रचना के पूरे गुण साधारण पाठकों पर भी प्रकट हों। पंडित युगलकिशोरजी मिश्र ऐसी ही एक टीका रच रहे थे, परंतु शोक है कि वह अपूर्ण रह गई, और उनका स्वर्गवास हो गया। कुछ लोगों का विचार है कि देव की भाषा-मात्र श्रेष्ठ है, किंतु

भाव-सबलता इनकी रचना का मुख्यांग नहीं है। हमारा मत इस कथन के बिलकुल प्रतिकूल है। जो लोग इनकी रचना में शब्दाडंबर-मात्र देखते हैं, वे हमारी समझ में भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किंतु साहित्य-गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते। देव ने स्वयं यही मत प्रकट किया है। हम भाव-सबलता देव का मुख्य गुण मानते हैं। प्रेम का वर्णन आपका अद्वितीय है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इसमें आपने दांपत्य प्रीति की मुख्यता अवश्य रखी है, किंतु है वह औवल दर्जे का। आपने अधिक स्थानों पर केवल नायक या नायिका का कथन नहीं किया है, वरन् प्रायः दोनों का मिला हुआ वर्णन दिया है। हमारी समझ में देव के इतर गुण उतने सबल हैं कि इनके भाषा-संबंधी गौरव को बिलकुल छोड़ देने से भी इनका नंबर वहीं-का-वहीं रहता है। मुख्य करके आप आचार्य हैं। भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल आदि, सभी में आपको आचार्यता देख पड़ती है। इनके प्रायः ग्रंथों से ये सब बातें प्रकट हैं। देव-चरित्र में आपने भगवान् कृष्णचंद्र की कथा भी खूब अच्छी कही है। देव-माया-प्रपंच-नाटक भी दर्शनीय है। जिन विषयों के उदाहरण इस ग्रंथ में बतलाए गए हैं, वे सब देव-सुधा में भी प्राचुर्य से प्राप्त हैं। अर्थ समझाकर परमोत्कृष्ट छंद सामने रखने को ही वह संग्रह किया गया है।

(४) देव ने ऊँचे विचार बहुत ही अधिक बाँधे हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे विचार सब कवियों में नहीं पाए जाते—

आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लगै ;

प्यारी राधिका को पतिविव-सो लगत चंद ।

आपके बराबर अमीरी का सामान बाँधनेवाला कोई भी कवि नहीं है। इनके छंदों में हर स्थान पर साज़-सामान खूब देख पड़ता है। इससे विदित होता है कि यह महाराज अमीरों में रहे थे। रस-विलास के चौथे अध्याय के छंद ३०, ३१ और ३२ इस कथन के उदाहरण हैं। अष्टयाम में बहुत प्रकार के मकान कहे गए हैं।

इसी ऊँचे विचार और अमीरी से मिलता हुआ अतिशयोक्ति का विषय है। इसका भी देव की कविता में प्रभुत्व रहता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद १८०, २१४ हैं। तो भी इतना कहना पड़ेगा कि स्वभावोक्ति इनका प्रधान गुण है।

इन्होंने ग्रामीण नायिकाओं को इतना बढ़ाया है कि वे अन्य कवियों की नागरी नायिकाओं से भी अधिक नागरी देख पड़ती हैं। देवजी की नागरी

नायिकाओं के वर्णन में तो सरसता, कोमलता आदि का बारापार नहीं है। इनका प्रामीण उदाहरण लीजिए—

बारिषै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील-भरे रस-रूप-सनाई।
राज बधू बलि राज-कुमारि, अहां सुकमारि न मानौ मनाई;
नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर है जैहै सबै चिकनाई ॥ १५ ॥

(५) देव की कविता में हृदय पर चोट करनेवाले चित्त के सत्त्वे भाव बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। ऐसे कलेजा निकालकर सामने रख देनेवाले विशद पद्य बहुत कम कवियों में मिलते हैं। इन्हें केवल वे ही कवि बना सकते हैं, जो किसी विषय में विलकुल तल्लीन हो गए हों। ऐसे पद्य प्रेमालाप में बहुत आते हैं, अतः प्रेम-चंद्रिका में ये बहुतायत से आए हैं। प्रेम का आपने अद्वितीय-प्राय कथन किया है। उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के पद्य ५८१, ६०२, ६५४, ७७७ और ८२६, सुंदरी - सिंदूर का तीसरा पद्य, प्रेम-चंद्रिका के तीसरे अध्याय के छंद ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१ और चौथे अध्याय का पाँचवाँ छंद देखिए। प्रेम-चंद्रिका के उदाहरण में जो दो पद्य ऊपर लिखे जा चुके हैं, वे इसके भी उदाहरण हैं। अपने छंदों में मन पर भी आपने अच्छे-अच्छे भाव बाँधे हैं। देव-सुधा में इनका प्राचुर्य है।

(६) देवजी ने उपमाएँ बहुत खोज-खोजकर दी हैं। उपमा तथा उससे मिलते हुए रूपक आदि अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

उर में उरोज जैसे उमगत पाग है।

साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।

सुखसागर-तरंग के छंद ३०७, ३५२, ३७०, ४६६, ५३६, ६५४, ८२४ और सुंदरी-सिंदूर का ४५वाँ छंद भी देखने योग्य है। इन्होंने ऐसी अनूठी उपमाएँ आदि लिखी हैं, जो केवल यही लिखते हैं, दूसरा नहीं। कुछ और छंद या छंदांश यहाँ भी लिखे जाते हैं—

'देव' कछू अपनो बमु ना, रस, लालच लाल चितै भई चेरी;

बेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।

(प्रेम-चंद्रिका)

'देव' जू द्वार किँवारन हू मँझरीन, मरोखन मँकि फिरी त्यों;

दीन ज्यों मीन जरा की भई है, फिरै, फरकै पिँजरा की चिरी ज्यों।

(प्रेम-चंद्रिका)

सुघर सोनार रूप सुवरनचोर हग,
कोरि हरि लेत रवा राखत न राई-सी ;

X

X

X

घर - घरिया में घुरी, घरी में उघरि आई,
फैली जाति फूल नहीं फिरति गराई - सी ;
'देव'जू सोहाग - रंग आँचन तचाई सोई,
रचना सिरांत तची कंचन सिराई - सी ।

(प्रेम-चंद्रिका)

नाथ्यो जा फनिंद इंद्रजालिक गोपाल गुन,
गाइरू सिंगार रूप - कला अकुलाई है ;
लीलि - लीलि लाज हग मीलि - मीलि काही कान्ह,
कीलि - कीलि ब्यालिनी - सी ग्वालिनी बोलाई है ।

(प्रेम-चंद्रिका)

चौंकि - चौंकि चकित चितौती चहुँ ओर, भई
साँझ की - सी चकई, चकोरी मनो भोर की ।

(प्रेम-चंद्रिका)

बालपनो, तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबर केवल बोलै,
दोरु जवाहिर जौहरी मेन, सुनैन - पलान तुला धरि तोलै ।

(सुजान-विनोद)

'देव' तेडव गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों - ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत ।

(सुजान-चरित्र)

पतिव्रत - व्रती ये उपासी प्यासी अखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो ।

बड़े - बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो - गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात ।

(प्रेम-चंद्रिका)

बेलि बधून सों केलि कै पौन अन्हाय सरोजन के रस भीने ;
नायक लौ निकसो तजि कुंजन गुंजन सों अलि-पुंजन लीने ।

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

कुल की - सी करनी, कुलीन की - सी कोमलता,
सील की - सी संपति सुसील कुल कामनी ;

दान को - सो आदर, उदारताई सूर की - सी,
गुनी की लोनाई, गुनमंती गजगामिनी ।

मीषम को सलिल, सिसिर को - सो घाम 'देव',
हे उत हसंती जलदागम की दामिनी ;

पूण्यो को - सो चंद्रमा, प्रभात को - सो सूरज,
सरद को-सो वासर, वसंत की - सी जामिनी ॥ १६ ॥

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

हाय दर्ई, यदि काल के खयाल मैं फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने ।

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते,

ती की चितौनि चली अति ओज की ;

बालम ओर विलोकि कै बाल,

दर्ई मनो खैंचि स-नाल सरोज की ।

(सुजान-चरित्र)

आरसी - से अंबर मैं आभा - सी उज्यारी लगै ,

प्यारी राधिका को प्रतिविंब-सो लगत चंद ।

(सुजान-चरित्र)

बालम के उर मैं उ रमै, सु - सदा लपटी रहै साल पटी - सी ।

(सुजान-चरित्र)

जो छंद ग्रंथ में कविता के उदाहरण-स्वरूप लिखे गए हैं, उनमें भी कितने ही उपमा आदि के लिये भी दर्शनीय हैं ।

इन्होंने सर्वांग-रूपक बड़े ही विशद कहे हैं । यथा—सुखसागर-तरंग के छंद ५२४, ६४३, ८१७, २३८, सुंदरी - सिंदूर के ६, ९, ३४, ६८, रस-विलास के सातवें अध्याय का छंद ५९, शब्द-रसायन के नव अध्याय का छंद ७३ ।

(७) देवजी ने बहुत-से चोज भी कहे हैं, यथा—

जोगहू ते कठिन सँजोग पर - नारी को ।

सुख थोरो अरु दुख बड़ो परकीया की प्रीत ।

है परमेसुर ते पति नीको, सदा पतिनी को जो लोक - लहावै ;

'देव'जू तासो कहा कहिए, दुख कै सुख सो सहिए जो सहावै ।

दूरि ही ते रहिए कर जोरे, भले गहिए पग जो पै गहावै ;

गरि करै मनुहारि बिसारि, परै कुन-गारि कुनारि कहावै ॥ १७ ॥

(८) इनकी कावेता से विदित होता है कि यह अभिमानी भी बड़े थे, और इन्हें किसी की बरदाश्त न थी । इनकी बहुज्ञता भी बहुत बड़ी-चढ़ी थी । बहुतेरे विषयों का इन्हें ज्ञासा ज्ञान था । इतने अनमेल विषयों पर किसी ने कविता नहीं की है । इन्होंने काव्य-रीतियों पर भी बड़ी दृढ़ता से गमन किया है । देव-ग्रंथावली की भूमिका में हमने देव के अनेक सदगुणों के उदाहरण-स्वरूप उन छंदों का हवाला दिया है, जो उन्हीं ग्रंथों में हैं । उन सब छंदों को यहाँ दोहराने से ग्रंथ का आकार बहुत बढ़ जायगा, इसीलिये यहाँ थोड़े में उनका कथन किया जाता है । जो महाशय वे सब छंद देखना चाहें, वे उस ग्रंथ को पढ़ने की कृपा करें । उक्तियों का देव की कविता में अच्छा समावेश है । अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि के आपने ज्ञासे उदाहरण दिए हैं । काकु, अत्यंत तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना में मिलेंगे । इशारों तथा ध्वनियों में कहीं-कहीं आपने बड़े चमत्कार-पूर्ण भाव रक्खे हैं । बहुत स्थानों पर अनेकानेक भावों का आपने एक ही छंद में बड़ा विशद वर्णन किया है । ऐसा भाव-समुच्चय बड़े-बड़े कवि ही दिखला सकते हैं । लाज, मन आदि को संबोधित करके देव ने कई बहुत अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं । प्रेम और योग तथा योग और वियोग को मिला-मिलाकर आपने अच्छे-अच्छे भाव दिखलाए हैं । यद्यपि प्रकृति-निरीक्षण के फल आपकी रचना में बहुतायत से नहीं, तथापि इस संबंध के छंदों की संख्या बहुत कम भी नहीं है । आपने बहुतेरे अनमिल विषयों पर सफलता-पूर्वक रचना की है, जैसा कि ऊपर लिखे हुए इनके ग्रंथों से विदित हुआ होगा । भाषा-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे । आपने दशांग कविता पर अनेकानेक रीति-ग्रंथ बनाए, और भाव-भेद, रस-भेद तथा प्रेम का कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार से अनूठा, हृदयग्राही तथा मनोरम वर्णन किया । आपकी रचना में शृंगार-रस की विशेषता अवश्य है, परंतु फिर भी उसमें सदैव सदुपदेश दिए गए, और प्रेम का भाव बहुत ऊँचा रक्खा गया है । शृंगारी कवि होने पर भी आपने वैराग्य, राग, माया, आत्मज्ञान, वृत्त, पावस, नीति आदि पर अनमोल ग्रंथ रचे । कवि-कर्तव्य आपकी सम्मति में कितना ऊँचा है, यह दिखाने को आपका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

जाके न काम, न क्रोध, विरोध न, लोभ छुवै नहिँ छोभ को छाहौ ;
मोह न जाहि रहै जग-वाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहौ ।
बानी पुनोति ज्यों देव-धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ ;
सील ससी सबिता छविता, कविताहि रचै कवि ताहि सराहौ ॥ १८ ॥

(प्रेम-चंद्रिका)

(६) देवजी की कविता के गुण-दोष हम सूक्ष्मतया ऊपर दिखा चुके । यों तो इनकी कविता के गुण अगाध हैं, और उनका वर्णन करना कठिन काम है, तथापि यथासाध्य हमने उनको थोड़े में, स्थाली-पुलाक-न्याय से, दिखा दिया है । जिस प्रकार लोग सूरदास और तुलसीदास की स्तुति कर गए हैं, उसी प्रकार इनकी भी की गई है । इनके विषय में निम्न-लिखित छंद हमने सुना है, जो सुखसागर-तरंग की भूमिका में हमारे पूज्य पिता ने भी लिखा—

सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नद्यत्र कैसेौ,
 शेष कविराजन को जुगनू गनायकै ;
 कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो, अब
 काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लायकै ।
 देव नभ - मंडल - समान है कवीन मध्य,
 जामैं भानु, सितभानु, तारागन आयकै ;
 उदै होत, अथवत, चारो ओर भ्रमत, पै
 जाको ओर - छोर नहिँ परत लखायकै ।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि विहारीलाल देव से श्रेष्ठ कवि हैं । किसी-किसी को यहाँ तक संदेह हुआ है कि हमने विहारी का वर्णन जो नवरत्न में किया है, उसका एकमात्र अभिप्राय उस महाकवि की निंदा करनी है । ऐसे लोगों से हम क्षमा के प्रार्थी हैं, और उन्हें निश्चय दिलाते हैं कि हमने जो कुछ लिखा है, वे हमारे शुद्ध विचार हैं । उनका कहना है कि देव के कितने ही छंद बहुत कठिन हैं, अतः रचना में प्रसाद-गुण नहीं है । यदि सौ छंदों में दस-पाँच बहुत कठिन हों, जैसा कि है भी, तो पूरी रचना में प्रसाद का अभाव नहीं माना जा सकता । इसी भाँति यदि देव ने कुछ शब्द मरोड़े हों, तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ऐसे शब्दों का पड़ता इनकी रचना में अधिक न बैठेगा ।

देवजी की कविता में जो गुण हैं, वे अद्वितीय हैं । ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ में, एक स्थान पर, नहीं पाई जाती । जैसे विशद छंद इनकी कविता में सैकड़ों पाए जाते हैं, वैसे छंद किसी कविता में, किसी स्थान पर, न निकलेंगे । ये सब बातें होते हुए भी हम इनको भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ कवि नहीं कह सकते । इनको किसी कवि से न्यून कहना इनके साथ अन्याय समझ पड़ता है, परंतु इनको सर्व-श्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास के साथ भी अन्याय होगा । सिवा इन दोनों महात्माओं के और किसी तृतीय कवि की तुलना देवजी से कदापि नहीं की जा सकती । शेष कवियों से और

देवजी से बहुत बड़ा अंतर है, और जो देवजी के प्रधान गुण हैं, उनमें इनकी कविता और उपर्युक्त दोनो महात्माओं की कविता में भी बहुत बड़ा अंतर है; क्योंकि वे महात्मा भी उन गुणों को अपनी-अपनी कविता में सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितांत असमर्थ रहे; परंतु जो बहुतेरे गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं, वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं। यदि देवजी किसी भारी कथा-प्रसंग का काव्य करते, तो नहीं मालूम, उनका वर्णन कैसा होता? संभव है, यह भी वैसा काव्य कर सकते, जैसा उन महात्माओं ने किया है, परंतु जब तक कोई वैसा साहित्य रचकर दिखा न दे, तब तक यह कहा नहीं जा सकता कि वह अवश्य ऐसा कर सकता है, चाहे जितना बड़ा कवि वह क्यों न हो। सूरदास की साधारण कविता से तो देवजी की कविता की कोई भी तुलना नहीं की जा सकती, परंतु सूर-कृत उत्कृष्ट प्रबंधों की बराबरी देव का कोई भी ग्रंथ नहीं कर सकता। सूर का कोई भी पद देवजी के कवित्तों के बराबर मनोहर नहीं है, परंतु उनके कुछ परमोत्तम प्रबंध ऐसे हैं कि वे बहुत ही आला दरजे के हैं, और उनके सम्मिलित प्रभाव की समता देवजी का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। ये ही बातें गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी चरितार्थ होती हैं। देव-कृत छंदों की उत्तमता को तो कोई भी कवि नहीं पहुँचता, परंतु इसी प्रकार गोस्वामीजी का भी सदा ही निभनेवाला औचित्य बहुत ही अद्वितीय है। तुलसीदास की रचना हर स्थान पर अत्यंत सराहनीय है, और सैकड़ों पृष्ठों तक वह शिथिल नहीं हुई है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि कुल मिलाकर ये दोनो महात्मा देवजी से श्रेष्ठ नहीं हैं।

ये तीनों महापुरुष भाषा-साहित्य के भूषण हैं, और अपने-अपने ढंग पर तीनों अनमोल हैं। इनके विषय में न्यूनाधिक कहना मतभेद से खाली नहीं है। इन तीनों के भक्त अपने-अपने कवि को सर्वोत्तम मानते हैं। हमने इन तीनों महाकवियों के ग्रंथ बहुत ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, और हम तीनों को महान् समझते हैं। संभव है, इनके विषय में जो कुछ हमने कहा है, वह अन्य साहित्यानुरागियों को यथार्थ न जँचे, और इसमें हम यह नहीं कह सकते कि यह उनकी भूल अवश्य होगी, परंतु जहाँ तक हमें समझ पड़ा, हमने इनके विषय में अपना मत प्रकट किया। इतना अवश्य निश्चित है कि इन तीनों महानुभावों के बराबर कोई चौथा कवि किसी प्रकार नहीं पहुँचता, क्योंकि यदि इन तीनों में ६० और १०० का अंतर है, तो शेष में इनसे ७० और १०० का अंतर निकलेगा। कुछ लोगों को यह वास्तविक भ्रम है कि बिहारी सचमुच देव से श्रेष्ठ कवि हैं। इस विचार की पुष्टि में वे देव-कृत हजारों छंदों से कुछ साधारण पद निकालकर उनका

बिहारी के अच्छे दोहों से मिलान करते हैं। उनका यह विचार शुद्ध शंकाभय समझकर हमने देव के २७१ अच्छे छंद चुनकर देव-सुधा-संग्रह प्रकाशित किया है। उसे देखकर पाठक सहज में ही समझ सकेंगे कि इन दोनों कवियों में से चुने हुए छंद किसके अच्छे हैं, और कौन कैसा है? हम अपने विचारों को ठीक समझते हैं; सो स्वाभाविक ही है। इन महाशय की कविता का बड़ा भाग अध्यात्म-संबंध पर भी है। इन दिनों बिहारी के भी २७० दोहे छाँटकर हमने बिहारी-सुधा भी प्रकाशित किया है।

देवजी के विषय में एक अपना छंद लिखकर हम यह प्रबंध समाप्त करते हैं—

देव सुकवि ने बिरच छंद अनुपम टकसाली ;
भाषा की सरबोच्च दिखाई छटा निराली ।
देस - देस की विसद तरुनिगन बरन सुनाया ;
कर बरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया ।
दस अंग काव्य, वैराग, त्यों राग-भेद सब कुछ कहा ;
सब कवियों में यह एक कवि भाषा का राजा रहा ।
देवजी की रचना के कुछ उदाहरण आगे लिखे जाते हैं —

प्रेम-चंद्रिका

आँखिन आँखि लगाए रहैं, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी ;
'देव' रही हिय मैं घर कै, न रुकै, निसरै, विसरै न विसारी ।
फूल मैं वासु ज्यों मूल सुवासु की, है फल-फूल रही फुलवारी ;
प्यारी उज्यारी हिये भरिपूरि, सु दूरि न जीवनमूरि हमारी ॥ १ ॥

एकै अभिलाष लाख , लाख भाँति लेखियत ,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं ;
जासों मनु राचै, तासों तनु - मनु राचै, रुचि
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं ।

पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय ,
साँच देइ प्यारे की सती लौ बैठि सर मैं ;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि ,
बैठो गड़ि गहिरे, तौ पैठो प्रेम - घर मैं ॥ २ ॥

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो ,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गए एक संग मैं ;

कारे - कारे आखर लिखे जु कारे कागर ,
 सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मै ।
 आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि, जिमि
 जंबु - रस - बूंद जमुना - जल - तरंग मैं ;
 यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई ,
 स्याम रंग है करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥ ३ ॥
 वारै कोरि इंदु अरविंदु रसविंदु पर ,
 मानै ना मलिंद बिंदुसम कै सुधासरो ;
 मलै, मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा ,
 चपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो ।
 पदुमिनि तुही षटपदु को परस पदु ,
 'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो ;
 रस, रिस, रास, रोस आसरो सरन, विसे
 बीसो विसवास रोकि राख्यो निसि - वासरो ॥ ४ ॥
 को कुल या ब्रज गोकुल दो कुल दीप-सिखा-सी ससी-सी नहीं भरि ;
 त्यों न तिन्हैं हरि हेरत री रंगराती न जो अंगराती गरे परि ।
 जो नवला नव-इंदुकला ज्यों लची परै प्रेम रची पिय सों लुरि ;
 भेटत देखि विसेखि हिये ब्रजभूभुज 'देव' दुहूँ भुज सों भरि ॥ ५ ॥
 प्रेम कहानिन सों पहिले हरि कानन आनि समीप किए तैं ;
 चित्र चरित्रन मित्र भए सपने महुँ मोहिँ मिलाइ लिए तैं ।
 'देवजू' दूरि ते दौरि दुराइ कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिए तैं ;
 बारिज - से विकसे मुख वै निकसे इत है, निकसे न हिए तैं ॥ ६ ॥
 'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं ;
 पूरि रही री वही धुनि कानन आन न आनन ओप अनूप मैं ।
 ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै जाय मिलीं जल-बुंद ज्यों कूप मैं ;
 कोटि उपाय न पाइय फेरि, समाइ गई रंगराइ के रूप मैं ॥ ७ ॥
 लाल बुलाई है, को हैं वे लाल, न जानती हौ तौ सुखी रहिबो करि ;
 री सुख काहे को देखे बिना दिखसाधन ही जियरा न परयो जरि ।
 'देव' तौ जानि अजान क्यों होति ? इती सुनि आँसुन नैन लए भरि ;
 साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोहिँ कहा कहिहैं हरि ॥ ८ ॥
 जागत - जागत खीन भई, अब लागत संग सखीन को भारो ;
 खेलिवोऊ हँसिवोऊ कहा सुख सों वसिवो विसे बीस विसारो ।

प्य-सुधि दौस गँवावति 'देवजू' जामिनि जाम मनौ जुग चारो ;
नीरजनैनी निहारिए नैनन धीरज राखत ध्यान तिहारो ॥ ९ ॥

साँसन ही सों ससीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
'देव' जियै मिलिवेई कि आस कै आस हू पास अकास रख्यो भरि ;
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥ १० ॥

रीझि - रीझि, रहसि - रहसि, हँसि - हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई - दई ;
चौकि - चौकि, चकि - चकि, उचकि-उचकि 'देव'
जकि - जकि, बकि - बकि, परत बई - बई ।

दुहुन को रूप - गुन दोऊ वरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई - नई ;
मोहि - मोहि मोहन को मन भयो राधिकामै,
राधा मन मोहि - मोहि मोहन मई - मई* ॥ ११ ॥

पीछे तिरीछे चितौनि सोई इत वै चितवैं री लला ललचो हैं ;
चौगुनो चाउ चवाइन के चित चाव चढो है चवाउ मचो हैं ।
जोवनु आयो न पापु लग्यो कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसोहैं ;
जी मैं लजैए जु जैए कहूँ तित पैए कलंक चितैए जु सोहैं ॥ १२ ॥

प्रेम - चरचा है अरचा है कुल नेम, न
रचा है चित और अरचा है चित्तचारी को ;
छोड़यो परलोक नर - लोक वरलोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर - नारी को ।
घाम, सीत, मेह न विचारै सुख देह हू को,
प्रीतम सनेह डरु वन न आँधारी को ;
भूलेहू न भोग, बड़ी विपति, वियोग - विथा,
जोग हू ते कठिन सँजोग परनारी को ॥ १३ ॥
नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगै सोवत तनक ते ;
ननद नछीछी त्योरी तोरति तिरीछी, लखि
बीछी - कैसो विषु बगरावैगी भनक ते ।

देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
 कैसे कहौ जाहु नाथ, आए हौ बनक ते ;
 बस ना हमारो रंगरस ना बनत, चौँकि
 रसना दसन दावै रसना मनक ते ॥ १४ ॥

वारिधि विरह वड़ी वारिधि की वड़वागि,
 बूड़े वड़े - वड़े जहाँ पारै प्रेम - पुलते ;
 गरुओ दरव 'देव' जोवन गरव गिरि,
 परयो गुन दूटि छूटि बुधि - नाउ डुलते ।
 मेरे मन तेरी भूल, मरी हौँ हिये की सूल,
 कीन्ही तिन तूल - तूल अति हो अतुलते ;
 भावते ते भोड़ी करो, मानिनी ते मोड़ी करी,
 कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते ॥ १५ ॥

आपुस मैं रस मैं रहसैं - बहसैं वनि राधिका कुंजविहारी ;
 स्यामा सराहत स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी ।
 एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय, प्यौ कहै प्यारी ;
 'देवजू' वालम वाल को वादु विलोकि भई बलिहौँ बलिहारी ॥ १६ ॥

अंबकुल, वकुल, कदंब, मल्ली, सालती,
 मलैजन को मींजकै गुलावन की गली है ;
 को गनै अलपतरु, जीसों जो कलपतरु,
 तासों विकल्प क्यों अलपमति अली है ।
 चित जाके चाय - चढ़ि चंपक चपायो कोन,
 मोचि मुख सोचि है सकुचि चुप चली है ;
 कंचन विचारे रुचि पंचन मैं पाई 'देव',
 चंपावरनी के गरे परयो चंपकली है ॥ १७ ॥

धार मैं धाड़ धँसों निरधार है, जाय फँसों उकसी न अबेरी ;
 री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं औ धिरीं नहिँ घेरी ।
 'देव' कछू अपनो वसु ना रस, लालच लाल चितै भई चेरी ;
 बेगि ही बूझि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ॥ १८ ॥

पहिले सतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पौँय गहाइए तौ ;
 फिरि भेंटि भद्र भरि अंक निसंक बड़े खन लौँ उर लाइए तौ ।
 अपनो दुख औरनि को उपहासु सबै कवि 'देव' जताइए तौ ;
 धनस्यामहिँ नेकहुँ एक घरी को इहाँ लागि जो करि पाइए तौ ॥ १९ ॥

जीभ कुजाति न नेकु लजाति गनै कुल - जाति न बात बख्यो करै ;
 'देव' नयो हिय नेह लगाय विदेह कि आँचन देह दख्यो करै ।
 जीव अजान न जानत जान जो मैन अयान के ध्यान रख्यो करै ;
 काहे को मेरो कहावत मेरो जुपै मन मेरो न मेरो कह्यो करै ॥ २० ॥

रीभे सुख पाऊँ औ न खीभे सुख पाऊँ, मेरे

रीभ - खीभ एकै रँग राग्यो सोई रागि चुक्यो ;

जस - अपजस, कुवड़ाई औ बड़ाई, गुन-

औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो ।

कौन काज गुरुजन वरजै जु दुरजन ,

कैसो कुल-नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो ;

लोगन लगायो सुतौ लाग्यो अनलाग्यो 'देव' ,

पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यो ॥ २१ ॥

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ ,

कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;

कैसो परलोक, नरलोक वर लोकन मैं ,

लीन्हो मैं अलोक लोक-लीकन ते न्यारी हौं ।

तन जाहि, मन जाहि 'देव' गुरुजन जाहि ,

जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं ;

बृंदावनवारी वनवारी के मुकुट पर ,

पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥ २२ ॥

कैसी कुल-वधू ? कुल कैसो ? कुल-वधू कौन ?

तू है, यह कौन पूछै काहू कुलटाहि री ?

कहा भयो तोहि ? कहा काहि तोहि मोहि कीधौ

कीधौ और का है और कहा न तौ काहि री ?

जाति ही ते जाति, कैसी जाति ? को है जाति ? एरी

तोसों हौं रिसाति, मेरो मोसों न रिसाहि री ;

लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिवे हौं रही ,

पंच हँसिहैं री, हौं तौ पंचन ते बाहिरी ॥ २३ ॥

बोरयो बंस - विरद मैं बौरी भई वरजत ,

मेरे बार - बार वीर कोई पास पैठौ जनि ;

सिगिरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही ,

गोहन मैं छाँड़ौ मोसों भौहन अमैठौ जनि ।

कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, क्रूर,
 काहू के न काम की निकाम याते ऐंठौ जनि;
 'देव' तहाँ वैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ
 बैठी हौं विकल, कोई मोहिँ मिलि बैठौ जनि ॥ २४ ॥

जिन जान्यो वेद ते तौ बाद कै विदित होंहिँ,
 जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ;
 जिन जान्यो तपु तीनो तापन सों तपि, जिन
 पंचागिनी साध्यो ते समाधिन परि मरौ।
 जिन जान्यो जोग तेऊ जोगी जुग-जुग जियो,
 जिन जान्यो जोति तेऊ जोति लै जरि मरौ;
 हौं तौ 'देव' नंद के कुमार तेरी चेरी भई,
 मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥ २५ ॥

मोहिँ तुम्हें अंतरु गनैं न गुरुजन, तुम
 मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न पधिलत हौ;
 पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ,
 पंच पूँछि देखे, कहूँ काहू ना हिलत हौ।
 ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
 गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ;
 ऐसे निरमोही सदा मोही मैं बसत अरु

मोही ते निकरि फेरि मोहीं न मिलत हौ ॥ २६ ॥
 को हमको तुम - से तपसी बिन जोग सिखावन आइहै ऊधो;
 पै अब एही कहौ उनको पिछली सुधि आवति है कबहू धो?
 एक भली भई भूप भए जिन्हैं भूलि गए दधि, माखन, दूधो;
 कूबरी - सी अति सूधी बधू बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो ॥ २७ ॥
 रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों छुति सानो;
 गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानो।
 ऊधो, हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिँ मानो;
 या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनते बु वसौ तब जानो ॥ २८ ॥

जौ न जी मैं प्रेम, तब कीजै ब्रत - नेम, जब
 कंज - मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए;
 आस नहीं पी की, तब आसन हीं बाँधियत,
 सासन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए।

नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
 बाहिर हू भीतर न दूजो 'देव' देखिए ;
 जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम, जु
 छाँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए ॥ २६ ॥
 जोगहि सिखै हैं ऊधौ जो गहि कै हाथ हम,
 सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ कै चुकीं ;
 'देव' पं सायक नचाय खोलि पंचन मैं,
 पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकीं ।
 कुल - वधू हूँ कै हाय कुलटा कहाई, अरु
 गोकुल मैं, कुल मैं, कलंक सिर लै चुकीं ;
 चित होत हित न हमारे नित और, सो तौ
 वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं ॥ ३० ॥
 'देव' प्रीति-पंथा चीरि, चीर गारे कंथा डारि,
 भसम रमाय खान - पान हू न छूजिए ;
 दूरि दुख - दुंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
 ध्यान सुंदरानन गुरू के पग पूजिए ।
 शृंगी की टकी लगाय, भृंगी - कीट कै मनु,
 विरागिनि हूँ वपु विरहागिनि मैं भूजिए ;
 केली तजि राधिका अकेली होय जोगिनि, तौ
 अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ॥ ३१ ॥
 अंजन सों रंजित निरंजनहि जानैं कहा,
 फीको लगै फूल रस चाखे हो जु बौड़ी को ;
 तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
 ताहि कहा सबद सुनावत हौ बौड़ी को ।
 ऊधो पूरे पारखी हौ, परखे बनाय 'देव',
 वारही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को ;
 मनु-मनिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
 तिन्हैं तुम बनज वतावत हौ कौड़ी को ॥ ३२ ॥
 कुबिजा कितेव दुबिजा के रहे आपु 'देव',
 असंभवतारी अब तारी जिन गनिका ;
 आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
 तारत तिलोक चरनोदक की कनिका ।

उनके गुनानुवाद तुम - सों सुने हैं ऊबो,
 गोपिन को सूघो मत प्रेम की ज्वनिका ;
 कुंजन मैं टेरि हैं जु स्याम को सुमिरि नीके,
 हाथ लै न फेरि हैं सुमिरिनी के मनिका ॥ ३३ ॥
 मंद महामोहक मधुर सुर सुनियत,
 धुनियत सीस बँधी बाँसी है, री बाँसी है ;
 गोकुल की कुल - बधू को कुल सम्भारै नहीं,
 दो कुल निहारै, लाज नासी है, री नासी है ।
 काहि धौं सिखावत, सिलै को काहि सुधि होय,
 सुधि-बुधि कारे कान्ह डासी है, री डासी है ;
 'देव' ब्रजवासी या बिसासी की चितौनि, वह
 गाँसी है री हाँसी, वह फाँसी है, री फाँसी है ॥ ३४ ॥
 फलि-फलि, फूलि-फलि, फैलि-फैलि, भुकि-भुकि,
 भूपकि-भूपकि आईं कुंजें चहुँ कोद ते ;
 हिलि-मिलि हेलिन को केलिन करन गईं,
 वेलिन विलोकि बधू ब्रज की विनोद ते ।
 नंदजू की पौरि पर ठाढ़े हैं रसिक 'देव',
 मोहनजू मोहि लीनी मोहिनी वे मोद ते ;
 गायन सुनत भूलीं साथन की, फल गिरे
 हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते ॥ ३५ ॥
 मोही मैं छिपे हौ मोहि छुवावत न छाँहौ, तापै
 छाँह भए डोलत, इते पै मोहि छरिहौ ;
 मच्छ सुनि, कच्छप, बराह, नरसिंह सुनि,
 वामन, परमुराम, रावन के अरि हौ ।
 'देव' बलदेव, देव - दानव न पावैं भेव,
 को हौ जू, कहौ जू जो हिये की पीर हरिहौ ?
 कहत पुकारे प्रभु कर्नानिधान कान्ह,
 कान मूँदि, बौध हूँ, कलंकी काहि करिहौ ? ॥ ३६ ॥
 कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, क्यों
 हँसो तुम्हें अनोखो ? नेकु सीत मैं ससन देहु ;
 अंबर हरैया हरि ! अंबर उजेरो होत,
 हेरि कै हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु ।

‘देव’ दुति देखिवे को लोयन मैं लागी लखौ,
 लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु;
 हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
 अजहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ॥ ३७ ॥
 बारे बड़े उमड़े सब जैवे को हौं न तुम्हैं पठवों बलिहारी;
 मेरे तौ जीवन ‘देव’ यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी।
 जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं वनभूमि निहारी;
 याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ॥ ३८ ॥

सुजान-विनोद

हौं ही ब्रज, वृंदावन मोही मैं बसत सदा,
 जमुना - तरंग स्यामरंग अवलीन की;
 चहूँ ओर सुंदर सधन वन देखियत,
 कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की।
 बंसोवट - तट नटनागर नटत सो मैं,
 रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की;
 भरि रही भनक वनक ताल-ताननि की,
 तनक - तनक तामैं भनक चुरीन की ॥ ३९ ॥
 भारी भरथो बिबि भौंहनि रूप सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै;
 नीको चुनी को लिलार मैं टीको सुटेकि खिलार खरे गुन खोलै;
 बालपनो तरुनापनो बाल को ‘देव’ बराबर केवल बोलै;
 दोऊ जवाहिर जौहरी मैं सु नैन-पलानि तुला धरि तोलै ॥ ४० ॥
 धाइ के अंक में सोई निसंक हूँ पंकज - सी अखियान भकाभकी;
 त्यों सपने मैं लखे अपने प्रिय प्रेमपने: छवि ही की छकाछकी।
 ठाढ़े हूँ भेंटि भरी भुज गाढ़े ही बाढ़ी दुहूँ के हिये मैं सकासकी;
 ‘देव’ जगी, रतिया हू गई, न तिया की गई छतिया की धकाधकी ॥ ४१ ॥
 साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े - बड़े नैन री;
 या वन आवत गैयनि लै नित ‘देव’ दिखैयनि के चित चैन री।
 मैं हूँ सुनीं सो कहा कहौं लाज की बात कहूँ सखि तू कहिए न री;
 वा जगवंचक देखे बिना दुखिया अखियान न रंचक चैन री ॥ ४२ ॥
 बैरागिनि, कीर्धौ अनुरागिनि सोहागिनि तू,
 • ‘देव’ बड़भागिनि, लजाति औ लरति क्यों ?

सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौकति, चकति, उचकति औ बकति,
विथकति औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति सह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यों ? ॥ ४३ ॥

बैठी सीसमंदिर मैं सुंदरि सवारही की,
मूँदि कै किँवार 'देव' छवि सों छकति है ;
पीत पट, लकुट, मुकुट, वनमाल धरि,
वेष करि पी को, प्रतिविब मैं तकति है ।
होति न निसंक, उर अंक भरि भेंटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति, जकति है ;
चौकति, चकति, उचकति, चितवति, चहूँ,

भूमि ललचाति, मुख चूमि न सकति है ॥ ४४ ॥

प्राण - सों प्राणपती - सों निरंतर अंतर अंतर पारत हेरी ;
'देव' कहा कहाँ बाहेरहूँ, घर - बाहर हूँ रहै भौह तरेरी ।
लाज न लागत लाज अहे ! तोहिँ जानी मैं आजु अकाजिनि एरी ;
देखन दे हरि को भरि नैन धरो किन एक, सरीकिनि मेरी ॥ ४५ ॥
खोरि लौ खेलन आवति ए न तौ आलिन के मत मैं परती क्यों ;
'देव' गुपालहि देखति ए न तौ या बिरहानल मैं बरती क्यों ।
माधुरी मंजु रसाल की बालि सुभालि-सी है उर मैं अरती क्यों ;
कोमल कूकि कै कोकिल कूर, करेजनि की किरचँ करती क्यों ॥ ४६ ॥
'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ;
कंचुकी मैं चपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस नूरतिवंत सिँगार कै चाख्यो ;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ॥ ४७ ॥

देखे, अनदेखे दुखदानि भए सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो ;

पानी, पान, भोजन, सुजन, गुरजन भूले,
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो-

लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो ;

होतो जो अज्ञान, तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरे जानिबो गरे परो ॥ ४८ ॥

तेरो कछो करि-करि जीव रछो जरि-जरि,
हारी पाँय परि-परि, तऊ तैं न की सँभार ;

ललन बिलोके 'देव' पल न लगाए तव,
यो कल न दीनी तैं छलन उछलनहार ।

ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु विधि बूझ्यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार ;

एरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हें, अब
ए कँवार दैकै तोहि मूँदि मारौं एक बार ॥ ४९ ॥

अरिकै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही ;
उनहूँ अपनो पहिराइ हरा मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही ।
कवि 'देव' कहो किन कोऊ कछू तव ते उनके अनुराग लुही ;
सबही सों यही कहै बालबधू, यह देखु री माल गोपाल गुही ॥ ५० ॥

ना यह नंद को मंदिर है, वृषभान को भौन कहा जकती हौ ?
हौं हीं यहाँ तुम ही कहि 'देवजू' काहि धौं धूँधुट कै तकती हौ ?
भेंटती मोहिँ भट्ट केहि कारन, कौन की धौं छवि सों छकती हौ ?
कैसी भई सो कहो किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ॥ ५१ ॥

जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहुँ सुजस कहानी-सी ;

तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीभति-सी, रीभति-सी, रसति-रिसानी-सी ।

छोही-सी, छली-सी, छीनि लीनी-सी, छकी-सी-छीन,
जकी - सी, टकी - सी लगी थकी थहरानी-सी ;

बीधी-सी, बँधी-सी, बिष बूझी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी - सी ॥ ५२ ॥

मंजुल मंजरी पंजरी-सी है मनोज के ओज सम्हारति चीर न ;
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर-जीरन ।
'देव' घरी-पल जाति धुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन ;
आहन जाति अहीर अहे तुम्हैं कान्ह कहा कहाँ काहू कि पीर न ॥ ५३ ॥

ना खिन टरत टारे, आँखि न लगत पल,
• आँखिन लगी री स्यामसुंदर सलौन से ;

देखि-देखि मातन अघात न अनूप रस,
 भरि-भरि रूप लेत लोचन अचौन से ।
 एरी कहु को हो, हौं सु को हौं, कहा कहति हौं,
 कैसे बन - कुंज 'देव' देखियत भौन - से ;
 राधे हौ सदन बैठी, कहती हौ कान्ह - कान्ह,
 हा-हा कहि कान्ह वै कहाँ हैं, को हैं, कौन-से ॥ ५४ ॥
 केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाह आई
 नागरि नबेली बेली ढेरत हहरि परी ;
 कुंज - पुंज तीर तहँ गुंजत भँवर - भीर
 मुखद समीर सीरे नीर की नहरि परी ।
 'देव' तेहि काल गूँधि ल्याई माल मालिनि,
 सो देखत बिरह-विष - ब्याल की लहरि परी ;
 छोह - भरी छरी - सी छबीली छिति माहिँ, फूल
 छरी के छुअत फूलछरी - सी छहरि परी ॥ ५५ ॥
 जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
 ओठन अनूठे रस - हाँसी उमड़े परत ;
 कंचुकी मैं कसे आवैं उकसे उरोज, बिंदु
 बदन लिलार बड़े बार धुमड़े परत ।
 गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
 'देव' मनि-भुमका भुमति भुमड़े परत ;
 बड़े-बड़े नैन कजरारे, बड़े मोती नथ,
 बड़ी बरुनीन होड़ी-होड़ी हुमड़े परत ॥ ५६ ॥
 पामरि न पाँवड़े परे हैं पुरि - पौरि लगि,
 धाम-धाम धूपनि के धूम धुनियतु हैं ;
 कस्तुरी, अतरसार, चोवारस, धनसार,
 दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु है ।
 मधुर मृदंग रागरंग के तरंगनि मैं,
 अंग - अंग गोपिन के गुन गुनियतु है ;
 'देव' सुखसाज, महाराज ब्रजराज आजु
 राधाजू के सदन सिधारे मुनियतु है ॥ ५७ ॥
 खरी दुपहरी हरी - भरी - फरी कुंज - मंजु ;
 गुंज अलि - पुंजनि की, 'देव' हियौ हरि जाति ;

सीरे नद - नीर, तरु सीतल - गहीर छाँह ,
 सोवै परे पथिक, पुकारै पिकी करि जाति ।
 ऐसे मैं किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलाने मुख ;
 पंकज - से पाँय धरा धीरज सों धरि जाति ;
 सौहें धाम स्याम मग हेरति हथेरी - ओट ,
 ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति उतरि जाति ॥ ५८ ॥
 हित की हितू री नहिँ तू री समुझावै आनि ,
 सुख - दुख मुख सुखदानि को निहारनो ;
 लपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातें ,
 अपने जनहि सपने हू न बिसारनो ।
 'देवजू' दरस विनु तरसि मरयो हो, पग
 परसि जियैगो मन बैरी अनमारनो ;
 पतिव्रत - ब्रती यै उपासी प्यासी अखियन ,
 प्रात उठि पीतम पिपायो रूप - पारनो ॥ ५९ ॥
 सखी के सकोच गुरु - सोच मृगलोचनि
 रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात ;
 'देव' वै सुभाय मुसुकाय उठि गए, यहि
 सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात ।
 कौन जानै बीर विन बिरही बिरह - बिथा,
 हाय - हाय करि पछिताय न कछू सोहात ;
 बड़े - बड़े नैननि ते आँसू भरि - भरि ढरि,
 गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात ॥ ६० ॥
 सूभत न गात बीति आई अधराति, अरु
 सोए सब गुरुजन जानिकै वगर के ;
 छिपिकै छबीली अभिसार को केंवार खोले,
 खुलिंगे खजाने चारु चंदन - अगार के ।
 'देव' कहैं भौर गुंजि आए कुंज - कुंजनि ते,
 पूँछि - पूँछि पीछे परे पाहरू डगर के ;
 देवता कि दामिनी, मसाल, किधौं जोतिजाल,
 भूगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥ ६१ ॥
 बालम बिरह जिन जान्यो न जनम - भरि,
 वरि - वरि उटै ज्यों - ज्यों बरस बरफ राति ;

बीजन डुलावत सखीजन सो सीतहु मैं,
 सौतिन सराप तनतापनि तरफराति ।
 'देव' कहै साँसनि सों अँसुवा सुवात मुख
 निकसै न वात, ऐसो सिसकी सरफराति ;
 लौटि - लौटि परति करौट खटपाटी लै-लै,
 सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ॥ ६२ ॥
 धाई खोरि - खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
 सुनि - सुनि कोरि - कोरि भावनि भरति है ;
 मोरि - मोरि बदन निहारति विहार-भूमि,
 घोरि - घोरि आनंद घरी - सी उवरति है ।
 'देव' कर जोरि - जोरि बंदत सुरन, गुरु
 लोगनि के लोरि - लोरि पाँयन परति है ;
 तोरि - तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
 निवछावरि को छोरि - छोरि भूषन धरति है ॥ ६३ ॥
 आवन सुन्यो है मनभावन को भावती ने,
 आँखिन अनंद आँसू ढरकि - ढरकि उठै ;
 'देव' दग दोऊ दौरि जात द्वार - देहरी लौं,
 केहरी - सी साँसै खरी खरकि - खरकि उठै ।
 टहलै करति टहलै न- हाथ - पाँय, रंग-
 महलै निहारि तनी तरकि - तरकि उठै ;
 सरकि - सरकि सारी, दरकि - दरकि आँगी,
 औचक उचौहैं कुच फरकि - फरकि उठै ॥ ६४ ॥
 केसरि, किमुक औ वरना, कचनारनि को रचना उर - सूली ;
 सेवती, 'देव' गुलाव, मलै मिलि, मालती, मल्लि, मल्लिदनि हूली ।
 चंपक, दाड़िम, नूत महाउर पाँडर डार डरावनि फूली ;
 या मयमंत वसंत मैं चाहत कंत चलयो हम ही किधों भूली ॥ ६५ ॥
 'देव' जौ बाहिर ही बिहरै, तौ समीर अमी - रस-विंदु लै जैहै ;
 भीतर भौन बसै वसुधा है सुधा मुख सूँधि फनिंदु लै जैहै ।
 राखिहौ जौ अरविंदहु मैं मकरंद मिलै तौ मतिंद लै जैहै ;
 जैए कहुँ यहि राखि गोविंद कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै ॥ ६६ ॥
 बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई ;
 सुंदरै हौ, सुधरै हौ, सलोनी हौ, सील - भरी, रस-रूप-सनाई ।

राजबधू बलि राजकुमारि अहो सुकुमारि न मानौ मनाई ;
 नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर हूँ जैहै सबै चिकनाई ॥ ६७ ॥
 भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भौतिन - भौतिन कै मन भाए ;
 भाग बड़ो वहि भावती को, जेहि भावते लै रँगभौन बसाए ।
 मेष भलोई भली विधि सों करि भूलि परे किधौँ काहू भुलाए ;
 लाल भले हौ, भलो सुख दीनो, भली भई आहु, भले बनि आए ॥ ६८ ॥

कंचन किनारीवारी सारी तास - की मैं आस -
 पास भूमी मोतिन की भालरि एकहरी ;
 सीसफूल, बेना, बेदी, बेसरि औ बीरनि की,
 हीरनि की भीर मैं हँसनि - छवि छहरी ।
 चंद - से बदन भानु भई बृषभानुजाई,
 नयन लुनाई की उवनि की - सी लहरी ;
 काम घाम धी ज्यों पधिलतु घनस्थाम मन,
 क्यों सहैं समीप 'देव' दीपति दुपहरी ॥ ६९ ॥
 देखि न परति 'देव' देखिवे की परी वानि,
 देखि - देखि दूनी दिखसाध उपजति है ;
 सरद - उदित इंदु बिंदु सों लगत, लखे
 मुदित मुखारविंद इंदिरा लजति है ।
 अदभुत ऊख - सी, पियूख - सी मधुर धुनि,
 सुनि - सुनि खवननि भूख - सी भजति है ;
 मंत्री करयो मैं, परतंत्री करयो वैन नीके,
 बिना तार - तंत्री जोभ जंत्री - सी वजति है ॥ ७० ॥

रच्यो कचमौर सुमोरपखा धरि काकपखा मुख राखि अराल ;
 धरी मुरली अधराधर लै मुरली सुर - लीन हूँ 'देव' रसाल ।
 पितंबर काछनी पीत पटी धरि बालम - वेष बनावति बाल ;
 उरोजन खोज-निवारन को उर पैन्हिँ सरोजमई मृदु माल ॥ ७१ ॥
 हौँ भई दूलह, वे दुलही, उलही सुख - बेलि - सी केलि घनेरी ;
 हौँ पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन - री चुनरी चुनि मेरी ।
 'देव' कहा कहाँ, कौन सुनै ? औ कहा कहे होत क्या बहुतेरी ?
 जे हरि मेरी धरें नित जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री ॥ ७२ ॥

पीछे परवीनैं बीनैं संग की सहेली, आगे
 भार - डर भूषन डगर डारै छोरि - छोरि ;

चौकति चकोरनि त्यों मोरै मुख मोरनि, त्यों
 भौरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि - मोरि ।
 एक कर आली - कर - ऊपर ही धरे, हरे-
 हरे पग धरै 'देव', चलै चित चोरि-चोरि ;
 दूजे हाथ साथ लै मुनावति वचन, राज-
 हंसनि चुनावति मुकुत - माल तोरि - तोरि ॥ ७३ ॥
 पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई, 'देव'
 श्रीफल - उरोज आभा आभासै अधिक - सी ;
 छूटी अलकनि छलकनि जल - बँदन की,
 बिना बँदी - बंदन बदन - सोभा विकसी ।
 तजि - तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज ,
 गुंजरत मंजु - रव बोलै बाल पिक - सी ;
 नीवी उकसाइ, नेकु नयन नचाय, हँसि
 ससिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी ॥ ७४ ॥

काम-कलोलनि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर है थहरायकै ;
 आपने चीर के धोखे बधू पहिरो पट पीतम को फहरायकै ।
 बाँधि लई कटि सों बनमाल न किंकिनि बाल लई ठहरायकै ;
 भावती की रसरंग कि दीपति संग की हेरि हँसीं हहरायकै ॥ ७५ ॥
 माधुरे भौरनि, फूलनि, भौरनि, वौरनि-वौरनि, बेलि बची है ;
 ज़ेसरि, किंसु, कुसुंभ, कुरौ, किरवार, कनैरनि रंग रची है ।
 फूले अनारनि, चंपक-डारनि, लै कचनारनि, नेह तची है ;
 कोकिल रागनि, नूत परागनि, देखु री बागनि, फागु मची है ॥ ७६ ॥
 होरी मैं आजु भिजै रँग-रोरी के आपनो प्यो अपने बस कै लै ;
 यों कहि 'देव' सखी गहि गोरी को ल्याई हैं गोकुल-गाँव की गैलै ।
 लाज को गारी सुनी कबहूँ नहिँ, गावत लोग लगावत छैलै ;
 खेलति फागु नई दुलही, दग-आँसुनि लीलि उसाँसनि लै-लै ॥ ७७ ॥
 लोग-लोगाइन होरी लगाइ मिला-मिली चारु न मेटत ही बन्यो ;
 'देवजू' चंदन-चूर कपूर लिलारन लै - लै लपेटत ही बन्यो ।
 ये यहि औसर आए इहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो ;
 कीनी अनाकनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भद्र मेटत ही बन्यो ॥ ७८ ॥

कंत बिन बासर - बसंत लागे अंतक से,
 तीर - ऐसे विविध समीर लागे लहकन ;

सान - धरे सार से चँदन धनसार लागे,
 खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन ।
 फाँसी - से फुलेल लागे, गाँसी - से गुलाव, अरु
 गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन ;
 अंग - अंग आगि - ऐसे केसरि के नीर लागे,
 चीर लागे जरन, अवीर लागे दहकन ॥ ७६ ॥
 दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
 उलहे फिरत गोपी - गोपनि की भीर मैं ;
 तैसिये वसंतपाँचै चाय सों चरचि नाचै,
 रंग राचै कीच साचै केसरि की नीर मैं ।
 करत न कानि जानि भरत भुजानि 'देव',
 धरत न धीर उर अधिक अधीर मैं ;
 संवरारि - डंवर मैं बूड़ि रहे दोऊ, मुख
 सोभा के अडंबर मैं अंबर अवीर मैं ॥ ८० ॥

होरी को सोरु परयो ब्रज पौरि किसोरी को चित्त विछोहनि छीज्यो ;
 दौरि फिरै दुरि देखिवे को न दुरै मनु अोज-मनोज को सीज्यो ।
 केसरिया चकचौधत चीर ज्यों केसरि वीर सरूप लसी ज्यो ;
 लाल के रंग में भीजि रही सुगुलाल के रंग मैं चाहति भीज्यो ॥ ८१ ॥

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
 अधर अधर धरे अधिक अधीर की ;
 जोरि अंग-अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
 दीनी लाल बेंदी बोरि खँचिकै अवीर की ।

'देव' दुखभंजन लला के दृग - खंजन मैं
 अंजन की लीक पीक-पलक लकीर की ;

तन - मन - वारी बनवारी की वनक पर

चंद बलिहारी बलिहारी बलवीर की ॥ ८२ ॥

भूजि रही विरहाजुर सों समौ पावन जानि जनीनु जगाई ;
 घोरि घनो रँग केसरि को गहि बोरि गुलाल मैं वाल रँगाई ।
 साँस लई गहिरी कहि री हमसों-उनसों अब कौन सगाई ;
 ऐसे भए निरमोही महा हरि हाय हमैं विन होरी लगाई ॥ ८३ ॥

सीतल महल महासीतल पटीर - पंक,
 सीतल कै लोप्यो भीति छिति छाती दहरै ;

सीतल सलिल-भरे सीतल विमल कुंड,
 सीतल विमल जल - जंत्र - धारा छहरै ।
 सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
 सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरै ;
 'देव' दोऊ सीतल अलिगननि देत - लेत,
 सीतल - सुगंध - मंद मारुत की लहरै ॥ ८४ ॥
 उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा,
 मंदिर चवारो चंदमंडल की चोटहीं ;
 भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
 बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं ।
 वरनति बानी, चौर ढारति भवानी, कर
 जोरे रमा-रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं ;
 'देव' दिगपालनि की देवी सुखदाइन, ते
 राधा-ठकुराइन के पौंइन पलोटहीं ॥ ८५ ॥
 छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
 जामिनी की जोति भामिनी को मन ऐख्यो है ।
 ठौर-ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के,
 'देव' वनु याको मनु काको न अमैख्यो है ।
 सुधा के सरोवर-सो अंबर उदित, ससि
 मुदित मराल मनु पैरिवै को पैख्यो है ;
 बेलि के विमल फूल फूलत समूल, मनौ
 गगन ते उड़ि उड़गन-गन वैख्यो है ॥ ८६ ॥
 घूँघट खुलत अवै उलटु है जैहै 'देव',
 उद्धत मनोज जग जुद्ध-जूटि परैगो ;
 को कहै अलीक बात, सोक है सुरोक सिद्ध,
 लाक तिहुँ लोक की लुनाई लूटि परैगो ।
 दैयनि दुराव - मुख, नतर तरैयनि को,
 मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैगो ;
 तो चितै सकोचि सोचि मोचि मटु, मूरछिकै,
 छोर ते छपाकर छता सो छूटि परैगो ॥ ८७ ॥
 इभ - से भिरत चहुँघाई सों धिरत धन,
 आवत भिरत भीने भरसों भूपकि भूपकि ;

सोरन मचावै नचै मोरन की पाँति, चहुँ

ओरन ते कौंधि जाति चपला लपकि-लपकि ।

विन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत 'देव' कहै,

नैन - बरुनीन रहे अँसुआ टपकि - टपकि ;

रतियाँ अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख

वतियाँ कढ़ै न, उठै छतियाँ तपकि - तपकि ॥ ८८ ॥

पावस-प्रथम पिय ऐवे की अवधि सों, जो

आवत ही आवै, तो बुलाऊँ अति आदरनि ;

नाहीं तौ न हील होन दे री भील भावरनि,

प्रीषमहि राखु खाली भाखु खल खादरनि ।

वीजुरी वरजु, कहुँ मेघ न गरजु, इन

गाज-मारै मोर मुख मोरि री निरादरनि ;

कंठ रोकि कोकिलनि, चोंच नोचि चातकनि,

दूरि करि दादुर, बिदा करि री वादरनि ॥ ८९ ॥

आली भुलावति भूँकनि सों भुकि जाति कटी भननाति भकोरे;

चंचल अंचल की चपला चल-वेनो-वड़ी सो गड़ी चित-चोरे ।

या विधि भूलत देखि गयो तव ते कगि 'देव' सनेह के जोरे;

भूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहारे हरा के हिँडोरे ॥ ९० ॥

भूलत ना वह भूलनि वाल की फूलनि - माल की लाल पटी की;

'देव' कहैं लचकै कटि चंचल, चोरी दगंचल चाल-नटी की ।

अंचल की फहरानि हिये रहि जानि पयोधर पीन तटी की ;

किकिनि की भननानि, भुलावनि भूकनि सों, भुकि जानि कटी की ॥ ९१ ॥

भूलन हारी अनोखी नई, उनई रहती इत ही रँगराती;

मेह मैं ल्यावैं सु तैसिए संग की रंग-भरी चुनरी चुचुवाती ।

भूला चढ़े हरि साथ हहा करि 'देव' भुलावत ही ते डराती;

मोरे हिँडोरे कि डोरिन छाँड़ि खरे ससवाई गरे लपटाती ॥ ९२ ॥

जोतिन के जूटनि, दुरासद दुरूहनि,

प्रकाश के समूहनि, उजासनि के आकरनि;

फटिक अट्टनि, महारजत कूटनि,

मुकतमनि जूटनि, रुमेटि रतनाकरनि ।

छूटि रही जोन्ह जग लूटि दुति 'देव' कम-

लाकरनि भूटि फूटि दीपति निवाकरनि

नभ सुधासिंधु गोद पूरन प्रमोद, ससि
 सामुद बिनोद चहुँ कोद कुमुदाकरनि ॥ ६३ ॥
 आस-पास पूरन - प्रकास के पगार सुम्नै,
 वन न अगार डीठि गली औनि-वरते;
 पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूझी,
 चंड ब्रह्मंड उतरात विधु बरते ।
 सरद जुन्हाई जह - जाई - धार सहस,
 सुधाई सुधासिंधु नभ-सुभ्र गिरिवर ते;
 उमड़यो परत जोतिमंडल अखंड सुधा-
 मंडल मही मैं विधुमंडल - विवर ते ॥ ६४ ॥
 नगर निकेत, रेत, खेत सब सेत-सेत,
 ससि के उदेत कछु देत न देखाई है;
 तारका सुकुतमाल भिलिमिलि भालरनि,
 विमल वितान नभ आभा अधिकाई है ।
 सामुद समोद ब्रज कुमुद बिनोद 'देव',
 चहुँ कोद चाँदनी की चादर विछाई है;
 राधा मधु - मालतिहि माधव - मधुप मिले,
 पालिक पुलिन भीनी परिमल भाई है ॥ ६५ ॥
 रूपे के महल, धूपे अगर उदार द्वार,
 भंभरी भरोखा मूँदे चारु चिकराती मैं;
 उध अध मूल तूल पटनि लपेटे मूल,
 पटल सुगंध सेज सुखद सोहाती मैं ।
 सिसिर के सीत पिया पीतम सनेह दिन,
 छिन - सो बिहात 'देव' राति नियराती मैं;
 केसरि कुरंगसार अंग मैं लिपत दोऊ,
 दुहू मैं दिपत, औ छिपत जात छाती मैं ॥ ६६ ॥

रस-विलास

पाँयन नूपुर मंजु वज्रै, कटि किकिनि मैं धुनि की मधुराई;
 साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै वनमाल सुहाई ।
 माये किरिट, बड़े हग चंचल, मंद हँसी, मुख - चंद जुन्हाई;
 जै जगमंदिर - दीपक सुंदर, श्रीव्रजदूलह 'देव' सहाई ॥ ६७ ॥

राई लोन वारति गुराई देखि अंगन की,
 दुरै न दुराई त्यों भुराई सों भिरति है;
 ज्यों - ज्यों सुघराई सों न उघरन देति, त्यों - त्यों

सुंदर सुघर घर - घेरन घिरति है ।
 निठुर दिठौना दीन्हें नीठि निकसै न देति,
 दीठि लागिबे को उर - पीठि दै गिरति है ;
 जिन - जिन ओर चितचोर चितवत, त्यों हीं

तिन - तिन ओर तिन तोरति फिरति है ॥ ६८ ॥
 लेहु लली उठि लाई हों लाल को लोक की लाजहु सों लरि राखौ ;
 फेरि इन्हें सपनेहु न पैयत, लै अपने उर मैं धरि राखौ ।
 'देव' लला नवला अवला यह चंदकला कटुला करि राखौ ;
 आठहु सिद्धि, नवो निधि लै घर बाहर-भीतर हू भरि राखौ ॥ ६९ ॥

कुंजन के कोरे मन केलि - रस - बोरे लाल,
 तालन के धोरे बाल आवति है नित को ;
 अमिय निचोरे, कल बोलति निहोरे, नेकु
 सखिन के डोरे 'देव' डोलै जित-तित को ।
 थोरे-थोरे जोवन विथोरे देति रूप-रासि,

गोरे मुख मोरे हँसि जोरे लेति हित को ;
 तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति, गति
 छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को ॥ १०० ॥

आई हों देखि वधू यक 'देव' जु देखत भूली सवै सुधि मेरी ;
 राख्यो न रूप कछु विधि के घर, ल्याई है लूटि लुनाई कि डेरी ।
 एबी अबै वहि ऐवे है वैस मरेंगी महाविष घूँटि घनेरी ;
 जे-जे गुनी गुनआगरी, नागरी, ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी ॥ १०१ ॥
 राधे कही है कि तैं छुमियो ब्रजनाथ जिते अपराध किए मैं ;
 कानन तानन भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिए मैं ।
 ओछे हिये अपने दिन - राति दयानिधि 'देव' वसाय लिए मैं ;
 हों ही असाधु वसी न कहूँ पल आधु अगाधु तिहारे हिये मैं ॥ १०२ ॥

सोंची सुधा - बुंदन सों, कुंदन की बेलि, किधौं
 साँचे-भरि काढी रूप ओपनि भरतु है :
 पोखी पुखराजनि, बपुख नख - सिख, कर,
 चरन, अधर, विद्रुमन ज्यों धरतु है ।

हीरा - सी हँसनि, मोती - मानिक दसन सेत,
 स्यामता लसनि दृग हियरा हरतु है ;
 जोवन जवाहिर सों जगमग होइ जोइ,
 जौहरी की जोइ जगु जौहर करतु है ॥१०३॥
 रेसम के गुन छीनि छरा करि छोरे ते ऐँचि सनेह रचावै ;
 'देव' दसौ अँगुरी कर पाँइ वरै उरभाइ कै रंग मचावै ।
 मोहति-सी मनु पोहति मोतिन, जोहति-सी छवि भौहँ चलावै ;
 चंचल नैननि सैननि सों पटवा की बहू नटवा सो नचावै ॥१०४॥
 अंतर पैठि दुहूँ पट के कवि 'देव' निरंतर ता उर आनै ;
 देति मिलाइ घने अपने गुन तार सुई किधौँ दूती सुजानै ।
 ताहि लिए कर मैं घर मैं हिय जाको सिए मरमैं सु बखानै ;
 कीन्ही करेजन की दरजै, दरजी की बहू बरजी नहिँ मानै ॥१०५॥
 माखनु-सो तनु, दूध-सो जोवन, है दधि ते अधिकौ उर ईठी ;
 जा छवि आगे छापाकर छाँछ, समेत सुधा वसुधा सब सीठी ।
 नैनन नेह चुवै कहि 'देव' बुभावत बैन वियोग अँगीठी ;
 ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ॥१०६॥
 गोरे मुख गोल, हरे हँसत कपोल, बड़े
 लोयन विलोल बोल लीने लोक लाज पर ;
 लोभा लागे लाल लखि सोभा, कवि 'देव', छवि-
 गोभा - से उठत रूप सोभा के समाज पर ।
 वादले कि सारी, दरदावन किनारी,
 जगमगी जरतारी भीनी भालरि के साज पर ;
 मोती गुहे कोरन, चमक चहुँ ओरन, ज्यों
 तोरन तरैन की तानी द्विजराज पर ॥१०७॥
 सासु सों हाँसु छिपाय रहै, ननदी लखि ज्यों उपजावति भीतिहि ;
 सौतिन सों सतराइ चितौति, जिठानिन सों जिय ठानति प्रीतिहि ।
 दासिन हूँ सों उदासन 'देव', बढ़ावति प्यारे सों प्रेम-प्रतीतिहि ;
 धाय सों सीखति वात विनैकी, सखीन सों सीखै सुहाग कि रीतिहि ॥१०८॥
 रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौल - से पायन नौल - बहू के ;
 अंगन रंग मनौ निचुरै पिय संग धरे मग मैं पग-दू के ।
 इंदु - से आनन मैं श्रमविदुनि 'देव' गुविंद सुखावत फूके ;
 सो लखि सौतिन की अँखियान मैं लागि उठी मनौ आगि की लूके ॥१०९॥

आशु गोपालजू बारबधू संग नूतन - नूतन कुंज बसे निसि ;
 जागर होत उजागर नैनन पाग पै पीरी पराग परी पिसि ।
 चोज के चंदन खोज खुले जहँ ओछे उरोज रहे उर में धिसि ;
 बोलत बात लजात-से जात हैं आए इतौत चितौत चहूँ दिसि ॥११०॥

राजपौरिया के रूप राधे को बनाय लाई ,

गोपी मथुरा ते मधुवन की लतानि मैं ;

टेरि कह्यो कान्ह सों, चलौ हो कंस चाहै तुम्हैं ,

काके कहे लूटत सुनो हो दधि-दानि मैं ।

संग के न जाने गए डगरि डेराने 'देव',

स्याम ससवाने से पकरि करे पानि मैं ;

छूटि गयो छल छैल वाल की विलोकनि हैं ,

ढीली भई भौंहें वा लजीली मुसकानि मैं ॥१११॥

बंसीबट के तट निकट जमुना - जल मैं

खेलति कुँवरि राधा सखिन के पुंज मैं ;

चलि न सकति बृंदावन की गलिन बीच ,

विकल नलिननैनी अलिन कि गुंज मैं ।

रसिक कन्हाई आई बाँसुरी बजाई, धुनि

सुनिकैं रही न मति-गति मन लुंज मैं ;

'देव' दुरी जाय अकुलाय सो समितमुखी ,

कुसुमित बकुल - कदंब - कुल - कुंज मैं ॥ ११२ ॥

मूरति जो मनमोहन की मन-मोहिनी के थिर है थिरकी-सी ;

'देव' गोपाल को बोल सुने सियराति मुधा छतिया छिरकी-सी ।

नीके भरोखे है भाँकि सकै नहिँ, नैनन लाज घटा घिरकी-सी ;

पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी - खिरकीन फिरै फिरकी-सी ॥ ११३ ॥

कान्हभई बृषभानुसुता भई, प्रीति नई उनई जिय जैसी ;

जानै को 'देव' बिकानी-सि डोलै, लगै गुरु लोगन देखे अनैसी ।

ज्यों-ज्यों सखी बहरावति बातनि, त्यों-त्यों बकै वह बावरी-ऐसी ;

राधिका प्यारी हमारी सौं, तू कहि, काल्हि की बंसी बजाई मैं कैसी ॥११४॥

गौने की चाल चली दुलही, गुस्नारिन भूषन, भेष बनाए ;

सील, सयान सबै सिखएऽरु सबै सुख सासुरे हू के सुनाए ।

बोलियो बोल सदा अति कोमल, जे मनभावन के मन भाए ;

यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर-से उठि आए ॥ ११५ ॥

केसरि सों उबटे सब अंग, बड़े मुकुतान सों माँग सँवारी ;
 चारु सु चंपक-हार गरे, अरु ओछे उरोजन की छवि न्यारी ।
 हाथ सों हाथ गहे कवि 'देवजू', साथ तिहारे हौं आबु निहारी ;
 हा-हा हमारी सौं, साँची कहौ, वह कौन ही छोहरी छीवरवारी ॥ ११६ ॥

महाकवि बिहारीलाल

—:०:—

भाषा-साहित्यकारों में चरित्र न लिखने के कारण बड़े-बड़े कवियों के विषय में भी संदेह बना ही रहता है। वैसे ही इन महाकवि के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह उपस्थित था। इन्होंने 'सतसई'-नामक एक ही ग्रंथ बनाया, और उसका भी केवल समाप्त होने का संवत् दिया। अपने विषय में भी इन्होंने केवल एक दोहा लिखकर संतोष किया। वे दोनो दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

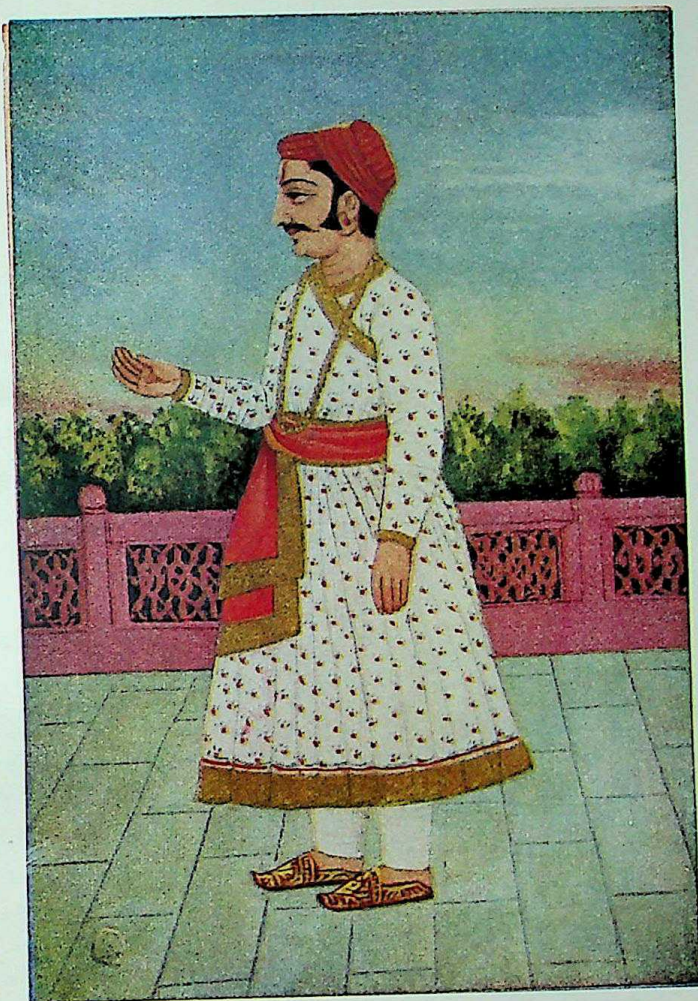
संवत् ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि, बासर चंद ;
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनंदकंद ।
जनम लियो द्विजराज - कुल, सुवस वसे ब्रज आर्य ;
मेरे हरौ कलेस सब केसव, केसवराय ।

इन दो दोहों के सिवा इनके विषय में एक यह तीसरा भी प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुंदेले बाल ;
तरुनाई आई सुखद मथुरा वसि ससुराल ।

इन्हीं तीनों दोहों पर इनके कुल, गोत्र, जन्म, मरण आदि के अनुमान अवलंबित थे, पर अब इनके वंशजों का भी पता बूंदी में चला है। उनका बतलाया वंश-वृक्ष दिया जाता है। इन्होंने सतसई में मिर्जा राजा जयसिंह का थोड़ा-सा यशोगान किया, और कुछ बातें जयपुर के संबंध में भी लिखी हैं। महाराजा जयसिंह ने संवत् १६७६ से १७२२ तक राज्य किया। बिहारी कवि चतुर्वेदीय माथुर घरवास अल्ल के धूम्र-गोत्री ब्राह्मण थे। वसुआ-गोविंदपुर में इनके भांजे मिश्र अल्लवाले कुलपति रहते थे। कुलपति के वंशज पं० प्यारेलाल जयपुर में मौजूद हैं। बिहारीलाल के वंशज अमरकृष्ण और गोपीकृष्ण चौबे बूंदी में विद्यमान हैं। वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

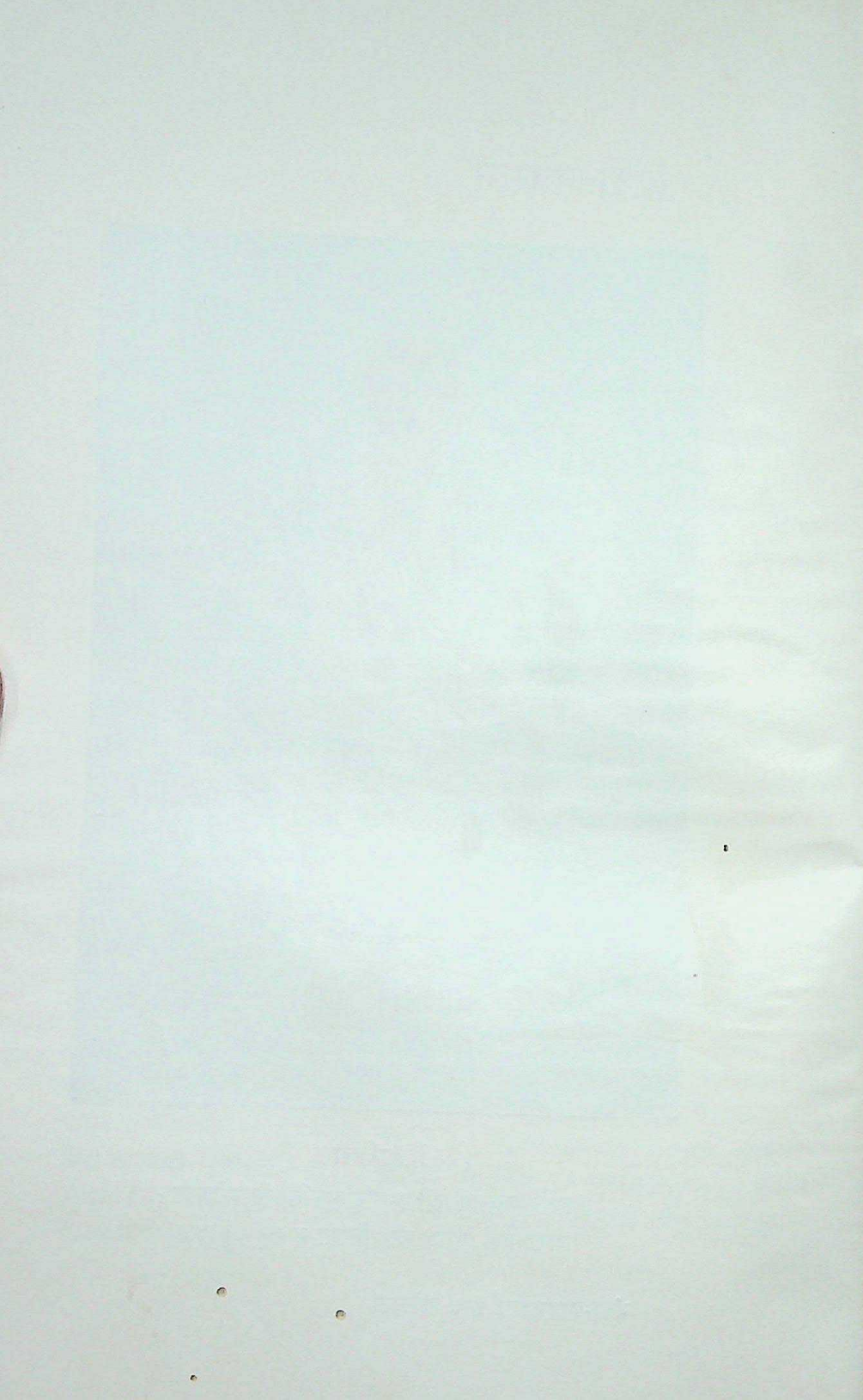
हिंदी-नवरत्न



बिहारीलाल

लखौ अनुभवी रसिक-मनि सुकवि बिहारीलाल ;
जाकी पैनी दीटि की भिलत न कहूँ मिसाल ।

गंगा-प्राइन्सार्ट प्रेस, लखनऊ



केशवदेव

|

बिहारीलाल

|

निरंजन

|

गोकुलदास

|

क्षेमकर्ण

|

दयाराम

|

माणिक्यचंद

|

गणेशराम

|

बालकृष्ण

|

अमरकृष्ण

|

गोपीकृष्ण

जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि इनकी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि इनके पुत्र थे। कृष्ण कवि ने कविता में अपने को ककोरकुल का माथुर-विप्र कहा है। जनश्रुतियों में यह भी प्रसिद्ध है कि यह महाशय एक बार जोधपुर गए। पंडित प्रभुदयाल पांडेय ने बंगवासी-प्रेस में बिहारी-सतसई, अपनी टीका-समेत, छपवाई। इस लेख में उसी प्रति के दोहों के नंबरों का हवाला दिया जायगा। गोलोकवासी मित्रवर बाबू राधाकृष्णदास ने 'कविवर बिहारीलाल'-नामक एक निबंध लिखा। इसी प्रकार पं० अंबिकादत्त व्यास ने भी 'बिहारी-बिहार' में अच्छी भूमिका लिखी। अतएव हम बिहारी के कुल आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक न लिखकर थोड़े में अपना मत प्रकट करते हैं। ऊपर लिखे हुए द्वितीय दोहे का अर्थ बिहारी के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने यों लिखा है—

श्लेष-अर्थ केसव-पिता, अरु हरि केसवराय;

ये द्विज-कुल, वे राज-कुल, उपजे अर्थ जंताय ।

इस अर्थ तथा बिहारी की कविता में बुँदेलखंडी शब्दों के प्रयोग और इनकी रचना में एक स्थान पर 'मधुकर'-शब्द के (ओड़छे के मधुकर शाह को सूचित करते हुए) आने से राधाकृष्णदासजी ने अनुमान किया कि बिहारीलाल प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे । हमारे मत में 'मधुकर'-शब्द से 'मधुकर शाह' का व्यक्त होना निश्चित नहीं समझा जा सकता । मधुकर अमर को कहते हैं, और यह एक बहुत ही प्रचलित साधारण शब्द है । हमारे मत में, बिहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परंतु प्रसिद्ध कवि केशवदास नहीं । यदि केशवदास ही होते, तो यह बात जनश्रुतियों में अवश्य प्रचलित होती । अब उपर्युक्तानुसार इसका निश्चित निर्णय भी हो गया है । बिहारी का जन्म-स्थान 'वसुआ-गोविंदपुर' नाम का एक ग्राम, जो ग्वालियर के निकट है, बतलाया जाता है । यह भी कहा जाता है कि इनके चचा ने महाभारत का उल्था किया था, जो अब तक वहाँ है, परंतु प्रकाशित नहीं हुआ । बिहारी का जन्म अनुमान से संवत् १६६० वि० में हुआ होगा । इन्होंने संवत् १७१६ में सतसई समाप्त की, और उसके पीछे कोई ग्रंथ या छंद नहीं बनाया । इससे जान पड़ता है, इस संवत् के थोड़े ही दिनों बाद इनका मरण हुआ होगा । सतसई में कुछ दोहे शांत-रस के भी हैं । बिहारी बड़े ही शृंगारी थे । उनके चित्त में ६० वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचे बिना शांत-रस का प्रादुर्भाव न हुआ होगा । यह कोई निश्चित बात है नहीं, तो भी जान पड़ता है, उस समय, जब कि सतसई समाप्त हुई, यह लगभग ६० वर्ष के होंगे । यह जयपुर छोड़कर, सिवा जोधपुर के, और कहीं नहीं गए । वहाँ भी ठहरकर इन्होंने अपना मान बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि उस समय महाराजा जसवंतसिंह वहाँ राज्य करते थे । वह कविता के प्रेमी और कवियों के प्रतिपालक भी थे । उन्होंने 'भाषा-भूषण'-नामक अलंकारों का विशद ग्रंथ बनाया, जो अब तक कवि-समाज में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है । इससे भी प्रकट होता है कि यह उस समय ६० वर्ष के लगभग होंगे, और उसके पीछे संभवतः बहुत दिन जीवित नहीं रहे ।

'केसवराय' वाले ऊपर के दोहे में 'राय'-शब्द आने के कारण कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि बिहारी भाट थे, परंतु उस दोहे पर विचार करने से प्रकट होता है कि 'केसवराय'-शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये । फिर 'राय' शब्द से सर्वत्र भाट ही का अर्थ नहीं लिया जा सकता । ब्राह्मणों के नाम में भी 'राय' आ सकता है । स्वयं कवि केशवदास कभी-कभी अपने को 'केशौराय' लिखते थे । भाट प्रायः ब्रह्मभट्ट कहाते हैं । कृष्ण कवि के संबंध की जनश्रुति भी इसके प्रतिकूल है । अब इनके वंशजों का भी पता

लग ही चुका है। अतः निश्चय है कि बिहारीलाल माधुर चौबे थे। इनका जन्म ग्वालियर में हुआ, और किसी कारण इनकी बाल्यावस्था बुँदेलखंड में बीती। जवानी में यह महाशय अपनी ससुराल—मथुरा—में रहे। जान पड़ता है, इनके पिता धन-हीन थे, और इनके वचन में ही मर गए। मतलब यह कि इन्हें लड़कपन बुँदेलखंड में, जहाँ इनका ननिहाल होना संभव है, और सारी उमर ससुराल—मथुरा—में बितानी पड़ी।

कहते हैं, एक समय महाराज जयसिंह किसी एक नवोढ़ा मुग्धा रानी के प्रेम में इतने वेसुध हो गए कि उसे छोड़कर बाहर निकलते ही न थे। उस समय बिहारीलाल ने नीचे का दोहा बनाकर किसी तरह उनके पास भिजवाया—

नहिँ पराग, नहिँ मधुर मधु, नहिँ विकास यहि काल;
अली कली ही सों विँधो, आगे कौन हवाल !

इसे पढ़कर महाराज को होश हुआ, और वह तुरंत प्रेमोन्माद से मुक्त होकर बाहर निकल आए, और राज्य का काम-काज करने लगे। इसी समय से जयपुर में बिहारी का आदर बढ़ा होगा, और वह वहाँ रहने लगे। कहते हैं, राजा ने उपर्युक्त दोहे पर उन्हें बड़ा पुरस्कार दिया, और फिर वैसे ही हर एक दोहे पर एक मोहर भी दी। यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती। बिहारीलाल को कलिकाल के दानियों से सदा शिकायत रही। इससे जान पड़ता है, उनका पूरा सम्मान कहीं नहीं हुआ। यदि हर एक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हजारों दोहे बना डालते, सात ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हजारों दोहे बने होते, तो उन्हें स्वयं कवि भी नष्ट न कर सकता, और वे अवश्य प्रसिद्ध होते। इन महाकवि के एकमात्र ग्रंथ सतसई में केवल ७१६ दोहे हैं। उनमें भी दो-तीन सोरठे हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने सात दोहों में सतसई की प्रशंसा की है। यथा—

सतसैया को दोहरो ज्यों नावक को तीर;
देखत को छोटी लगै, घाव करै गंभीर।
ब्रज-भाषा बरनी कविन, बहु विधि बुद्धि-विकास;
सबकी भूषन सतसई करी बिहारीदास।
जा काऊ रस - रीति को समुझो चाहै सार;
पढ़ बिहारी - सतसई कविता को सिंगार।
उदै - अस्त लौं अबनि पै सबको याकी चाह;
मुनत बिहारी - सतसई सबही करत स्याह।

भाँति - भाँति के बहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़ ;
 जाहि सुने रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़ ।
 विविध नायिका - भेद अरु अलंकार, नृप-नीति ;
 पढ़ै विहारी - सतसई जानै कवि रस - रीति ।
 करे सात सौ दोहरा सुकवि विहारीदास ;
 सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास ।

यह भी संभव है कि बड़ाईवाले ये दोहे किसी अन्य कवि के बनाए हुए हों । इन दोहों में सतसई की बड़ी बड़ाई की गई है । उसका बहुत-सा अंश यथार्थ भी है । इस एक छोटे-से ग्रंथ में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है । इन्हीं १,४५२ पंक्तियों में मानो सभी कुछ आ गया है, और कविता का प्रायः कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा । काव्य का यह छोटा-सा खजाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है । इतने छोटे - से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका । जैसी एकाग्रता और श्रम से इस कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहुत कुछ हुआ । सिवा गोस्वामी तुलसीदास का रामायण के और कोई भी हिंदी-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है । कबीर ३५ महाशयों ने इसकी, गद्य अथवा पद्य में, टीका या व्याख्या की है । उन सबमें सूरति मिश्र की टीका सर्वोत्कृष्ट है । हाल में बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) ने सतसई पर विशेष श्रम किया । उसकी फल-स्वरूपा विहारी-रत्नाकर-नामक बहुत शुद्ध और उत्तम टीका गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित हुई है, जो प्रशंसनीय है । इसमें विहारी का चित्र भी प्रकाशित किया गया है, जो कहा जाता है, जयपुर में विहारी के सामने बना था । पठान सुल्तान के आश्रित चंद कवि ने इन दोहों पर कुंडलियाएँ लगाईं, और यही काम पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी किया । भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद ने भी कबीर ७० या ८० दोहों पर कुंडलियाएँ लगाई थीं, परंतु कार्य असाध्य और श्रम बहुत समझकर फिर छोड़ दिया । इन दोहों पर कुंडलियाँ लगाना हमको भी व्यर्थ श्रम समझ पड़ता है । यदि शेष चार पद दोहे के बराबर उत्कृष्ट हों, या उसके लगभग भी पहुँचें, तो कुंडलियाएँ अच्छी कही जा सकती हैं; परंतु ऐसा न हुआ है, और न हो सकता है । विहारी-जैसे सुकवि जब जन्म-भर में सिर्फ सात सौ दोहे बना सके, तब जब तक कोई वैसा ही कवि न हो, और आयु-भर श्रम न करे, तब तक भला उन बूढ़ों से भेंट कहाँ ? तभी तो नवरत्न के भी प्रसिद्ध कवि भारतेन्दु ने उसे असाध्य और व्यर्थ का श्रम समझा । पंडित परमानंद ने संस्कृत श्लोकों में सतसई का

उलथा किया, और कृष्ण कवि ने सवैयों में। सतसई के टीकाकारों में सूरति, कृष्ण, चंद, सरदार, रत्नाकर और भारतेंदु सुकवि हैं। एक वैद्य ने सब दोहों से एक-एक वैद्यक का गुस्सा निकाला है, परंतु उसमें टीकाकार ही का बुद्धि-चमत्कार देख पड़ता है। उक्त टीकावाला अर्थ स्वयं बिहारीलाल भी न जानते होंगे ॥

सतसई का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आजमशाह का बंधवाया हुआ, और अच्छा है। इसका छठा शतक परमोत्कृष्ट है। इसमें वर्णित षट्-श्रुत बहुत ही प्रशंसनीय है। इसके प्रथम, पंचम और सप्तम शतक भी अच्छे हैं। शेष साधारण हैं। बिहारीलाल की कविता के गुण और दोष हम नीचे लिखते हैं।

इन महाकवि ने व्रज-भाषा में कविता की, फिर भी, यत्र-तत्र कई भाषाओं के शब्दों का बहुतायत से व्यवहार किया। किसी भाषा का भी शब्द मिले, और यदि अच्छा हो, तो उससे काम निकालने में यह महाशय संकोच नहीं करते थे। यदि इनके प्रयुक्त शब्दों के भाषा-भेद पर गौर किया जाय, तो ऐसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों की संख्या बहुत होगी। इन्होंने रीझवी, देखवी आदि बुँदेलखंडी और ताफ़ता, इज़ाफ़ा, क्रिविलनुमाँ (क्रुतुवनुमा), गनी, सवील, अदब, दाश आदि फ़ारसी के शब्द रखे हैं। छौंकु, उड़ायक आदि पद गढ़ भी लिए हैं। कुछ स्थानों पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी रख दिए हैं। यथा 'दीजतु' और 'ज्यों'—

सबहिनु विनुहीं ससि उदै, दीजतु अरघ अकाल।

जात - जात ज्यों राखियत पिय को नाम सुनाय।

यहाँ 'दीजतु' से देंगी या देती हैं का और 'ज्यों' से ज्यों-त्यों का अर्थ लिया गया है, पर ये शब्द इन अर्थों को पूर्ण रूप से प्रकट करने में असमर्थ हैं। इन्होंने शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है, और उन्हें कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप में रक्खा है। यथा—समर (स्मर), तूठ्यो (तुष्ट्यो), मोख (मोक्ष) इत्यादि। इसी प्रकार ठिक, भावक, दुसाल, नटसाल, ईठि, नीठि, अनखुली, धरहरि, सवादिल, वट (वाट के लिये, छंद-नंबर ८६), चोरटी, गोरटी, दुकचित, कुकत, हई (हैरत, नंबर ११६), कैवा (१२१), लाव (१२८), रहचटै (१३६), लाय (१४१), रोज (रोज़ा की जगह—१८८), ईठि, खुँदी (१६६), चिलक, चौंध (२१७), चुपरी (ढकी—२२२), चौँटत (२२७), लोयन (लुनाई—२३०), कैलि (केला—२३२), ऊलि (उछल—२३७), जनकु (मानो—२४२), वेपाय (भूली हुई—२३५), सँगी (३०६), औचि (३३१), बींद (३३५),

* एक और महाशय भी इधर ऐसा ही कुछ उद्योग 'शांत-बिहारी' में कर रहे हैं। यह सब दोहों में शांत-रस का अर्थ दिखा रहे हैं।—संपादक

नतरकुक्त, गाँस (३४६), पातु (३६२), कोरि (४१५), निय (४२३), ओम (४३०), सुध (सुधा—४३५), पजरै (४३६), संतो (साँस—४४१), ककै (करके—५०४), बाथ (५१०), धर (धरा, पृथ्वी—४३५), तैन (५३६), खियाल (खेल—५४७), आव (अर्थ, मोल—६८४), नीसकै (६६०) इत्यादि असाधारण, अव्यवहृत अथवा विगड़े हुए रूपों में शब्द लिखे हैं। बड़े कवि होने पर भी इनकी शब्द-संबंधी निरंकुशता प्रशंसनीय नहीं है। तुकांत के लिये भी इन्होंने शब्द मरोड़े हैं। यथा—चाढ़ (चढ़कर—२२०), आव (आव—३२२)।

एक हिंदी-रसिक महाशयः ने हमारे उपर्युक्त कथनों का घोर विरोध किया। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि बिहारी की भाषा देव की भाषा से श्रेष्ठतर है। यदि कोई बात बिहारी की रचना पर आरोपित हो भी गई, तो आपने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि अन्य कवियों ने—विशेषकर देव ने भी वैसे ही रूप लिखे हैं, अतः बिहारी दोष के भागी नहीं हैं। स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न केवल देव और बिहारी पर नहीं लिखा गया है, बल्कि उसमें नव कवियों पर स्वतंत्र सम्मतियाँ हैं। प्रसंग-वश चाहे कहीं किसी से दूसरे का मिलान कर भी दिया गया हो, तथापि यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। ग्रंथ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विचार करता है, तुलनात्मक नहीं। मिलान का विषय उसमें इतना ही है कि हमने कुल मिलाकर उत्तमता की दृष्टि से कवियों को पूर्वापर स्थान दिया है। फिर भी सबकी कविताओं पर स्वतंत्र रीति से विचार किया गया है। इसलिये यदि बिहारी की भाषा में कोई दोष है, तो देव की भाषा में भी उसके होने से उसका परिहार न हो जायगा। देव चाहे साधारण श्रेणी से भी नीचे के कवि मान लिए जायँ, तथापि उससे बिहारी की कविता का दर्जा बढ़ नहीं सकता।

आपने यह भी लिखा कि जब अन्य कविगण उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब अकेले बिहारी पर क्यों दोषारोपण होता है? इसका उत्तर ग्रंथ में पहले ही से था, किंतु आपने दोष दिखलाने के पूर्व ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़ने या समझने का कष्ट नहीं उठाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि बिहारी ने शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। यदि उनके कुल शब्दों को जोड़ें, और उनसे तोड़े-मरोड़े हुए शब्दों का औसत निकालें, तो वह औरों से कहीं अधिक पड़ेगा। बस, यही हमारा प्रयोजन था, और है। अन्य सत्कवियों की रचनाओं में तोड़े-

मरोड़े शब्दों का औसत इतना अधिक न बैठेगा। इसीलिये बिहारी का यह दोष कहा गया, औरों का नहीं। फिर जो शब्दों की बड़ी सूची हमने दी थी, उसके विषय में केवल इतना कहा था कि वे शब्द असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में हैं। समालोचक साहब ने प्रत्येक शब्द को लेकर केवल विकृत रूप की कसौटी पर कसा, और जहाँ कहीं शब्द बिगड़ा न पाया, वहाँ हमारे कथन को अशुद्ध कहने की कृपा की। इतना तो सोच ही लेना चाहिए था कि हमने उन सबका विकृत रूप ही नहीं बतलाया है। जब ऐसा है, तब बार-बार उसी झूठी बात पर जोर देना बहुत ही भद्दी बात है। आपने यह भी कहा कि नवीन शब्द बनाने के लिये हमने बिहारी को दोषी ठहराया है। यह भी ग़लत बात है। हमने तो केवल इतना कहा था कि बिहारी में यह बात है। यह नहीं कहा था कि यह अवगुण है। यदि आपने हमारे अन्य ग्रंथ देखे होते, तो जानते कि हम इसे गुण ही समझते हैं। कम-से-कम इतना तो करते कि जब हमने उसे अवगुण नहीं कहा, तो हमारे मुख में ऐसा कथन अपनी ओर से न रखते। अब, शब्दों के विषय में आपने जो कहा, उस पर विचार किया जाता है। देखने में यह विवाद असंगत समझ पड़ सकता है, किंतु बिहारी की रचना के विषय में होने के कारण हम इसे मुख्य विषय से असंबद्ध नहीं समझते।

बिहारी ने अग्नि को अग्नि कहा अवश्य, परंतु इसे आप साधारण मरोड़-मात्र मानते हैं। जब मरोड़ मौजूद है ही, तब भगड़ा थोड़ा ही समझ पड़ता है। अच्छा, मान लिया कि अन्य कविगण भी 'अग्नि' का व्यवहार करते हैं, फिर भी लालाजी की लिखी सतसई की टीका में, २२४ नं० के दोहे में, अग्नि का रूप बिहारी ने 'अग्नि' लिखा है, जो असाधारण मरोड़ है। 'कुक्त' के दोष की शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपका कथन है कि 'नतरकु क्त' शुद्ध पाठ है। किंतु इसमें भी वही आपत्ति मौजूद है, क्योंकि नतरकु कोई शुद्ध शब्द नहीं है। वास्तव में नतर (नहीं तो) कु ऐसा शब्द है। अतः 'कु' अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि 'नहीं तो' का भाव तो 'नतर' से ही आ जाता है।

'रोज' का अर्थ हमने रोज़ा माना है। आप कहते हैं, रोज ब्रज में मातम को कहते हैं। ठीक है, हम भी मानते हैं। जब प्रभुदयाल ने भी यही अर्थ लिखा है, तब आपकी राय में हमें भी यह ज्ञात था। फिर भी हमने रोज़ा अर्थ लिखा। रोज मातम के अर्थ में एक प्रांतीय शब्द है। हमारे प्रांत में मातम के अर्थ में नहीं बोला जाता। जायसी का जो छंद लिखा गया है, उसमें रोज का अर्थ रोज़ा भी लगाया जा सकता है। ऐसा एक प्रांतीय शब्द हमें असाधारण समझ पड़ा। आप शायद इसे बहुत साधारण मानते हों। 'इठि' विकृत रूप में है। 'खुँदी'

से घोड़े के जमने का अर्थ लिखा गया है। ये एकदेशीय अथवा असाधारण शब्द हैं। 'चिलक' हमारे प्रांत में बड़ो पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाव उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुँदेलखंड और व्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है। 'चौँटत' भी एकदेशीय शब्द है। 'ऊलि' को आप भूलि कहकर दोष-शांति करते हैं, और अपनी टीका में उसका अर्थ लगाते हैं 'भड़ पड़ना'। भूलि का अर्थ भड़ना कहाँ से आया, सो आप ही जानें। भूलने में कोई वस्तु भड़ जाय, तो वह बात दूसरी है; परंतु अर्थ 'भड़ना' न होकर 'भूलना' ही रहेगा। भूलने का अर्थ लगाने से वह प्रसंग में नहीं बैठता। अतएव दोष-शांति नहीं होती।

'गाँस'-शब्द को हमने अव्यवहृत समझा था। उसका कोई अर्थ हमने नहीं लिखा, किंतु आप कहते हैं कि हमने अशुद्ध अर्थ लिखा। आपकी राय में बूढ़, वीरवहूटी के अर्थ में, व्रज में अब तक बोला जाता है। हमने व्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा—हमारे यहाँ वीरवहूटी, इंद्रवधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ़। संभवतः विहारी ने बूढ़-शब्द राम की डोकरिया से निकाला हो, अथवा किसी गाँव में बोला जाता हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है। 'संसो' का अर्थ उस दोहे में साँस या संशय, दोनों हो सकते हैं। शब्द मरोड़ा हुआ है, यह आप भी मानते हैं। 'तूथ्यो' की दोष-शांति आप उसे शुद्ध प्राकृत कहकर करते हैं, किंतु ग्रंथ हिंदी का है, प्राकृत का नहीं। 'हई', 'कैवा', 'डाढ़ी', 'रहचट' और 'लाय' को आप व्रज में प्रचलित बतलाते हैं, पर हमें व्रजवासियों से पूछने पर भी इनका चलन नहीं ज्ञात हुआ। आपको मालूम होगा। 'लाय'-शब्द आग के अर्थ में बुँदेलखंड में अवश्य प्रचलित है, परंतु एकदेशीय होने के कारण कविता में उत्तम नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध अंगरेजी-समालोचकों का भी मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। वैदिक साहित्य में अवध मध्य-देश कहलाता था। यह आर्य-सभ्यता का प्राचीन केंद्र है। जो अप्रयुक्त व्रज-भाषा अवध तक में न समझी जा सके, वह ठीक नहीं मानी जायगी। ग्रंथों में शिष्ट भाषा ही का आदर होता है। डाढ़ी-शब्द डाढ़ा (दौरहा आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। डाढ़ी को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ

होने ही से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि डाढ़ी को इसी अर्थ में कई प्राचीन कवियों ने लिखा है। इससे यह दोष छोटा है।

‘लाव’, ‘वीदि’ और ‘वाथ’ को राजपूतानी शब्द बताकर आप उनका समर्थन करते हैं। फिर भी प्रांतिकता के कारण इनसे भाषा में अशिष्टता आती है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

‘चुपरी’, ‘ज्यों’, ‘दीजतु’, ‘दुकचित’, ‘नजुक’, ‘संगी’, ‘अौचि’, ‘कौरि’ और ‘तैन’ की दोष-शान्ति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपने यह कई बार कहा है कि प्रभुदयाल की प्रतिभ्रष्ट होने के कारण हमको बिहारी की रचना में शाब्दिक दोष दिखलाने का मौक़ा मिला है। संवत् १६७८ में आपने भी बिहारी-सतसई की टीका प्रकाशित की। अब हम उसी का पाठ शुद्ध मानकर कुछ और ऐसे शब्द भी दिखलाते हैं, जो पहले नहीं दिखलाए थे। आपके दोहों के नंबर शब्दों के सामने कोष्ठकों में लिखे जायेंगे—

‘लखि’ (६) का शुद्ध अर्थ ‘देखकर’ है, किंतु इस दोहे में ‘देखने के लिये’ ऐसा निकलता है। यह असमर्थ-दूषण है। १३ नंबर के दोहे में ‘लखि’ का शुद्ध अर्थ आया है।

‘लोपे’ (१४) का अर्थ ‘पूजा का लोप किए जाने पर’ आपने लिखा है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। लोपे के साथ पूजा का विचार जोड़े बिना दोहे का शुद्ध अर्थ भी नहीं लगता।

‘नै’ (२८) का शुद्ध रूप नदी है। (३१) में आपने ‘जोर’ का तुकांत ‘और’ रक्खा है। यह अशुद्ध है। यहाँ बिहारी की आत्मा शायद आप ही से फ़र्याद कर बैठे, क्योंकि शुद्ध शब्द जौर (जुल्म) है, और उससे ‘और’ का ठीक तुकांत भी मिलता है। ‘बर’ (५२) बल के लिये आया है। ‘मौरि’ (७०) मौलि के लिये है। ‘दौरि’ (७५) उड़ने के लिये आया है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। कुही शिकार खेलने में नीचे-नीचे दौड़ती नहीं, बल्कि उड़ती है।

‘चीकनी’ (८४) ‘पुष्ट’ अर्थ के लिये असमर्थ है। बहुत-सी कमज़ोर चीज़ें भी चिकनी हो सकती हैं।

‘ससिहर’ (१०८) ‘शशदर’ की झराबी है। ‘हायल’ (१११) ‘वायल’ के लिये है। ‘अच्छ’ (११७) ‘अच्छी’ का बिगाड़ा हुआ रूप है। ‘वरी छवि’ (१३१) में छवि बेचारी जल ही गई, किंतु अर्थ लिया गया देदीप्यमान होने का। असमर्थ-दूषण है।

‘सोनजाय’ (१४१) सोनजुही के लिये आया है । अरगट (१५०) = आड़ + गात्र = घूँ घट । इस प्रकार ‘अरगट’ का अर्थ लगाया गया है । शब्द-विकृति घूँ घट खोले खड़ी है । ‘घन’ (१५७) घनसार का आधा अंश है । खरौँट (१६०) ‘खरौँच’ की खराबी है । दुलहिनि (१७२) में आगे ‘पर’ और होना चाहिए । ‘भोगवै’ (१७५) ‘भोगै’ के लिये आया है । ‘हरकी’ (१८१) ‘हटकी’ का विकृत रूप है । ‘अति आगि’ (१८८) में क्रिया - विशेषण ‘अति’ विशेषण की तरह ‘आगि’ के लिये आया है । ‘साँट’ (१९६) का अर्थ आपने सौदा बेचना माना है । शायद आप इसे ‘सट्टे’ का अपभ्रंश समझे हों । वास्तव में यह बुँदेलखंडी शब्द है, किंतु है बहुत अशिष्ट । इसका ऐसा प्रयोग होता है कि ‘साले को खूब साँटा’ अर्थात् खूब गाँठा या कब्जे में किया । ऐसे अशिष्ट (Slang) शब्द का व्यवहार गहित है ।

‘मूका’ (२११) ‘मोखा’ की खराबी है । ‘अगनि’ (२२४) ‘अग्नि’ का बिगड़ा रूप है, और तन की दीप्ति का अर्थ प्रकट करने को लाया गया है । विकृत रूप तथा असमर्थता, ये दोनों दूषण वर्तमान हैं ।

‘खटकति’ (२५५) एकवचन है, किंतु बहुवचन होना चाहिए था, क्योंकि इसके कर्ता तीन हैं ।

‘दिन’ (२६०) ‘उस दिन’ के लिये आया है । इसमें असमर्थ-दूषण है ।

‘बारद’ (२६२) बारिद की खराबी है । आधीन (२६३) अधीन का रूप है । ‘उपय जाय’ (२६४) उड़ जाने के लिये आया है । यह शब्द बंग-प्रांत का है, जो एकदेशीय होने से असाधारण माना जाता है । ‘इन’ (२७१) ‘इनका’ का अर्थ बतलाने के लिये आया है ।

‘सवील’ (२७३) युक्ति के अर्थ में लाया गया है । इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग । ‘भाई, इसकी कोई सवील निकाल दो’, ऐसे वाक्य में सवील का अर्थ व्यंग्य से युक्ति माना जा सकता है, किंतु ‘बचै न बड़ी सवीलहू चील-घौंसुआ माँसु’ में युक्ति का अर्थ नहीं लगता ।

‘घरहर’ (२७५) धैर्य के लिये आया है । ‘दिया लौं नादि उठति’ (२७८) में ‘नादि उठति’ सचेत होने के अर्थ में आया है, किंतु नाद से शब्द-संबंधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का ।

‘बरि-बरि’ (२८८) ‘बकि-बकि’ के लिये आया है, जो असमर्थ है । यदि बड़बड़ाने का भाव लाना था, तो उपयुक्त शब्द लाया जा सकता था । ‘ढोस’ (२९४) ‘आदत’ के लिये कहा गया है । यह शब्द ढारने से निकला है, और

आदत के अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है । 'सैल' (३०८) 'सैर' का अपभ्रंश है । हित (३२४) 'हित' या पति का अर्थ प्रकट करने में असमर्थ है ।

'पिछान' (३२७) 'पहचान' का अपभ्रंश है । 'उसरत' और 'गुम्हरोट' (३४७) बिगड़े हुए शब्द हैं । 'सद' (३८६) 'स्वभाव' के अर्थ में आया है । 'पनिहा' (३६२) 'चोरी का पता लगानेवालों' के अर्थ में आया है । शुद्ध बुंदेलखंडी शब्द है 'पनाहा' । जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता बताना है, उसे पनाही कहते हैं । इसी से कवि ने सममाना शब्द 'पनिहा' गढ़ लिया होगा । 'ठिकठैन' (४१५) 'ठीक-ठाक' के लिये आया है । 'कटनि' (४१६) आसक्ति के लिये अशिष्ट है ।

'निघरघटौ' (४२१) निश्चय-पूर्वक 'घरघाट' के लिये गढ़ा हुआ शब्द है । 'जानि' (४२३) का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ में हुआ है । 'गहराइ' (४३१) गराने के लिये आया है ।

'रली' (४३५) से 'रँगरलियों' का अर्थ-बोध कराया गया है । 'कैनि' (४३६)—'कोर्निश' का बिगड़ा रूप—प्रार्थना के अर्थ में आया है । 'गहिली' (४४२) 'ग्रहिल' से निकालकर 'बावली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'रचौ हैं' (४४४) प्रेम-युक्त होने के अर्थ में आया है । शुद्ध अर्थ किसी रंग में रचने का है । 'अचैन' (४६१) का प्रयोग बेचैनी के अर्थ में हुआ है । 'मितान' (४८४) से 'मुक्काम' का अर्थ लिया गया है, यद्यपि मुख्य अर्थ मिलने का है ।

'जीगनन' (४६२) से जुगनुओं का बोध कराया गया है । 'सखी सबै ढिग जाति' (४६७) में कर्म जाति एकवचन है, किंतु कर्ता 'सबै सखी' बहुवचन है । शुद्ध वाक्य यों होना चाहिए था—सब सखियाँ ढिग जाती हैं । 'छतौ' (५०४) से 'आछत' के सहारे प्रस्तुति का अर्थ निकाला गया है । 'वै' (५१०) से 'उनकी' का अर्थ-बोध कराया गया है । 'आवटी' (५२३) 'औटी' का विकृत रूप है । 'सुद्धि दाय प्यो' (५७८) में लाला साहब ने जो अर्थ लिखा है, उसमें सुध दिला करके आगे कुछ होने का वाक्यांश आवश्यक है, किंतु छंद में वह कुछ नहीं है । 'औथरे' (६४५) शब्द 'उथले' के लिये आया है । 'तरहरि' (६७८) 'तले' के लिये कहा गया है ।

संभव है, विहारी का कोई दूसरा प्रेमी लाला साहब के लिखे हुए पाठों को भ्रष्ट कहकर हमारे उपर्युक्त कथनों में दूषण निकाले । ऐसा कुछ शब्दों में होना संभव भी है । फिर भी पाठों का कितना भी ढकोसला निकाला जाय, हमारी समझ में विहारी का शब्द-प्रयोग निर्दोष नहीं प्रमाणित हो सकता । हमने विकृत शब्दों के उदाहरण एक-ही-एक दिए हैं, किंतु ग्रंथ-भर में ऐसे-ऐसे शब्द अनेक

बार आए हैं। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि साहित्य-गौरव के लिये भाषा पर उतना विचार नहीं हो सकता, जितना भाव पर, क्योंकि इसके निर्णय में भाषा का प्रभाव उतना अधिक नहीं।

निम्न-लिखित छंदों में दूरान्वय-दोष मौजूद है—

वेई गड़ि गाड़ै परीं, उपट्यो हारु हियै न ;
 आन्यो मोरि मतंग मनु मारिं गुरेरन मैन ॥ १ ॥
 जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला वाल ;
 भजत भार-भयभीत हूँ घन चंदन वनमाल ॥ २ ॥
 कियो जु चिबुक उठायकै कंपित कर भरतार ;
 टेढ़ीयै - टेढ़ी फिरति, टेढ़ो तिलक लितार ॥ ३ ॥
 ढीठ्यो दै बोलत, हँसत, प्रौढ़ धिलास अपोढ़ ;
 त्यों-त्यों चलत न पिय-नयन, छकए छकी नवोढ़ ॥ ४ ॥

इन कुछ दोषों के होने पर भी इन कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। यथा—

तेह तरेरो त्योर करि, कत करियत दृग लोल ;
 लीक नहीं यह पीक की सुति-मनि-भलक कपोल ॥ ५ ॥

१६५, २७६, ३१२, ३१७ और ४७३ नंबर के छंद भी इस गुण के उदाहरण हैं। इन महाकवि ने इवारत-आराई भी खूब ही की है —

कुंज-भौन तजि भौन को चलिए नंद-किसोर ;
 फूटत कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर ॥ ६ ॥
 केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ;
 गातरूप लखि जात दुरि जातरूप को रूप ॥ ७ ॥

बिहारीलाल ने पद-मैत्री को बड़ा ही आदर दिया है, और इसका प्रयोग भी बड़ा मनोरंजक किया है। यह चमत्कार ५, २५, ४३, ७७, ८६, १५६, १८४, १८८, २००, २०१, २०२, २२७, ३०६, ३३०, ३३२, ३३४, ३४२, ३५४, ३६०, ३६६, ४२३, ४४७, ५२१ और ६३० नंबर के छंदों में खूब देख पड़ता है, और साधारणतः सर्वत्र ही है—

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दें ;
 अंजन - रंजन हूँ बिना खंजन - गंजन नैन ॥ ८ ॥
 तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान ;
 तू मोहन के उर बसी हूँ उरबसी - समान ॥ ९ ॥

गढ़े बड़े छवि छाकु छकि, छिगुनी छोर छुटै न ;
रहे सुरंग - रंग रंगि वहीं, नहँ - दी महुँदी नैन ॥ १० ॥
दो-चार स्थानों पर इन्होंने पद-मैत्री के साथ चित्र-काव्य भी किया है ।

यथा—

खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन - मृग, नागर - नरनु सिकार ॥ ११ ॥
परंतु शब्दों के बनाव में इन महाकवि ने उद्‌डता आदि गुण भी हाथ से नहीं जाने दिए हैं । उद्‌डता का उदाहरण—

फिरि-फिरि बित उतही रहत, टुटो लाज की लाव ;
अंग . अंग छवि - भौर मैं भयो भौर की नाव ॥ १२ ॥
कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि विहारीलाल की भाषा बहुत मनोहर है । इन्होंने लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द प्रायः रक्खे हैं कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमचसा उठता है । इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है ।

विहारी ने स्त्रियों के तालाब में नहाने का ढंग, स्नान-समय की नज़ारेबाज़ी आदि का ऐसा वर्णन किया है कि वह आँखों-देखा-सा समझ पड़ता है—

नाहँ अन्हाय, नहि जाय घर, चित चहुँत्र्यो तकि तीर ;
परसि फुरही - लौं फिरति, बिहँसति, धँसति न नीर ॥ १३ ॥
मुँह धावति, एँड़ी घसति, हँसति अनगवति तीर ;
घसति न इंदीवर - नयनि कालिंदी के नीर ॥ १४ ॥
मुँह पखारि, मुड़हर भिजै, सीस सजल कर छायाय ;
मोरि उचै घूटैनु नै, नारि सरोवर न्हाय ॥ १५ ॥
चितबत जितयत हित दिए, किए तिरीछे नैन ;
भीजे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निवै न ॥ १६ ॥
बिहँसति सकुचति - सी, दिए कुच आँचर बिच बाँह ;
भीजे पट, तट को चली, न्हाय सरोवर माँह ॥ १७ ॥
इन महाकवि ने कई काव्यांगों के बड़े ही साफ़ और उत्कृष्ट उदाहरण दिए हैं । यथा—

छुटी न लाज, न लालचौ, प्यौ लखि नैहर - गेह ;
सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच - सनेह ॥ १८ ॥ (मध्या)
उपर्यक्त तीसरा और पाँचवाँ, दोनों दोहे 'स्वभावोक्ति' के अच्छे उदाहरण हैं ।

किती न गोकुल कुलवधू, काहि न केहि सिख दीन ;
 कौने तजी न कुल - गली है मुरली - मुर - लीन ॥ १६ ॥ (काकु)
 मन मोहन सों मोह करि तू घनस्याम निहारि ;
 कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि ॥ २० ॥ (परिकरांकुर)
 स्वारथ, सुकृत न, स्रम वृथा, देखि बिहंग विचारि ;
 बाज पराए पानि पर तू पंछीन न मारि ॥ २१ ॥ (अन्योक्ति)
 काल्हि दुसहरा वीतिहै, धरि मूरुख, जिय लाज ;
 दुरयो फिरत कत बनन में नीलकंठ, धिनु काज ॥ २२ ॥ (")
 नाहिँ न ये पावक प्रबल, लुवै चलत चहुँ पास ;
 मानहु विरह वसंत के ग्रीषम लेत उसास ॥ २३ ॥ (उत्प्रेक्षा)
 मिलि चंदन वेदी रही, गोरे मुँह न लखाय ;
 ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरति जाय ॥ २४ ॥ (उन्मीलित)
 ढीठि न परत समान दुति, कनक कनक - से गात ;
 भूषन कर - करकस लगे, परास पिछाने जात ॥ २५ ॥ (")
 कंचन तन धन बरन बर रह्यो रंग मिलि रंग ;
 जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग ॥ २६ ॥ (विशेषक)
 अंग-अंग नग जगमगत दीप - सिखा - सी देह ;
 दिया बढ़ाए हू रहै, बढ़ो उजरो गेह ॥ २७ ॥ (द्वितीय पूर्वरूप)
 छाले परिवे के ढरान सकति न हाथ छुवाय ;
 भिभकति दिए गुलाब के भवौ भवौवत पाय ॥ २८ ॥ (अतिशयोक्ति)

इन कवि ने अतिशयोक्ति में क्रम तोड़ दी है, विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में । ६६, २३४, २४१, २४३, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३४, ४४८, ४७७ और ४२४ नंबर के छंदों में इसकी छटा देख पड़ेगी । इन महाकवि ने उपमाएँ बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज-खोजकर दी हैं, तथा उत्प्रेक्षाएँ और रूपक भी बड़े ही चोखे कहे हैं—

भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लोन ।
 साईं-सिर कच सेत, ज्यों वीतयो चुनति कपास ।
 जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह-सी होति ।
 अरगट ही फानूस - सी परगट होति लखाय ।
 भरत ढरत, बृद्ध तिरत, रहट-घरी लौ नैन ।
 आली, बाढ़ै विरह, ज्यों पंचाली को चीर ।

१७, २७, ३४, ४३, ५४, ६७, ७२, ८४, ९०, ११२, ११४, १२७,

१२८, १६२, १६३, २२२, ३१०, ३२३, ३८०, ३६६, ४२२, ४४४, ४६३, ४६७, ४७१, ५२३, ५२४, ५४२, ५६४, ६४०, ६६६ और ६६७ नंबर के छंदों में इ की उपमा, उत्प्रेक्षा या रूपक का जोर देख पड़ता है। इन्होंने सैकड़ों नए-पुराने रूपक और उपमाएँ कहीं। जहाँ यह पुरानी उपमाएँ या रूपक कहते हैं, वहाँ भी अपनी विशेषता रख देते हैं। यथा—

नीको लसत ललाट पर टीको जड़ित जड़ाय ;

छविहिँ बढ़ावत रवि मनो ससि - मंडल मैं आय ॥ २६ ॥

चमचमात चंचल नयन विच घूँघट पट मीन ;

मानौ सुर-सरिता विमल जल उछलत जुग मीन ॥ ३० ॥

इन उत्प्रेक्षाओं में इन कविवर ने पुराने विचारों को कैसे नए कपड़े पहनाए हैं ! बिहारी ने एक यह भी विशेषता रखी है कि सैकड़ों रूपक कहने पर भी, जहाँ तक हमें स्मरण है, एक भी तद्रूप-रूपक नहीं कहा। वास्तव में यथावत् रूपक अभेद ही है, क्योंकि तद्रूप में अंतर नहीं मिटता। इसीलिये शायद इन्होंने उसे पसंद नहीं किया। उपर्युक्त के अतिरिक्त भी बिहारी ने बहुत-से अच्छे काव्यांग कहे हैं। काव्य के पूर्ण ज्ञाता होने पर भी, बिहारी उसकी रीतियों के पूरे पाबंद नहीं थे। मरणावस्था के कथन में रसाभास समझकर बहुतेरे कवि मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं (यथा — “नेक मरू करिकै चितई, जब चारि घरी लौ मरीयै धरी रही ।”), परंतु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया—

कहा कहौ वाकी दसा हरि प्रानन के ईस ;

बिरह-ज्वाल जरिवो लखे, मरिवो भयो असीस ॥ ३१ ॥

पंडित पद्मसिंह शर्मा इस दोहे का हमारा अर्थ अशुद्ध मानते हैं। आप इसका यों अर्थ लगाते हैं कि “उसे विरह-ज्वाला में जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है ।” भेद इतना ही है कि आप ‘असीस के समान है’ कहते हैं, किंतु कवि कहता है कि ‘असीस भयो’ (हो गया)। मरिवो क्रिया है, नाम नहीं। क्रिया पूर्ण हो गई। मरना आशीर्वाद हो गया। यदि इसमें भी क्रिया अपूर्ण ही मानी जाय, तो कष्ट-कल्पना की हद हो जायगी।

सिवा संस्कृत के कवि कालिदास के और कवियों ने प्रायः गर्भवती नायिका का वर्णन नहीं किया, पर बिहारी ने वह भी कहा है—

दृग थरकोहैं अध-खुले, देह थकोहैं डार ;

सुरति-सुखित-सी देखिए दुखित गरभ के भार ॥ ३२ ॥

बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और

यह महाशय अपने मतलब की बात खूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। यथा—

मेरी भव - बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की भाई परे स्याम हरित दुति होय ॥ ३३ ॥
सोनजुही - सी होति दुति मिलति मालती - माल ।
देखी सोनजुही फिरत, सोनजुही - से अंग ;
दुति लपटनु पट सेतहूँ, करत बनौटी रंग ॥ ३४ ॥
अधर धरत हरि के परति आँठ ढीठि पट जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रध - नुष - रँग होति ॥ ३५ ॥
सोनजुही - सी जगमगै अँग - अँग जोवन - जोति ;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह - दुति होति ॥ ३६ ॥
कंचन तन धन वरन - वर रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुवास ही, केसरि लाई अँग ॥ ३७ ॥

इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। निम्न-लिखित दोहे इस गुण के प्रधान उदाहरण हैं—

रह्यो मोहु, मिलनो रह्यो, यों कहि गहे मरोर ;
उत दै अलिहि उराहनौ, इत चितई मो ओर ॥ ३८ ॥
छल सों चली छुआय के छिनकु छबीली छाँह ।
ज्यों-ज्यों बढ़ति विभावरी, त्यों-त्यों खरी उताल ;
भ्रमकि-भ्रमकि टहलैं करै, लगी रहचटैं बाल ॥ ३९ ॥
सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि ;
कहा करौं है जाति हरि हेरि हँसौहीं ढीठि ॥ ४० ॥
लरिका लेवे के मिसुन लंगर मो ढिग आय ;
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुआय ॥ ४१ ॥
ज्यों उभकति, भाँपति बदन, विहँसति अति सतराय ;
त्यों गुलाल भूठी मुठी भुठकावत प्यौ जाय ॥ ४२ ॥
ज्यों-ज्यों पट भटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन ;
त्यों - त्यों परम उदारहू फगुआ देत बनै न ॥ ४३ ॥
बतरस - लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥ ४४ ॥

इन अंतिम तीन दोहों में इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बातचीत एक-एक दोहे

में भर दी है। इनका प्रकृति-निरीक्षण इन दोहों से भी प्रकट होगा—१, ६, २३, २६, २८, ३०, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ४८, ६१, ६५, ६८, १३६, १३८, १६६, २३६, २७१, २८०, ३३५, ३६१, ४१३, ४४४, ४६३, ४६५, ५०६, ५१३, ५४६, ५५१, ६०६, ६५१, ६५२, ६५४, ६६३, ६६४, ६६६, ६८१, ६८६, ६९०, ६९२, ६९३, १८, १९, २२, ५६, १५०, ४०६, ७११, १३४, २१५, ७६, १०५ इत्यादि। इन कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति-निरीक्षण में अपना काइयाँपन भी प्रकट किया है, और इनके दोहों के साथ प्रायः प्रकृति और काइयाँपन मिले हैं। मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बातें इन महाकवि ने लिखीं, और जितने चोज निकालकर इन्होंने रख दिए, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं रख सका होगा। इन सात सौ दोहों में खूबियाँ ठूस-ठूसकर भरी हुई हैं, परंतु इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में बहुधा अश्लीलता भी मिल जाती है। देखिए नंबर ५, १६८, २२८, २८१, २८२, २६५ इत्यादि।

बिहँसि, बोलाय, लगाय रर, प्रौढ़ तिया रस घूमि ;
 पुलकि, पसीजति पूत का प्यो चूम्या मुँह चूम ॥ ४५ ॥
 यहाँ पुत्र में भी पति-भाव आ गया है, जो नय है।

भोगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निवै न।
 कवियों ने कहा है—‘देखि पुरै औ दुराव रहै कवि तोष सोई कविता मन भावै’; परंतु बिहारी ने दो-चार स्थानों पर विलकुल साफ़ कह दिया है। इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में केवल एक स्थान पर गलती समझ पड़ती है—

पावस घन - अँधियार महँ रह्यो भेद नहिँ आन ;
 राति - द्यौस जान्यो परत लखि चकई - चक्रवान ॥ ४६ ॥

वर्षा-ऋतु में भारत में चक्रवाक नहीं रहते। बहुत-से लोग कष्ट-कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, किंतु हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं। शर्माजी का प्रश्न है कि वे क्या होते हैं? उत्तर यही है कि वे भारत के बाहर कहीं चले जाते हैं।

इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा, सादा, सच्चा रूप ही दरसा दिया है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसा रूप नहीं दिखा सका। देखिए नंबर ५२, २३५, १५१, ३१२ पद्य इत्यादि।

कहताने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, वाघ ;
 जगत तपोवन - सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥ ४७ ॥
 कहते हैं, यह छंद एक तसवीर को देखकर बना था।

चलत देत आभार सुनि वही परोसिहि नाँह ;
 लसी तमासे के हगनि हाँसी आँसुन माँह ॥ ४८ ॥
 मानुषी, विशेषकर नागर वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी खूब रक्खा है—

जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल ;
 भजत भार - भय - भीत है घन, चंदन, बन - माल ॥ ४९ ॥
 भिक्षकति चित्त गुलाब के भव्राँ भव्राँवति पाँय ।

नागरियों के अतिरिक्त इन्होंने ग्राम्य नायिकाओं का भी वर्णन अच्छा किया है—

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलनि गाड़ ;
 कैसी लसति गँवारि यह सोनकिरवा की आड़ ॥ ५० ॥
 पहला - हारु दिए लसै, सन की बेंदी भाल ;
 राखति खेत खरी - खरी खरे उरोजनि बाल ॥ ५१ ॥
 परंतु ग्रामीणों की इन्होंने प्रायः निंदा की है—

नागरि सकल बनाव तजि बसी गमेलिन माह ;
 मूढ़नि मैं गिनवी न तो, हूँक्यो दै इठलाह ॥ ५२ ॥
 करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ;
 रे गंधी, मति - अंध, तू अतर देखावत काहि ? ॥ ५३ ॥

इन कवि ने मद्य-पान का बड़ा ही बढ़िया वर्णन किया है, और इनकी रचना में ज्योतिष का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है—

तिय तिथि, तरुन - किसोर वय, पुन्य - काल सम दोनु ;
 पूरे पुत्रिनु पाइयनु, बैस - संधि संक्रोनु ॥ ५४ ॥

दो-चार और स्थानों पर भी ज्योतिष-मिश्रित वर्णन आए हैं। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में बहुत श्रेष्ठ हैं।

इनके दोहों में उत्कृष्ट पद्यों की गणना करनी कठिन है, क्योंकि इनके प्रायः तिहाई दोहे अच्छे हैं, और कोई एक भी दोहा ऐसा नहीं, जो खराब कहा जा सके। अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण और देव - सुवा के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। विशद पद्यों के उदाहरण वर्णन के अंत में हैं। कुछ यहाँ भी लिखे जाते हैं—

वरन, बास, सुकुमारता, सबही रही समाय ;
 पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय ॥ ५५ ॥

(मीलित अलंकार)

लिखन बैठि जाकी सविहि गहि-गहि गहब गरुर ;
 भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ ५६ ॥
 सायक - सम वायक नयन रंगे त्रिविध रंग गात ;
 झबौ निरखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥ ५७ ॥
 मो हिय को छुटि मान गो निरखत ही ब्रजराज ;
 रही घरिक लौ मान - सी मान किए की लाज ॥ ५८ ॥
 वहै सदा पसु - नरन को प्रेम - पयोधि पगार ;
 गिरि ते ऊँचे रसिक - मन बूड़े जहाँ हजार ॥ ५९ ॥

इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और श्लास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता । देखिए ७१, ७२, ८२, ८३, १०६, १६२, १६७, २४०, ३०६, ३३८, ४०२, ४७५, ५३२, ७०० नंबर इत्यादि के दोहे ।

करत मलिन आछी छविहि, हरत जु सहज विकासु ;
 अंगराग अंगनि लग्यो, ज्यों आरसी उसासु ॥ ६० ॥
 पहिरि न भूषन कनक के, कहि आगत यहि हेत ;
 दरपन के - से मोरचे देह दिखाई देत ॥ ६१ ॥
 अंग - अंग प्रतिविंब परि दरपन - से सब गात ;
 दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात ॥ ६२ ॥
 ठीठि बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत, न डरात ;
 इतै - उतै मन दुहुन के नट - लौ आवत - जात ॥ ६३ ॥
 जूठे जानि न संग्रहे, मनु मुँह - निकसे - बैन ;
 याही सों मानो किए बातन को धिधि नैन ॥ ६४ ॥
 बिरह - बिकल बिन ही लिखी पाती दर्द पठाय ;
 आँक - बिहीनीयै सुचित, सूने बाँचत जाय ॥ ६५ ॥
 पत्रा ही तिथि पाइयत वा घर के चहुँ पास ;
 नित - प्रति पून्योई रहै आनन ओप - उजास ॥ ६६ ॥

ऊँचे श्रयालात भी देखने योग्य हैं—

बाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति ;
 जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह - सी होति ॥ ६७ ॥
 दूर की कौड़ी भी अच्छी लाते थे—

भई जु तन - छवि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन ;
 अंग - आप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥ ६८ ॥

बारीक खयालात भी खूब ही रखे हैं—

मानहु बिधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज ;

दृग - पग पोंडन को किए भूषन - पायंदाज ॥ ६६ ॥

भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ।

इनकी विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं । ऊपर लिखे हुए दोहों में 'पहिरि न भूषन' देखिए । इन्होंने संयोगादि के दो-एक चोख भी कहे हैं, जो देखने योग्य हैं—

नहिँ हरि लौँ हियरा धरौँ नहिँ हर लौँ अरधंग ;

एकत ही करि राखिए अंग - अंग प्रति अंग ॥ ७० ॥

इसे पढ़कर—

मन तो शयम् तो मन् शयी, मन् तन् शयम् तो जाँ शयी ;

ता कस न गोयद वादऽजी मन् दीगरम् तो दीगरी ।

याद आता है । इन्होंने बहुत-से ऐसे विचार और भाव लिखे कि बड़े-बड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिये हाथ फैलाए हैं । एकआध स्थान पर इन्होंने औरों के भी कुछ भाव लिए हैं । देखिए—

नई लगनि, कुल की सकुच, विकल भई अकुलाय ;

दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी-लौँ दिन जाय ॥ ७१ ॥ (विहारी)

धाई फिरै फिरकी-सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुगौ गुन जोरिकै ऐंची । (देव)

पूरन भीति हिए हिरकी, खिरकी - खिरकीन फिरै फिरकी-सी । (देव)

वाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह ;

लाल तिहारे दृगनि की परी दृगन में छाँह ॥ ७२ ॥ (विहारी)

काहू के रंग रंगे दृग रावरे, रावरे रंग रंगे दृग मेरे । (देव)

नेह न, नैनन को कछु, उपजी बड़ी बलाय ;

नीर-भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥ ७३ ॥ (विहारी)

छलकै चहूँवा अश्रुजल को प्रवाह पै न,

नेकु विहागिनि को तपनि बुझाय है । (दूल्हा)

नैना धैना करत हैं, उरज उमेठे जाहिँ । (रहीम)

लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बाँधि जाहिँ । (विहारी)

उपर्युक्त भाव विहारी ने लिया है ।

भई रहति नट को बटा अटकी नागरि नेह । (विहारी)

भूतल ते नभ, नभ ते अवनी अगु उछले नट का बटा हुआ । (सीतल)

सायक - सम घायक नयन रंगे त्रिविध रंग गात ;

भखौ बिलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात ॥ ७४ ॥ (विहारी)

कंज सकोत्र गड़े रहैं पंक मै, मीनन वोरी दियो दहनीरन । (दास)
उठे राम अति प्रेम-अधोरा ; कहुँ धनु, कहुँ निषंग, कहुँ तीरा ।
(तुलसीदास)

कहा लड़ैते दृग करे, परै लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट, वनमाल ॥ ७५ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है ।

जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत पराग । (बिहारी)
इस भाव पर केशव, पद्माकर एवं अन्य कई कवियों ने कहा है ।
भाव केशवदास का है ।

पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि ;
आपु आप ही आरसी लखि रीझति रिझारि ॥ ७६ ॥ (बिहारी)
स्याम-ही-स्याम रही रटिकै, पुनि ह्व गई मूरति नंदकिसोर की ।
(पद्माकर)

भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि । (बिहारी)
ढोठि-सी ढोठि लगी इनके, उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की ।
(पद्माकर)

साहित्यसंगीतकलाविहीनः

साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः । (भट्टहरि)
तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ;
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ७७ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है ।

आर्या-सप्तशती और गाथा-सप्तशती से बिहारी ने बहुतेरे भाव लिए हैं, जैसा कि शर्माजी ने दिखलाया है ।

लाला भगवानदीन इस स्थान पर इतने चकित हुए हैं कि उनकी समझ में हमने बिहारी से पीछे होनेवाले कवियों से भाव चुराने का दोष बिहारी पर लगाया । कितना बड़ा आश्चर्य है ! आपने अपना यह विचार केवल श्रीशारदा-पत्रिका में ही नहीं छपवाया, अपनी 'बिहारी-बोधिनी' पुस्तक में भी लिखा । हमने तो पहले ही लिखा है कि बड़े-बड़े कवियों ने भी बिहारी के सामने भावों के लिये हाथ फैलाए हैं । उसी कथन के उदाहरण दिए गए हैं । पैरे के अंत में यह भी लिखा है कि बिहारी ने भी कभी-कभी भाव लिए हैं । दोनों बातों के उदाहरण दिए गए हैं । जिसका भाव है, उसका छंद पहले लिखा गया है, और नक़ल करनेवाले का पीछे ।

इतने बड़े शृंगारी कवि होकर इन्होंने कुछ पद्य भक्ति के भी लिखे हैं। इनका अद्वैत मत जान पड़ता है, परंतु इनको भक्त कहना धितंडा-मात्र है, जब कि यह स्वयं लिखते हैं—

ताहि देखि मन तीरथनि विकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा वेनी परसति पाय ॥ ७८ ॥

इनके भक्तिवाले पद्यों के ये उदाहरण हैं—

मोर - मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ;
यहि वानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल ॥ ७९ ॥
मैं देख्यो निरधार, यह जग काचो काँच सो ;
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत तहाँ ॥ ८० ॥
जप - माला, छपा, तिलक, सरै न एकौ काम ;
मन - काचे नाचे बृथा, साँचे राचे राम ॥ ८१ ॥
ब्रजवासिन को उचित धन, जो घनरुचि तन कोय ;
सु-चित न आयो सुचितई, कहौ कहाँ ते होय ॥ ८२ ॥

सूमपने के भी यह कवि प्रतिकूल थे—

भीत न नीत गलीत यह, जो धरिष धन जोरि ;
खाए - खरचे जो बचै, तौ जोरिष करोरि ॥ ८३ ॥
जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों हात कठोर ॥ ८४ ॥

यह ऐसे खरे आदमी थे कि इन्होंने महाराजा जयपुर के यहाँ रहते हुए भी अपना ग्रंथ उनके नाम पर नहीं बनाया, और उनकी प्रशंसा में केवल ७ या ८ दोहे कहे। उसके साथ कलि के दानियों की निंदा भी कर दी। इससे जान पड़ता है, इन कवि का अच्छा मान जयपुर में भी नहीं हुआ। भूषण बिहारी से कवित्व-शक्ति में कम थे, परंतु उनके शिवाजी - संबंधी पद्य बिहारी के जयसाहिवालों से कहीं अच्छे हैं। इससे जान पड़ता है, बढ़िया पद्य केवल इच्छा से नहीं बनते, वरन् जब चित्त से उसके विषय में उमंग एवं उत्साह उठता है, तभी बनते हैं। बिहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि खास जयसाहि ने इन्हें हराया था। इससे जान पड़ता है, मुगलों की ओर से जयसाहि का शिवाजी से लड़ना इन्हें भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है। कलियुग के दानियों की यों निंदा हुई है—

कब को टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय ;
तुम हूँ लागी जगत गुरु, जगनायक, जग-वाय ॥ ८५ ॥
थोरेई गुन रीझवी बिसराई वह बानि ;
तुम हूँ कान्ह मनो भए आजु काल्हि के दानि ॥ ८६ ॥

बिहारी ने अपनी कविता में धर्म-संबंधी आचार-विचारों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी बहुत हवाला दिया है। इसी प्रकार लोगों के विश्वासों पर भी इनके कई पद्य अवलंबित हैं—

पूस - मास सुनि सखिन पै साईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग मलार ॥ ८७ ॥

इसमें विश्वास यह है कि मलार गाने से पानी बरसे, और पूस की वृष्टि अकाल-वृष्टि है। इस पर विश्वास है कि जो अकाल-वृष्टि के दिन घर से चले, उसकी अकाल-मृत्यु हो। सो मलार गाने से पति न जा सकेगा।

“फिरत काग-गोलक भयो दुहूँ देह जिय एक।”—इसमें यह विश्वास है कि कौए की आँख का गोला एक ही होता है, और वह इच्छानुसार उस गोले को किसी भी आँख में लाकर देख सकता है। वास्तव में यह बात नहीं है। “कछु जानत जल-थंभ-विधि दुरजोधन-लौं लाल।” कहा जाता है, दुर्योधन जल-स्तंभन-विधि जानते थे। बिहारी ने अंतिम शतक में कुछ दोहे नीति और शिक्षा के भी अच्छे कहे हैं।

जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा - राय ;

प्रगटत जड़ता आपनी, सुमुकुट पहिरत पाय ॥ ८८ ॥

सीतलता रस वास की घटै न महिमा मूर ;

पीनसवारे जो तजै सोरा जानि कपूर ॥ ८९ ॥

बड़े न हूजै गुननि विनु बिरद बड़ाई पाय ;

कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय ॥ ९० ॥

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;

वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय ॥ ९१ ॥

बढ़त - बढ़तसंपति - सलिल मन - सरोज बढ़ जाय ;

घटत - घटत नहि पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥ ९२ ॥

इन महाकवि ने यत्र-तत्र अपनी कविता में सजाक्र भी खूब रक्खे हैं। इसके उदाहरण हर जगह मिलेंगे।

बिहारीलाल ने आँखों का भी खूब वर्णन किया है। बहुत-से दोहे प्रधान अथवा गौण रूप से आँखों के विषय में हैं। इन्होंने नेत्रों की लड़ाई का भी

कथन किया है। आँखों में आँख लगाने से आँख नहीं लगती, डीठि में डीठि पड़ने से डीठि किरकिरी हो जाती है, इत्यादि इनके बड़े रुचिकर विषय हैं। कई स्थानों पर इन्होंने कानन (जंगल), कान और नैन का संबंध दिखाकर वर्णन किए हैं। साधारण-सी बात भी विहारी इस तरह कहते हैं कि वह बहुत बढ़िया लगती है। इन्होंने रुखाई और चिकनाई का साथ-साथ खूब वर्णन किया है—“रूखे कैसे होत ये नेह-चीकने नैन ?” दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है, अतः उसमें यह गुण है कि थोड़ी-सी भी उत्तमता होने से वह चमक उठता है। यदि सवैया या घनाक्षरी में उतनी ही उत्तमता हो, तो शेष अंश में भरती के पद लाने पड़ेंगे, जिससे कुल छंद शिथिल हो जायगा। इस कारण भी विहारी के दोहे बड़े भले लगते हैं, और इनका यश उज्ज्वल बनाए हुए हैं। यह असंभव समझ पड़ता है कि विहारी ने समस्त जीवन रचना करके भी केवल ७०० दोहे बनाए हों। हमारा तो अनुमान है कि इन्होंने हज़ारों दोहे बनाए होंगे; उनमें से ये ७०० चुन लिए, और शेष साधारण या शिथिल दोहों का मोह न करके उन्हें नष्ट कर डाला। कविजन अपने बुरे पद्यों पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते हैं; परंतु बुरे लड़कों की भाँति भले लड़कों का भी भाग बँटाकर वे पैतृक संपत्ति छिन्न-भिन्न कर देते हैं। यदि विहारी के चार-पाँच हज़ार दोहे होते, और उनमें से ये ७०० अच्छे होते, तो इनका उतना नाम कभी न होता, जितना केवल ७०० उत्कृष्ट दोहों के होने से हुआ। निकृष्ट पद्य बोझ की भाँति सत्कवि को भी थकाकर डुबो देते हैं, पर मोह-वश कविगण उस बोझ को फेंक नहीं सकते। विहारी उस बोझ को फेंककर यश के समुद्र में ऊँचे तैर रहे हैं।

इनकी कविता में काइयाँपन भरा पड़ा है, अतः उसमें इशारेवाज़ी की भी कोई हद नहीं। इनके पद्य इतने अच्छे हैं कि बहुत-से मसले-से हो गए हैं—‘वातै हाथी पाइए, वातै हाथी पाँव’ इत्यादि। इनके सामयिक दोहे प्रायः मौक़े-मौक़े पर कहे जाते हैं। हिंदी में केवल विहारीलाल ने उर्दू के ढंग की कविता रची, और इन्हें उसमें कृतकार्यता भी मिली। इनके बराबर किसी ने भी चोज नहीं कहे, और इनकी कविता सब सत्य है। यह आप-बीती खूब कहते और जग-बीती भी खूब देखते थे। स्त्रियों के कोमल स्वभाव के विषय में इन रसिक-शिरोमणि का निष्कर्ष दर्शनीय और प्रत्येक विवाहित मनुष्य के पूर्णतया ध्यान देने योग्य है—

पति ऋतु आँगुन गुन बढ़त, मान साह को सीत ;

जात कठिन है अति मृदौ, खनी - मन - नयनीत ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार की बातों के वाहुल्य के कारण सतसई पढ़ने में चित्त कभी

उकताता नहीं। यह बड़ा ही चित्ताकर्षक ग्रंथ है। इसके कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि उनके तात्पर्य थिएटरों में ऐकट करने योग्य हैं। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप वे तीन दोहे समझने चाहिए, जो ऊपर प्रकृति-पर्यवेक्षणवाले उदाहरणों के अंत में लिखे गए हैं। जयपुर के आमेरगढ़ांतर्गत शीश-महल का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

प्रतिबिंबित जयसाहि - दुति - दीर्घात दर्पन - धाम ;

सब जग जीतन को कियो काय - व्यूह मनु काम ॥ ६४ ॥

इस शीश-महल को हमने भी देखा है। इसमें हज़ारों छोटे-छोटे अंगुल-अंगुल, डेढ़-डेढ़ अंगुल के शीशे लगे हैं। हर ओर दर्शक का स्वरूप देख पड़ता है, और सचमुच यह जान पड़ता है कि कायव्यूह-सा बना है। यह उपमा बड़ी ही सच्ची है।

बिहारी ने बहुत-सी बातों का वर्णन कि है। स्त्री को यह सबसे अधिक चित्ताकर्षणी समझते हैं।

यक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ;

किते न औगुन जग किए नै वै चढ़ती वार ॥ ६५ ॥

ताहि देखि मन तीरथनि विकटनि जाय बलाय ;

जा मृगनैनी के सदा वेनी परसति पाँय ॥ ६६ ॥

कुल बात सोचकर हम बिहारी को एक बड़ा सत्कवि समझते हैं। तुलसीदास, सूरदास और देव को छोड़कर यह महाशय हिंदी में सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। थोड़े दिन हुए, इनके २७० दोहों का एक सटिप्पण ग्रंथ 'बिहारी-सुधा' नाम से हमने निकाला है। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप दोहे आगे लिखे जाते हैं—

राति - द्यौस हौसै रहै मान न ठिक ठहराय ;

जेतो औगुन ढूँढ़िए, गुनै हाथ परि जाय ॥ ६७ ॥

छुटी न सिमुता की भलक, भलक्यो जौवन अंग ;

दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता - रंग ॥ ६८ ॥

अपने अंग के जानि कै जौवन - नृपति प्रवीन ;

स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ो इजाफा कीन ॥ ६९ ॥

अरते टरत न बर परे, दई मरक मनु मैन ;

होड़ा - होड़ी बढ़ि चले, चित चतुराई नैन ॥ ७० ॥

वाढत तो उर उरज - भर भर तरुनई बिकास ;

बोझन सौतिन के हिए आवति रुंधी रूसास ॥ ७१ ॥

मानहु मुख - दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग ;
 सासु सदन, मन ललन हूँ, सौतिन दियो सोहाग ॥ १०२ ॥
 देह दुलहिया की चढ़ै ज्यों - ज्यों जोवन - जोति ;
 त्यों - त्यों लखि सौतिन सवै वदन मलिन दुति होति ॥ १०३ ॥
 ज्यों - ज्यों जोवन जेठ - दिन कुचमिति अति अधिकाति ;
 त्यों-त्यों छिन - छिन कटि - छपा छीन परति नित जाति ॥ १०४ ॥
 समरस समर सकोच - वस विवस न ठिक ठहराय ;
 फिरि-फिरि उभकति, फिर दुरति, दुरि-दुरि उभकति जाय ॥ १०५ ॥
 छला छवीले लाल को नवल नेह लहि नारि ;
 चाहति, चूमति लाय उर, पहिरति, धरति उतारि ॥ १०६ ॥
 सटपटात - सी ससि - सुखी मुख घूँघट - पट ढाँकि ;
 पावक - भर - सी भ्रमकि कै गई भरोखे भाँकि ॥ १०७ ॥
 कोटि जतन कीजै, तऊ तन की तपनि न जाय ;
 जाँ लौं भोजे चीर ज्यों रहै न प्यो लपटाय ॥ १०८ ॥
 दुखहायनु चरचा नहीं, आनन - आनन आन ;
 लगी रहति ठूका दिए कानन कानन कान ॥ १०९ ॥
 पहुँचति भट रन - सुभट - लौं, रोकि सकैं सब नाहि ;
 लाखन हूँ की भीर मैं आँखि तहीं चलि जाहि ॥ ११० ॥
 अपनी गरजन बोलियत, कहा निहोरो तोहि ;
 तू प्यारो मो जीय को, मो जिय प्यारो मोहि ॥ १११ ॥
 केसर केसरि - कुसुम के रहे अंग लपटाय ;
 लगे जानि नख अनखुली, कत बोलत अनखाय ॥ ११२ ॥
 कर मूँदरि की आरसी प्रतिविंब्यो प्यो आय ;
 पीठि दिए निधरक लखै इकटक डीठि लगाय ॥ ११३ ॥
 मंजन करि खंजन - नयनि बैठी व्यौरति वार ;
 कच अँगुरि - बिच दीठि दै चितवति नंद - कुमार ॥ ११४ ॥
 औरै ओष कनीनिकनि, गनी धनी सिरताज ;
 मनी धनी के नेह की बनी छनी पट लाज ॥ ११५ ॥
 रुख रुखी मिस रोख मुख, कहत रुखौं हैं बैन ;
 रुखे कैसे होत ये नेह - चीकने नैन ? ॥ ११६ ॥
 लखि लोने लोइननु के कोयनु होय न आज ;
 कौन गरीब - निवाजिवो, कित तूख्यौ ऋतुराज ॥ ११७ ॥

फिरि-फिरि दौरत देखिए, निचले नैक रहैं न ;
 ये कजरारे कौन पै करत कजा की नैन ॥ ११८ ॥
 सन सूख्यो, वीर्यौ बनौ, ऊँखौ लई उखारि ;
 अरी हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय नारि ॥ ११९ ॥
 कहा कुसुम की कौमुदी, कितक आरसी जोति ;
 जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति ॥ १२० ॥
 रंच न लखियत पहिरियो, कंचन - से तन बाल ;
 कुम्हिलानी जानी परति उर चंपे को माल ॥ १२१ ॥
 सधन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति ;
 तऊ न दुरिहै स्याम यह, दीप - सिखा - सी जाति ॥ १२२ ॥
 अंग - अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह ;
 खरी पातरी हू, तऊ लगै भरी - सी देह ॥ १२३ ॥
 चुनरी स्याम सतारं नभ मुख ससि की अनुहारि ;
 नेह दवावत नौद - लौं निरखि निसा - सी नारि ॥ १२४ ॥
 इती भीर हू भेदि के कितहू है इत आय ;
 फिरै दीठि जुरि दीठि सों सबकी दीठि बचाय ॥ १२५ ॥
 चितई ललचौहैं चखन डटि घूँघट - पट माँह ;
 छल - सों चली छुवाय कै छिनकु छवीली छाँह ॥ १२६ ॥
 चिलक चिकनई चटक सों लफति सटक लौं आय ;
 नारि - सलोनी साँवरी नागिन - लौं डसि जाय ॥ १२७ ॥
 मैं हौं जान्यों लोयननु, जुरति वाढ़िहै जोति ;
 को हो जानतु डीठि को, डीठि किरकिटी होति ॥ १२८ ॥
 दगनि लगत, वेधत हियहिँ, विकल करत अँग आन ;
 ये तेरे सबते विषम, ईछन तीछन वान ॥ १२९ ॥
 कहत सबै कवि कमल - से, भो मत नैन - पखान ;
 नतरुक कत इन घिसि लगत, उपजत विरह-कुसान ॥ १३० ॥
 है हिय रहत हई छई, नई जुगुति जग जोय ;
 डीठिहि डीठि लगे दई, देह दूबरी होय ॥ १३१ ॥
 इन अँखियाँ दुखियान को सुख सिरज्योई नाहिँ ;
 देखे बनै न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिँ ॥ १३२ ॥
 चकी जकी - सी है रही, बूझे बोलति नीठि ;
 कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि ॥ १३३ ॥

जस - अपजस देखत नहीं, देखत स्यामल गात ;
कहा करौं, लालच - भरे चपल नैन चलि जात ॥ १३४ ॥
लाज - लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिँ ;
ये मुँहजोर - तुरंग - लौं ऐँचत हू चलि जाहिँ ॥ १३५ ॥
उड़ी गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह ;
बौरी - लौं दौरी फिरति छुवति छवीली छाँह ॥ १३६ ॥
चलत घैरु घर - घर, तऊ घरी न घर ठहराय ;
समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय ॥ १३७ ॥
छुटन न पैयतु वसि छिनकु नेह-नगर यह चाल ;
मारयो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरै खुस्याल ॥ १३८ ॥
क्यों वसिए, क्यों निवहिए, नीति नेह-पुर नाहिँ ;
लगातगी लोयन करै, नाहक मन वैधि जाहिँ ॥ १३९ ॥
नेकौ वह न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल ;
उर ते वास छुटयो नहीं, वास छुटेहू लाल ॥ १४० ॥
जहाँ - जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग शिरमौर ;
बिनहूँ उन छिनु गहि रहत दृगन अजौं वह ठौर ॥ १४१ ॥
सघन कुंज, छाया सुखद, सरसिज - सुरभि समीर ;
मन है जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥ १४२ ॥
फिरि-फिरि बूझत कहु कहा, कछो साँवरे गात ;
कहा करत, देखे कहाँ, अली चली क्यों वात ॥ १४३ ॥
मन न धरति मेरो कछो, तू आपने सयान ;
अहे परनि पर - प्रेम की परहथ पारि न प्रान ॥ १४४ ॥
चित - वित वचन न, हरत हठि, लालन दृग वरजोर ;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर ॥ १४५ ॥
नावक सर - से लाय कै तिलक तरुनि इत ताकि ;
पावक - भर - सी भूमकि कै गई भरोखे भाँकि ॥ १४६ ॥
उर लीने अति चटपटी, सुनि सुरली - धुनि धाय ;
हौं निकसी हुलसी सु तौ गो हुल सी उर लाय ॥ १४७ ॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजि जात ;
भरे भौन में करत हैं नैनन हीं सों वात ॥ १४८ ॥
जुरे दुहुन के दृग भूमकि, रुके न भीने चीर ;
हलकी फौज हरौल ज्यों परत गोल पर भीर ॥ १४९ ॥

दूरथो खरे समीप को, लेत मानि मन मोद ;
 होत दुहुन के दृगन ही वतरस, हँसी - विनोद ॥ १५० ॥
 जदपि चवाइन चीकनी चलति चहुँ दिसि सैन ;
 तदपि न छाड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥ १५१ ॥
 धाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि - पुंज ;
 जमना - तीर तमाल तरु मिलत मालती - कुंज ॥ १५२ ॥
 छुवै छिगुनी पहुँचो गहत, अति दीनता दिखाय ;
 बलि वावन को व्योत सुनि को बलि तुम्है पत्थाय ? ॥ १५३ ॥
 सहज सचिकन, स्याम रुचि सुचि सुगंध सुकुमार ;
 गनत न मन पथ अपथ लखि विथरे सुथरे वार ॥ १५४ ॥
 वेहै कर व्योरनि वहै, व्योरे कौन विचार ;
 जिन ही उरभयो मो हियो, तिन ही सुरभे वार ॥ १५५ ॥
 छुटे छुटावत जगत ते सटकारे, सुकुमार ;
 मन बाँधत वेनी बँधे नील छवीले वार ॥ १५६ ॥
 भीने पट मैं भलमली भलकति ओष अपार ;
 सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसी सपल्लव डार ॥ १५७ ॥
 भाल लाल बँदी छए, छुटे वार छवि देत ;
 गह्यो राहु अति आहु करि, मनु ससि - सूर - समेत ॥ १५८ ॥
 हा हा वदन उवारि, दृग सफल करै सब कोय ;
 रोज सरोजन के परै, हँसी ससी की होय ॥ १५९ ॥
 लोने मुँह डीठि न लगै, यों कहि दीनो ईठि ;
 दूनी हूँ लागन लगी, दिए दिठौना डीठि ॥ १६० ॥
 सूर उदित हू मुदित मन, मुख - सुखमा की ओर ;
 चितै रहै चहुँ ओर ते निहचल चखन चकोर ॥ १६१ ॥
 तिय पिय सों हँसिकै कब्यो, लख्यो डिठौना दीन ;
 चंदमुखी मुखचंद ते भलो चंदसम कीन ॥ १६२ ॥
 छप्यो छवीली मुख लसै नीले अंचल चीर ;
 मनौ कलानिधि भलमलै कालिंदी के नीर ॥ १६३ ॥
 छिनकु छवीले लाल वह नहिँ जौ लगि वतराति ;
 ऊख, मयूख, पियूख की तौ लगि भूख न जाति ॥ १६४ ॥
 नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौहँ ;
 काँटो - सी कसकति हिए गड़ी कटीली भौहँ ॥ १६५ ॥

करं चाह सों चुटकि कै, खरे उड़ोहैं मैं न ;
 लाज नवाए तरफरत, करत खुदी - से नैन ॥ १६६ ॥
 वर - जीते सर मैं के ऐसे देखे मैं न ;
 हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन ॥ १६७ ॥
 जोग - जुगुति सिखए सबै, मनो महामुनि मैं न ;
 चाहत पिय - अद्वैतता, सेवत कानन नैन ॥ १६८ ॥
 वेसरि - मोती - दुति - भलक परी अधर पर आय ;
 चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पटु पोंछ्यो जाय ॥ १६९ ॥
 जटित नील - मनि जगमगति, सीक सुहाई नाँक ;
 मनो अली चंपक - कली वसि रस लेत निसाँक ॥ १७० ॥
 जदपि लौंग ललितौ, तऊ तू न पहिरि इक आँक ;
 सदा संक बाढ़ी रहै, रहै चढ़ी - सी नाँक ॥ १७१ ॥
 दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत ;
 कवि आँकन के अरथ - लौं प्रगट दिखाई देत ॥ १७२ ॥
 पाँय महावर देन को नायनि बैठी आय ;
 फिरि - फिरि जानि महावरी एँड़ी मीड़ति जाय ॥ १७३ ॥
 पग - पग मग अगमन परति चरन अरुन - दुति ऊलि ;
 ठौर - ठौर जखियत उठै दुपहरिया - सी फूलि ॥ १७४ ॥
 सरस कुसुम मड़रात अलि, न भुकि भूपटि लपटात ;
 दरसत अति सुकुमार तन परसत मनु न पत्थात ॥ १७५ ॥
 भूषन - भार सम्हारिहै क्यों यह तन सुकुमार ;
 सूधे पाँय न परत धरि सोभा ही के भार ॥ १७६ ॥
 लग्यो सुमन है है सुफल, आतप - रोस निवारि ;
 बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि ॥ १७७ ॥
 तू रहि हौंही सखि लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल ;
 सबहिनु विनु ही ससि उदै दीजतु अरघ अकाल ॥ १७८ ॥
 फूली - फाली फूस - सी फिरति जु विमल विकास ;
 भोर - तरैया होहुती, चलत तोहिँ पिय - पास ॥ १७९ ॥
 तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर - रंग ;
 नहिँ सोभा को साजियतु, कहिवे ही को अंग ॥ १८० ॥
 तो रस राच्यो आन वस, कहैं कुटिल मति कूर ;
 जीभ निवोरी क्यों लगै वौरी चाखि अँगूर ? ॥ १८१ ॥

नेक उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु ;
 छुटी जात नह - दी छिनकु महदी सूखन देहु ॥ १८२ ॥
 रहौ गुही - वेनी लख्यौ गुहिवे के त्योंनार ;
 लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए वार ॥ १८३ ॥
 राधा हरि, हरि राधिका, वनि आए संकेत ;
 दंपति रति - बिपरीत - सुख सहज मुरति हू लेत ॥ १८४ ॥
 चमक, तमक, हासी, ससक, मसक, भूपटि लपटानि ;
 ये जिहि रति, सो रति मुकुति और मुकुति अति हानि ॥ १८५ ॥
 यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम - से गात ;
 कर धरि देखौ धरधरा उर को अजौ न जात ॥ १८६ ॥
 मिलि परछाहीं जोन्ह सों रहे दुहुन के गात ;
 हरि - राधा इक संग ही चले गगन में जात ॥ १८७ ॥
 अपने कर गहि आप ही हिय पहिराई लाल ;
 नौल - सिरि औरै चढ़ी मौलसिरी की माल ॥ १८८ ॥
 औरै गति, औरै वचन, भयो वदन - रँग और ;
 घोसक ते पिय चित चढ़ी कहा चढ़ाए त्योंर ॥ १८९ ॥
 खल - बड़ई बल करि थके, कटै न कुवत - कुठार ;
 आल - बाल उर भालरी खरी प्रेम - तरु - डार ॥ १९० ॥
 करत जात जेती कटनि बढ़ि रस - सरिता सोतु ;
 आल - बाल उर प्रेम - तरु तितौ - तितौ दृढ़ होतु ॥ १९१ ॥
 नभ लाली, चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ;
 रति - पाली आली अनत, आए बनमाली न ॥ १९२ ॥
 निसि अंधियारी नील पट पहिरि चली पिय - गेह ;
 कहौ दुराई क्यों दुरै दीप - सिखा - सी देह ॥ १९३ ॥
 अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
 संग - लगे मधुपन लई भागनु गली अंधेरि ॥ १९४ ॥
 उठि, ठकठकु एतो कहा पावस के अभिसार ;
 जानि परैगी देखि यों दामिनि धन अंधियार ॥ १९५ ॥
 जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैन न होति लखाइ ;
 संधे के डोरन लगी अली - चली - सँग जाइ ॥ १९६ ॥
 मरकत - भाजन सलिलगत, इंदु - कला के बेख ;
 भीन भँगा में भलमलै स्याम गात नख - रेख ॥ १९७ ॥

यहाँ न चलि बलि रावरी चतुराई की चाल ;
 सनख हिए खिन - खिन नटत, अनख बढ़ावत लाल ॥ १६८ ॥
 बिथुरयो जावक सौति - पग, निरखि हँसी गहि गाँसु ;
 सलज हँसौहीं लखि, लियो आधी हँसी उसाँसु ॥ १६९ ॥
 कपट सतर भौहैं करी, मुख अनखौहैं बैन ;
 सहज हँसौहैं जानिकै सौहैं करत न नैन ॥ २०० ॥
 हठ न हठीली करि सकै यह पावस - ऋतु पाय ;
 आन - गाँठि ज्यों धुटत, त्यों मान - गाँठि छुटि जाय ॥ २०१ ॥
 नैना नेक न मानहीं, कितो कह्यो समुझाय ;
 तन - मन हारे हूँ हँसैं, तिनसों कहा बसाय ? ॥ २०२ ॥
 रहैं निगोड़े नैन ढिग, गहैं न चेत अचेत ;
 हौँ कसु - कै रिस को करौँ, ये निसिखे हँसि देत ॥ २०३ ॥
 अजहुँ न आए सहज रँग, विरह - दूवरे गात ;
 अवहीं कहाँ चलाइयत ललन चलन की वात ! ॥ २०४ ॥
 रहिहैं चंचल प्रान ये कहि कौन की अगोट ;
 ललन चलन की चित धरी, कल न पलन की ओट ॥ २०५ ॥
 मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु ;
 भयो महरत भोर को पौरी प्रथम मिलानु ॥ २०६ ॥
 बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलौ प्यो बेस ;
 प्यारी कहत लजात नहिँ, पावस चलत विदेस ॥ २०७ ॥
 रह्यो ऐँचि अंत न लहै अवधि दुसासन वीरु ;
 आली, बाढ़त विरह ज्यों पंचाली को चीरु ॥ २०८ ॥
 करी विरह ऐसी, तरु गैल न छाँड़त नीचु ;
 दीने हूँ चसमा धरै चाहै लहै न मीचु ॥ २०९ ॥
 जिहि निदाघ - दुपहर भई रहति माघ की राति ;
 तिहि उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥ २१० ॥
 सुनत पथिक - मुँह माह - निसि लुवैं चलत उहि गाम ;
 विनु पूछे, विन हीं सुने, जियत बिचारी बाम ॥ २११ ॥
 आड़े दै आले - वसन, जाड़े हूँ की राति ;
 साहस ककै सनेह - वस सखी सबै ढिग जाति ॥ २१२ ॥
 पलनु प्रगटि बरुनीनु बढ़ि नहिँ कपोल ठहरात ;
 अँसुवा परि छुतिर्यौ छिनकु छनछनाय छपि जात ॥ २१३ ॥

नित संसो हंसो बचतु मनो सो यह उनमान ;
विरह - अगिनि - लपट न सकै, भूपटि न मीचु - सिचान ॥ २१४ ॥
कौन सुनै, कासों कहाँ, सुरति विसारी नाह ;
बदावदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ॥ २१५ ॥
स्याम - सुरति करि राधिका तकति तरनिजा - तीर ;
असुवनि करति तरोस को खिनक खरोहाँ नीर ॥ २१६ ॥
हाँ ही बौरी विरहवस, कै बौरो सब गाँव ;
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ॥ २१७ ॥
मैं लै दयो लयो सु कर छुवत छिनकि गो नीर ;
लाल तिहारो अरगजा उर है लग्यो अवीर ॥ २१८ ॥
रंगराती राते हिए पाती लिखी बनाय ;
पाती काती विरह की छाती रही लगाय ॥ २१९ ॥
कहा भयो जो वीछुरे, मा मन तो मन साथ ;
उड़ी जाहु कितहु गुड़ी, तऊ उझायक हाथ ॥ २२० ॥
तर भुरसी ऊपर गरी, कजल जल छिरकाय ;
पिय - पाती विनु ही लिखी, बाँची विरह बलाय ॥ २२१ ॥
रहे बरोठे में मिलो, प्रिय प्रानन को ईसु ;
आवत आवत की भई विधि की घरी घरीसु ॥ २२२ ॥
बाम बाहु फरकत मिलैं जो हरि जीवनमूरि ;
तौ तोहीं सों भेंटिहाँ राखि दाहिनी दूरि ॥ २२३ ॥
जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न वार ;
तउ गवँडो घर को भयो पैँडो कोस हजार ॥ २२४ ॥
टटकी धोई धोवती चटकीली मुख - जोति ;
लसति रसोई के बगर जगर - मगर दुति होति ॥ २२५ ॥
पीतम - दग मिहिचत तिया पानि - परस - मुख पाय ;
जानि पिछानि अजान - लौं नेक न होति जनाय ॥ २२६ ॥
मान - तमासो करि रही विवस बारुनी सेय ;
भुकति, हँसति, हँसि-हँसि भुकति भुकि-भुकि हँसि-हँसि देय ॥ २२७ ॥
छकि रसाल - सौरभ सने मधुर माधवी - गंध ;
ठौर - ठौर भौरत भूपत भौर - भीर मधु - अंध ॥ २२८ ॥
फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास - बन समुहे समुझि दवागि ॥ २२९ ॥

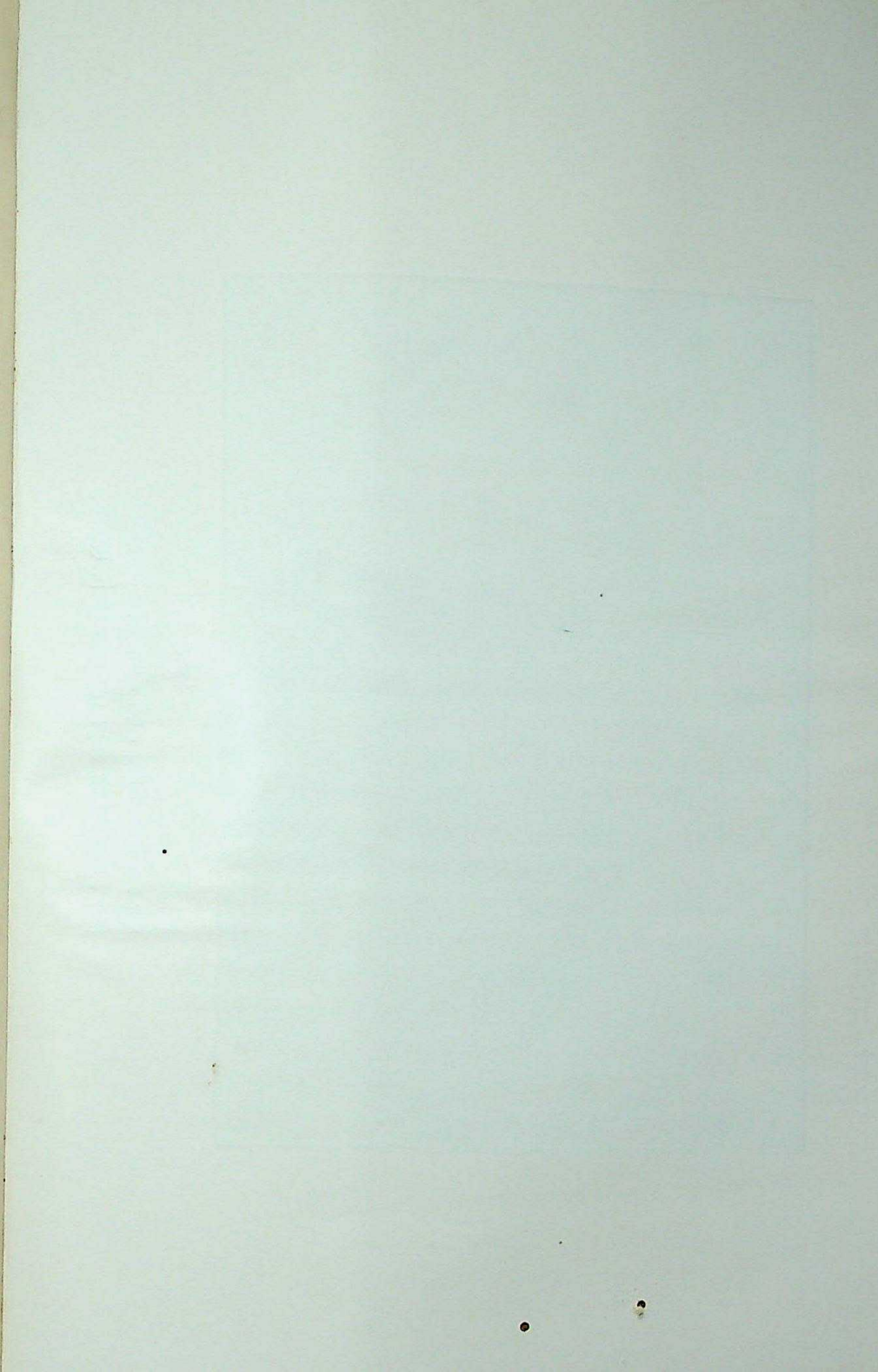
दिसि - दिसि कुसुमित देखियत उपवन बिपिन - समाज ;
 मनो बियोगिन को कियो सर - पंजर ऋतुराज ॥ २३० ॥
 बैठि रही अति सघन - बन पैठि सदन-तन माहँ ;
 देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाहँ ॥ २३१ ॥
 धुरवा होहिँ न लखि उठै धुवाँ धरनि चहुँ कोद ;
 जारत आवत जगत को पावस प्रथम - पयोद ॥ २३२ ॥
 तिय तरसोहँ मन किए, करि सरसोहँ नेह ;
 धर परसोहँ हूँ रहे, भर वरसोहँ मेह ॥ २३३ ॥
 वरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै, न सकाय ;
 दूटत कटि दुमची मचकि लचकि - लचकि बचि जाय ॥ २३४ ॥
 कियो सबै जग काम - बस, जीते जिते अजेय ;
 कुसुम - सरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देय ॥ २३५ ॥
 मिलि बिहरत, बिलुरत मरत, दंपति अति रस - लीन ;
 नूतन बिधि हेमंत सब जगत जुराफा कीन ॥ २३६ ॥
 पीठि दिए ही नेक मुरि, कर धूँघट - पट टारि ;
 भरि गुलाल की मूठि सी गई मूठि - सी मारि ॥ २३७ ॥
 रहो रुको क्यों हूँ सु चलि आधिक राति पधारि ;
 हरत ताप सब दौस की उर लागि यारि बयारि ॥ २३८ ॥
 चुवत स्वेत मकरंद - कन तरु - तरु तर विरमाय ;
 आवत दक्खिन तें चलयो थक्यो बटोही - बाय ॥ २३९ ॥
 बिकसत नव मल्ली - कुसुम, निकसत परिमल पाय ;
 परसि पजारत विरह तन वरसि रहे की बाय ॥ २४० ॥
 रुक्यो साँकरे कुंज - मग करत भौंभि भुकरात ;
 मंद - मंद मारुत - तुरंग खुदरत आवत जात ॥ २४१ ॥
 लपटी पुहुप परागपट, सनी स्वेद - मकरंद ;
 आवत नारि नवोढ़ - लौं सुखद बाय गति मंद ॥ २४२ ॥
 रनित भृंग - घंटावली भरत दान मधु नीर ;
 मंद - मंद आवत चलयो कुंजर कुंज - समीर ॥ २४३ ॥
 धनि यह द्वैज, जहाँ लखौ, तज्यो दृगन दुख - दंद ;
 तो भागन पूरव उयो अहे अपूरव चंद ॥ २४४ ॥
 मोरमुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नंद - नंद ;
 मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत - चंद ॥ २४५ ॥

मकराकृत गोपाल के सोभित कुंडल कान ;
मनो धस्यो हिय - घर समर, ड्योड़ी लसत निसान ॥ २४६ ॥
नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि ;
मनो तज्यो तारन - विरद वारक वारन तारि ॥ २४७ ॥
मोहिँ तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज ;
अपने - अपने विरद की दुहँ निवाहन लाज ॥ २४८ ॥
कौन भाँति रहिहै विरद, अब देखवी मुरारि ;
बीधे मोसों आनि कै, गोधे गीधहि तारि ॥ २४९ ॥
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ;
ज्यों - ज्यों सुरभि भज्यो चहत, त्यों - त्यों उरभूत जात ॥ २५० ॥
वेसरि - मोती धन्य तुहि, को पूछै कुल - जाति ?
पीवो करि तिय - अधर को रस निधरक दिन - राति ॥ २५१ ॥
मोर - चंद्रिका स्याम - सिर चढ़ि कत करति गुमान ;
लखवी पायन पर लुठति, सुनियत राधा - मान ॥ २५२ ॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु वीति बहार ;
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥ २५३ ॥
बहँकि बड़ाई आपनी कत राचत मति - भूल ;
विन मधु मधुकर के हिए गड़ै न गुड़हर - फूल ॥ २५४ ॥
जनम जलधि पानिप बिमल मौ जग आधु अपार ;
रहै गुनी है गर परयो, भलो न मुकुताहार ॥ २५५ ॥
को कहि सकै बड़ेन सों करत बड़ीयै भूल ;
दीने दई गुलाब की इन डारन ये फूल ॥ २५६ ॥
दिन दस आदर पायकै करि ले आपु बखान ;
जौ लागि काग सराधपख, तौ लागि तो सनमान ॥ २५७ ॥
मरत प्यास पिँजरा - परयो सुवा समै के फेर ;
आदर दै - दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥ २५८ ॥
यहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल—
ऐहँ बहुरि वसंत अतु इन डारन वै फूल ॥ २५९ ॥
पटु - पावैं भखु काँकरे, सपर परेई संग ;
सुखी परेवा पुहुमि मैं तू ही एक बिहंग ॥ २६० ॥
कर लै सूँधि सराहि कै, सबै रहै गहि मौन ;
गंधी गंध - गुलाब को गवई गाहक कौन ? ॥ २६१ ॥

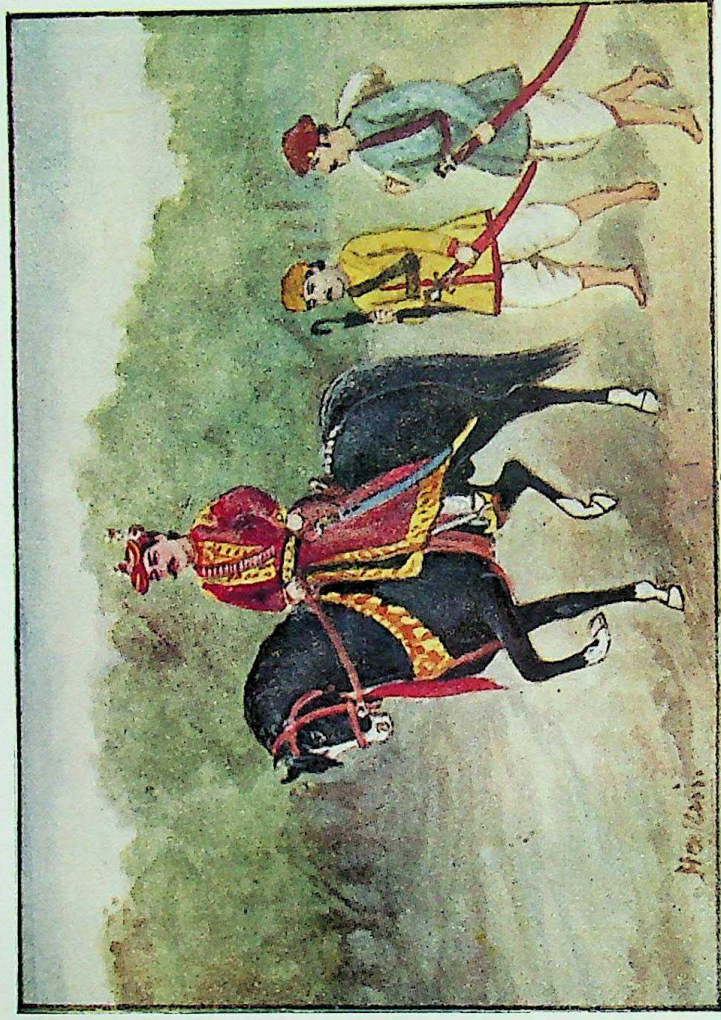
वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आव ;
 फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई - गाँव गुलाब ॥ २६२ ॥
 गोधन, तू हरष्यो हिऐ, निधरक लेहि पुजाय ;
 समुक्ति परैगी सीस पर परत पसुन के पाय ॥ २६३ ॥
 चले जाहु, ह्यौ को करै हाथिन को व्योपार ;
 नहिँ जानत, यहि पुर बसत धोबी, ओड़, कुम्हार ॥ २६४ ॥
 चलत पाय निगुना गुनी, धन, मनि मुतियन माल ;
 भेंट भए जयसाहि सौं, भाग चाहियतु भाल ॥ २६५ ॥
 सामा, सैन, सयान सुख, सबै साहि के साथ ;
 बाहुवली जयसाहिजू, फते तिहारे हाथ ॥ २६६ ॥
 अनी बड़ी उमड़ी लखे, असि - बाहक भट भूप ;
 मंगल करि मान्यो हिऐ, भो मुँह मंगल - रूप ॥ २६७ ॥
 घर - घर तुरकिनि हिंदुनी देत असीस सराहि ;
 पतिनु राखि चादर चुरी, पति राखी जयसाहि ॥ २६८ ॥
 दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साहिबी न भूलि ;
 दई - दई कत करत है, दई दई सु कबूलि ॥ २६९ ॥
 भजन क्यो ताते भज्यो, भज्यो न एकौ वार ;
 दूरि भजन जाते क्यो, सो तैं भज्यो गँवार ॥ २७० ॥
 प्रलयकरन वरसन लगे जुरि जलधर यक साथ ;
 सुरपति - गरव हरयो हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ॥ २७१ ॥
 मोहन मूरति स्याम की अति अदभुत गति जोय ;
 बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिविवित जग होय ॥ २७२ ॥
 दग उरभक्त, टूटत कुटुम, जुरत चतुर - चित प्रीति ;
 परत गाँठि दुरजन - हिऐ, दई नई यह रीति ॥ २७३ ॥
 कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख - हजार ;
 मो संपति जदुपति सदा विपति - विदारनहार ॥ २७४ ॥
 जात - जात वित होत है ज्यों चित मैं संतोष ;
 होत - होत त्यों होय तौ होय घरी मैं मोष ॥ २७५ ॥
 या भव - पारावार के उलधि पार को जाइ ;
 तिय - छवि छाया - गाहनी गहै बीच ही आई ॥ २७६ ॥
 जगत जनायो जिहिँ सकल, सो हरि जान्यो नहिँ ;
 ज्यों आँखिन सब देखिए, आँखि न देखी जाहिँ ॥ २७७ ॥

तौ लागि या मन - सदन मैं हरि आवैं किहि बाट ;
 विकट जटे जौ लागि निपट खुले न कपट- कपाट ॥ २७८ ॥
 कन दीबो सौँप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि ;
 रूप - रहचटे लागि लग्यो, माँगतु सब जग आनि ॥ २७९ ॥
 सबै सुहाए ई लगत, वसे सुहाए ठाम ;
 गोरे मुख बेंदी लसै अरुन, पीत, सित, स्वाम ॥ २८० ॥
 पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल ;
 भोड़र हू की भा लहै, बेंदी भामिनि - भाल ॥ २८१ ॥
 जो चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ;
 रज - राजसु न छुवाइ तो, नेह - चीकने चित्त ॥ २८२ ॥
 अनियारे दीरघ दगन किती न तरुनि समान ;
 वह चितवनि औरै कछू, जिहि वस होत सुजान ॥ २८३ ॥
 कैसे छोटे नरन ते सरत बड़ेन के काम ;
 मढ़यो दमामो जात है कहूँ चूहे के चाम ॥ २८४ ॥
 संगति सुमति न पावई परे कुमति के धंध ;
 राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होय सुगंध ॥ २८५ ॥
 समै - समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोय ;
 मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ॥ २८६ ॥
 जेती संपति कृपन के तेती सूमति जोर ;
 बढ़त जात ज्यों - ज्यों उरज, त्यों - त्यों होत कठोर ॥ २८७ ॥
 घर - घर डोलत दीन हूँ जन - जन जाचत जाय ;
 दिए लोभ - चसमा चखतु लघु तिहि वड़ो लखाय ॥ २८८ ॥
 कालबूत दूती बिना जुरे न आन उपाय ;
 फिरि ताके टारे वनै, पाके प्रेम लदाय ॥ २८९ ॥
 वहकि न इहि वहिनापुले, जब तक वीर बिनासु ;
 वचै न बड़ी सबील हू चील - धौंसुआ मासु ॥ २९० ॥
 नीच हिए हुलस्यो रहत गहे गेंद को पोत ;
 ज्यों - ज्यों माथे मारियत, त्यों - त्यों ऊँचो होत ॥ २९१ ॥
 गुनी - गुनी सब ही कहे, निगुनी गुनी न होत ;
 सुन्यो कहूँ तर अरक को अरक - समान उदोत ? ॥ २९२ ॥
 वसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
 भलो भलो कहि छाँड़िए, खोटे ग्रह जप - दान ॥ २९३ ॥

कहत सबै स्तुति, सुमृति हू, सबै पुरातन लोग ;
 तीनि दबावैं नीसकै पातक, राजा, रोग ॥ २६४ ॥
 ओछे बड़े न हूँ सकैं, लगि सतरोहैं बैन ;
 दीरघ होयँ न क हूँ फारि निहारे नैन ॥ २६५ ॥
 सबै हँसत कर - तारि दै नागरता के नाउँ ;
 गयो गरब गुन को सबै बसे गमेले गाउँ ॥ २६६ ॥
 दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़ै दुख - दंद ;
 अधिक अँधेरो जग करत मिलि भावस रवि - चंद ॥ २६७ ॥



हिंदी-नवरत्न



महाकवि भूषण

वीर - भयानक - रौद्र - रस - आचारज मतिधाम ;
सिव - जस - पंकज मधुप ए, भूषण सुकवि ललाम ।

(५)

त्रिपाठी-बंधु

—:—

(क) महाकवि भूषण त्रिपाठी

हिंदी-साहित्य-सेवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो 'भूषण' की कविता से परिचित न हो। वीर-रस में इनकी जोड़ का दूसरा कवि हिंदी में एक भी नहीं है, वरन् यों कहना चाहिए कि इन्होंने इस रस को ऐसा अपना लिया है कि इसका नाम लेते ही वरवस भूषण का स्मरण हो आता है। इनके विषय में हमने सं० १९६३ के निकट सबसे पहले 'समालोचक'-पत्र में, जिसे जयपुर-निवासी स्वर्गवासी मिस्टर जैनवैद्य प्रकाशित किया करते थे, एक लेख लिखा था। उसके पश्चात् काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध से हमने इनके सभी प्राप्य ग्रंथों का 'भूषण-ग्रंथावली' के नाम से संपादन करना आरंभ किया, और वे 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' में निकलने लगे। तीन वर्ष के पश्चात् वह 'ग्रंथावली' समाप्त हुई। इस बीच में हमने भूषण पर एक लेख कलकत्ते के 'देव-नागर' में भी निकाला, जिस पर दो-एक महाशय ने कुछ लिखा भी।

नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला में प्रकाशित अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' में हमने इनके विषय में ८७ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी, जिसमें यथाशक्ति इस कविरत्न की समालोचना की, और जीवनी भी दी। यह 'भूषण-ग्रंथावली' उक्त सभा से मिल सकती है। इस छोटे-से लेख में उसी भूमिका का सारांश हम देते हैं। कुछ नई बातें भी लिखते हैं। जो भूषण का विशेष हाल जानना चाहें, वे 'भूषण-ग्रंथावली' देखें।

भूषण कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, कश्यपगोत्री त्रिपाठी (तिवारी) थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर बतलाया जाता है। कविवर चिंतामणि, महाकवि मतिराम और संभवतः नीलकंठ (उपनाम जटाशंकर) इनके भाई थे। चिंतामणि और मतिराम भूषण के भाई थे, ऐसा कई प्राचीन प्रमाणों से भी सिद्ध है, जैसा कि

हमने अपने ग्रंथ सुमनोजलि में विस्तार-पूर्वक लिखा है, किंतु जटाशंकर का इनका भाई होना केवल जनश्रुति पर अवलंबित है। संभवतः जटाशंकर सगे भाई न थे। सब भाइयों में इनका दूसरा नंबर था। यह त्रिविक्रमपुर (वर्तमान तिकवाँपुर) में रहते थे, जो यमुना-नदी के बाएँ किनारे पर, ज़िला कानपुर, परगना व डाकखाना घाटमपुर में, मौज़े 'अकबरपुर-वीरवल' से दो मील की दूरी पर, बसा है। कानपुर-हमीरपुर पक्की सड़क पर कानपुर से ३०वें एवं घाटमपुर-तहसील से ७व मील पर 'सजेती'-नामक एक ग्राम है, जहाँ से 'तिकवाँपुर' केवल दो मील रह जाता है। 'अकबरपुर-वीरवल' का हवाला 'शिव राज-भूषण' के छंद नंबर २७ में है।

कहते हैं, रत्नाकर देवीजी के बड़े भक्त थे। भूषण के कई छंदों में सं० १७८० तक की घटनाएँ कथित हैं, और एक में सं० १७६७ तक की घटना है, यद्यपि यह छंद संदिग्ध है। सुमनोजलि में इसका सविस्तर कथन है। इनके भाई मतिराम के प्रपौत्र ने इन तीनों भाइयों का कथन करके इनका कश्यपगोत्री तिवारी एवं तिकवाँपुर के निवासी होना लिखा है। अब हमको भूषण का जन्म-काल संवत् १६६२ के आस-पास और संवत् १७६७ के लगभग इनका स्वर्गवास होना मालूम होता है। भूषण प्रायः २० वर्ष तक विलकुल अपढ़ तथा निकम्मे थे, और अपने बड़े भाई चिंतामणि की कमाई से बसर करते थे। कहते हैं, एक दिन इनकी बड़ी भावज ने इन्हें भोजन करते समय नमक माँगने पर ऐसा कटु वाक्य कहा कि यह भोजन छोड़ तत्काल चल दिए। इसी समय बाहर जाकर इन्होंने पढ़ने-लिखने में विशेष श्रम किया। आठ-दस वर्षों में ही यह अच्छे विद्वान् और कवि हो गए। जान पड़ता है, सं० १७२३ के लगभग आप हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी चित्रकूटाधिपति के यहाँ थे। उन्हीं के यहाँ इन्होंने अपनी भद्र कविता के कारण 'कवि-भूषण' की उपाधि पाई। इन सोलंकियों का राज्य सं० १७२८ के लगभग महाराजा छत्रसाल ने छीन लिया। अतएव यह घटना सं० १७२८ से पूर्व की होगी।

कुल सुलंकि चितकूट-पति साहस-सील-समुद्र ;

कवि - भूषण पदवी दई हृदयराम-सुत रुद्र ।

(शिवराज-भूषण, छंद २८)

उस समय भी इनकी कवित्व-शक्ति जैसी बड़ी-चढ़ी थी, उसका परिचय नीचे-लिखे छंद से मिल जायगा—

वाजि-वंश चढ़्यो साजि वाजि जब कलाँ भूप,

गाजी - महाराज राजी 'भूषण' बखानते ;

चंडी की सहाय महि - मंडी तेजताई, ऐंड
छंडी राय-राना जिन दंडी - औनि आनते ;
मंडीभूत - रवि, रज बंदीभूत हठधर,
नंदी भूतपति - भो अनंदी अनुमान ते ;
रंकीभूत दुवन, करंकीभूत दिगदंती,
पंकीभूत - समुद सुलंकी के पयान ते ॥ १ ॥

(स्फुट काव्य, छंद २)

भूषण का वास्तविक नाम कुछ और था । भूषण तो इनकी उपाधि है, पर अब वास्तविक नाम का कहीं पता तक नहीं लगता ।

कुछ लोग रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से इनका दिल्लीश्वर औरंगज़ेब के यहाँ जाना लिखते हैं, पर इसका कुछ भी दृढ़ प्रमाण नहीं, वरन् अनेक विचारों से यह बात अग्राह्य सिद्ध होती है । जो कहानियाँ इनके औरंगज़ेब के दरबार में होने और उनसे झगड़कर चले जाने के विषय में प्रसिद्ध हैं, उनका समर्थन चिटणीस बखर से होता है, किंतु वे बहुत कुछ अग्राह्य-सी हैं । यह बखर भी नया है ।

रुद्रराम के यहाँ से भूषण सीधे शिवाजी के यहाँ, सं० १७२४ के अंत तक, पहुँचे होंगे । भूषण ने अवधूतसिंह का एक कवित्त कहा है (स्फुट काव्य, छंद ४) । यह महाशय सं० १७५७ से १८१२ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे । आप केवल छ मास की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे ।

संवत् १७२४ के अंत में, प्रायः ३२ वर्ष की अवस्था में, भूषण शिवाजी के यहाँ पहुँचे, और अचानक एक देवालय पर महाराज से इनकी भेंट हो गई । इन्होंने शिवाजी को पहचाना नहीं, पर उनके कहने पर अपना एक छंद (शि० भू० छंद ५६) १८ बार पढ़कर सुनाया । इस पर महाराज ने इन्हें १८ लक्ष मुद्रा, १८ हाथी, १८ ग्राम इत्यादि पुरस्कार में दिए, और बड़े सम्मान के साथ अपना राजकवि बनाया, ऐसा कहा जाता है । सुनते हैं, इसी अवसर पर भूषण ने अपनी भावज के पास एक लाख रुपए का लवण भेज दिया । इसी समय से, सं० १७३० तक, भूषण ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' बनाया । भूषण के समकालीन सं० १७६०वाले लोकनाथ कवि ने इनका केवल ५२ हाथी पाना लिखा है । जान पड़ता है, भूषण ने ५२ हाथी तथा प्रचुर धन पाया होगा । सं० १७३१ के लगभग यह कुछ दिन के लिये अपने घर आए, पर रास्ते में छत्रसाल बुंदेला के यहाँ भी हो लिए । महाराज छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँ तक कि चलते समय इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया । भूषणजी अत्यंत प्रसन्न होकर पालकी से कूद पड़े, और उन्होंने चार-

पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा में तत्काल बनाए या पढ़े (छत्रसाल-दशक के छंद ४ और ५) होंगे । कुछ दिन घर पर रहकर आपने कुमाऊँ-महाराज के यहाँ जाकर उनकी प्रशंसा का एक छंद पढ़ा (स्फुट काव्य, छंद ६) । महाराज ने इन्हें एक लाख रुपया भेंट करना चाहा, पर इनकी विशेष खातिर न की । इस पर रष्ट होकर बिना रुपए लिए ही यह चल दिए । यह किंवदंती भी बहुत प्रसिद्ध है ।

कुछ दिन बाद भूषणजी महाराज शिवाजी के यहाँ फिर गए, और समय-समय पर उनकी प्रशंसा के छंद बनाते रहे । उनमें 'शिवाबावनी' के भी छंद हैं । भूषण का यहाँ-वहाँ जो आना-जाना लिखा गया है, वह अनुमान पर अवलंबित है । उनका दो बार शिवाजी के यहाँ जाकर दोनो बार कुछ काल रहना चिटणीस बखर में लिखा है । अन्यत्र जाना प्रायः इनके छंदों से सोचा गया है । महाराजा छत्रसाल के यहाँ आप दो-तीन बार गए होंगे, ऐसा समझ पड़ता है । शायद इन्होंने दो-चार और ग्रंथ भी बनाए हों, पर उनका ठीक पता नहीं चलता । 'शिवसिंह-सरोज' में इनके अन्य तीन ग्रंथों के नाम दिए हैं—भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास । हज़ारे का होना कविवर कालिदास त्रिवेदी ने भी लिखा है, पर इन ग्रंथों का ठीक पता अब तक कहीं नहीं चला है । इसमें संदेह नहीं कि भूषण के और कई ग्रंथ होंगे अवश्य, पर उनमें से किसी का पता नहीं है । हाल ही में भूषण के प्रायः १०० नवीन छंद प्रकाशित हुए हैं । इनके विषय में और भी बहुत कुछ कथोपकथन लोगों ने किए हैं । सं० १७३७ में, शिवाजी का स्वर्गवास होने पर, भूषण कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए फिर घर लौट आए हों । कभी-कभी छत्रसाल के यहाँ यह बराबर आते-जाते रहे होंगे । सं० १७६४ में साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ । उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे । साहूजी-विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है (स्फुट काव्य, छंद ७) । छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहूजी को नहीं भूले । यथा—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस वड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन उर साल को ;
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु खयाल को ।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हे,
'भूषण' भनत ऐसो दीन - प्रतिपाल को ?

और राव-राजा एक मन मैं न लया अब

साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥ २ ॥

(छत्रसाल-दशक, छंद १०)

नाती को हाथी दियो जापै ढरकति ढाल ;

साहू के जस-कलस पै ध्वज बाँधी छतसाल ।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने भी भूषण की खातिरदारी की होगी ।

समझ पड़ता है, सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश 'राव-राजा बुद्धसिंह' के दरबार में गए, और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध में दो कवित्तों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कवित्त भी पढ़ा—

रहत अछक, पै मिटै न धक - पीवन की,

निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं ;

भोजन बनावै नित चोखे खान-खानन के,

सोनित पचावै, तरु उदर भरै नहीं ।

उगिलत आसौ, तरु सुकल समर - बीच,

राजै राव - बुद्ध - कर, विमुख परै नहीं ;

तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,

जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं ॥ ३ ॥

कदाचित् राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी खातिर-बात न की, जैसी यह चाहते थे । अतः थोड़े ही दिनों में यह वहाँ से लौट पड़े होंगे । राह में महाराज छत्रसाल बुँदेल के यहाँ पहुँचने पर इन्होंने बुँदेल-महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें 'राव-राजा बुद्धसिंह' की साफ़ शिकायत है । ऊपर उद्धृत छत्रसाल-दशक का छंद-नंबर १० देखिए । सं० १७७२ के लगभग जब महाराज साहूजी ने उत्तर का धावा किया था, तब भूषणजी ने उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद बनाया—

बलख - बुखारे - मुलतान - लौं कहर पारै,

कपि - लौं पुकारै, कोऊ धरत न सार है ;

रूम दि डारै, खुरासान खूँदि मारै, लाक

खादर लौं फारै, ऐसी साहु की बहार है ।

ककर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चलो जात,

टकर लेवैया कोऊ वार है न पार है ;

‘भूषण’ सिरोज लौ परावने - परत फेरि
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है ॥ ४ ॥

(स्फुट काव्य, छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः ६४ वर्ष की होगी, पर उनमें उद्वेगता वही भरी हुई थी। इसके पीछे भी उनके जीवित रहने के कई प्रमाण मिलते हैं। भूषण के अन्य आश्रयदाता भी कई थे, जैसा कि इनके स्फुट छंदों से प्रकट है। उनके नाम यहाँ दिए जाते हैं—

हृदयराम-सुत रुद्र सुरकी महोवा-निवासी (सं० १७२३), महाराजा अवधूतसिंह रीवाँ-नरेश (सं० १७५७-१८१२), कुमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद्र (सं० १७५७-६५), फ़तेहशाह गढ़वाल-नरेश (सं० १७४१-७३), सवाई जयसिंह जयपुर-नरेश (सं० १७६५-१८००), साहूजी भोंसला (सं० १७३५-१८०५), बाजीराव पेशवा (सं० १७७७-९७), चिंतामणि (चिमनाजी) (सं० १७६०), महाराजा छत्रसाल महेवा पन्ना (सं० १७२८-८३), राव-राजा बुद्धसिंह बँदी-नरेश (१७६४-१८०५), दाराशाह (सं० १७१६ तक) और भगवंतराय खीची असोथर-नरेश (सं० १७८०-९७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूषण-कृत सबसे पीछे का छंद १७६७ में महाराजा भगवंतराय खीची की मृत्यु पर शोक है। अतएव इनका संवत् १७६७ तक जीना निकलता है। इसी संवत् के आस-पास भूषण का शरीरांत हुआ होगा। यह छंद कुछ संदिग्ध भी है। भूषण के घरेलू चरित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। यह पुत्रवान् थे, क्योंकि तिकवाँपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कहीं मध्य-प्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान हैं। सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध हैं। भूषण पूर्णतया धन-संपन्न हो गए थे, और बड़े आदमियों की भाँति रहते थे। देश-भर में और राजाओं-महाराजों में इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता में सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने देशाटन भी खूब किया था। यह बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गए हैं। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त, कविता से, किसी हिंदी-कवि ने अद्यापि नहीं प्राप्त किया।

हमने ‘भूषण’-ग्रंथावली में शिवराज-भूषण, शिवावावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रंथ प्रकाशित करवाए हैं। प्रायः ये सभी ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके थे, पर अशुद्ध और विकृत रूप में। हमने १७ ग्रंथों को इस संबंध में देखकर और अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर ‘ग्रंथावली’ को टिप्पणी-सहित संशोधित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी

ग्रंथमाला में छपवाया। शिवराज-भूषण की पहलेवाली मुद्रित प्रतियों में प्रायः तीन सै छंद हैं, पर हमारी प्रति में ३८२ छंद दिए गए हैं। शेष तीन ग्रंथों के कवित्त हमने जगह-जगह एक ग्रंथ से दूसरे में अदल-बदल कर दिए हैं, एवं उनका क्रम भी समुचित रूप से संशोधित कर दिया है। इससे आशा है, वे ग्रंथ अब ठीक रूप में आ गए हैं। उनका चौथा संस्करण और भी उन्नत है। भूषण-संबंधी हमारे सविस्तर विचार 'भूषण-ग्रंथावली' तथा मुमनोजलि में मिलेंगे। इस ग्रंथ में वे बहुत संक्षेप से दिए गए हैं। शुद्ध अंतिम कथन केवल चौथे संस्करण में हैं। उनमें ऐतिहासिक घटनाओं की भी विशेष खोज है।

भूषण की कविता से तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नहीं, वरन् इनके अत्यंत सत्यप्रिय होने के कारण इनके ग्रंथों से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होंने उस समय की प्रचलित काव्य-प्रणाली छोड़कर वीर-रस की ओर ध्यान दिया, और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनके पहले वीर-काव्य था ही नहीं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियों ने नहीं प्रकट किया था, और न उसमें इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। 'हिंदी-नवरत्न' में वीर-रस के पूर्ण प्रतिपादक एकमात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक-रसों को सम्मिलित मानते हैं। यह कवि एक और बात में भी बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष दोनो भाई भी अच्छे कवि थे। सतिराम तो नवरत्नों में ही सम्मिलित हैं। चिंतामणि भी बड़े नामी कवि हो गए हैं। हिंदी में ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं, शायद अन्य भाषाओं में भी न मिले! कोई दो भाई किसी अन्य भाषा के सर्वोच्च कवियों की श्रेणी में न पहुँचे होंगे। उस पर तुरा यह कि शेष भी सत्कवि! ये आवृ-वर्ग धन्य हैं!

भूषण के ग्रंथों पर विचार

(१) शिवराज-भूषण। यह ग्रंथ इन कविरत्न के प्राप्य ग्रंथों में सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रंथ कहा जा सकता है, क्योंकि शेष तीन ग्रंथ अधिकांश में बहुत छोटे और संग्रह-मात्र हैं। इसमें भूषण ने अलंकारों का पूर्ण-क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा में कहे हैं। हिंदी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा में कोई दूसरा नामो अलंकार-ग्रंथ हमने नहीं देखा। केवल मिश्र नंदकिशोर (उपनाम लेखराज) कवि ने, जिनका हाल शिवसिंह-सरोज एवं डॉक्टर ग्रियर्सन के The Modern Vernacular Literature of Hindustan में भी लिखा है, श्रीगंगाजी की स्तुति में 'गंगा-भूषण'-नामक

एक अलंकार-ग्रंथ बनाया। शिवराज-भूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से, बनाना आरंभ कर दिया होगा। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बनाते रहे, परंतु कुछ-कुछ अलंकारों के उदाहरण पीछे से जोड़े गए, एवं अन्य हेर-फेर समय समय पर होते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ग्रंथ के आरंभ में श्रीभगवती की, एक बड़े ही प्रभावोत्पादक छंद द्वारा, स्तुति की गई है। फिर राज-वंश-कथन में रायगढ़ का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है। पीछे कवि-वंश में भूषण ने अपना भी ठीक पता दे दिया है। इसके पीछे अलंकारों का क्रम आरंभ हो जाता है। इसमें भी भूषण ने तत्कालीन मनुष्यों के वास्तविक चित्र खींच देने में खूब ही कृतकार्यता प्राप्त की है। इनके अलंकारों के उदाहरण भी बड़े स्पष्ट हैं। कुछ थोड़े-से अलंकारों को छोड़कर सभी के लक्षण और उदाहरण इन्होंने दिए हैं। भूषण ने 'परिणाम' और 'दीपक' अलंकारों के उदाहरण अन्य कई आचार्यों से अच्छे कहे हैं, पर 'विकल्प' एवं सामान्य के उदाहरण किसी कारण से अशुद्ध हो गए हैं। कभी-कभी इनके लक्षण अन्य कवियों के लक्षणों के विरुद्ध हो गए हैं, पर इन्होंने पद्य नंबर ३७६ में लिख दिया है कि मैंने यह ग्रंथ "लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत" बनाया है। भूषण भयानकर-रस के वर्णन में बहुत विशेषता रखते हैं। इन्होंने शिवाजी की शूरता और उनके दिल का उतना वर्णन नहीं किया, जितना शत्रुओं पर उनकी धाक का। शिवराज-भूषण एक बड़ा ही प्रशंसनीय ग्रंथ है। वह संवत् १७३० में, सुदी १३, बुध को समाप्त हुआ, पर महीना नहीं लिखा है। उक्त संवत् के श्रावण और कार्तिक-मास में शुक्ल-पक्ष की त्रयोदशी बुध के दिन पड़ती है। जान पड़ता है, कार्तिक सुदी १३, बुधवार, संवत् १७३० को यह ग्रंथ समाप्त हुआ; कारण यह कि कुवॉर-कार्तिक तक की घटनाओं का भी इसमें कथन है। यह बड़ा ही अच्छा ग्रंथ है, और हिंदी में इसका पूर्ण मान है। इसमें १७३० के पीछे की कोई घटना नहीं है।

(२) शिवा-वावनी। यह भूषण के शिवाजी-विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। ज़ोरदारी और गौरव में यह ग्रंथ बहुत ही उच्च कोटि का है। इसके छंद शिवराज-भूषण के छंदों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके बहुतेरे कवि शिवराज-भूषण समाप्त होने के पीछे बने। इस बात को हमने अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' की भूमिका में सप्रमाण लिखा है। यह एक अति उत्कृष्ट पुस्तक है। हिंदी में इसकी जोड़ के बहुत ग्रंथ नहीं मिलेंगे। उदाहरण में हम इसके केवल तीन पद्य यहाँ देते हैं—

गढ़न - गजाय गढ़धरन - सजाय करि
 छाँड़ि दीन्हें धरम - दुवार दै भिखारी - से ;
 साहि के सपूत - पूत बीर सिवराजसिंह,
 केते गढ़धारी किए बन - बन - चारी - से ।
 'भूषन' बखानै केते दीन्हें बँदीखाने, सेख,
 सैयद, हजारी गहे रैयत - बजारी - से ;
 महता - से मुगल, महाजन - से महाराज,
 डाँड़ि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से ॥ ५ ॥
 दुग पर दुग जीते सरजा-सिवाजी गाजी,
 ढग नाचे ढग पर रुँड - सुँड फरके ;
 'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे
 सारे करनाटी - भूष सिंहल को सरके ।
 मारे सुनि सुभट पनारे - वारे उदभट
 तारे लागे फिरन सितारे - गढ़धर के;
 बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
 दिल्ली उर मीरन के दाड़िम - से दरके ॥ ६ ॥
 दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी-सी रहति छाती,
 बाढ़ी मरजाद, जस, हद्द - हिंदुवाने की ;
 कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
 मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की ।
 'भूषन' भनत दिल्लो - पति दिल धक-धका,
 धाक सुनि - सुनि सिवराज मरदाने की ;
 मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चवाय सीस,
 खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥ ७ ॥

(३) छत्रसाल-दशक । इस छोटे-से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुँदेला के विषय में हैं, और वे ही दोनो दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा बुँदी-नरेश के विषय में । इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी यह हिंदी-भाषा का एक नामी ग्रंथ है, और इसे निकाल डालने से हिंदी-साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी ! बस, इसी से पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते हैं । यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता । इस ग्रंथ के पद्य स्फुट रूप में, समय-समय पर, सं० १७३१ से लेकर १७६७ तक बने, और बाद

को ग्रंथ-रूप में परिणत कर दिए गए, ऐसा समझ पड़ता है। भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, यह उन्होंने अपनी कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। उन्हें मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन-प्राप्ति से नहीं। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन इन्हें शिवाजी ने दिया, उसका दशमांश भी छत्रसाल बुँदेला ने नहीं दिया होगा, पर बुँदेला महाराज ने इनका मान बहुत विशेष किया, यहाँ तक कि स्वयं अपने कंधे पर पालकी का डंडा उठाकर रख लिया ! वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले, रोमांचकारी छंद छत्रसाल के विषय में कहे, वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो-चार मिल सकें ! धन्य भूषणजी, धन्य ! कुछ लोगों का कहना है कि इसके दो-तीन छंद अन्य कवियों के हैं। यह विचार संदिग्ध, वरन् अमान्य है। इस ग्रंथ-रत्न के भी केवल दो उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी,
फारै तम - तोम - से गयंदन के जाल को ;
लागति लपटि कंठ - वैरिन के नागिनि - सी,
रुद्रहि रिभावै दै-दै मुंढन की माल को ।
लाल - छितिपाल छत्रसाल महाबाहु - बली,
कहाँ लौ बखान करौ तेरी करवाल को ?
प्रति - भट कटक कटीले केते काटि - काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥ ८ ॥
रैया - राय चंपति को चढ़ो छत्रसालसिंह,
'भूषण' भनत समसेरै जोस जमकै ;
भादौ की घटा - सी उठी गरदै गगन घेरै,
सेलै समसेरै फेरै दामिनि - सी दमकै ।
खान उमरावन के, आन राज - रावन के,
सुनि - सुनि उर लागै घन को - सी घमकै ;
वैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की घमकै ॥ ९ ॥

(४) स्फुट काव्य में से भूषण के पंद्रह-बीस स्फुट छंद, जो हमें मिल सके, लिखे गए हैं। इसमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद हैं। इसमें दो छंद शिवाजी के, एक रुद्रराम सोलंकी का, एक राव बुद्धसिंह वूँदी-नरेश का और एक अवधूत-सिंह के विषय में हैं, और कई शृंगार-रस के हैं। भूषण की रचना में इस रस के बहुत थोड़े छंद मिलते हैं। एक कुमाऊँ-नरेश के, एक साहूजी के और एक

शंभाजी के ऊपर तथा कुछ और लोगों के हैं। इनके पायः १०० स्फुट छंद और मिले हैं। स्फुट छंदों में से भी दो पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुबन डाटियतु है ;
प्रलै के - से धराधर धमकै नगरा, धूरि-
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है ।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है ;
काँच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-से वाँटियतु है ॥ १० ॥
मेचक - कचच साजि, वाहन बयारि वाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के ;
'भूषन' भनत समसेर सोई दामिनि है,
हेतु नर, कामिनी के मान के कदन के ।
पदरि बलाका, धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूते ही सदन क ;
न करु निरादर, पिया सो मिलु सादर, ये
आए वीर बादर बहादर मदन के ॥ ११ ॥
भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनों के साथ भारत-मुखोज्ज्वलकारी शिवाजी, बाजीराव पेशवा और छत्रसाल-सदृश महाराजों का यशोवर्णन करके हिंदी और देश का भारी उपकार किया। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते, तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता; पर यहाँ तो “सोने में सुगंध” की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिंदी के ६ सर्वोच्च कवियों तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिंदी के साथ अमर हो गया है। जातीयता की अद्वितीय उमंग प्रदर्शित करने से उच्च भावों के कथन में यह हिंदी-साहित्य में एकदम अद्वितीय हैं।

इनकी भाषा विशेषतः ब्रज-भाषा है, पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुँदेल-खंडी एवं खड़ी बोली के-से शब्दों का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फ़ारसी और अरबी-भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे हैं, पर दो-चार स्थानों पर उनका अशुद्ध प्रयोग भी हो गया है। इन्होंने बहुत कम असाधारण एवं विकृत

शब्द लिखे हैं। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकांश नामी कवियों से भी बड़ा-चड़ा है। भूषण ने कुल मिलाकर केवल दस प्रकार के छंदों का व्यवहार किया है। इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति बहुत प्रशंसनीय है। यह महाशय अन्य कवियों की भाँति ऐसे पद्य प्रायः नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों। इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओं का समावेश है। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है। इनमें स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी। शिवाजी, छत्रसाल, कुमाऊँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रखा, और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया। सत्य घटनाओं के साथ ख्याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किए हैं। इतिहास में शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं, पर भूषण उन्हें शिव-भक्त भी बतलाते हैं। कुछ वखरों में वह शिव-भक्त भी कहे गए हैं। इन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है, और बार-बार इस मत पर जोर दिया है। यह ठकुरसोहाती भी हो सकती थी, पर संभव है, भूषण का मत यह हो कि राम-कृष्ण इत्यादि सभी 'अवतार' बहुत बड़े मनुष्य-मात्र थे। भूषण की कविता के ओज और उद्दंडता दर्शनीय हैं। उसमें उत्कृष्ट पद्यों की संख्या बहुत है। हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की, और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यों से मिलाया, तो उनकी कविता में वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा। इसी से हमने भूषण का नंबर बिहारी के बाद और इन दोनों के ऊपर रखा है। वास्तव में अब हम इन्हें बिहारी से भी कम नहीं समझते। इनकी रचना में आरोचन अद्वितीय है। यह जातीय कवि हैं। उधर बिहारी में केवल नायिकाओं आदि की साधारणी चेष्टा कथित है।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है। इन्हें हिंदू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतदु के अतिरिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे महाकवि में नहीं पाया। वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं, पर उस समय दोनों जातियों में औरंगजेब के नीच व्यवहार के कारण भयंकर शत्रुता थी, सो जातीयता-वश भूषण ने मुसलमानों के विषय में जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते हैं। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिंदुओं के विषय में भूषण की कटूक्तियों से कहीं बढ़कर अनुचित बातें लिखी हैं। भूषण को हिंदुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, सबमें वह हिंदुओं की बात ज़रूर ही रख देते थे।

वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं, न छत्रसाल, न राव बुद्ध हैं, न अश्वधूतसिंह, न शंभाजी हैं, न साहूजी; इनके सच्चे नायक हैं हिंदू। अन्य नायक 'हिंदुआन को अधार', 'ढाल हिंदुआने की' इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदूमय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण की कविता वास्तव में हिंदी-साहित्य की भूषण है, और यह सचमुच महाकवि हैं। यदि भूषणजी के विषय में अधिक जानने की इच्छा हो, तो हमारी 'भूषण-ग्रंथावली' का चतुर्थ संस्करण (जो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ है) देखिए, तथा वेल्वेडियर-प्रेस में प्रकाशित हमारे सुमनोंजलि-ग्रंथ का अवलोकन कीजिए। अब हम इनकी रचना के कुछ मुख्य सद्गुणों का कथन करते हैं।

भूषण की भाषा सशक्त, भाव-प्रकाशन में प्रभाव-युक्त और सुव्यवस्थित है। शब्द-चयन विषय के अनुरूप और आह्लाददायक है। वीर-काव्य के लेखक होकर प्रसाद और माधुर्य गुणों को भी आप बहुतायत से लाए हैं। अर्थ-व्यक्त गुण बहुत अच्छा पाया जाता है। प्रशंसा-कथन में कविगण प्रायः अत्युक्ति से काम लेते हैं, किंतु भूषण में स्वाभाविकता का भी बल है। अपने समय के आप प्रति-निधि कवि थे। भारत में उस काल स्वराज्य-स्थापन का प्रचुर प्रयत्न हो रहा था। आपने उमंग-वृद्धि द्वारा उस कार्य में अनमोल सहायता पहुँचाई। रचना में शौर्य की मूर्ति खड़ी है। संयत कथन करके भी आप जातीयता-विवर्द्धक हुए। तत्कालीन प्रायः सभी प्रशंस्य नरेशों का उत्साह आपने अपने उमंग-पूर्ण साहित्य से बढ़ाया, तथा हिंदुओं के शत्रुओं की प्रचंड भर्त्सना की। धर्म एवं जातीयता का अनादर आपसे कभी देखा नहीं जाता था। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता रचना में बराबर प्रस्तुत रहती है। धारावाहिता, भावुकता, प्रकृति-रंजन, लालित्य, मौलिकता, कला, मर्मस्पर्शी अनुभूति की व्यंजना, लोक-स्वीकृति के योग्य उमंग-पूर्ण कथन-रंगों के निरीक्षण एवं शुद्ध वर्णन, हाव-युक्त सजीवन मूर्तियाँ, खेलवाड़, चेष्टाओं के सम्यक् चित्रण, लोकोक्तियों के विशद उपयोग, भाषा-सौष्ठव, विचार-स्वातंत्र्य वर्णनों में विदग्धता आदि-आदि इनके ग्रंथों में प्राचुर्य से उपलब्ध हैं। छंदों से रस टपका पड़ता है। कला का महत्त्व होते हुए भी स्वाभाविकता का पूर्ण चमत्कार है। आचार्य और उद्दंड कवि, दोनों की महत्ता का मान रक्खा गया है। कला-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनों में चकाचौंध करनेवाला चमत्कार-कौशल दिखलाई देता है। हास्य-विनोद भी भरा पड़ा है। शब्दों में फड़कानेवाली भंकार बहुधा सुन पड़ती है। कविता वीर-दर्प-पूर्ण सेन-संचालन का-सा स्वाद दिखलाती

है। स्वाभाविक वर्णन के साथ ऊहा का भी चमत्कार भूषण ने रक्खा है। प्रबंध-कौशल और भावावेश के साथ तथ्य कथन भी मिला हुआ है। कल्पना में कोमलता वर्तमान है, और हिंदू-साम्राज्य का भावी रूप अभी से देख पड़ता है। तत्कालीन देशीय जागृति में आपका भी विशेष हाथ है। मुसलमानों की प्रचंड भर्त्सना तो की है, किंतु केवल देश-द्रोहियों की। देश-प्रेमी किसी मुसलमान की निंदा आपने नहीं की। अब हम इनकी रचना के कुछ उदाहरण देते हैं।

उदाहरण—

पावक-तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को ;
आनंद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को ।
भूतल माहिँ बली सिवराज भो, 'भूषन' भाषत सत्रु सुधा को ;
बंदन तेज त्यों चंदनि कीरति, साधे सिँ गार वधू - वसुधा को ॥ १२ ॥

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन - दिन अति जंग में ;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खरग खुलि चढ़ति है अरिन के अंग में ।
भौंसिला के हाथ गढ़ - कोट हैं चढ़त अरि-
जोट है चढ़त एकु मेरु - गिरि संग में ;
तुरकान - गन व्योम - यान हैं चढ़त विनु
मान है चढ़त वदरंग नवरंग में ॥ १३ ॥

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस - घेघ घटा सों ;
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों ।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन - देव - प्रभा सों ;
जाहिर चारिहु और जहान लसै हिँदुआन खुमान सिवा सों ॥ १४ ॥

अटल रहै हैं दिगअंतन के भूप, धरि
रैयति को रूप निज देस पेस करिकै ;
राना रख्यो अटल वहाना करि चाकरी को,
वाना तजि 'भूषन' भनत गुन भरिकै ।
हाड़ा, रायठौर, कछुवाहे और गौर रहे
अटल चकत्ता को चमाऊ धरि डरिकै ;
अटल सिवाजी रख्यो दिल्ली को निदरि धीर—
धरि, ऐंड धरि, तेग धरि, गढ़ धरिकै ॥ १५ ॥

काज मही सिवराज - बली हिंदुआन बढ़ाइवे को उर ऊटै ;
 'भूषन' भू निरम्लेछ करी चहै म्लेच्छन मारिवे को रन जूटै ।
 हिंदु वचाय-वचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ दूटै ;
 चंद अलोक ते लोक सुखी यह कोक अभाग जो सोकन छूटै ॥ १६ ॥
 यों सिर पै छहरावन छार हैं जाते उठै असमान बगूरे ;
 'भूषन' भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि - धक्कन यों बल रुरे ।
 ते सरजा सिवराज दिए कविराजन को गजराज गरुरे ;
 सुंडन सों पहिले जिन सोखिकैं फेरि महामद सों नद पूरे ॥ १७ ॥

दान समै द्विज देखि मेरु हू कुबेर हू की
 संपति लुटाइवे को हियो ललकत है ;
 साहि के सपूत सिवसाहि के वदन पर
 सिव की कथान मैं सनेह भलकत है ।
 'भूषन' जहान हिंदुआन के उवारिवे को,
 तुरकान मारिवे को वीर बलकत है ;
 साहिन सों लरिवे की चरचा चलति आनि,
 सरजा के दगन उछाह छलकत है ॥ १८ ॥
 जै जयंति, जै आदि - सकति, जै कालि, कपर्दिनि ;
 जै मधुकैटभ - छलनि, देवि, जै महिष - विमर्दिनि ।
 जै चमंड जै चंड - मुंड - भंडामुर - खंडिनि ;
 जै सुरक्त जै रक्तबीज - बिड्वाल - बिहंडिनि ।
 जै - जै निसुंभ - सुंभदलनि, भनि 'भूषन' जै-जै भननि ;
 सरजा समथ सिवराज कहँ देहि बिजै, जै जग-जननि ॥ १९ ॥
 आए दरवार, बिललाने छरीदार देखि,
 जापता करनहारे नेक हू न मनके ;
 'भूषन' भनत भौंसिला के आय आगे ठाढ़े
 बाजे भए उमराय तुजुक - करन के ।
 साहि रह्यो जकि, सिवसाहि रह्यो तकि, और
 चाहि रह्यो चकि, बने ब्योत अनवन के ;
 ग्रीष्म के भानु सो खुमानु को प्रतापु देखि,
 तारे - सम तारे गए मँदि तुरकन के ॥ २० ॥
 चंदन मैं नाग, मद - भरयो इंद्र - नागै, विष-
 भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ;

चोर ठहरात, न कपूर बहरात, मेघ
 सरद उड़ात, बात लागे दिसि दल को ।
 संभु नीलग्रीव, भौर पुंडरीक ही बसत,
 सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को ;
 छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
 रूप एक टंक ये लहैं न तुव जस को ॥ २१ ॥
 इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
 रावन - सदंभ पर रघुकुल राज है ;
 पौन बारिबाहु पर, संभु रतिनाहु पर,
 ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज है ।
 दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-भुंड पर,
 'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज है ;
 तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
 त्यों मलिच्छ-वंस पर सेर सिवराज है ॥ २२ ॥
 साहि-तनै सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
 मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है ;
 'भूषन' भनत जाके एक-एक सिखर ते
 केते धौं नदी-नद की रेल उतरति है ।
 जोन्ह को हँसति जोति हारा-मनि-मंदिरन,
 कंदरन मैं छवि कुहूकि उछरति है ;
 ऐसो ऊँचो दुरग महावली को, जामैं
 नखतावली सों वहस दिपावली करति है ॥ २३ ॥
 सिंह-थरि जाने विन जावली जंगल-भठी,
 हठी गज - एदिल पठाय करि भटक्यो ;
 'भूषन' भनत देखि भभरि भगाने सब,
 हिम्मत हिए में धरि काहुवै न हटक्यो ।
 साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थ महा
 मदगल अफजलै पंजा - बल पटक्यो ;
 ता विगिरि हूँ करि निकाम निज धाम कहूँ
 आकुत महाउत सु आँकुस लै सटक्यो ॥ २४ ॥
 जेते हैं पहार, भुव माहिँ पारावार, तिन
 सुनिकै अपार कृपा गहे सुख फैल है ;

‘भूषण’ भनत साहि-तनै सरजा के पास,
 आइवे को चढ़ी उर हौंसनि की ऐल है ।
 किरवान वज्र सौ विपच्छ करिवे के डर,
 आनि कै कितेक आए सरन की गैल है ;
 मघवा मही मैं तेजवान सिवराज वीर,
 कोट-करि सकल सपच्छ किए सैल है ॥ २५ ॥

एक कहैं कलपद्रुम है, इमि पूरत है सबकी चित चाहै ;
 एक कहैं अवतार मनोज को, यों तन मैं अति सुंदरता है ।
 ‘भूषण’ एक कहैं महि-इंदु यों राज विराजत बाढ्यो महा है ;
 एक कहैं नरसिंह है संगर, एक कहैं नरसिंह-सिवा है ॥ २६ ॥

कवि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
 अरिन के उर माहिँ कीन्ह्यो इमि छेव है ;
 कहत धरेस सब धराधर सेस, ऐसो
 और धराधरन को मेटयो अहमेव है ।

‘भूषण’ भनत महाराज सिवराज, तेरो
 राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है ;
 कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुव कहैं,
 बहरी निजाम के जितैया कहैं देव है ॥ २७ ॥

पैज - प्रतिपाल, भूमि-भार को हमाल, चहुँ
 चक्र को अमाल भयो दंडक जहान को ;

साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
 हर को कृपाल भयो हार के विधान को ।

वीर-रस ख्याल सिवराज भुवपाल, तुव
 हाथ को विसाल भयो ‘भूषण’ बखान को ;

तेरो करवाल भयो दच्छिन को ढाल, भयो
 हिंदु को दिवाल, भयो काल तुरकान को ॥ २८ ॥

आवत गुमुलखाने ऐसे कछु त्योर ठाने,
 जाने अवरंगजू के प्रानन को लेवा है ;

रस - खोट भए ते अगोट आगरे में, सातौ
 चौकी डौंकि आनि घर कीन्हौ हद रंवा ह ।

‘भूषण’ भनत वह चहुँ-चक्क चाहि कियो
 पातसाहि चकता की छाती माहिँ छेवा है ;

जान्यो न परत ऐसे काम है करत, कोऊ
गंधर्व देवा है कि सिद्ध है कि सेवा है ॥ २९ ॥

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगै भट,
इंद्र को न चाप रूप वैरख-समाज को ;

घाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिवो न वाजिवो है दुंदुभी दराज को ।

भौंसिला के डरन डरानी रिपु-रानी, कहैं
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को ;

घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सैन सिवराज को ॥ ३० ॥

तेरे ही भुजान पर भूतल को भार,
कहिवे को सेस-नाग, दिगनाग हिमाचल है ;

तेरो अवतार जग - पोसन - भरनहार,
कछु करतार को न ता मधि अमल है ।

साहिन मैं सरजा समथ सिवराज कवि
'भूषन' कहत जीवो तेरोई सफल है ;

तेरो करवाल करै स्लेच्छन को काल, बिन
काज होत काल वदनाम धरातल है ॥ ३१ ॥

दानव आयो दगा करि जावली, दीह भयारो महामद भारथो ;
'भूषन' बाहुवली सरजा, तेहि भेंटिबे को निरसंक पधारथो ।
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहारथो ;
दावि यों बैठो नरिंद अरिंदहि, मानो मयंद गयंद पछारथो ॥ ३२ ॥

साहि-तनै सिवसाहि निसा मैं, निसाँक लियो गढ़सिंह सोहानो ;
राठिवरो को संहार भयो, लरिकै सरदार गिरथो उदैभानो ।
'भूषन' यों घमसान भो भूतल, घेरत लोथिन मानो मसानो ;
ऊँचे सु छज्ज छटा उछटी, प्रगटी परभा परभात कि मानो ॥ ३३ ॥

लूख्यो खान-दौरां जोरावर सफजंग अरु
लख्यो कारतलवखाँ मनहुँ अमाल है ;

'भूषन' भनत लूख्यो पूना मैं सइस्तखान,
गढ़न मैं लूख्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है ।

हेरि - हेरि कूटि सलहेरि - बीच सरदार,
घेरि - घेरि लूख्यो सब कटक कराल है ;

मानो हय, हाथी, उमराव करि साथी,
 अवरंग डरि सिवाजी पै भेजत रिसाल है ॥ ३४ ॥
 वासव-से विसरत, विक्रम की कहा चली,
 विक्रम लखत वीर बलतबुलंद के ;
 जागे तेजवृंद सिवाजी नरिंद मसनंद,
 माल - मकरंद कुलचंद साहिनंद के ।
 'भूषण' भनत देस - देस बैरि - नारिन मैं
 होत अचरज घर - घर दुख - दंद के :
 कनक-लतानि इंदु, इंदु माहिँ अरविंदु,
 भरै अरविंदन ते बुंद मकरंद के ॥ ३५ ॥
 उद्धत अपार तुव दुंदुभी - धुकार साथ,
 लँघै पारावार बाल - वृंद रिपुगन के ;
 तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे - रज
 साथ ही उड़ात रज - पुंज हैं परन के ।
 दच्छिन के नाथ सिवराज, तेरे हाथ चढ़ै,
 धनुष के साथ गढ़ - कोट दुरजन के ;
 'भूषण' असीसै, तोहिँ करत कसीसै,
 पुनि वानन के साथ छूटै प्रान तुरकन के ॥ ३६ ॥
 गढ़नेर, गढ़, चौंदा, भागनेर, बीजापूर,
 नृपन कि नारी रोय हाथन मलति हैं ;
 करनाट, हवस, फिरंग हू, विलायत,
 बलख, रूम अरि - तिय छतियाँ दलति हैं ।
 'भूषण' भनत साहि - तनै सिवराज, एते
 मान तुव धाक आगे दिसा उवलति हैं ;
 तेरी चमू चलिवे की चरचा चले ते
 चक्रवर्तिन की चतुरंग - चमू विचलति हैं ॥ ३७ ॥
 मद - जलधरन दुरद - बल राजत,
 बहु जल - धरन जलद छवि साजै ;
 पुहुमिधरन फनि - नाथ लसत अति,
 तेज - धरन ग्रीष्म - रवि छाजै ।
 खरग - धरन सोभा तहँ राजत,
 रुचि 'भूषण' गुनधरन - समाजै ;

दिल्लि - दलन, दक्खिन - दिसि - थंभन,
 ऐंड - धरन सिवराज विराजै ॥ ३८ ॥
 उत्तर पहार, बिधनोल, खंडहर,
 भारखंड हू प्रचार चार केली है विरद की ;
 गोर, गुजरात अरु पूरव, पछाँह ठौर,
 जंतु जंगलीन की वसति मारि रद की ।
 'भूषन' जो करत न जाने विनु घोर सोर,
 भूलि गयो आपनी उँचाई लखे कद की ;
 खोइयो प्रवल मद - गल गजराज एक,
 सरजा सों वैर कै बड़ाई निज मद की ॥ ३९ ॥
 जाहिर जहान जाके धनद समान,
 पेखियतु पासवान, यों खुमान चित चाय हैं ;
 'भूषन' भनत देखे भूख न रहति, सब
 आप ही सों जात दुख, दारिद विलाय हैं ।
 खीमे ते खलक माहिँ खलभल पारत है,
 रीमे ते पलक माहिँ कीन्हें रंक राय हैं ;
 जंग - जु रि अरिन के अंग को अनंग कीवो,
 दीवो सिव साहेब के सहज सुभाय हैं ॥ ४० ॥
 देखत सरूप को सिहात न मिलन काज,
 जंग जीतिवे की जामें रीति छल-बल की ;
 जा के पास आवै, ताहि निधन करति बेगि,
 'भूषन' भनत जाकी संगति न फल की ।
 कीरति कामिनि राख्यो सरजा सिवा की एक,
 बस कै सकै न बस करनी सकल की ;
 चंचल, सरस एक काहू पै न रहै दारी,
 गनिका - समान सुवेदारी दिली - दल की ॥ ४१ ॥
 महाराज सिवराज, तेरे वैर देखियतु,
 धन बन हूँ रहे हरम हवसीन के ;
 'भूषन' भनत तेरे वैर रामनगर,
 जवारि पर बहवहे रुधिर नदीन के ।
 सरजा समथ वीर, तेरे वैर बीजापुर,
 बैरी - दैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के ;

तेरे रोस देखियत आगरे, दिली मैं विनु

सिंदुर के बूंद मुख - इंदु जमनीन के ॥ ४२ ॥

श्रीसरजा सिव, तो जस सेत सौ, होत हैं वैरिन के मुँह कारे ;

‘भूषन’ तेरे अरुन प्रताप, सपेद लखे कुनवा नृप सारे ।

साहि - तनै, तव कोप - कृसानु ते वैरि गरे सब पानिपवारे ;

एक अचंभव होत बडौ, तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥ ४३ ॥

दच्छिन - नाथक एक तुही, भुव - भामिनि को अनुकूल है भावै ;

दीनदयाल न तो-सो दुनी, पर म्लेच्छ के दीनहि मारि मिटावै ।

श्रीसिवराज, भनै कवि, ‘भूषन’ तेरे सरूप को कोऊ न पावै ;

सूर-मु - वंस मैं सूर - सिरोमनि है करि तू कुल - चंद कहावै ॥ ४४ ॥

वीर बड़े - बड़े मीर, पठान, खरो रजपूतन को गन भारो ;

‘भूषन’ जाय तहाँ सिवराज लियो हरि औरंगजेव को गारो ।

दीन्हौ कुच्चाव दिलीपति को अरु कीन्हों वजीरन को मुँह कारो ;

नायो न माथहि दक्खिन-नाथ, न साथ मैं फौज न हाथ हथ्यारो ॥ ४५ ॥

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं,

जा दिन सिवाजी राजी नेक करखत हैं ;

सुनत नगारन अगार तजि अरिन की

दारगन भाजत, न वार परखत हैं ।

छूटे वार - वार, छुटे वारन ते लाल, देखि

‘भूषन’ सुकवि वरनत हरखत हैं ;

क्यों न उतपात होहि वैरिन के मुँडन में,

कारे घन उमड़ि अंगारे वरखत हैं ॥ ४६ ॥

साहि-तनै सिव, तेरो सुनत पुनीत नाम

धाम-धाम सब ही को पातक कटत है ;

तेरो जस काज आज सरजा निहारि कवि-

मन भोज - विक्रम - कथा ते उचटत है ।

‘भूषन’ मनत तेरो दान - संकलप - जल,

अचरज सकल मही मैं लपटत है ;

और नदी - नदन ते कोकनद होत, तेरो

कर - कोकनद नदी - नद प्रगटत है ॥ ४७ ॥

जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोडव,

इंद्र आवै, सोऊ लागै औरंग की परजा ;

‘भूषन’ भनत, तहाँ सरजा सिवाजी गाजी,
 तिनको तुजुक देखि नेक हू न लरजा ।
 ठान्यो न सलाम, भान्यो साहि को इलाम, धूम-
 धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को वरजा ;
 जासों वैर करि भूप वचै न दिगंत, ताके
 दंत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा ॥ ४८ ॥

महाराज सिवराज चढ़त तुरंग पर,
 ग्रीवा जाति नै करि गनीम अति बल की ;
 ‘भूषन’ चलत सरजा की सैन भमि पर,
 छाती दरकति है खरी अखिल खल की ।
 कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
 गई कटि नाक सिगरेई दिली - दल की ;

सूरत - जराई कियो दाहु पातसाहु - उर,

स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी ॥ ४९ ॥

जावलि वार सिंगारपुरी औ जवारि को राम के नैरि को गाजी ;
 ‘भूषन’ भौसिला भूपति ते सब, दूरि किए करि कीरति ताजी ।
 वैर कियो सिवजी सों खवासखाँ डौंड़िए सैन बिजैपुर बाजी ;
 बापुरो एदिल-साहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी ॥ ५० ॥
 दारहि दारि, मुरादहि मारिकै, संगर साहिसुजै विचलायो ;
 कै कर मैं सब दिल्लि कि दौलति औरहु देस घने अपनायो ।
 वैर कियो सरजा सिव सों, यह नौरंग के न भयो मन - भायो ;
 फौज पठाई हुती गढ़ लेन को, गाँठिहु के गढ़-कोट गँवायो ॥ ५१ ॥
 तो कर सों छिति छाजत दान है, दानहु सों अति तो कर छाजै ;
 तैं ही गुनी की बड़ाई सजै अरु तेरो बड़ाई गुनी जन साजै ।
 ‘भूषन’ तोहि सों राज विराजत, राज सों तू सिवराज, विराजै ;
 तो बल सों गढ़ - कोट गजै अरु तू गढ़-कोटन के बल गाजै ॥ ५२ ॥

सिवाजी खुमान सलहेरि मैं दिलीप - दल,

कीन्हो कतलाम करवाल गहि कर मैं ;

सुभट सराहे चंदावत, कछवाहे,

मुगलौ, पठान ढाहे, फरकत परे फर मैं ।

‘भूषन’ भनत भौसिला के भट उदभट,

जीति घर आए, धाक फैली घर - घर मैं ;

मार के करैया अरि अमर - पुरै गे, तऊ
अजौ मार - मार सोर होत है समर मैं ॥ ५३ ॥

अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारियत,
तुरगन ही मैं चंचलाई परकीति है;

‘भूषन’ भनत जहाँ पर लगैं वानन मैं,
कोक - पच्छिनहि माहिँ विछुरन - रीति है ।

गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के, लोक
बँधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है ;

कंप कदली मैं, वारि - बुंद बदली मैं,
सिवराज अदली के राज मैं यों राजनीति है ॥ ५४ ॥

वैर कियो सिव चाहत हो, तव लौं अरि बाह्यो कटार कठौठो ;
यों ही मलिच्छहि छाँड़ै नहीं सरजा मन तापर रोस मैं पैठो ।

‘भूषन’ क्यो अफजल्ल वचै, अठपाँव कै सिंह को पाँव उमैठो ;
बीछू के घाय धुक्योई धरक है, तौ लागि धाय धराधर बैठो ॥ ५५ ॥

माँगि पठायो सिवा कछु देस, वजीर - अजानन बोल गहे ना ;
दौरि लियो सरजा परनालो यों ‘भूषन’ जो दिन दोय लगे ना ।

घाक सों खाक विजैपुर भो, मुख आय गो खान खवास के फेना ;
भै भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिल - साहि कि सेना ॥ ५६ ॥

साहि - तनै सरजा समरत्थ, करी करनी धरनी पर नीकी ;
भूलिगे भोज - से, विक्रम-से औ’ भई बलि, वेनु कि कीरति फीकी ।

‘भूषन’ भिच्छुक भूप भए, भलि भीख लै केवल भौसिला ही की ;
नैसुक रीफि धनेस करै, लखी ऐसियै रीति सदा सिवजी की ॥ ५७ ॥

मानसर - बासी हंस बंस न समान होत,
चंदन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है ;

नारद कि सारद कि हासी मैं कहाँ सी आभा
सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है ?

‘भूषन’ भनत छक्यो छीरधि मैं थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै ?

कयलास - ईस, ईस - सीस रजनीस, वहाँ
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है ॥ ५८ ॥

पंपा मानसर आदि अगन - तलाव लागे,
जेहिके परन मैं अकथ जुत गथ के ;

‘भूषण’ यों साज्यो राय गढ़ सिवराज, रहे
देव चक चाहि कै बनाए राजपथ के ।

बिन अवलंब कलिकानि आसमान में है,
होत बिसराम जहाँ इंदु औ’ उदय के ;

महत - उतंग मनिजोतिन के संग, आनि

कैयौ रंग चकहा गहत रवि - रथ के ॥ ५६ ॥

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते, अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी ;
राम बुधिष्ठिर के बरने, बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी ।
‘भूषण’ यों कलिके कविराजन राजन के गुन पाय नसानी ;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥ ६० ॥

श्रीसरजा सलहेरि के जूझ, घने उमरावन के घर घाले ;
कुंभ, चँदावत, सैद, पठान, कबंधन धावत भूधर हाले ।
‘भूषण’ यों सिवराज कि धाक, भए पियरे अरुने रंगवाले ;
लोहै कटे लपटे अति लोहु, भए मुँह मीरन के पुनि लाले ॥ ६१ ॥

यों कवि ‘भूषण’ भाषत है, यक तौ पहिले कलिकाल कि सैली ;
तापर हिंदुन की सब राहन, नौरँग-साह करी अति मैली ।
साहि-तनै सिव के डर सों तुरकौ गहि वारिधि की गति पैली ;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा द्विज-देवन की फिरि फैली ॥ ६२ ॥

दीन-दयाल, दुनी-प्रतिपालक, जे करता - निरग्लेच्छ मही के ;
‘भूषण’ भूधर उद्धरिवो सुने, और जिते गुन ते सब जी के ।
या कलि मैं अवतार लियो, तऊ तेई सुभाय सिवाजि बली के ;
आनि धरयो हरि ते नर-रूप, पै काज करै सिगरे हरि ही के ॥ ६३ ॥

इंद्र निज हेरत - फिरत गज - इंद्र अरु

इंद्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को ;

‘भूषण’ मनत सुरसरिता को हंस हेरै,

बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ।

साहि - तनै सिवराज, करनी करी है तैं जु,

होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को ;

पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज

गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को ॥ ६४ ॥

अहमदनगर के थान किरवान लैके,

नवसेरी - खान तैं खुमान भिरयो बल ते ;

प्यादन सों प्यादे, पखरैतन सों पखरैत,
 बखतरवारे बखतरवारे हलते ।
 'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
 जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ;
 सम-वेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके,
 बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते ॥ ६५ ॥
 साहि-तनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
 जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं ;
 भूलत भूलमलात भूलैं जरवाफन की,
 जकरे जँजीर, जोर करत किरिरि हैं ।
 'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट,
 पग भननात मनो घन रहे धिरि हैं;
 जिनकी गरज सुने दिग्गज वेआव होत,
 मद ही के आव गड़काव होत गिरि हैं ॥ ६६ ॥
 आबु यहि समै महाराज सिवराज, तू ही
 जगदेव, जनक, जजाति, अंबरीक-सो ।
 'भूषन' भनत तेरे दान-जल-जलधि में,
 गुनिन को दारिद गयो वहि खरीक-सो ;
 चंद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
 बृंद, मकरंद - बुंद पुंज के सरीक-सो ;
 कुंदसम कयलास, नाक गंग - नाल, तेरे
 जसभुंडरीक को अकास चंचरीक-सो ॥ ६७ ॥
 चित अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
 वीवी कहैं बैन, मियाँ, कहियत काहिनै ?
 'भूषन' भनत बूझे आए दरबार ते
 कँपत बार-बार क्यों सँभार तन नाहिनै ?
 सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब ,
 हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ-दाहिनै ;
 सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय, तुम्हैं
 जानियत दक्खिन को सूवा करो साहिनै ॥ ६८ ॥
 अंभा-सी दिन कि भई संभा-सी सकल दिसि ,
 गगन लगन रही गरद छवाय है ;

चील्ह, गीध, बायस-समूह घोर रोर करें,
 ठौर-ठौर चारौ ओर तम मड़राय है।
 'भूषन' अँदेस देस-देस के नरेस - गन,
 आपुस में कहत यों गरब गँवाय है;
 बड़ो बड़वा को, जितवार चहुँघा को दल
 सरजा सिवा को जानियत हत आय है ॥ ६६ ॥
 तुरमुती तहखाने, तीतर गुसुलखाने,
 सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं;
 हिरन हरमखाने, स्थाही हैं सुतुरखाने,
 पाढ़े पीलखाने औ' करंजखाने कीस हैं।
 'भूषन' सिवाजी गाजी खग सो खपाए खल,
 खाने - खाने खलन के खेरे भए खीस हैं;
 खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतखाने,
 खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं ॥ ७० ॥
 साजि चतुरंग बीर - रंग में तुरंग चढ़ि,
 सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
 'भूषन' भनत नाद बिहद - नगारन के,
 नदी - नद मद गब्बरन के रलत है।
 ऐल - फ़ैल खैल भैल खलक में गैल - गैल,
 गजन कि ठेल पेल सैल उसलत है;
 तारा-सो तरनि धूरि-धारा में लगत, जिमि
 थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥ ७१ ॥
 कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
 कीन्हों सिवराज वीर अकह कहानियाँ;
 'भूषन' भनत तिहुँ लोक में तिहारी धाक,
 दिल्ली औ' बिलाइति सकल विललानियाँ।
 आगरे अगारन है, फाँदती पगारन छूवै,
 बाँधती न वारन, मुखन कुम्हिलानियाँ;
 कीबी कहैं कहा औ' गरीबी गहे भागी जाहिँ,
 बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ ॥ ७२ ॥
 सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिवे के जोग,
 ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;

जानि गैर - मिसिल गुसीले गुसा धरि मन ,
कीन्ह्यो न सलाम, न वचन बोले सियरे ।

‘भूषन’ भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे ;
तमक ते लाल-मुख सिवा को निरखि भए

स्याह - मुख नौरंग सिपाह - मुख पियरे ॥ ७३ ॥

केतिक देस दल्यौ दल के बल, दच्छिन चंगुल-चापि कै चाख्यो ;
रूप-गुमान हरयो गुजरात को, सूरत को रस चूसि कै नाख्यो ।
पंजन पेलि मलिच्छ मले सब, सोई बच्यो जेहि दीन है भाख्यो ;
सौरंग है सिवराज बली, जेहि नौरंग में रंग एक न राख्यो ॥ ७४ ॥

विज्ञपूर विदनूर - सूर सर - धनुष न संधहिँ ;

मंगल विनु मल्लारि-नारि धम्मिल नहिँ बंधहिँ ।

गिरत गम्भ कोटै गरम्भ चिजी चिजा डर ;

चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संका - उर ।

‘भूषन’ प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरइ ;

मधुराधरेस धकधकत सो, द्रविड़ निविड़ डर दवि डरइ ॥ ७५ ॥

अफजलखान को जिन्होंने मयदान मारा,

बीजापुर, गोलकुंडा मारा जिन आज है ;

‘भूषन’ भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि,

हवसी, तुरुक डारे उलटि जहाज है ।

देखत मैं रुसतमखाँ को जिन खाक किया,

साल की सुरति आजु सुनी जो अवाज है ;

चौकि - चौकि चकता कहत, चहुँधा ते यारो,

लेत रहौ खबरि, कहाँ लौं सिवराज है ॥ ७६ ॥

फिरँगाने फिकिरि औ’ हद्द मुनि हबसाने ,

‘भूषन’ भनत कोऊ सोवत न घरी है ;

बीजापुर विपति विडरि मुनि भाज्यौ सब,

दिल्ली - दरगाह बीच परी खरभरी है ।

राजन के राज, सब साहिन के सिरताज ,

आज सिवराज पातसाही चित धरी है ;

बलख - बुखारे कसमीर लौं परी पुकार,

धाम - धाम धूमधाम रूम - साम परी है ॥ ७७ ॥

चकित चकत्ता चौंकि - चौंकि उठै बार - बार,
 दिल्ली दहसति चित - चाहै खरकति है ;
 बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर - पति,
 फिरत फिरंगिन कि नारी फरकति है ।
 थर - थर काँपत कुतुबसाहि, गोलकुंडा,
 हहरि हवस - भूप भीर भरकति है ;
 राजा सिवराज के नगारन कि धाक सुनि,
 केते पातसाहन कि छाती दरकति है ॥ ७८ ॥
 मालवा, उजैन, भनि 'भूषन' भेलास, ऐन,
 सहर सिरोज लौं परावने परत हैं ;
 गोंडवानो, तिलगानो, फिरगानो, करनाट,
 रुहिलानो, रुहिलन हिए हहरत हैं ।
 साहि के सपूत सिवराज, तेरी धाक सुनि,
 गढ़पति - वीर तेऊ धीर ना धरत हैं ;
 बीजापुर, गोलकुंडा, आगरे, दिली के कोट,
 बाजे - बाजे रोज दरबाजे उघरत हैं ॥ ७९ ॥
 मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्ही जिन,
 जेर कीन्हों जोर सों लै हृद सब मारे की ;
 खिसि गईं सेखी, फिसि गईं सूरताईं सब,
 हिसि गईं हिम्मत हजारों लोग सारे की ।
 बाजत दमामे लाखों धौंसा आगे घहरात,
 गरजत मेघ, ज्यों बरात चढ़े भारे की ;
 दूलहो सिवाजी भयो, दच्छिनी दमामेवारै,
 दिली दुलहिनि भई सहर सितारै की ॥ ८० ॥
 वेद राखे बिदित, पुरान राखे सारजुत,
 राम - नाम राख्यो अति रसना सुधर मैं ;
 हिंदुन कि चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
 काँधे मैं जनेउ राख्यो, माला राखी गर मैं ।
 मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
 बैरी पीसि राखे, वरदान राख्यो कर मैं ;
 राजन की हृद राखी, तेग - बल सिवराज,
 देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं ॥ ८१ ॥

भुज - भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी - सी,
 खेदि-खेदि खार्ती दीह दारुन दलन के ;
 बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन
 पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के ।
 रैया - राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
 'भूषण' सकत को बखानि यौ बलन के ;
 पच्छी पर - छीने ऐसे परे परछीने वीर,
 तेरी वरछी ने वर छीने हैं खलन के ॥ ८२ ॥
 हैवर हरट्ट साजि, गैवर गरट्ट, सम
 पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की ;
 'भूषण' भनत राय चंपति को छत्रसाल
 रोप्यो रन ख्याल हूँ कै ढाल हिंदुवाने की ।
 कैयक हजार एक बार बैरी मार डारे,
 रंजक दगनि मानो अग्नि रिसाने की ;
 सैदअफगन - सैन सगर - सुतन लागी,
 कपिल - सराप - लौं तराप तोपखाने की ॥ ८३ ॥
 चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर,
 चाक - सी फिरति धाक चंपति के लाल की ;
 'भूषण' भनत पातसाही मारि जेर कीन्ही,
 काहू उमराव ना करेरी करवाल की ।
 सुनि - सुनि रीति विरदैत के बड़प्पन की,
 थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की ;
 जंग जीतिलेबा, ते वै हूँ हूँ दंडदेवा-भूप,
 सेवा लागे करन महेवा - सहिपाल की ॥ ८४ ॥
 कीवे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यौ, आन पै
 निदान दान - जुद्ध मैं न कोऊ ठहरात हैं ;
 पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि,
 भागिवे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं ।
 संका मानि सूखत अमीर दिलीवारे, जब
 चंपति के नंद के नगारे घहरात हैं ;
 चहूँ ओर चकित चकता के दलन पर
 छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं ॥ ८५ ॥

उलदत मद - अनुमद ज्यों जलधि जल,
 बल - हृद, भीम - कद, काहू के न आह के ;
 प्रबल प्रचंड, गंड - मंडित मधुप - वृंद
 विंध्य - से बुलंद, सिंधु सातहू के थाह के ।
 'भूषन' भनत भूल - भंपति भूपान भुकि,
 भूमत भुलत भरारात रथ डाह के ;
 मेघ - से घमंडित मजेजदार तेजपुंज
 गुंजरत कुंजर कुमाऊँ - नरनाह के ॥ ८६ ॥
 सारस - से सूवा, करवानक - से साहिजादे,
 मोर - से मुगुल मीर धीर में धचै नहीं ;
 बगुला - से बंगस, बलूचियौ बतक - ऐसे,
 काबिली कुलंग, याते रन में रचै नहीं ।
 'भूषनजू' खेलत सितारे में सिकार संभा
 सिंघा को सुवन, जाते दुवन सँचै नहीं ;
 बाजी सम बाज की चपेटें चंग चहूँ ओर,
 तीतर तुरुक दिल्ली - भीतर वचै नहीं ॥ ८७ ॥
 राखी हिंदुवानी, हिंदुवान को तिलक राख्यौ,
 स्मृति औ' पुरान राखे वेद - विधि सुनी मैं ;
 राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
 धरा में धरम राख्यौ, राख्यौ गुन गुनी मैं ।
 'भूषन' सुकवि जीति हृद मरहट्टन की,
 देस - देस कीरति बखानी तव सुनी मैं ;
 साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी
 दिल्ली-दल दावि कै दिवाल राखी दुनी मैं ॥ ८८ ॥
 अजौ भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
 भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है ;
 'भूषन' भनत अजौ काटे करवालन के
 कारे कुंजरन परी कठिन कराह है ।
 सिंह सिवराज सतहेरि के समीप ऐसो
 कियो कतलाम दिली-दल को सिपाह है ;
 नदी रन - मंडल रुहेलन - रुविर अजौ,
 अजौ रवि - मंडल रुहेलन की राह है ॥ ८९ ॥

सुवन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी ;
 औरंग आपनि दुग्ग - जमाति बिलोकत तेरियै फौज दरेरी ।
 साहि-तनै सिवसाहि भई, भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी ;
 रातिहु-दौस दिलीप तकै तुव सैन कि सूरति सूरति घेरी ॥ ६० ॥

बानर, वरार, बाघ, बैहर, बिलार, बिग,
 बगरे वराह, जानवरन के जोम हैं ;
 'भूषन' भनत भारे भालुक, भयानक हैं,
 भीतर भवन भरे लीलगऊ, लोम हैं ।
 ऐंझायल गज-गन, गैंझा गररात फिरें,
 गेहन में गोहन गरूर गहे गोम हैं ;
 सिवाजी की धाक मिले खलकुल खाक, बसे
 खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं ॥ ६१ ॥
 ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज
 'भूषन' जे बाज की समाजें निदरत हैं ;
 पौन - पायहीन, दग - धूँघट मैं लीन, मीन
 जल में विलीन क्यों बराबरी करत हैं ।
 सवते चलाक चित तेऊ कुलि आलम के,
 रहैं उर अंतर में, धीर न धरत हैं ;
 जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर, तीर
 एव भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं ॥ ६२ ॥

×

×

×

कुछ दिन हुए, काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने भूषण और मतिराम के समय तथा संबंध पर कुछ संदेह प्रकट किया। मामला इस प्रकार है कि वृत्तकौमुदी-नामक एक नवीन ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की खोज (सन् १९२०-२२) में प्राप्त हुआ। उसमें लिखा है कि किसी मतिराम ने उसे संवत् १५५८ में रचा। यह मतिराम अपने को वत्सगोत्री त्रिपाठी, विश्वनाथ का पुत्र तथा श्रुतिधर का भतीजा बतलाते हैं। भूषण आदि के त्रिपय में आप अपना कोई संबंध प्रकट नहीं करते। वृत्तकौमुदी ग्रंथ हमने नहीं देखा, उसके केवल कतिपय छप्पय तथा दोहे देखे हैं। छंदोभंग प्रायः प्रत्येक छप्पय में है। साहित्य-प्रौढ़ता के विचार से वृत्तकौमुदा के जो छंद हमने देखे हैं, वे रसराज-लेखक को गरिमा के चतुर्थांश को भी नहीं पाते। इसी प्रकार इन छंदों में ओज-गुण का प्राधान्य तथा प्रसाद-गुण का नितांत शैथिल्य वर्तमान

होने से कहना ही पड़ता है कि यह रचना-शैली रसराज के लेखक मतिराम की नहीं। यद्यपि ललित ललाम के कुछ छंद ओज-पूर्ण अवश्य हैं, तथापि उनमें प्रसाद-गुण का सौंदर्य विद्यमान है, जो वृत्तकौमुदी के पद्यों में अप्राप्य-सा है। ललित ललाम संवत् १७३८ के पूर्व का ग्रंथ है, तथा रसराज संवत् १७६७ के लगभग का माना गया है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में गुण-विषयक पृथ्वी-आकाश का अंतर है। ललित ललाम के उत्कृष्ट छंद रसराज के साधारण छंदों के समान हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि मतिराम ने क्रमोन्नति नहीं की, वरन् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने एकवारगी प्रचंड कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। वृत्तकौमुदी के छंद हमें ललित ललाम के चुने हुए छंदों से हीनतर समझ पड़ते हैं। अतएव यदि रसराज के लेखक का संवत् १७५८ में वृत्तकौमुदी ग्रंथ बनाना माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह ललित ललाम के पीछे तेरह-चौदह वर्ष (अर्थात् संवत् १७५८) पर्यंत उन्नति न करके अवनति की ओर गए, तथा तत्पश्चात् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने अद्वितीय कवित्व शक्ति प्राप्त कर ली। अतः समझ पड़ता है कि यह वृत्तकौमुदी ललित ललाम एवं रसराज के लेखक मतिराम की रचना नहीं। हाल में प्राप्त संवत् १-२७ में छंद-रचना करनेवाले मतिराम के एक प्रपौत्र ने अपने पूर्व-पुरुषों के नाम लिखे हैं, और यह भी कहा है कि मतिराम कश्यपगोत्री तिवारी थे। इधर वृत्तकौमुदीकार मतिराम वत्सगोत्री तिवारी थे। अतएव वृत्तकौमुदीकार मतिराम रसराजकार मतिराम से पृथक् व्यक्ति पूर्णतया प्रमाणित होते हैं। मतिराम के उपर्युक्त वंशधर ने यह भी लिखा है कि वृष हम्मीर से सम्मान पाकर चिंतामणि, भूषण और मतिराम टिकमापुर में रहते थे।

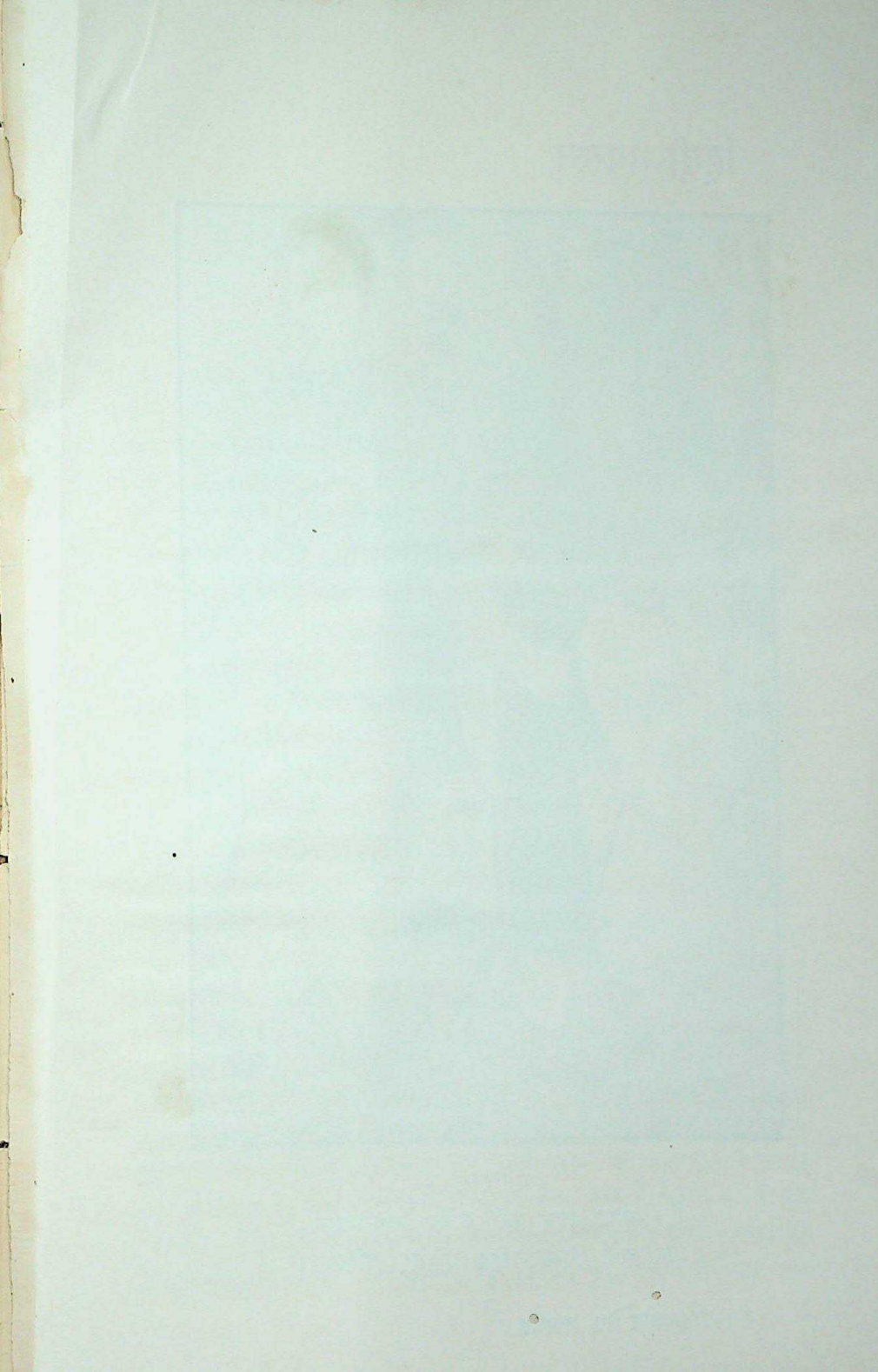
संवत् १८११ के एक विलग्रामी मुसलमान लेखक ने कुछ मुसलमान कवियों का हाल अपने ग्रंथ 'तज़किरे-सर्व आज़ाद' में लिखा। उसमें उन्होंने लिखा है कि भूषण और मतिराम चिंतामणि के भाई थे। इन कथनों तथा जनश्रुति से इन तीनों का भाई होना निर्विवाद प्रमाणित होता है, और इनके समेरे, फुफेरे आदि भाई होने का भी अनुमान लड़ाना नहीं पड़ता।

वर्तमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक सर यदुनाथ सरकार तथा केलूसकर और तकाश्व महाशयों ने शिवाजी-संबंधी इतिहास पर प्रचुर परिश्रम किया है। इन तीनों महाशयों ने हमारी भूषण-ग्रंथावली का भी हवाला देकर भूषण को शिवाजी का राजकवि माना है। सभा के मंत्री महाशय ने 'हस्त-लिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नाम से हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में पूर्वोक्त मंतव्य लिखा है। उसमें भूषण के समय तथा शिवाजी के यहाँ राजकवि होने

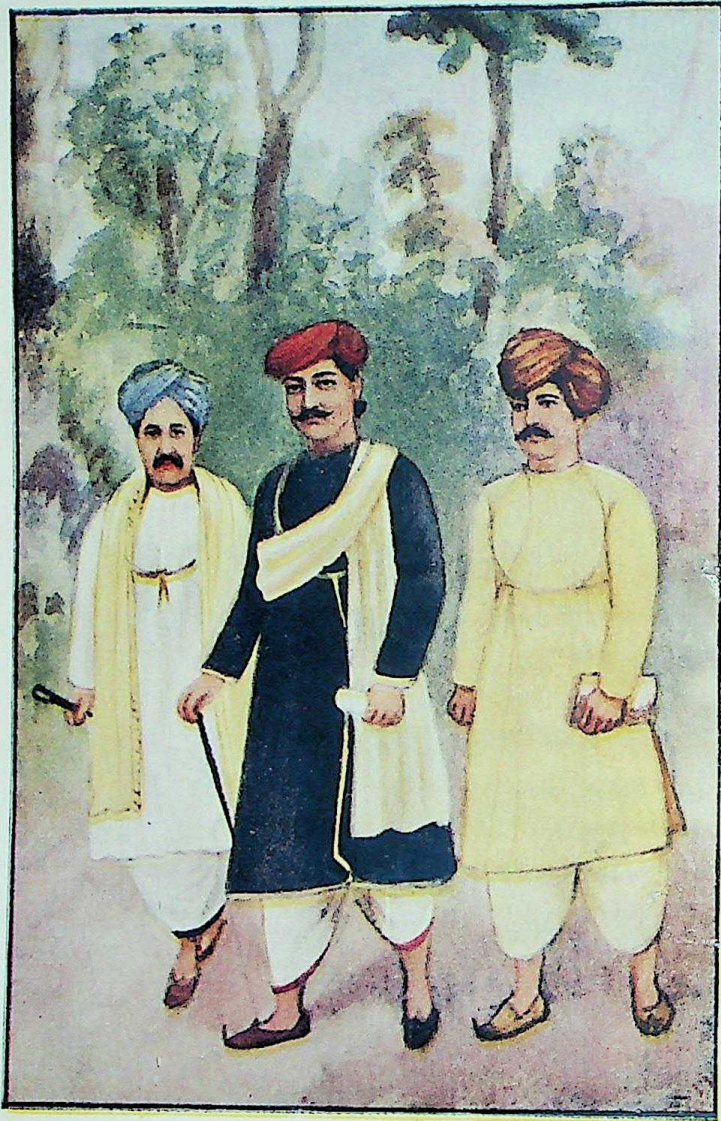
के विषय में भी संदेह प्रकट किया गया है। इसमें शिवराज-भूषण के निर्माण-कालवाले दोहे को ज्योतिष के आधार पर अशुद्ध बताने का भी उपक्रम किया गया है। सभा द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि शिवराज-भूषण संवत् १७३० में कार्तिक-शुक्ला त्रयोदशी, बुधवार को समाप्त हुआ। शिवराज-भूषण के निर्माणकाल विषयक एक भ्रष्ट पाठवाले दोहे के आधार पर यह कहा गया है कि “शिवराज-भूषण ग्रंथ संवत् १७३७ में आषाढ़-वदी तेरस को समाप्त हुआ, जिस रोज ज्योतिष-गणना से वस्तुतः रविवार आता है, और दोहे के पाठ में बुधवार है, अतः दोहा कल्पित है।” यह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। उस दोहे में बुधवार लिखा भी नहीं है। दोहे का शुद्ध रूप भूषण-ग्रंथावली में छपा है, जो बिना उचित कारणों के अशुद्ध नहीं माना जा सकता। शिवराज-भूषण ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ में भूषण ने संवत् १७१६ से संवत् १७३० तक की ही शिवाजी के संबंध की घटनाएँ लिखी हैं। शिवाजी यद्यपि संवत् १७३० के पश्चात् सात वर्ष और जीते रहे, तथा इन सात वर्षों में भी अनेकानेक महती घटनाएँ संघटित होती रहीं, तथापि उनके विषय में शिवराज-भूषण का मौनावलंबन एवं शिवा-बावनी में उन घटनाओं का भी प्रचुर कथन साफ़ प्रकट करता है कि प्रथम ग्रंथ संवत् १७३० में ही समाप्त हो चुका था। इसी प्रकार ग्रंथ में शिवाजी-संबंधी वर्तमान कालिक कथन, उनका रायगढ़-वास वर्तमान काल में कहना, अनेक स्थानों पर उनको मंगल-वृद्धि के तथा अन्यान्य आशीर्वाद देना भूषण का शिवाजी का राजकवि होना सिद्ध करते हैं, नकि साहूजी का। यदि साहू के आदेशानुसार ग्रंथ बनता, तो ऐसा कथन उसमें अवश्य होता, तथा यत्र तत्र साहू की शिवाजी के साथ प्रशंसा एवं कथन अवश्य होते। परंतु ग्रंथ में साहू का नाम-निशान तक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि साहूजी के समय में भूषण ने शिवाजी को नायक मानकर ग्रंथ बनाए, तो क्या यह संभव हो सकता है कि भूषण-जैसा महाकवि शिवाजी की मृत्यु के ३४ वर्ष पीछे उनको चिरंजीवी होने तथा मंगल-वृद्धि प्राप्त करने का आशीर्वाद देता? भूषणजी ने एक दोहे में लिखा है कि मैं शिवाजी के दरबार में गया, और दूसरे दोहे में लिखा है कि शिवाजी के चरित्र देखकर मेरे मन में यह हुआ कि भाँति-भाँति के अलंकारों से भूषित करके कविता करूँ, और इसी विचार के होने से शिवराज-भूषण ग्रंथ की रचना की गई।

सभा भूषण का संवत् १७६७ के लगभग तक जीवित रहना कहती है, जिसके प्रमाण में भगवंतराय खीची की मृत्यु पर भूषण का बनाया हुआ एक छंद कहा

जाता है। यह छंद यशवंतराय के वर्णन में है, जो भगवंतराय से इतर समझ पड़ते हैं। कारण, उनके जूझने से मध्य-भारत में, न कि संयुक्त-प्रांत में, तुकों का समूह फैलना छंद बतलाता है। उसमें भगवंतराय खीची का नाम भी नहीं है; वरन् यशवंत का है। यह छंद भूधर कवि-कृत है, न कि भूषण-कृत। यदि भूषण का संवत् १७६७ तक अवस्थित रहना सिद्ध हो जाय, तो भी हमारा जन्म-काल मानने से उनका लगभग १०५ वर्ष की आयु पाना समझ पड़ेगा, जो असंभव नहीं। जहाँ तक सभा के ग्रंथ में प्रमाण दिए गए हैं, वहाँ तक भूषण का सं० १७७२ के आगे तक जीवित रहना सिद्ध नहीं होता। पीछे से भूषण-कृत सं० १७८० तक की घटनाओं के कई छंद मिले हैं। हमने भूषण-ग्रंथावली के प्रथम संस्करण में भूषण का जन्म-काल सं० १६६२ के लगभग माना था। वही अब फिर हमको ठीक जँचता है।



हिंदी-नवरत्न



मतिराम

हिंदी-भाषा जिन करी रुचिर माधुरी-धाम ;
जात चले शिष्यन-सहित ए तेई मतिराम ।

गंगा-काइनस्ट्रॉट-प्रेस, लखनऊ

(ख) महाकवि मतिराम त्रिपाठी

मतिराम तिवारी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है, इनके पिता का नाम रत्नाकर था। यह महाराज तिकवाँपुर, जिला कानपुर के रहनेवाले थे। इनका जन्म संभवतः संवत् १६६६ वि० के इर्द-गिर्द हुआ होगा। मतिराम के किसी ग्रंथ से इनके विषय में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं होता, परंतु भूषण की कविता से इनकी बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं। भूषण की जीवनी लिखने में हमने लिखा कि उनका जन्म सं० १६६२ वि० के लगभग हुआ। मतिराम उनके छोटे भाई थे। अतः अनुमान से जाना जाता है कि इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग हुआ होगा।

मतिराम बूँदी के महाराज राव भाऊसिंह के यहाँ रहते थे। महाराज भाऊसिंह सं० १७१६ वि० में सिंहासनारूढ़ हुए, और सं० १७३८ वि० तक उन्होंने राज्य किया। उसी समय मतिराम ने अपना ग्रंथ ललित ललाम बनाया होगा, क्योंकि ललित ललाम खासकर राव भाऊसिंह के वास्ते बनाया गया, और उसमें इन्हीं महाराज की प्रशंसा के प्रायः सौ पद्य हैं। मतिराम महाराजा शंभुनाथ के यहाँ भी रहे, और इन्हीं के नाम से आपने 'छंदसार-पिंगल'-नामक एक ग्रंथ रचा। शिवसिंह सेंगर ने कुमाऊँ-नरेश उद्दोतसिंह के यहाँ भी इनका रहना बतलाया है। उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है, परंतु यह माननीय नहीं। शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह कोटा के राजा थे, परंतु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे। ललित ललाम में मतिराम ने राव भाऊसिंह के पूर्वजों का इस प्रकार वंश-वर्णन किया है—

बूँदी-नरेश सुरजा राव के पुत्र भोजसिंह, उनके रतनसिंह और उनके गोपीनाथ हुए। गोपीनाथ के पुत्र हुए छत्रसाल, और उनके भाऊसिंह। बूँदी के महाराजा रघुवीरसिंह ने, सन् १८६७ ई० में, ललित ललाम की टीका, गुलाब कवि से, बनवाई। गुलाब कवि ने अपनी टीका की भूमिका में भाऊसिंह के पीछेवाले बूँदी-नरेशों के नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—भाऊसिंह के पुत्र कृष्णसिंह, उनके अनिरुद्धसिंह, उनके रावराजा बुद्धसिंह और उनके उम्मेदसिंह हुए। उम्मेदसिंह के पुत्र अजीतसिंह, उनके विष्णुसिंह, उनके रामसिंह और

उनके महाराजा रघुवीरसिंह हुए। हिंदोस्तान में सिवा चित्तौर के और कहीं के नरेश वीरता, राजभक्ति और न्याय में बूँदी-नरेशों से बढ़कर नहीं हुए।

मतिराम ने ये ग्रंथ रचे—ललित ललाम, रसराम, साहित्य-सार, लक्ष्मणा-शृंगार, छंद-सार और मतिराम-सतसई। फूल-मंजरी-नामक एक सं० १६८४ के पहले का रचा हुआ ग्रंथ हाल में प्राप्त हुआ है, जो किसी मतिराम-कृत है। संभव है, उसे वृत्तकौमुदीकार या किसी अन्य मतिराम ने रचा हो। हमारे मतिराम के समय से उस ग्रंथ का समय कुछ-कुछ नहीं मिलता है।

ललित ललाम अलंकारों का ग्रंथ है। वह बूँदी-नरेश की आज्ञा से, संभवतः सं० १७३१ में, बना। दूसरे बूँदी-नरेश की आज्ञा से गुलाब कवि ने १६५४ में उसकी टीका-रची। इसके छापने में भी ऐसी सावधानी से काम लिया गया है कि प्रायः कोई अशुद्धि या दोष नहीं रहा। मतिराम ने भाऊसिंह की प्रशंसा में कितने ही उत्कृष्ट छंद कहे। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

सूबनि उमेड़ि दिली - दल दलिवे को चमू
 सुभट - समूहनि सिवा की उमहति है ;
 कहै 'मतिराम' ताहि रोकिवे को संगर मैं
 काहू के न हिम्मति हिए मैं उलहति है।
 सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
 गरबी गनीम वरगीन को दहति है ;
 पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
 राखी रैया राव भावसिंह की रहति है ॥ १ ॥

मतिराम ने भाऊसिंह के हाथियों का वर्णन बहुत किया है। जान पड़ता है, उनके यहाँ हाथी बहुत-से और अच्छे थे। बूँदी के वंश-भास्कर ग्रंथ में लिखा है कि मतिराम को उस दरबार से ४००० तथा ३२ हाथी और रिङ्गी-चिङ्गी-नामक दो गाँव मिले। इतना पाने पर भी इनका नाम कमाऊ कवियों में भूषण के सामने कुछ भी न हुआ, सो जान पड़ता है, उन्हें इससे बहुत अधिक धन मिला होगा। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४४४ पद्य हैं। अतः यह भूषण-कृत शिवराज-भूषण से, आकार एवं अलंकारों की संख्या में, कुछ बड़ा है। बहुत ही बढ़िया ग्रंथ है। मतिराम ने 'रसराम' में भी इसके अच्छे-अच्छे पद्य उठाकर रख दिए हैं। यदि कोई मनुष्य विना गुरु की सहायता के अलंकार पढ़ना चाहे, तो हम उसे शिवराज-भूषण, कविकुल-कंठाभरण और ललित ललाम पढ़ने की सम्मति देंगे। कंठाभरण कुछ कठिन है, किंतु हमने उसकी एक टीका छपवा दी है। ग्रंथ छोटा,

केवल ८० पद्यों का है। ललित ललाम में शृंगार का बाहुल्य नहीं है। यह मतिराम का पहला ग्रंथ है।

रसराम। इसमें मतिराम ने भावों का वर्णन किया है, परंतु नायिका-भेद से ग्रंथ शुरू किया है, और उसे कहकर अंत में कह दिया है कि भाव-भेद में यह आलंबन-विभाग में आता है। सिवा भावों के इसमें रसों का वर्णन नहीं हुआ, केवल शृंगार-रस का नाम आ गया है, किंतु उसका स्वरूप नहीं दर्साया गया। भावों का वर्णन पूरा हुआ है। मतिराम ने जूभा को नवाँ सात्त्विक भाव माना है। रसराम प्रसाद-गुण से पूर्ण बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। नायिका-भेद के ग्रंथों में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। देव-कृत ग्रंथों के अतिरिक्त रसराम से अच्छा भाव-भेद किसी अन्य उत्कृष्ट ग्रंथ में नहीं वर्णित है। इसमें ४२६ पद्य हैं। नायिका-भेद पढ़नेवाले लोग इस ग्रंथ को सबसे पहले पढ़ते हैं। इसमें बहुत सुगम एवं स्पष्ट रीति से वह वर्णित भी है। यह ग्रंथ संभवतः सं० १७६७ के लगभग बना होगा। उस समय, जान पड़ता है, बूँदी-नरेशों से इनका संबंध टूट चुका था, क्योंकि ललित ललाम की भाँति यह ग्रंथ किसी के नाम पर नहीं बना। समझ पड़ता है, सं० १७६७ के कुछ ही पहले मतिराम के कहने से इनके बड़े भाई भूषण महाराज बूँदी-नरेश के यहाँ जाकर अप्रसन्नता के साथ लौटे। उसी समय से मतिराम ने भी बूँदी-दरवार से अपना संबंध तोड़ दिया होगा। १७६७ के बाद मतिराम के जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं है। जान पड़ता है, सं० १७७३ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ।

छंदसार-पिंगल। यह हमारे पास नहीं है। इसके आदि के दो-चार पृष्ठ पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में हैं, जिनके पढ़ने से विदित होता है कि यह ग्रंथ बड़ा होगा, क्योंकि इसका उत्थान बड़े विस्तार से हुआ है। जैसी कविता मतिरामजी करते थे, वैसी ही इस ग्रंथ में भी पाई जाती है। यह ग्रंथ महाराज शंभुनाथ के नाम पर बनाया गया। यह महाराज कविता में बड़े पटु थे। इनका बनाया हुआ मुद्रित नख-शिख हमारे पास है। काव्य में यह अपना नाम 'नृप शंभु' रखते थे। मतिराम-कृत साहित्य-सार-नामक एक और ग्रंथ खोज में मिला है।

महाकवि मतिराम की भाषा बहुत ही सुव्यवस्थित और परिपक्व है। इनकी इच्छा के अनुसार वह हर ओर लच जाती और हर प्रकार के भाव परम सुगमता-पूर्वक व्यक्त करती है। इनका शब्द-चयन उत्कृष्ट हिंदी का रूप खड़ा किए हुए है। वह न तो संस्कृतपन की ओर जाता, न प्रांतिकता के फेर में पड़ता है। वाक्य-विन्यास माधुर्य और प्रसाद का जामा पहने हुए है। पदावली अलंकृत, प्रांजल और भाव-व्यंजन में पूर्णतया समर्थ है। कोमलता, कांति, अर्थव्यक्त आदि

गुण मानो आप ही के लिये बने हैं। कथन में मार्मिकता, भाव-व्यंजना में स्वाभाविकता और वर्णन में पूर्णता है। शाखा-चक्रमण निकट नहीं आने पाता। जो भाव उठाते हैं, उसी को छंद के प्रत्येक शब्द से पुष्ट करते चले जाते हैं। कर्कशता निकट नहीं फटकने पाती। वृथों में चारुता और कुशलता है। सच्ची अनुभूति की कमी नहीं है। छंद धारा-प्रवाह से चलते हैं। उनके पढ़ने में जिह्वा के लिये अटकाव नहीं है। प्राकृतिक रंजन के साथ भावुकता का मिश्रण है। शब्दों में चित्र खींच देते हैं। कोमल पद-माधुरी सब कहीं वर्तमान है। अनुभूति की मर्म-पर्शी व्यंजना, प्रभावशाली शब्द, हावों के मनोहर विधान, चेष्टाओं के सजीव चित्रण, संचारियों की चमत्कृत कल्पना, पदावली में स्निग्धता, अनुस्वारों की भंकार, रसार्द्रता आदि मतिराम की रचना में पूर्णता से प्राप्त हैं। आप जातीय कवि भी थे। छत्रपति के शत्रुओं की प्रशंसा में भी न केवल शिवाजी की निंदा न की, वरन् प्रकारांतर से उन्हीं की मुख्य प्रशंसा की।

भाषा इनकी विशेषतया श्लाघ्य है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसी मधुर भाषा लिखने में समर्थ नहीं हुआ। इनकी कविता में संयुक्त वर्ण बहुत ही कम आने पाए हैं। इनको अनुप्रास आदि का इष्ट न था, परंतु उचित रीति पर भाषा-संबंधी प्रायः सभी गुण इन्होंने अपनी कविता में रखे हैं। माधुर्य और प्रसाद मानो इन्हीं के वास्ते रचे गए थे। भाषा की इन महाकवि ने ऐसी उन्नति की है कि सभी लोग मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा करते हैं। हिंदी में सर्व-सम्पत्ति से माधुर्य और लालित्य गुण प्रधान हैं। इन सद्गुणों की नींव मतिराम ही के द्वारा पड़ी। हिंदी के आचार्यों में कुछ को छोड़ प्रायः सभी ने अधिकांश संयुक्त अक्षरों को श्रुति-कटु माना है। मधुर अक्षरों का प्रयोग मतिराम ने प्रायः सबसे अच्छा किया है। इनके पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, फिर भी श्रुति-कटु शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं मिले। इनसे पूर्व इनकी-सी भाषा का प्रयोग कोई हिंदी-कवि नहीं कर सका। इनके पीछे भी सिवा देव के और कोई कवि इनकी-सी भाषा नहीं लिख सका। इस गुण में यदि कोई और इनके कुछ समीप पहुँचा, तो वह केवल प्रतापसाह था। इनके पीछे इनकी देखा-देखी भाषा-संबंधी सभी गुणों में बहुत उन्नति हुई। इस एक ही गुण से यह मनुष्य-जाति के बड़े उपकारक हुए; क्योंकि जातियों की उन्नति पर भाषा बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। इनकी भाषा के उदाहरण में यहाँ हम एक पद्य लिखते हैं—

बेलिन सों लपटाइ रही हैं तमालन की अवली अति कारी ;
कोकिल कूकू, कपोतन के कुल केलि करें अति आनंदवारी ।

सोच करै जनि, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नर-नारी ;
मंजुल वंजुल-कुंजन के, घन-पुंज सखी, समुहारि तिहारी ॥ २ ॥
इन्होंने उपमाएँ, उत्प्रेक्षादि भी कहीं-कहीं बहुत अच्छी रक्खी हैं—

पिय आयो, नव-वाल तन बाढ़यो हरष-बिलास ;
प्रथम बारि - वूँदन उठै ज्यों वसुमती - सुवास ॥ ३ ॥
आपने मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सांसारिक प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु मानुषी प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। उदाहरण लीजिए—

छाँ मिलि मोहन सों 'मतिराम', सुकेलि करी अति आनंदवारी ;
तेई लता, 'द्रुम' देखतैं दुःख चले अँसुआ अँखियानि ते भारी ।
आवति हौं जमुना - तट को, नहिँ जानि परै बिछुरे गिरिधारी ;
जानति हौं सखि, आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंजविहारी ॥ ४ ॥
मतिराम ने प्राकृतिक वर्णन को इतना नहीं बढ़ाया कि तसवीर खींच सके हों; फिर भी कहीं-कहीं खूब कहा है—

अंजन दै निकसै नित नैननि, मंजन कै अति अंग सँवारै ;
रूप-गुमान - भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै ।
जोवन के मद सों 'मतिराम' भई मतवारिनि, लोग निहारै ;
जात चली यहि भाँति गली, विधुरी अलकै, अचरा न सँभारै ॥ ५ ॥
इन्होंने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सबैए कहे हैं, वैसे ही यह दोहे भी बनाने में समर्थ हुए हैं—

तिय को मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन नैन;
सजल जलद लखि कै भए सजल जलद - से नैन ॥ ६ ॥
मतिराम ने केवल तीन-चार अच्छे ग्रंथ बनाए हैं, फिर भी इनकी कविता में सैकड़ों बढ़िया छंद हैं। देव की भाँति यह महाकवि भी बहुत ही विशद छंद बनाने में समर्थ हुए हैं। श्लाघ्य पद्यों को गिनने से जान पड़ेगा कि इनकी कविता में भी देव की भाँति ऐसे पद्यों का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

वैसेई चितै कै मेरे चित को चुरावती हौ,
बोलती हौ बैसियै मधुर मृदु बानि - सों ;
कवि 'मतिराम' अंक भरत मयंक - मुखी,
वैसे ही रहति यहि भुज लातिकाणि सों ।
चूमत कपोल, पान करत अधर - रस ,
वैसियै निहारी रीति सकल कलानि सों ;

कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो

मान जानियत रूखी मुख मुसकानि सों ॥ ७ ॥

इनकी रचना में भाषा के अतिरिक्त अर्थ-गोभीर्य का बहुत बड़ा गुण है। एक-एक छंद से कितने ही अच्छे काव्यांग निकलते हैं—

जानति सौति अनीति है, जानत सखी सुनीति ;

गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति ॥ ८ ॥

इस एक दोहे से कई अर्थ, अलंकार तथा नायिका-भेद के अंग निकलते हैं, और मुख्य भाव की बराबर एक-एक शब्द से पुष्टि होती चली गई है। आपने जिस छंद में जो भाव उठाया, उसके एक-एक शब्द से उसी की पुष्टि की। भरती के पद या शब्द यह प्रायः कभी नहीं रखते थे, बल्कि सदैव मुख्य आशय को दृढ़ करते जाते थे—

दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ

कोकिल, कपोतन की धुनि सरसाति है ;

पूरि रहे जहाँ द्रुम वेलिन सों मिलि 'मति-

राम' अलि-कुलनि अंधेरी अधिकाति है ।

नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन

कुंजन मैं होति जहाँ दिनहू मैं राति है ;

ता बन की वाट, कोऊ रांग ना सहेली, कहि

कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ॥ ९ ॥

यहाँ कवि को सहेट स्थान के योग्य सूनापन आदि दिखाना अभीष्ट था, सो यह उसने प्रतिभाव से दिखलाया। इतनी कोकिला और कपोत बोलते हैं कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती। इससे प्रकट हुआ कि वहाँ कोकिला और कपोत निर्विघ्न विहार करते हैं, अर्थात् उन्हें सतानेवाला कोई मनुष्य नहीं है। पेड़ वेलियों से मिले हैं, जिससे अंधेरा रहता और भौरों से मिलकर वह अंधकार बढ़ जाता है। कुंज बहुत घने हैं, और उनके सब ओर फूल नखत-से छाए हैं कि दिन में अंधेरी रात-सी बनी रहती है। यदि लोग वहाँ जाते-आते होते, तो फूल झड़ जाते और नखत के समान घने न रहते। फिर वह स्थान जंगल के बीच में है, नायिका के साथ कोई सखी नहीं है; कोई दूसरी दधि बेचनेवाली भी नहीं है; अतः उसे अकेली ही जाना पड़ता है। ऐसे भाव-पूर्ण पद्य बहुत कवियों ने नहीं रचे। मतिराम की कविता में ऐसे ही पद्य भरे पड़े हैं—

तरुन - अरुन एड़ोन की किरनि - समूह उदोत ;

बेनी - मंडन मुकुत के पुंज गुंज - दुति होत ॥ १० ॥

पिय-वियोग तिय दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय ;
 वरुनि - मूल - वेला परसि बहुरयो जात बिलाय ॥ ११ ॥
 भिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिँ ;
 कहा लाल, इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिँ ? ॥ १२ ॥
 पीतम को मनभावती मिलति वाँह दै कंठ ;
 बाहीं छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ ॥ १३ ॥

इन दोहों में इन कविवर ने कितने ही उत्कृष्ट भाव दिखलाए हैं। बेनी और एंड़ियों के रंग के प्रभाव से मोती घुँघची-से हो गए। वियोग में आँसुओं का उठना एवं लज्जा के कारण उनका फिर लुप्त हो जाना मुग्धा के रूप को खूब प्रकट करता है। लक्षिता का उदाहरण भी देखने ही योग्य है—

आई हौ पाइँ दिवाय महाउर कुंजन ते करिकै सुख-सेनी ;
 साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी ।
 बात के वृक्त ही 'मतिराम' कहा करती भट्ट भौँह तनेनी ;
 मूँदी न राखति प्रीति अती यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी ॥ १४ ॥

इस छंद में सखी ने महावर, अंजन और बेनी देखकर ताड़ लिया कि ये सब नायक के हाथ की रचनाएँ हैं। चतुर कवि ने इन बातों के कारण समझने के लिये पाठक से भी कुछ बुद्धि-बल दिखाने की आशा की है। नायक के लक्षण ही में उसका गुणो होना आता है, अतः उसमें कोई मूर्खता नहीं दिखाई जा सकती। फिर सखी ने इन तीनों पदार्थों को नायक के कार्य कैसे जाने? महावर फैला हुआ है, तो क्या वह अच्छा महावर नहीं लगा सकता था? अवश्य लगा सकता था; पर बात यह है कि उसके स्पर्श से नायिका के स्वेद-संचार हुआ, और महावर फैल गया। अंजन कैसा है? आँख को देखकर मृगी लजाती है। मृगी की आँख के समीप कालिमा फैली रहती है। अतः शत हुआ कि अंजन नायिका के भी फैला हुआ है। वह अच्छा अंजन लगा सकता था, परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसे उँगली के आँख में गड़ जाने का भय हुआ, जिससे अंजन फैल गया। बेनी ढोली बँधी है। सखी ज़ोर से कसकर बँध देती, परंतु नायक प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को इतनी भी पीड़ा नहीं देना चाहता था, जितनी बेनी के समुचित प्रकार से कसकर बँधने में होती। इस छंद में कोमलता, प्रेमाधिक्य और प्रकृति-निरीक्षण के उदाहरण कवि ने दिखलाए हैं।

राव भाऊसिंह की प्रशंसा में भी इन कविवर ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं, जिनमें से कुछ कविता के उदाहरणों में आगे मिलेंगे। आपने रचना में प्रायः सभी उत्कृष्ट साहित्य-संबंधी गुणों का बहुतायत से प्रयोग किया है।

अनेक स्थलों पर छंदों में ऐसी तसवीरें खींच दी हैं, जिनसे अच्छे चित्र बन सकते हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

कुल बातों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि मतिराम भाषा के बहुत बड़े कवि थे। सिवा चार-छ परमोत्कृष्ट कवियों के और किसी हिंदी-कवि की रचना आपकी कविता की समता नहीं कर सकती। यदि कोई कवि देवजी के पार्श्ववर्ती होने का अधिकार रखता है, तो वह यही है। मतिराम के सवैयों तथा घनाक्षरियों से देव का और दोहों से विहारीलाल का स्मरण हो आता है। शृंगारी कवियों में इनकी वीर-कविता बहुत अच्छी है। ललित ललाम में आपने भूषण का भाई होना सार्थक कर दिखाया है। भाषा-सौंदर्य तथा भाव-गाम्भीर्य आपकी रचना के प्रधान गुण हैं।

उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, भूलकै अति अंगन चारु गोराई;
आँखिन मैं अलसानि, बितौनि मैं मंजु विलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे सुसुकानि-मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नरे हूँ नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ॥ १ ॥

जाल - रंघ - मग हूँ कदत तिय - तन - दीपति - पुंज;
भ्रिंभिया को - सो घट भयो दिन ही मैं बन - कुंज ॥ २ ॥
संचि विरंचि निकाई मनोहर, लाज कि मूर्तिवंत बनाई;
ता पर तौ अति भाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति-प्रीति सुहाई।
तेरे सुसील सुभाव भद्र, कुल - नारिन को कुल - कानि सिखाई;
तोहि जनौ पति - देवत के गुन गौरि सवै गुनगौरि पढ़ाई ॥ ३ ॥

लाल, तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाइ;
मूँदत मेरे नैन हौ करन कपूर लगाइ ॥ ४ ॥
ज्यों - ज्यों परसै लाल तन, त्यों - त्यों राखै गोइ;
नवल - वधू डर-लाज ते इंद्र - वधू - सी होइ ॥ ५ ॥
केलि कै राति अधाने नहीं, दिन हूँ लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी, कोउ पानी दै जाउ यों भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल मैं कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी लौं धरि आई ॥ ६ ॥

चित्त मैं विलोकत ही लाल को वदन बाल,
जीते जेहि कोटि चंद सरद - पुनीन के;

मुसक्यात अमल कपोलनि के रुचि वृंद,
 चमकै तरथोननि के रुचिर चुनोन के ।
 पीतम निहारयो वाँह गहत अचानक ही,
 जामै 'मतिराम' मन सकल मुनीन के ;
 गाढ़े गही लाज, मैन, कंठ है फिरत वैन,
 मूल छवै फिरत नैन-वारि वरुनीन के ॥ ७ ॥
 केलि - भवन की देहरी खरी बाल छवि नौल ;
 काम कलित हिय को लहै, लाज-ललित दृग - कौल ॥ ८ ॥
 कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही जित ही मन भायो ;
 काहे को सौहैं हजार करौ, तुम तौ कवहूँ अपराधुन ठायो ।
 सोवन दीजै, न दीजै हमें दुख, यों ही कहा रस-बाद बढ़ायो ;
 मान रख्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सु मानै मनायो ॥ ९ ॥
 बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम छाप !
 तितै जाहु मन भावते, जितै विकाने आप ॥ १० ॥
 आवत उठि आदर कियो बोली बोल रसाल ;
 वाँह गहत नँदलाल के भए बाल-दृग लाल ॥ ११ ॥
 क्यों इन आँखिन सों निरसंक है मोहन को तन-पानिप पीजै ;
 नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै ?
 होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ वन जाइ बड़ो तप कीजै ;
 है वनमाल हिए लगीए अरु है मुरली अधरा-रस लीजै ॥ १२ ॥
 बिछुरत रोवत दुहुँन के सखि यह रूप लखै न ;
 दुख - अँसुआ पिय - नैन हैं, सुख - अँसुआ तिय-नैन ॥ १३ ॥
 लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सों छुट्यो सनेह ;
 सखि, कहियो वा निठुर सों, रही छूटिवे देह ॥ १४ ॥
 कोऊ करै कितेक हूँ, तजौ न टंक गोपाल ;
 निसि औरनि के पग परौ, दिन औरनि के लाल ॥ १५ ॥
 पीतम आए प्रभात, प्रिया मुसकात उठी, दृग सों दृग जोरे ;
 आगे है, आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु वैन सुधा-रस-बोरे ।
 ऐसे सयान सुभावन ही सों मिली मनभावन सों मन-भोरे ;
 मान गो जानि तथै, छतिया अंगिया वी तनी न छुटी जबछोरे ॥ १६ ॥
 रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसरायो ;
 डारि दियो गुरुलोगन को डर, गाँव चवाव मैं नाँव धरायो ।

हेत कियो हम जेतो कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै विसरायो ;
 कोऊ कितेक उपायौ करौ, कहूँ होत है आपनो पीउ परायो ॥ १७ ॥
 पाँयन आइ परे तौ परे रहे, केती करी मनुहारि सहेली ;
 काह कहौं सखि वा निज मान, अथान मैं सीखी न पीय पहेली ।
 मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम' गुमान मैं ऐसी भई अलवेली ;
 आबु तौ ल्याउ मनाइ कन्हाइ को, मेरो न लीजियो नाम सहेली ॥ १८ ॥
 जो तू कहु तौ राधिके, पियहि मनावन जाउँ ;
 उहाँ कहौंगी जाइकै सखी तिहारो नाउँ ॥ १९ ॥
 जोरत हू सजनी विपति, तोरत तपत समाज ;
 नेह कियो विनु काज ही, तेह कियो विनु काज ॥ २० ॥
 जाके लये गृह-काज तज्यो, न सिखो सखियान की सीख सिखाई ;
 बैर कियो सिगरे ब्रज - गाउँ मैं, जाके लये कुल - कानि गँवाई ।
 जाके लये घर - बाहर हू 'मतिराम' रहे हँसि लोग चवाई ;
 ता हरि सों हित एकहि वार गँवारि मैं तोरत वार न लाई ! ॥ २१ ॥
 सकल सिँगार साजि, संग लै सहेलिन को,
 सुंदरि मिलन चली आनंद के कंद को ;
 कवि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि,
 पेख्यो परजंक पै न प्यारे नंदनंद को ।
 नेह ते लगी है देह दारुन दहन, गेह
 बानक विलोकि द्रुम-वेलिन के वृंद को ;
 चंद को हँसत तव आयो मुख-चंद अब
 चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को ॥ २२ ॥
 साहस करि कुंजन गई, लख्यो न नंदकिसोर ;
 दीप - सिखा - सी थरहरी लगे बयारि - भुकोर ॥ २३ ॥
 मोहिँ पठायो कुंज मैं, सठ आयो नहिँ आपु ;
 आली औरहु मीत को मेरो मिट्यो मिलापु ॥ २४ ॥
 बीत गई जुग जाम निसा, 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई ;
 जानति हौं कहूँ और तिया सों रम्यो रस मैं हँसिकै रसिकाई ।
 सोचत सेज परी यों नवेली, सहेली सों जात न बात सुनाई ;
 चंद चढ़्यो उदयाचल पै, मुख-चंद पे आनि चढ़ी पियराई ॥ २५ ॥
 कत न कंत आयो अली लाजन बूझि सकै न ;
 नवल बाल पलका परी, पलक न लागै नैन ॥ २६ ॥

पीतम को धरि ध्यान घरीक करै मन-ही-मन काम-कलोलै ;
 पातहु के खरके 'मतिराम' अचानक ही अँखिया पुनि खोलै ।
 पीतम ऐहैं अजौ सजनी, अँगिराइ, जम्हाइ घरीकु यों बोलै ;
 गावै घरीकु हरे - ई - हरे अरु गेह के बाग हरे - हरे डोलै ॥ २७ ॥
 मो जुग नैन-चकोरन को यह रावरो रूप-सुधा हि को नैबो ;
 कीजै कहा, कुल-कानि की आनि परयो अब रावरो प्रेम छिपैबो ।
 कुंजन में 'मतिराम' कहूँ निसि - द्यौसहु घात परे मिलि जैबो ;
 लाल, सयानी अलीन के बीच निवारिए ह्यौ की गलीन को ऐबो ॥ २८ ॥

अली चली नवलाहि लैं धिय पै साजि सिँगार ;
 ज्यों मतंग-अड़दार को लिए जात गड़दार ॥ २९ ॥

साँझि ही सिँगार साजि, प्रानप्यारे पास जाति,
 वनिता वनक बनी वेलि - सी अनंद की ;
 कवि 'मतिराम' कल किंकिनि की धुन वाजै ,
 मंद-मंद चाल ज्यों विराजत गयंद की ।

केसरि रँगो दुकूल, हाँसी में भरत फूल ,
 केसन में छाई छवि फूलन के बृंद की ;

पाछे - पाछे आवति अँधारी - सी भँवर-भीर ,
 आगे-आगे फैलति उज्यारी सुख चंद की ॥ ३० ॥

गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि-पच्छन अच्छ किरीट बनायो ;
 पल्लव लाल समेत छुरी, कर-पल्लव मों 'मतिराम' सुहायो ।
 गुंजन को उर मंजुल हार निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो ;
 आबु को रूप लखे ब्रजराज को आबु ही आँखिन को फलु पायो ॥ ३१ ॥

मलै को पवन मंद-मंद कै गवन, लाग्यो
 फूलन के बृंदन में मकरंद ढारने ;

कवि 'मतिराम' चित चोरे चारो ओर चाहि ,
 लाग्यो चैत चंद चारु चाँदनी पसारने ।

अलिनि की आली आली मैं के-से मंत्र पढ़ि ,
 लागी मानिनीन के मनन मान भारने ;

सुमन - सिँगार साज सेज सुख - साज करौ ,
 लाज करौ आज ब्रजराज पर वारने ॥ ३२ ॥

कत सजनी है अनमनी अँसुआ भरत ससंक ;
 बड़े भाग नंदलाल सों भूँठहु लगत कलंक ॥ ३३ ॥

गौने के द्यौस कहै 'भतिराम' सहेलिन को मिलिकै गन आयो ;
 कंचन के बिछियाँ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायो ।
 पीतम-सौन-समीप सदा वज्रै, यों कहिकै पहिले पहिरायो ;
 कामिनि कंज चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चलयो न चलायो ॥ ३४ ॥

प्रभा तरयोना लाल की परी कपोलन आनि ;
 कहा छिपावति चतुर तिय कंत - दंत - छत जानि ॥ ३५ ॥

चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
 फूले - फूले फूलनि: बिछायो परजंक है ;

भार के डरन सुकुमारि चारु अंगन में
 करति न अंगराग कुंकुम को पंक है ।

कवि 'भतिराम' देखि बातायन बीच आयो
 आतप, मलिन होत वदन - सयंक है ;

कैसे वह बाल लाल, बाहर बिजन आवै,
 बिजन - बयारि लागे लचकति लंक है ॥ ३६ ॥

रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजनाथ !
 ज्यों सिंधुर की इंदिरा क्यों करि आवै हाथ ? ॥ ३७ ॥

पाय कुंज एकांत में अंक भरी ब्रजनाथ ;
 रोकन को तिय करति है कव्यो करत नहिँ हाथ ॥ ३८ ॥

लाल-वदन लखि बाल के कुचन कंप रुचि होति ;
 चपल होत चकवा मनौ चाहि चंद की ज्योति ॥ ३९ ॥

छुअत परसपर हेरिकै राधा नंदकिसोर ;
 सब में दो ही होत हैं, चोरमिहींचनि चोर ॥ ४० ॥

मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग ;
 सुंदरि रति - विपरीत मैं कियो प्रकट अनुराग ॥ ४१ ॥

वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
 हा-हा न पहिरि आभरन और अंग में ;

कवि 'भतिराम' जैसे तीछन कटाच्छ तेरे
 तैसे कहाँ सर हैं अनंग के निर्धंग मैं ?

सहज सूरूप, सुधराई रीझो मनु मेरो,
 लोभि रह्यो देखि रूप अमल तरंग मैं ;

सेत सारी ही सों सब सौतैं रंगी स्याम रँग,
 सेत सारी ही मैं स्याम रँग लाल रंग मैं ॥ ४२ ॥

नथुनी गज - सुकुतान की लसति चारु सिंगार ;
 जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन - भार ॥ ४३ ॥
 अति आतुर है चलि भई अलो कौन के भाम ;
 उलटी कंचुकि कुचन पर कहे देत अनुराग ॥ ४४ ॥
 लालन वाज के द्वै ही दिना मैं परी मन आई सनेह कि फाँसी ;
 काम-कलोलनि मैं 'मतिराम', लगी मनो बाँटन मोद कि आँसी ।
 पीतम के उर बीज भयो, दुलही के विलास मनोज कि गौँसी ;
 सेद बढ़यो तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसु, कपोलन हाँसी ॥ ४५ ॥
 फूलि रहे द्रुम वेलिन सों मिलि, पूरि रहीं आँखियाँ रतनारी ;
 मोहँ अकेली बिलाकि इहाँ कछु औरई - सी भई दीठि तिहारी ।
 जैसे हुतो हमसों तुमसों, अब होयगी तैसियै प्रीति निहारी ;
 चाहत जो चित मैं हित, तौ जनि बोलिऐ कुंजन बीच बिहारी ॥ ४६ ॥
 भूठे ही जग मैं लग्यो मोहिँ कलंक गोपाल !
 सपनेहुँ कबहुँ हिए लगे न तुम नंदलाल ॥ ४७ ॥
 सोते की-सी बेली अति सुंदरि नवेली बाल
 ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ ;
 'मतिराम' आँखिन सुधा की वरसा - सी भई,
 गई तब दीठि बाके मुख - चंद पहियाँ ।
 नेकु नीरे जाइ करि, बातनि लगाइ हरि,
 कछु मन पाइ करि आई गही बहियाँ ;
 सैन मैं चरचि लई, गौन मैं थकित भई,
 नैननि मैं चाह रही, नैननि मैं 'नहियाँ' ॥ ४८ ॥
 मानहुँ आयो है राज कहुँ, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ;
 गुंज गरे, सिर मोर-पखा, 'मतिरामजू' गाय चरावत चोढ़े ।
 मोतिन को मेरो तोरयो हरा, गहे हाथनि सों रही चूनरी पोढ़े ;
 ऐसे ही डोलत छैल भए, तुम्हैं लाज न आवति कामरि ओढ़े ॥ ४९ ॥
 प्रानपियारो पग परयो, तू न लखत यहि ओर ;
 ऐसो उर जु कठोर तौ न्यायहि उरज कठोर ॥ ५० ॥
 बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि ;
 तन कंचन के आभरन, नीठि परे पहिँ चानि ॥ ५१ ॥
 सकल सहेलिन के पीछे - पीछे डोलति है,
 मंद - मंद गौन आजु हिय को हरतु है ;

सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै
 पौन लागे धूँधट को पट उघरतु है ।
 जमुना के तट, बंसीबट के निकट, नंद-
 लाल पै सकोचनि तै चाह्यो न परंतु है ;
 तन तौ तिया को वर - भाँवरै भरत, मन
 साँवरे वदन पर भाँवरै भरतु है ॥ ५२ ॥
 रूप साँवरो वदन पर, सुधा - सिंधु में खेल ;
 लखि न सकै अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल ॥ ५३ ॥
 निरख्यो नेह दुहून को, नई दई यह बात ;
 सुखति देह दुहून की, त्यों पानिप सरसात ॥ ५४ ॥
 मान जनावति सबन को मन न मान को ठाट ;
 बाल मनावन को लखै, लाल, तिहारी बाट ॥ ५५ ॥
 सखि, नायक सों बात मैं मान भलो न सयान ;
 दुख - सागर मैं बूझिहै बाँधि गरे गुरु मान ॥ ५६ ॥
 चलत लाल के मैं कियो सजनी हियो पखानु ;
 कहा करौ, दरकत नहीं, इते बियोग - कृसानु ॥ ५७ ॥
 काम कहा कुल - कानि सों, लोक - लाज किन जाय ;
 कुंजबिहारी कुंज मैं मिलै मोहिँ मुसुकाय ॥ ५८ ॥
 मोर-पखा 'मतिराम' किरिट मैं, कंठ बनी वनमाल सुहाई ;
 मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल लोलनि मैं छवि छाई ।
 लोचन लोल, बिसाल विलोचनि, को न विलोकि भयो बस माई ?
 वाः मुख की मधुराई कहा कहौ, मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥ ५९ ॥
 कहियो सँदेसो प्रानप्यारी सों गवन कीन्हे,
 विक्रम विलास जे वै आपने परस के ;
 चंद कर - बरछीनि छेदि - छेदि हारयो, तीर
 तीछन मनोज के कछूक करि न सके ।
 कवि 'मतिराम' या कुलिस-कैसे घाइ कहुँ,
 मानत न कोकिल की कूकनि के कसके ;
 कैसे दरकत, मेरो हियो सदा सहि रह्यो
 तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके ॥ ६० ॥

ललित ललाम

जंग में अंग कठोर महा, मद - नीर भरै भरना सरसे हैं ;
 झूलनि रंगधने 'मतिराम' महीरह फूल प्रभा निकसे हैं ।
 सुंदर सिंदुर-मंडित कुंभनि, गौरिक श्रृंग समान लसे हैं ;
 भाऊ दिवान उदार अपार, सजीव पहार करी बकसे हैं ॥ ६१ ॥

छाँह करै छिति-मंडल पै सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं ;
 पानिप को सरसावत हैं, सिंगरे जग के मिटि ताप गए हैं ।
 भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदन ही सब काज ठए हैं ;
 पंथिन के पथ रोकन को घने बारिद-वृंद वृथा उनए हैं ॥ ६२ ॥

सजल जलद जिमि झलकत मद - जल,
 छिति - तल हलत चलत मंद गति में ;
 कहै 'मतिराम' बल विक्रम बिहद सुनि
 गरजनि परै दिगवारन विपति में ।
 सता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
 वरनी उँचाई कविराजनि की मति में ;
 मधुकर - कुल करटीनि के कपोलन तैं
 उड़ि - उड़ि पियत अभिय उड्डुपति में ॥ ६३ ॥

बारि के विहार बर बारन के वोरिबे को
 बारि-चर विरची इलाज जयकाज की ;
 कवि 'मतिराम' बलवंत जल - जंतु जानि,
 दूरि भई हिम्मत दुरद - सिरताज की ।
 असरन - सरन - चरन की सरन ताकी,
 त्यों हीं दीनबंधु निज नाम की सुलाज की ;
 दौरे एते मान अति आतुर उताल - मिली
 बीच ब्रजराज को गरज गुजराज की ॥ ६४ ॥

समर के सिंह, सत्रुसाल के सपूत,
 सहजहि बकसैया सद - सिंधुर - मर्दव के ;
 'मतिराम' बारिहू समुद्रनि के कूलनि लौ,
 फैलत समूह तेरे सुजस सुगंध के ।
 जगत बखानी, चहुवानी सुलतानी और
 नार्ही अरुनी में अरुनीप समकंध के ;

तो मैं दोऊ देखिए दिवान भावसिंह,
चहुँवान - कुल - भानु सुलतान बला-बंध के ॥ ६५ ॥

मतिराम-सतसई

तिरछी चितवन स्याम की लसत राधिका ओर;
भोगनाथ को दीजिए वह मन सुख बरजोर ॥ ६६ ॥
मेरी मति मैं राम है, कवि मेरे मतिराम;
चित मेरो आराम मैं, हित मेरे आराम ॥ ६७ ॥
मो मन - तम - तोमहि हरौ राधा को मुख - चंद;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंदनंदन - आनंद ॥ ६८ ॥
मंजु गुंज को हार उर, मुकुट मोर - पर - पुंज;
कुंजविहारी विहरिए मेरेई मन - कुंज ॥ ६९ ॥
सखिन करत उपचार अति, परति विपति उत रोज;
भुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज ॥ ७० ॥
जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात;
पापर होत पुरैन के चंदन - पंकिल गात ॥ ७१ ॥
विरह-तचे तिथ - कुचनि लौं अँसुआस कत न आय;
गिरि उडुगन ज्यों गगन ते बीचहि जात बिलाय ॥ ७२ ॥
अँसुअनि के परवाह मैं अति वूड़िवे डेराति;
कहा करै, नैनानि को नौद नहीं नियराति ॥ ७३ ॥
बाल अलप जीवन भई ग्रीष्म - सरित - सरूप;
अव रस - परिपूरन करो तुम धनस्याम अनूप ॥ ७४ ॥
बैठ्यो आनन-कमल के अरुन अधर - दल आय;
काटन चाहत भावते, दीजै भौर उड़ाय ॥ ७५ ॥
भली लगै उर भावते, करी भावती आप;
काम नखेनी - सी बनी यह बेनी की छाप ॥ ७६ ॥
बाल - लाल मुख सौति को सुनो नाम परकास;
बरखै बारिद सैन पर उड़्यो हंस - सम हास ॥ ७७ ॥
अनिमिल नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान;
निरखे मोर - पखान के भई पखान - समान ॥ ७८ ॥
सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझो सरस सवाद;
कढ़ी अधर की माधुरी है मुरली के नाद ॥ ७९ ॥

अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नैक निसंक ;
 चपला चपलाई तजी, चंदा तज्यो कलंक ॥ ८० ॥
 लगी रहै हरि-हिय यहै करि ईरखा बिसाल ;
 परिरंभन मैं बल्लरी भली दली बनसाल ॥ ८१ ॥
 अली, तिहारे अधर मैं सुधा-भोग को साज ;
 दुजराजिति जुत न्योतिए लाल वदन दुजराज ॥ ८२ ॥
 करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष ;
 नाह - सनेह - समुद्र मैं बूढ़ि जात सब दोष ॥ ८३ ॥

महाकवि केशवदास

—:०:—

महाकवि केशवदास ने सत्रहवीं शताब्दी में कविता की। इन्होंने कवि-प्रिया के द्वितीय प्रभाव में अपने कुल का इस प्रकार वर्णन किया है—

“ब्रह्मा के सनकादि मानसिक पुत्र थे, जिनके वैसे ही पुत्र सनाढ्य हुए। परशुराम ने सनाढ्यों के पैर पलारकर बहुत-से ग्राम दिए। रामचंद्र ने उन्हें मथुरा-मंडल में ७०० ग्राम दिए। श्रीकृष्णचंद्र ने उन्हें फिर वही देश दिया। सनाढ्यों के कुंभवार उद्देश कुल में देवानंद हुए। उनके जयदेव और जयदेव के दिनकर पुत्र हुए। इनसे अलाउद्दीन बादशाह बहुत खुश रहता था। इन्होंने गया-तीर्थ की यात्रा की। दिनकर के पुत्र गया-गदाधर, उनके जयानंद और उनके त्रिविक्रम मिश्र हुए। गोपाचल-क्लिले के राजा ने इन महाराज के पैर पूजे। त्रिविक्रम के पुत्र भावशर्म और उनके सुरोत्तम मिश्र हुए। इनकी मानसिंह से अनवन थी। राना ने इन्हें बीस गाँव दिए। इन सुरोत्तम मिश्र के पुत्र हरिहरनाथ हुए। यह महाशय तोमर-पति के यहाँ रहे। हरिहर के पुत्र कृष्णदत्त हुए। महाराज रुद्र ने इनको पुराण की वृत्ति दी। कृष्णदत्त के पुत्र काशिनाथ हुए। इन्हीं काशिनाथ के पुत्र बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास थे।”

केशवदास के जन्म का संवत् ज्ञात नहीं। स्वयं ओड़छे में जाकर हमने केशवदास के विषय में सब तरह से पूछ-ताछ की, परंतु शोक है कि वहाँ कोई इनके विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानता। बहुत देर पूछ-ताछ के पीछे लोगों ने एक इमली का वृक्ष दिखाकर कहा कि यहीं केशवदास का मकान था। इससे अधिक उनके विषय में, ओड़छे में, कुछ भी नहीं मालूम हुआ। केशवदास का एक साधारणतया बड़ा चित्र ओड़छा-नरेश के टीकमगढ़वाले महल में लगा है। इन दिनों वहाँ इनके विषय में कुछ काम भी हुआ।

केशवदास ने संवत् १६४८ वि० में रसिकप्रिया बनाई। यह एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। आपने केवल सात ग्रंथ बनाए। अतः विदित होता है, यह महाशय

हिंदी-नवरत्न



केशवदास

करत राज-सो मान लहि इंद्रजीत के राज ;
पहिलो आचारज लखौ केशव कवि-सिरताज ।

गंगा-काइनथ्रार्ट-प्रेस, लखनऊ

ग्रंथ धीरे बनाते थे। इससे विचार यह उठता है कि संभवतः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह ग्रंथ बनाया होगा। कवि होने के अतिरिक्त आप संस्कृत के अच्छे पंडित भी थे। इनके पिता काशिनाथ ने शीघ्रबोध-नामक ज्योतिष का एक ग्रंथ बनाया। इससे जान पड़ता है, उन्होंने केशवदास को भी ज्योतिष अग्र्य पढ़ाया होगा। फिर इनके पितामह को ओड़छे में पुराण की वृत्ति मिली थी, सो वही वृत्ति इनकी भी होगी। अतः यह पुराण भी खूब पढ़ेंगे। केशवदास की कविता से भी प्रकट होता है कि यह संस्कृत के पंडित थे। इंद्रजीतसिंह इनको गुरुवत् समझते थे। इस बात से भी मालूम होता है कि यह महाशय संस्कृत के ज्ञाता होंगे। विज्ञान-गीता देखने से विदित होता है कि इनका दर्शन-शास्त्र पर भी अधिकार था। इन सब बातों से ज्ञात हुआ कि केशवदास ने विद्या प्राप्त करने में पूरा श्रम करके तब काव्य करना प्रारंभ किया होगा। अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनका जन्म संवत् १६०८ वि० के लगभग हुआ होगा। अतः सूरदास की मृत्यु के समय केशवदास की अवस्था ३४ वर्ष के लगभग होगी।

भूषण के सिवा किसी भी भाषा-कवि का, केवल कविता से, केशवदास के समान सत्कार नहीं हुआ। यह महाशय ओड़छे में रहते थे। उस समय से अब तक वहाँ गहरवार-वंशीय क्षत्रिय राज्य करते हैं। ये क्षत्रिय महाराज रामचंद्र के वंश में उत्पन्न हैं। इनके पुरखों में पंचमसिंह बड़े प्रतापी हुए। पंचमसिंह के पुत्र बुँदेल थे, जिनके कारण गहरवार ठाकुर बुँदेल कहलाने लगे। इन्हीं के बसाए हुए देश को बुँदेलखंड कहते हैं, और यहाँ इसी कुल के क्षत्रिय बहुतायत से अब भी राज्य करते हैं। इस कुल में भारतीचंद बड़े पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए। इन्हीं भारतीचंद ने कालिंजर के किले पर घावा करते हुए हिंदोस्तान के बादशाह शेरशाह सूर का वध किया। भारतीचंद के कुल में राजा मधुकरशाह ओड़छे के नरेश हुए। इन्होंने अकबरशाह के गढ़ छीन लिए, और स्वयं मुरादशाह इनसे लड़कर हार गया। मधुकरशाह के दूलहराम, वीरसिंहदेव, इंद्रजीतसिंह आदि बारह पुत्र हुए। बड़े पुत्र दूलहराम राजा हुए। केशवदास मधुकरशाह के रामसिंह नामक किसी पुत्र का होना नहीं लिखते, परंतु यह रामसिंह ही को राजा और इंद्रजीतसिंह का भाई कहते हैं। मधुकरशाह के बड़े पुत्र दूलहराम थे, सो उनका राजा होना अनुमान-सिद्ध है। जान पड़ता है, इन्हीं का उपनाम रामसिंह होगा।

जहाँ अकबर के दरबार में और सब राजा खड़े रहते थे, वहाँ उन्होंने रामसिंह को बैठक दी। रामसिंह के राज्य का प्रबंध इंद्रजीत के हाथ में रहता था।

उन्होंने इंद्रजीतसिंह को कक्षेवा-कमल-नामक गढ़ दिया। इंद्रजीत के यहाँ संगीत का अखाड़ा था, जिसमें निम्न-लिखित छ पातुरें थीं—रायप्रवीन, नवरंगराय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराइ और रंगमूर्ति।

रायप्रवीन इंद्रजीत की प्रेमिका थी। यह कवयित्री जाति की लोहारिन थी, ऐसा उस राज्य में प्रसिद्ध है। गणिका होने पर भी वह पतिव्रता थी। एक बार उसके रूप-लावण्य का वर्णन सुनकर अकबर ने उसे बुला भेजा। उस समय रायप्रवीन ने, जो अच्छी कविता भी करती थी, इंद्रजीतसिंह की सभा में जाकर यह कवित्त पढ़ा—

आई हों वृक्षत मंत्र तुम्हें निज सासन सों सिगरी मति गोई ;
देह तजौ कि तजौ कुल-कानि, हिए न लजौ, लजिहै सब कोई ।
स्वारथ औ परमारथ को गथ चित्त विचारि कहौ अब सोई ;
जामैं रहै प्रभु की प्रभुता, अरु सोर पतिव्रत भंग न होई ।

इस बात पर इंद्रजीत ने उसे अकबर के यहाँ न भेजा। तब अकबर ने क्रोध करके उन पर एक करोड़ रुपए का जुर्माना किया। तब उस समय केशवदास ने आगे जाकर बोरवल द्वारा यह जुर्माना माफ़ कराया, और रायप्रवीन ने अकबर के यहाँ किसी मौके पर निम्न-लिखित दोहा पढ़कर अपना पतिव्रत-धर्म बचाया—

विनती रायप्रवीन की सुनिए साहि सुजान ;
जूठी पातरि भलत हैं वारी, वायस, स्थान ।

अब हम स्वयं केशवदास का जीवन-चरित्र, जहाँ तक हमें उनके काव्य या कहावतों द्वारा ज्ञात हुआ है, नीचे लिखते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इनका जन्म ओड़छे में, सं० १६०८ के आस-पास, हुआ होगा। आपने संभवतः ३५ वर्ष की अवस्था में कविता का प्रारंभ किया। इनके जन्म-स्थान ओड़छे होकर बेतवै-नदी बही है। ओड़छे के राजमहल अब भी दर्शनीय हैं। बेतवै बड़ी ही मनोरम नदी है। हम एक बार आध घंटे तक खड़े-खड़े उसे देखते ही रहे, तो भी हमें तृप्ति नहीं हुई। केशवदास ने ओड़छे और बेतवै का बड़ा विशद वर्णन किया है। उदाहरणार्थ तीन छंद यहाँ दिए जाते हैं—

नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुंगारन्य ;
नगर ओड़छो बहु बसै धरनी-जल मैं धम्य ॥ १ ॥
केसव तुंगारन्य मैं नदी बेतवै - तीर ;
नगर ओड़छो बहु बसै पंडित - मंडित भीर ॥ २ ॥

ओड़छे - तीर तरंगिनि बेतवै, ताहि तरै नर 'केसव' को है ;

अर्जुन-बाहु-प्रबाहु-प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहै ।

जोति जगै जमुना-सी लगै, जग लाल बिलोचन पाप बियो है ;

सूर - सुना सुभ संगम तुंग तरंग तरंगित गंग - सी सोहै ॥ ३ ॥

प्रायः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने रसिक-प्रिया-नामक अपना प्रथम ग्रंथ, सं० १६४८ में, कार्तिक-शुक्ला ७, सोमवार को समाप्त किया। यह ग्रंथ इंद्रजीत के कहने से बना। इस समय तक केशवदास का पूर्ण आदर ओढ़छे में नहीं हुआ था, पर इन्होंने रसिक-प्रिया में लिखा है—

तिन कवि केसवदास सों कीन्हों धरम सनेहु ;

सब सुख दै कै यह कही, रसिक - प्रिया करि देहु ॥ ४ ॥

इससे प्रकट होता है कि इंद्रजीत इस समय से प्रथम इनके शिष्य हो चुके थे। यहाँ 'तिन' से इंद्रजीत का प्रयोजन है। इसी के कुछ दिन पीछे केशवदास को जुर्माना माफ़ कराने के लिये आगरे जाना पड़ा। वहाँ जाकर यह महाराज वीरवल से मिले, और उनकी प्रशंसा में इन्होंने यह छंद पढ़ा—

पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचे दसचारी ;

'केसव' देव, अदेव रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी ।

कै वरवीर बली बलवीर, भयो कृतकृत्य महान्तधारी ;

दै करतावन आपन ताहि दई करतार दुयौ कर तारी ॥ ५ ॥

इस छंद को सुनकर महाराज वीरवल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने एक करोड़ का जुर्माना अकबर से माफ़ करा दिया, और छ लाख रुपए की हुंडियाँ, जो उनकी जेब में थीं, निकालकर केशवदास को तुरंत दे दीं। तब केशवदास ने परम प्रसन्न होकर यह छंद पढ़ा—

केसवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो ;

छोरे छुट्यो नहिँ धोए धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पवारयो ।

है गया रंक ते राउ तहीं, जब वीर - बली बलवीर निहारयो ;

भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रख्यो मुख चारयो ॥ ६ ॥

तब वीरवल ने परम प्रसन्न होकर इनसे फिर कहा कि 'माँगु'। इसको केशवदास ने यों कहा है—

यों हीँ कखो जु वीरवल माँगु जु माँगन होय ;

सांग्यो तुव दरवार मैं मोहिँ न राँकै कोय ॥ ७ ॥

जब केशवदास जुर्माना माफ़ कराकर ओढ़छे गए, उसी समय से इनका बड़ा भारी मान होने लगा होगा, और तभी इन्होंने लिखा—

भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग,

जाके राज केसौदास राज - सो करत है ।

यदि इसके प्रथम इनका इतना मान होता, तो वीरवल के यहाँ यह अपने को रंक न कहते। शायद इसी समय इंद्रजीत ने इन्हें इक्कीस गाँव दिए, और एक बार प्रयाग में गंगाजी में खड़े होकर इनसे कहा कि जो चाहिए, माँग लीजिए—

इंद्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग ;

माँग्यो सब दिन एक रस कीजै कृपा सभाग ॥ ८ ॥

इससे विदित होता है कि इस समय इनकी पूरी महिमा थी। अतः इन्होंने उसका केवल स्थिर रहना माँगा। इंद्रजीत के कारण महाराजा रामसिंह भी केशवदास पर बड़ी कृपा करते थे, और इनको मंत्री तथा मित्र की भाँति मानते थे।

केशवदास के वर्णन से प्रकट होता है कि इन्होंने वरदान माँगने में धनादि की तृष्णा कभी नहीं की, और केवल प्रतिष्ठा-वर्द्धक वर माँगे। इसी समय महाराजा वीरवल काबुल के युद्ध में मारे गए। तब उनकी उदारता का वर्णन केशवदास ने यों किया—

पाप के पुंज पखावज 'कैसव', सोक के संख सुने सुषमा में ;

भूठ के भालारि भाँभ अलीक के, आवभ जूथन जानि जमा में।

भेद के भेरी, बड़े डर के डर, कौतुक भो कलि के कुरमा में ;

जूमत ही बलवीर बजे बहु दारिद के दरवार दमामें ॥ ९ ॥

केशवदास ने कवि-प्रिया में सिवा अमरसिंह तथा वीरवल के और किसी समकालीन का दान नहीं वर्णन किया, यद्यपि उसमें बहुत-से देवतों का दान कथित है। इससे जान पड़ता है, केशवदास अमरसिंह के यहाँ भी गए होंगे। अमरसिंह का हाल अभी हमें पूरा नहीं मालूम हुआ। एक अमरसिंह महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र थे। संभव है, यह कवि उनके यहाँ उदयपुर गए हों, क्योंकि इनके पूर्व-पुरुषों का भी चित्तौर के महाराणा से संबंध था।

केशवदास सं० १६४८ से १६५८ तक कवि-प्रिया तथा रामचंद्रिका बनाते रहे, और कार्तिक-सुदी ५, संवत् १६५८ वि० को बुध के दिन इन्होंने कवि-प्रिया और बुधवार, कार्तिक-सुदी १२, को रामचंद्रिका समाप्त की। फिर संवत् १६६७ में विज्ञान-गीता समाप्त हुई। केशवदास ने कवि-प्रिया में रामचंद्रिका और विज्ञान-गीता के बहुत-से छंद रखे हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्होंने या तो कवि-प्रिया समाप्त करने के पीछे भी उसमें छंद बढ़ाए, या विज्ञान-गीता भी उसी पुस्तक के साथ बनती रही, और समाप्त बहुत दिन पीछे हुई।

हमको सं० १६६७ के पीछे केशवदास के जीते रहने का कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला है। एक किंवदंती है कि इंद्रजीतसिंह के चित्त में यह भावना उठी

कि उनका दरबार बहुत ही उत्तम था, परंतु लोगों के मर जाने से वह क्षीण हो जायगा। वह सोचने लगे कि किस प्रकार यह मंडली चिरस्थायिनी हो। इस पर कहा जाता है, केशवदास ने उनको प्रेत-यज्ञ करने की सलाह दी, क्योंकि प्रेतों की आयु दस हजार वर्ष की होती है। कहते हैं, फिर वहाँ प्रेत-यज्ञ किया भी गया, और उसमें सब लोगों के साथ मरकर केशवदास भी प्रेत हो गए। इसी कारण इनको कविजन कभी-कभी 'कठिन काव्य के प्रेत' भी कहते हैं। यथा—“एकै दल-सहित बिलाने एक पल ही में, एक भए प्रेत, एक मीजि मारे हाथी ने।” इसका कारण यह भी है कि इनके प्रेत होने के अतिरिक्त इनका काव्य कठिन भी है। प्रेत-योनि में केशवदास का जी नहीं लगता था। एक बार यह महाशय एक कुएँ में बैठे थे। उसी में गोस्वामी तुलसीदास पानी भरने गए। कहते हैं, केशवदास ने उनका लोटा पकड़ लिया। जब तुलसीदास ने छोड़ने के लिये बहुत कुछ कहा-सुना, तब इन्होंने कहा कि हमें किसी प्रकार प्रेत-योनि से छोड़ाओ, तो हम लोटा छोड़ें। इस पर तुलसीदास ने इनसे कहा कि तुम अपनी वनाई हुई राम-चंद्रिका के इक्कीस पाठ कर डालो, तो तुम्हारी प्रेत-योनि छूट जाय। केशवदास को रामचंद्रिका का पहला कवित्त ही नहीं स्मरण आता था। तुलसीदास ने इन्हें वह याद दिलाया, और केशव रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ करके मुक्त हुए। इंद्रजीतसिंह का प्रेत-यज्ञ करना किसी इतिहास में नहीं लिखा है। अतः यह कथा केवल मनगढ़ंत जान पड़ती है। यह विख्यात बहुत है, इसी कारण हमने लिख दी। इन सब बातों का निष्कर्ष इतना ही है कि केशवदास तुलसीदास के पहले मरे। गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् १६८० है। अतः केशवदास ने संवत् १६७४ के लगभग शरीर छोड़ा होगा।

केशवदास के विषय में हम लोगों को इतना अवश्य ज्ञात है कि यह महाशय बुढ़े होकर मरे थे, क्योंकि यह स्वयं कहते हैं—

‘केसव’ केसनि असि करी, जैसी अरि न कराहिँ ;

चंद्रवदनि, मृगलोचनी ‘वावा’ कहि - कहि जाहिँ ॥ १० ॥

केशवदास पंडित होने पर भी पंडितों की भाँति रूखे न थे, वरन् बुढ़ापे को इस कारण बुरा समझते थे कि चंद्रवदनी स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से न देखकर बूढ़े वावा समझती थीं। फिर इंद्रजीतसिंह इनको गुरु की भाँति मानते थे, परंतु इन्होंने उनकी गणिकाओं तक का बड़े आदर के साथ वर्णन किया है, यहाँ तक कि उनका रायप्रवीन के साथ संपर्क तक वर्णन करने से इन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। उसी गणिका को इन्होंने रमा, सरस्वती और शिवा तक की समता कहने में कोई दोष न समझा—

नाचत, गावत, पढ़त सब, सबै बजावत बीन ;
 तिनमें करति कवित्त यक रायप्रवीन प्रवीन ॥ ११ ॥
 रतनाकर - पालित सदा परमानंदहि लीन ;
 अमल कमल कमनीय कर रमा कि रायप्रवीन ॥ १२ ॥
 रायप्रवीन कि सारदा सुचि रुचि वासित अंग ;
 बीना - पुस्तक - धारिनी राजहंससुत संग ॥ १३ ॥
 वृषभ - बाहिनी अंग उर वासुकि लसत प्रवीन ;
 सिव सँग सोहति सर्वदा सिवा कि रायप्रवीन ॥ १४ ॥
 सबिता जू कविता दई ता कहँ परम प्रकास ;
 ताके कारन कवि - प्रिया कीन्हों केशवदास ॥ १५ ॥

रसिक होने के अतिरिक्त केशवदास कोरे भक्त भी न थे। इन्होंने कृष्ण की शानि से उद्वेग कही है। यथा—“राहु मनो शनि अंक लिए” रसिक-प्रिया ; और रामचंद्र के विषय में यह संदेह उपस्थित कराया कि “कैधों कोऊ ठग हौ ठगोरी कीन्हें कैधों तुम हरिहर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौ।” कोरा भक्त राम की ठग से, कृष्ण की शानि से और एक गणिका की शिवा, रमा तथा शारदा से समता कभी न करता। फिर भी केशवदास को रामचंद्र का इष्ट था। यथा—“केशवदास तहीं करयो रामचंद्र जू इष्ट।”—रामचंद्रिका।

केशवदास ने कुल मिलाकर सात ग्रंथ बनाए। इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी इनके कुछ स्फुट छंद मिलते हैं। रसिक-प्रिया, विज्ञान-गीता, कवि-प्रिया, राम-चंद्रिका, वीरसिंहदेव-चरित, जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख-नामक केशव-कृत ग्रंथ अब तक ज्ञात हुए हैं।

रसिक-प्रिया। यह ग्रंथ सोमवार, कार्तिक-मुदी, संवत् १६४८ वि० को समाप्त हुआ। यह इंद्रजीतसिंह के इच्छानुसार बनाया गया, जैसा इसका नाम प्रकट करता है। इस ग्रंथ में रसिकों का रुचिकर वर्णन हुआ है, यहाँ तक कि वीर, रौद्र, वीभत्स, शांत आदि रसों तक में शृंगार-रस का पीछा नहीं छोड़ा गया। इन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश प्रायः सभी उदाहरणों में दिखाए।

नव-रस-कथन से मुख्य ग्रंथ का प्रारंभ हुआ है। फिर संयोग और वियोग एवं प्रच्छन्न और प्रकाश-शृंगार का वर्णन है। तदनंतर नायिका-जाति (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी) दिखाकर केशवदास ने चारों प्रकार के नायकों का वर्णन किया है। आपने फिर कर्मानुसार नायिका-भेद कहा है। जैसे अधिकतर कविजनों ने इस कर्म-भेद को कहा है, वैसे विस्तार के साथ आपने नहीं कहा। फिर चारों प्रकार के दर्शन (साक्षात्, श्रवण, चित्र, स्वप्न) कहकर इन्होंने हाव-

भावों का कथन किया, और इसके पश्चात् वियोग-शृंगार कहकर शेष आठो रसों का शृंगार से मिला हुआ वर्णन दिया। यह अच्छा नहीं है। अंत में चारो वृत्तियों (कैशिकी, भारती, आरभटी, सात्त्विकी) को दिखाकर कवि ने सोलहवाँ अध्याय भी समाप्त कर दिया। कवि ने गणिका को अति निध समझकर उसका वर्णन इस ग्रंथ में नहीं किया। इसमें आपने कविता के कुल अंगों का वर्णन न करके केवल भाव-भेद और रस-भेद का किया है, और वह भी विस्तार-पूर्वक नहीं। जहाँ तक हो सका है, शृंगार-रस का ही अवलंब लिया गया है। आकार में यह पद्माकर-कृत जगद्विनोद के बराबर होगा। यह केशवदास का प्रथम ग्रंथ है, अतः इसे बहुत उत्कृष्ट पाने की आशा करनी उचित नहीं। तो भी खराब नहीं है, और इनका प्रथम ग्रंथ होने पर भी भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों में इसकी गणना है।

विज्ञान-गीता। यह ग्रंथ संवत् १६६७ वि० में बना। समय के अनुसार यह केशवदास का चौथा ग्रंथ है, परंतु शोक है कि उत्तमता में यह उनके अच्छे ग्रंथों में सबसे घटकर है। इसमें इक्कीस अध्याय हैं, जिनमें बारह तक महामोह और विवेक की लड़ाई का वर्णन है। शेष नव में ज्ञान कहा गया है। प्रथम में कवि-वंश तथा राजवंश संक्षेप से हैं, और एक प्रकार से ग्रंथ की प्रस्तावना भी इसी अध्याय में आ गई है। दूसरे में काम और रति की बातचीत होती है। तीसरे में दंभ और अहंकार काशी-विजय का विचार करते हैं। इसमें पेट के दो पद्य अच्छे हैं। चौथे में महामोह सेना सजकर चलता है, और सातो द्वीपों (जिनका वर्णन विष्णुपुराण में हुआ है) एवं अवतारों को देखता है। इन अंतिम तीनों अध्यायों की कविता शिथिल है। पाँचवें में कलिनाथ और उसकी रानी की वहस होती है। छठे में कलिनाथ अपनी विजयों और चमू का वर्णन करता है, तथा रानी काशी का साहाय्य कहती है। सातवें में चार्वाक की कलि से बातचीत हुई है। आठवें में शांति एवं करुणा का वर्णन है। नवें में राजधर्म द्वारा महामोह युद्ध का उद्योग करता है, परंतु वर्षा-ऋतु के कारण लड़ाई का प्रारंभ नहीं करता। दसवें में वर्षा एवं शरद् का अच्छा वर्णन है। ग्यारहवें में तीन स्तोत्र, पुराने संस्कृत के कवियों के ढंग पर, हैं, जो श्लाघ्य हैं। उनकी टेकें निम्न-लिखित हैं—

प्रबोधो उदो देहि श्रीबिंदुमाधो।

राखि लेहु, राखि लेहु, राखि लेहु विश्वनाथ।

नमो देवि गंगे, नमो देवि गंगे।

इन तीनों स्तोत्रों द्वारा विवेक अपने देवतों को प्रसन्न करता है। बारहवें अध्याय में महामोह से विवेक का युद्ध होता है, जिसमें उसकी पराजय कथित

है। यह युद्ध बहुत ही संक्षिप्त रीति से कहा गया है। इन बारह अध्यायों में प्रथम, दशम और एकादशम को छोड़कर शेष प्रशंसनीय नहीं हैं। इनकी कथा का भाव संस्कृत के प्रबोधचंद्रोदय-नाटक से लिया गया है। तेरहवें अध्याय में माया और चौदहवें में शुकदेवजी के वर्णन हैं। पंद्रहवें में मन, शुद्धि, विवेक तथा पूजा का हाल है। यह अध्याय औरों की अपेक्षा कुछ अच्छा है। सोलहवें में राजा शिल्पिध्वज और उसकी रानी चुड़ाला की कथा योगवाशिष्ठ से लेकर कही गई है। सत्रहवें में ज्ञान-विज्ञान की भूमिका है। अठारहवें अध्याय में प्रह्लाद की कथा, उन्नीसवें में बलि-चरित्र एवं विप्र-महिमा और बीसवें में योग की सात भूमिकाएँ लिखी गई हैं। केशवदास ने अपने अंतिम (इक्कीसवें) अध्याय में सीधा-सादा काम-काज योग कहा है। यह अध्याय भी बहुत ही मनोहर है। उदाहरण-स्वरूप एक छंद नीचे लिखा जाता है—

निसि - वासर वस्तु विचारहि कै मुख-साँचु दिए करुना - धनु है ;

अघ - निग्रह, संग्रह - धमे - कथानि, परिग्रह साधुनि को गनु है ।

कहि 'केशव' भीतर जोग जगै अति बाहेर भोगनि सों तनु है ;

मन हाथ सदा जिनके, तिनको वनु ही घरु है, घरु ही वनु है ॥ १६ ॥

विज्ञान-गीता के प्रथमार्द्ध में रूपक द्वारा मनुष्य के मोह और विवेक का युद्ध दिखाया गया है। इसमें विशेष गुण बहुत कम हैं, और इसका मुख्यांश या तो शिथिल काव्य है, या साधारण। उत्कृष्ट काव्य तीन ही अध्यायों में पाया जाता है। इस ग्रंथ का द्वितीयार्द्ध प्रकाश-रूप से ज्ञान और वैराग्य का कथन करता है। केशवदास ने संस्कृत के ज्ञान-संबंधी मुख्य-मुख्य भेदों को सूक्ष्मतया कहा है, परंतु पूर्णतया किसी विभाग का वर्णन नहीं किया। इसमें साफ़-साफ़ और क्रम-बद्ध रीति से न तो गीता का ज्ञान कहा गया है, और न योगवाशिष्ठ का। कहना पड़ता है कि श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने में जो अकथनीय और अलौकिक आनंद प्राप्त होता है, उसका चतुर्थांश आनंद भी विज्ञान-गीता में नहीं मिलता। यह कहा जा सकता है कि इस विज्ञान-गीता द्वारा संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को लाभ हो सकता है, परंतु केशवदास-जैसे पंडित को ज्ञान का अधिक क्रम-बद्ध वर्णन करना चाहिए था। इनकी गीता पढ़ने से यह ध्यान में आता है कि केशवदास और व्यासदेव की कवित्व-शक्ति में पृथ्वी और आकाश का अंतर है। यदि केशवदास ने केवल विज्ञान-गीता बनाई होती, तो हम उन्हें दूसरे दर्जे का कवि कहते। भगवद्गीता पढ़ने में ज्ञान के साथ-साथ काव्य का भी पूरा आनंद आता है। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि विज्ञान-गीता में सदोष काव्य नहीं है।

कवि-प्रिया । यह ग्रंथ संवत् १६५८ वि० की कार्तिक-सुदी ५, बुधवार, को समाप्त हुआ । इसमें केशवदास ने अपने कुल एवं राजकुल का वर्णन दिया है । यह इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है । यह विचारणीय विषय है कि रामचंद्रिका इनके सब ग्रंथों में उत्तम है, या कवि-प्रिया ? ये दोनों ही ग्रंथ उत्कृष्ट हैं, परंतु हम रामचंद्रिका को कवि-प्रिया से श्रेष्ठ समझते हैं, क्योंकि इसमें आलोचन की विशेषता है । कवि-प्रिया में सत्रह अध्याय हैं । इसमें केशवदास ने साहित्य के दूषण, कवियों के गुण-दोष, कविता की जाँच, अलंकार, बारहमासा, नख-शिख और चित्र-काव्य लिखे हैं ।

प्रथम अध्याय में राजवंश एवं द्वितीय में कवि-वंश कहा गया है । तृतीय में दोषों का वर्णन है । इन्होंने लिखा है कि—

विप्र न नेगी कीजिए, मूढ़ न कीजै मित्र ;

प्रभु न कृतघ्नी सेइए, दूषण - सहित कवित्त ॥ १७ ॥

केशवदास ने पाँच मुख्य और बारह अमुख्य दूषण कहे हैं । पाँच मुख्य दूषणों में अंध (पंथ-विरोधी), वधिर (शब्द-विरोधी), पंगु (छंद-विरोधी), नग्न (अलंकार-हीन) और मृतक (अर्थ-हीन) की गणना है । द्वादश साधारण दोष ये हैं—

अगण, हीनरस, यति-भंग, व्यर्थ (अर्थ-विरोधी), अपाय (मतवालों अथवा वच्चों की-सी निरर्थक बात), कर्ण-कटु, पुनरुक्ति, देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध और आगम-विरुद्ध ।

चतुर्थ अध्याय में आपने काव्य को तीन प्रकार का कहा है—उत्तम, मध्यम और अधम । इन्होंने देव-काव्य को उत्तम, नर-काव्य को मध्यम और सदोष को अधम माना है ।

केशव ने सत्यभाषिणी, असत्यभाषिणी और सत्यासत्यभाषिणी, तीन प्रकार की कवि-मति स्थिर की है । फिर इन्होंने कविता के नियम कहे हैं । पंचम अध्याय से अलंकारों का वर्णन आरंभ हुआ है । इन्होंने अलंकारों के सामान्य और विशिष्ट, दो भेद किए हैं । सामान्य अलंकारों में आपने रंग, चित्र, गति और राजश्री का वर्णन किया है । इन सामान्य अलंकारों एवं समस्त कवि-प्रिया में इन्होंने अपना आचार्यत्व प्रकट किया है । सफेद बालों के तीन छंद उत्कृष्ट हैं । छठे अध्याय में सीता के मुख की प्रशंसा में तीन भावों में घटित होनेवाला निम्न-लिखित छंद बहुत ही बढ़िया है—

हरि - कर - मंडन, सकल दुख - खंडन,

मुकुर महि-मंडल को कहत अखंड मृति ;

परम सुवास, पुनि पीउष - निवास,
 परिपूरन प्रकास, 'कैसौदास' भू-अकास गति ।
 बदन सदन - कैसो, श्रीजू को सदन जिहि
 सोदर सुधोदर दिनेसजू को मीत अति ;
 सीताजू के मुख - सुषमा की उपमा को कहि

कोमल न कमल, अमल न रजनिपति ॥ १८ ॥

सातवें अध्याय में समुद्र, नगर, सूर्योदय, षट्भूत आदि के बहुत-से प्रकृष्ट वर्णन हैं। आठवें में राजश्री का समीचीन वर्णन किया गया है। इससे जान पड़ता है, यह राजों के बीच रहे हैं।

नवें अध्याय से विशिष्ट अलंकारों का प्रारंभ होता है। प्रायः सभी कवियों ने अलंकारों के बचन में इसी विशिष्ट विभाग का वर्णन किया है। केशवदास ने अलंकारों में अन्य कवियों की भाँति क्रम नहीं कहा, और न सब अलंकार ही कहे हैं। तेरहवें अध्याय तक इन्हीं का वर्णन हुआ है। इसमें, बहुत स्थानों में, एक-एक अलंकार को बहुत बढ़ाकर कहा है, और उसके साथ कितने ही अलंकारों के नाम ही नहीं लिए गए। बहुतों में अन्य कवियों के कहे हुए नामों के प्रतिकूल नाम इन्होंने कहे हैं। दशम अध्याय के आक्षेपालंकार में वारहमासा भी है। पंद्रहवें अध्याय में नख-शिख और सोलहवें में यमक है। इनका नख-शिख बहुत विशद बना है। सत्रहवें अध्याय में केशवदास ने चित्र-काव्य लिखा, और उसको बड़े परिश्रम से बनाया। कवि-प्रिया केशवदास का बहुत श्लाघ्य ग्रंथ है, और उन्होंने इसे वैसा ही माना भी है। आपने कहा है—

सगुन पदारथ, अरथजुत, सुवरनसय सुभ साज ;

कंठमाल ज्यों कवि - प्रिया कंठ करौ कबिराज ॥ १९ ॥

सुवरन - जटित पदारथनि भूषन भूषित मानि ;

कवि - प्रिया है कवि - प्रिया कवि - संजीवनि जानि ॥ २० ॥

केशवदास ने अपने किसी और ग्रंथ की इतनी प्रशंसा नहीं की। जैसे रसिक प्रिया वास्तव में रसिक-प्रिया है, वैसे ही कवि-प्रिया भी सचमुच कवि-प्रिया है। केशवदास ने अपना पूरा आचार्यत्व इस ग्रंथ में प्रकट कर दिया है। इसको पढ़ने से मनुष्य कविता का विषय बहुत कुछ जान सकता है। कविता के जिज्ञा-सुत्रों को काव्य सीखने में यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। यह इंद्रजीत की गणिका रायप्रवीन के लिये बना। इसमें शृंगार-रस को कवि ने बहुत कम रखा, और बहुत-से विषयों पर कविता की। फिर भी इसे प्रधानतः अलंकारों का ग्रंथ कहना चाहिए; क्योंकि अलंकारों के अतिरिक्त इसमें गुण-दोष, षट्भूत और नख-शिख

के सिवा कुछ नहीं कहा गया। केशवदास के पूर्व हिंदी में केवल कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति-कविता की थी, सो भी इनकी महत्ता से बहुत पीछे। रीति-काव्य में आपने दंडी तथा रुच्यक का अनुसरण किया था, न कि अप्पय्य और विश्वनाथ का, जैसा कि इनके पीछेवाले बहुतेरे आचार्यों ने किया। विश्वनाथ ने १५वीं शताब्दी में साहित्य-दर्पण रचा। आप पूर्वी बंगाली थे। कवि-प्रिया ग्रंथ कुल मिलाकर बहुत विशद बना, और इसी से केशवदास को भाषा-काव्य में आचार्य की पदवी मिली है।

रामचंद्रिका। इस ग्रंथ को केशवदास ने सं० १६५८ वि०, कार्तिक-सुदी १२, बुधवार को समाप्त किया। इसे इंद्रजीतसिंह ने बनवाया। कवि-प्रिया की भाँति रामचंद्रिका भी बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें इन्होंने रामचंद्र की कथा कही। यह ग्रंथ उतालीस अध्यायों में समाप्त हुआ है। केशवदास ने रामचंद्र की उत्पत्ति के उपरान्त कथा का आरंभ किया है। इन्होंने राम की बाल-लीला बिलकुल नहीं कही। आपको बाल्मीकि ने स्वप्न में राम-यशोगान करने का उपदेश दिया। उसी समय से इन्होंने रामचंद्र को इष्टदेव माना। विश्वामित्र के अयोध्या-प्रवेश के साथ केशवदास ने अयोध्या का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। इसको पढ़ने से जान पड़ता है कि राजों की सभा कैसी होती है। तुलसीदास ने महाराजा और साधारण राजा की सभा में बहुत कम अंतर रक्खा है, परंतु केशवदास नित्य सभाएँ देखते थे। वह इसमें गलती कैसे करते? इन्होंने विमति से सीता-स्वयंवर में एक शंका उठाई है, परंतु उसका कोई उत्तर नहीं दिलवाया—

रावन, वान महाबली, जानत सव संसार;
जो दोऊ धनु कर्षि हैं, ताको कहा बिचार ? ॥ २१ ॥

यह शंका उठनी न चाहिए थी, क्योंकि जो व्यक्ति पहले धनुष चढ़ाता, जनकवाले प्रण के अनुसार, उसी को जानकीजी ब्याह दी जातीं, और प्रण पूर्ण हो जाता। फिर उसके पीछे चाहे सैकड़ों मनुष्य धनुष चढ़ाया करते, परंतु उनसे और राजा जनक के प्रण से कोई संबंध न होता। रावण के धनुष न उठा सकने पर उसका बाण से यह बहाना करना कि “मैं तो इसे आजमा चुका, और पल-भर में उठा लूँगा, अब कुछ आप भी तो उठाकर देखिए,” बड़ा ही अच्छा है। वैसे ही बाण का बहाना भी देखने योग्य है। केशवदास कथा के अमुख्य वर्णनों के लिये न ठहरकर तुरंत मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं। यह इनमें बड़ा गुण है। इन्होंने जेवनार में गाली बड़ी ही चटकीली गवाई, परशुराम से राम के भगड़े का महादेव को बुलाकर बहुत अच्छा निवटारा करा दिया, और जब भरत

राम को वन से फेरने गए, उस समय उनको भागीरथी से समझवा दिया। यह भी भगड़ा मिटाने का अच्छा ढंग है, यद्यपि इस स्थान पर तुलसीदास का काव्य अपूर्व आनंद देता है। केशवदास ने विभीषण की कठोर बातों पर रावण को क्रोधित कराया है। जब अंगद रावण से बसीठी करने गए थे, उस समय रावण ने उन्हें मिला लेने का पूरा प्रयत्न किया। रावण के योद्धाओं का बड़ा अच्छा परिचय दिया गया है। जब उसने कुंभकर्ण से कठोर बात कही, तब मंदोदरी ने अपने तीनों लड़कों को पुकारकर कहा कि “तुम्हारे पिता भाइयों से भिड़ते हैं, तुम उन्हें क्यों नहीं समझाते?” इसके पीछे उसने कुंभकर्ण की बड़ी प्रशंसा की। यह वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम है। मंदोदरी का वानरों से डरकर चित्रशाला में भागना तथा अंगद द्वारा उसकी दुर्गति होने पर रावण का यत्न छोड़ देना, परम स्वाभाविक है। इन सब वर्णनों की उत्तमता देखकर केशवदास की अपूर्व कवित्व-शक्ति की जितनी बड़ाई की जाय, थोड़ी है। सीता का अग्नि के अंक में रामचंद्र के पास जाना भी खूब बढ़िया है। रामचंद्र ने वानरों आदि का वशिष्ठ से परिचय कराने में भी बहुत विशद रीति का अनुगमन किया है। हनुमान् के विषय में उन्होंने कहा—

सीता पाई, रिपु हत्यो, देख्यो तुम अरु गेहु ;

रामायण जय - सिद्धि की कपि सिर टीका देहु ॥ २२ ॥

इसके पीछे रामचंद्रिका की कविता कुछ शिथिल पड़ गई है। रामचंद्र ने दो अध्यायों में राजश्री की निंदा की। इसके पीछे उनका राज्याभिषेक हुआ। ऐसे समय राजश्री की निंदा अयुक्त जान पड़ती है। अभिषेक में केशवदास ने राजसी ठाट अच्छा दिखाया है। अभिषेक के पीछे अंगद ने रामचंद्र से कहा कि “अब मैं रघुवंशियों से लड़कर अपने बाप का बदला लेना चाहता हूँ।”

रामचंद्र ने कहा—

कोऊ मेरे वंस में तोसों करिहै जुद्ध ;

तव तेरो मन होइगो अंगद सोसों सुद्ध ॥ २३ ॥

केशवदास ने भी गोसाईंजी की भाँति भरत का स्वभाव एवं उनका पद बहुत ऊँचा दिखलाया है। चौगान का वर्णन अच्छा है। केशवदास ने ओढ़छे के नौचौकिया-महल के मुक्काबले में रामचंद्र के यहाँ पाँच चौकें लिखी हैं। राज-प्रासाद के वर्णन में भी इन्होंने दिखा दिया है कि कवि ऐसे-ऐसे पदार्थ देखता रहा है। केशव की कविता में राम के राजसी गुण खूब प्रकट हुए हैं। जल-केलि, उपवन आदि के वर्णन एवं दूत की कटु बात का साफ़-साफ़ न कहलाना अच्छा हुआ। श्वान की फ़र्याद में मठपतियों की निंदा है। सीता-त्याग से कथा और

कविता फिर बहुत उत्कृष्ट हो गई है। इसके पीछे लवणासुर का वध कहा गया है। वह ब्राह्मणों को सताता था, अर्थात् हिंदू-सभ्यता का विरोधी था। शत्रुघ्न ने उसे युद्ध-घोषणा के प्रथम अंतिम संदेश यह कहला भेजा—

महाराज श्रीराम हैं क्रुद्ध तोसों ;
तजौ देस को कै सजौ जुद्ध मोसों ॥ २४ ॥

लवणासुर यदुवंशी-नरेश मधु का पुत्र था न कि असुर। उसका नर-भन्दी होना बेजा कहा गया है। यह भूल केशव की ही न होकर पुराणकारों की भी है।

जब रामचंद्र ने लव-कुश को युद्धोन्मुख देखा, तब अंगद से कहा—

अंगद जीति इन्हैं गहि ल्याओ ;
कै अपने बल मारि भगाओ ।
वेगि बुझावहु चित्त - चिंता को ;
आज तिलोदक देहु पिता को ॥ २५ ॥

अंगद की मनोकामना भी बड़ी ही स्वाभाविक थी। इसी प्रकार गुरु गोविंद-सिंह को पितृहंता समझकर उनके दो मुसलमान विश्वास-पात्र सैनिकों ने उन पर प्रहार किया।

जब लव-कुश लक्ष्मण तक को जीत चुके, और हनुमान् भरत के साथ युद्ध को गए, तब उन्होंने बड़ा ही स्वाभाविक आश्चर्य प्रकट किया—

नाम-वरन लघु, वेष लघु, कहत रीझि हनुमंत ;
इतो बड़ा विक्रम कियो, जीत्यो समर अनंत ॥ २६ ॥

यहाँ शत्रु पर भी हनुमान् का रीझना बड़ा ही स्वाभाविक है, क्योंकि सच्चा शूर ही संच्चे शूर के विक्रम पर रीझ सकता है, और वह अवश्य रीझेगा, उसका चाहे जितना बड़ा अपकार हो गया हो।

शायद विना विभीषण की लेथाड़वाज़ी के कोई रामायण पूर्ण नहीं कही जा सकती, परंतु खेद है कि हमारे यहाँ केशव के सिवा संस्कृत तक के कवियों को यह न सूझा कि विभीषण ने कोई बुरा काम भी किया, या नहीं। सब कवियों ने उसकी इसी कारण बड़ी भारी प्रशंसा की कि वह रामचंद्र का भक्त था, परंतु उसके प्रचंड दोष पर उन्होंने ध्यान न दिया। यह सत्य है कि यदि कोई उसके राज्ञी कर्म की तीव्र आलोचना करता, तो शायद थानेश्वर और पानीपत में पृथ्वीराज और राणा साँगा को अपने अनुयायियों के उसी राज्ञी व्यवहार के कारण पराजय का असह्य और घातक दुःख न सहना पड़ता। जब आर्यों और अनार्यों का घोर युद्ध होने को था, उस समय यह दृढ़-हृदय विभीषण रावण के थोड़े-से अनादर से न केवल उसको, वरन् सब राज्ञी (द्रविड़ों)

के पक्ष को छोड़कर उन्हीं के मूलोच्छेदन में प्रवृत्त हुआ ! फिर अपने सगे भाई-भतीजों तक को अपने सम्मुख मरवा डालने में भी इस राजसाधम को तनिक पश्चात्ताप न आया । यह बराबर उनके मारे जाने की तरकीबें रामचंद्र को बताता गया । केशवदास राजों में रहते थे, और प्रत्येक मनुष्य के अपने देश तथा कुल की रक्षा के कर्तव्य एवं धर्म को खूब समझते थे । अतः उन्होंने लव द्वारा विभीषण का इन शब्दों में उपहास कराया—

तव दौरिकै वान विभीषन लीन्हों ;
 लव ताहि विलोकत ही हँसि दीन्हों ॥ २७ ॥
 लव—आउ विभीषन तू रन - दूषन ;
 एक तुही कुल को कुल - भूषन ॥ २८ ॥
 जूझि जुरे, जे भले भए जी के ;
 सत्रुहि आइ मिले तुम नीके ॥ २९ ॥
 देवबधू जवहीं हरि ल्यायो ;
 क्यों तवहीं तजि ताहि न आयो ? ॥ ३० ॥
 यों अपने जिय के डर आए ;
 छुद्र, सबै कुल - छिद्र बताए ॥ ३१ ॥
 जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता-समान ;
 ताकी तैं पतिनी करी पतिनी मातु - समान ॥ ३२ ॥
 को जानै कै वार तू कही न ह्वै है माय ;
 सो तैने पतिनी करी सुनु पापिन के राय ॥ ३३ ॥
 सिगरे जग माँझ हँसावत है ;
 रघुवंसिन पाप नसावत है ॥ ३४ ॥
 धिक तो कहँ, तू अजहँ जु जियै ;
 खल, जाय हलाहल क्यों न पियै ? ॥ ३५ ॥
 कछु है अब तो कहँ लाज हिए ;
 कहि कौन विचार हथ्यार लिए ॥ ३६ ॥
 अब जाइकै रोष कि आगि जरौ ;
 गरु बाँधिकै सागर वूड़ि मरौ ॥ ३७ ॥
 कहा कहाँ हौं भरत को जानत है सब कोइ ;
 तो सो पापी संग मैं, क्यों न पराजय होइ ॥ ३८ ॥

अंत में राम ने आठो पुत्रों और भतीजों को अपना सब राज्य बाँटकर उनको नीति का उपदेश दिया । केशवदास ने रामचंद्र की स्वर्ग-यात्रा का

वर्णन नहीं किया। रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और उसके लक्षण भी उसमें मिलते हैं।

केशवदास ने पात्रों के शील-स्वभाव का भी अच्छा वर्णन किया है। इन्होंने भरत को विलकुल दबू भाई नहीं दिखलाया। जैसे सब छोटों में वह बड़े थे, वैसे ही उनका महत्त्व भी अच्छा दिखाया गया है। जब राम ने भरत से सीता को छोड़ आने के लिये कहा, तब उन्होंने स्वयं रामचंद्र से यह कहा—

वै माता, वैसे हूँ पिता, तुम - सो भैया पाइ ;

भरत भए अपवाद वो भाजन भूतल आई ॥ ३६ ॥

जब लव-कुश ने उनके दो भाइयों को मार डाला, तब भरत ने कहा—

बालक रावन के न सहायक ;

ना लवनासुर के हित लायक ।

हैं निज पातक-वृच्छन के फल ;

मोहत हैं रघुवंसिन के दल ॥ ४० ॥

सत्रुघ्न तज्यो तन सोदर - लाजनि ;

पूत भए तजि पाप समाजनि ।

हमहूँ तेहि तीरथ जाइ मरैगें ;

सतसंगति-दोष असेष हरैगें ॥ ४१ ॥

इतना जानना ही चाहिए कि लव-कुश का राम के प्रतिकूल युद्ध अनैतिहासिक है।

रामचंद्रिका ग्रंथ भाषा-काव्य का शृंगार है। हिंदी-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रंथ एक भी नहीं है। इस ग्रंथ में, गणना में, कवि-प्रिया से अधिक प्रकृष्ट छंद नहीं हैं ; परंतु इसमें एक पूज्य कथा भी वर्णित है, इसी कारण इसकी रोचकता बहुत बढ़ गई है। इसे एक बार उठा लेने से रामचंद्र के लंका जीतकर अयोध्या लौटने तक का हाल पढ़ लिए बिना पुस्तक रख देने को चित्त ही नहीं चाहता। इस ग्रंथ में केशवदास छंद इतनी शीघ्रता से बदलते गए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते। हिंदी-साहित्य में कथा-प्रसंग-वर्णन करने की छंदानुसार दो प्रणालियाँ हैं, एक तो गोसाँजी की भाँति दोहे-चौपाइयोंवाली, और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छंदोंवाली। प्रथम प्रकार में काव्य बहुत उत्कृष्ट न होने पर वर्णन रोचक नहीं रहता, परंतु द्वितीय प्रथा में, साहित्य की विशेष उत्तमता न होने पर भी, कथा उतनी शीघ्र अरुचिकर नहीं होती। यह द्वितीय प्रथा केशवदास ने इसी ग्रंथ द्वारा चलाई है।

केशवदास मध्यकालीन हिंदी-कविता के प्रायः अरुणोदय-काल में हुए।

अतः इन्होंने एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पीछे रीति-ग्रंथ बनाने की भी परिपाटी-सी चल पड़ी। हाल ही में यह छूट भी गई है।

कथा-वर्णन करने की भी दो प्रथाएँ हैं; एक तो संस्कृत के कवियों की भाँति, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति। इन दोनों का अंतर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलावेंगे। संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे, तो वे उसकी लंबाई का, बजुल्ले का, कलाई की गठन का और अँगुठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे; किंतु यदि गोसाईंजी भुजा का कथन करेंगे, तो शायद इन बातों का वर्णन न हो, परंतु बाहु-मूल से लगाकर उँगलियों के नखों तक का, विना उपमा-रूपक आदि के, सीधा-सादा रूप, एक-एक रोम-पर्यंत, दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे, सूर्योदय, समुद्र, गंगा की तरंगों आदि पर अधिक रुझान रखेंगे, नायकों के काव्य-संबंधी चुटुले भाव सुझानेवाले छोटे-छोटे कमा तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखावेंगे, और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामीजी इन बातों पर विशेष ध्यान न देंगे, किंतु मुख्य कथा को सांगोपांग, बड़े विस्तार से, कहेंगे। यदि नैषध को पढ़िए, तो कहीं-कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ़ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है; परंतु तुलसीदास की कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ़ रहे हैं। सच्चेपतः हम इन दोनों को काव्य-संबंधी और कथा-संबंधी प्रथाएँ कहेंगे। महाकवि केशवदास ने इसी काव्य-प्रथा में रामचंद्रिका कही है। ये हिंदी में भी स्थिर हैं, और अपने-अपने ढंग पर दोनों अच्छी हैं। रामचंद्रिका में संस्कृत के बहुतेरे श्लोकों के अनुवाद होने से इसकी मौलिकता में कमी है। आपके यहाँ अलंकारों, विचित्र कथनों आदि का तो प्राचुर्य है, किंतु रस-परिपाक बहुत ऊँचे दरजे का नहीं है। बहुत स्थानों पर आपने हनुमन्नाटक, कादंबरी, अनर्घ राघव आदि के अनुवाद रख दिए हैं। कथा में भी बहुत जगहों पर उसकी डोर छोड़कर कूद-सा गए हैं, जिससे सामंजस्य यथोचित न होकर ग्रंथ विविध विषयों के वर्णनों का संग्रह-सा देख पड़ने लगता है। तो भी रामचंद्रिका में आरोचन की मात्रा का अच्छा प्राचुर्य है।

केशवदास का बनाया हुआ वीरसिंहदेव पर भी एक ग्रंथ है। जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख, ये इनके और दो ग्रंथ हैं।

वीरसिंहदेव-चरित्र देखा गया, तो प्रायः दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रणाली का ग्रंथ पाया गया। इसकी रचना उत्तमता में साधारण है। प्रकाशित भी हो चुका है।

अब हम यथाशक्ति केशवदास की कविता के गुण-दोष दिखाने का प्रयत्न करते हैं—

आप गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन कवि थे। उस समय तक भाषा-साहित्य स्थिर नहीं हुआ था। इसी कारण पंडित-समाज में इसकी कविता आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। अतः ये दोनों कवि (हिंदी) 'भाषा' में काव्य करते कुछ हिचकते या शरमाते-से थे। गोस्वामीजी ने लिखा है—

भाषा भनिति मोरि मति थोरी; हँसिवे-जोग, हँसे नहिँ खोरी।

इसी प्रकार केशवदास ने कहा है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति सठ कवि केसवदास ;

रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास ॥ ४२ ॥

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास ;

भाषा - कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास ॥ ४३ ॥

शायद इसी भाषा-कवि होने की ग्लानि के कारण इन दोनों कवियों ने यत्र-तत्र श्लोक भी बनाए हैं। केशवदास की भाषा व्रज-भाषा थी, परंतु कहीं-कहीं बुँदेलखंडी शब्द भी इसमें मिल गए हैं। आपकी कविता में संस्कृत के शब्द बहुतायत से आते थे। इसी कारण उसमें कहीं-कहीं श्रुति-कटु शब्द भी आ गए हैं। संस्कृत-शब्दों में मिलित वर्ण बहुत-से होते हैं, किंतु हिंदी में अधिकतर ऐसे ही वर्ण श्रुति-कटु समझे जाते हैं। केशवदास शब्दों की योजना में कर्ण-कटु नहीं मानते। इनके मत में जब अर्थ-योजना ऐसी हो कि वह कहने में अच्छी न लगे, तब कर्ण-कटु दूषण होता है। यथा—

कहत न नीको लागई सो कहिए कटु - कर्न ;

केसवदास कवित्त में भूलि न ताको वर्न ॥ ४४ ॥

वारन वन्यो वनावतनि सुवरन वली बिसालु ;

चढ़िए राज मँगाइ कै मानौ राजतु कालु ॥ ४५ ॥

इस उदाहरण में एक भी शब्द कर्ण-कटु नहीं है, परंतु अर्थ में श्रुति-कटु दोष अवश्य है। इस बात के होते हुए भी केशवदास की भाषा बहुत श्लाघ्य है। दो-चार चुने-चुने आचार्यों को छोड़कर और किसी की भी भाषा इनसे श्रेष्ठ नहीं है। बहुत लोग समझते हैं कि इनकी कविता में ओज-गुण अधिकता से है, परंतु इनकी प्रायः समस्त कविता पढ़कर हम यही कहेंगे कि उसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों की ही प्रधानता है। इनकी भाषा के उदाहरण-स्वरूप एक छंद हम नीचे देते हैं—

सोभित मंचन की अवली गज - दंतमयी छवि उज्ज्वल छाई ;
 इस मनौ वसुधा में सुधारि सुधाधर - मंडल मंडि जुन्हाई ।
 ता महुँ 'केसवदास' विराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
 देवन सों मिलि देव-सभा जुनु, सीय स्वयंवर देखन आई ॥ ४६ ॥

आपने कथावाले ग्रंथों में छंद बहुत शीघ्र बदले । इस कारण इनकी राम-चंद्रिका और भी सुहावनी हो गई है । रीति और रस-ग्रंथों में इन्होंने प्रायः लक्षण आदि दोहों में और उदाहरण सवैयों अथवा डंडकों में कहे । यह रीति इन्हीं की चलाई हुई है । वाद को भाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका अनुकरण किया । केवल कथा-प्रसंगवाले कवियों में से बहुतों ने गोस्वामी तुलसीदास के मार्ग पर चलकर दोहे-चौपाइयों में ही कविता की ।

इन्होंने तुकांत में बड़ी कड़ाई नहीं रखी । कई स्थानों पर सवैए के दो पदों में एक प्रकार के तुकांत रखे हैं, और शेष दो में त्रिलकुल दूसरे प्रकार के (रामचंद्रिका, अध्याय सातवाँ, छंद चौतीसवाँ; अध्याय चौबीसवाँ, छंद बाईसवाँ; अध्याय उतालीसवाँ, छंद छत्तीसवाँ देखिए) । विज्ञान-गीता में भी एक स्थान पर 'साधु' का दूसरा तुकांत 'करालु' रखा (पृष्ठ १६वाँ देखिए) । इसी प्रकार कई स्थानों में किया । इससे प्रकट होता है कि आप तुकांत को अधिक नहीं मानते थे, परंतु इनके पीछे बहुतेरे कवियों ने इस स्वच्छंदता को स्थिर नहीं रखा । भाषा में तुकांत-हीन पद लिखने में कोई दोष नहीं, परंतु अभी इसे बहुत कम लोग मानते हैं । हाल में हमारे यहाँ तुकांत-हीन कविता भी होने लगी है ।

केशवदास को अनुप्रास का इष्ट न था, जैसा कि इनके बनाए हुए पूर्वोक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा, परंतु कभी-कभी एक-आध अनुप्रास-पूर्ण पद्य भी यह लिख देते थे । यथा—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
 निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, जग-जीव जतीन की छूटी तटी ।
 अव-ओघ कि बेरी कटी विकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी ;
 चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी जटी पंचवटी ॥ ४७ ॥

इस छंद को इन्होंने 'एषा पंचवटी' इत्यादि श्लोक देखकर बना दिया होगा । आपकी कविता में अलंकार बहुतायत से आए हैं, परंतु पूर्ण रसों के उदाहरण इनकी या बहुत, से कवियों की कविता में अधिकता से नहीं पाए जाते हैं । इन्होंने परिसंख्यालंकार बहुत स्थानों पर लिखा है ('मूलन ही को जहाँ अधोगति केसव गाइय' इत्यादि) । राम-राज्य का वर्णन विशेषकर परिसंख्यालंकार ही में हुआ है ।

उपमा, रूपक और दृष्टांत भी अधिकता से इनके काव्य में पाए जाते हैं। विज्ञान-गीता में रसों और अलंकारों के साफ उदाहरण बहुत कम आए हैं।

केशवदास की कविता में उत्तमोत्तम छंदों का बाहुल्य है। प्रायः प्रत्येक विषय पर इन्होंने उत्कृष्ट कविता की, और वह हरएक विषय पर सराहनीय है। केशवदास को भाषा का 'मिल्टन' कहना चाहिए। इन दोनों कवियों का पांडित्य और काव्य अत्यंत सराहनीय है, परंतु शेक्सपियर और तुलसीदास एवं सूरदास की कविता के बराबर इनकी कविता नहीं पहुँचती। जहाँ केशवदास ने प्रत्येक विषय पर विशद काव्य किया है, वहाँ यह भी कहना पड़ता है कि इनकी कविता किसी स्थान पर ऐसी नहीं है कि वैसी रचना कोई दूसरा कवि न बना सका हो। कोई भी बिना तन्मय हुए अद्वितीय काव्य नहीं बना सकता। हमारे कवियों में सूरदास, तुलसीदास, देव, विहारीलाल, भूषण आदि एक-एक विषय में आसक्त थे। अतः उस-उस विषय पर उन्होंने ऐसी उत्तम, सच्ची कविता की है, जैसी किसी भाषा का कोई भी कवि उस विषय पर नहीं लिख सका। केशवदास किसी विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः इनकी कविता ऐसी कहीं नहीं हुई, जिससे जान पड़े कि मानो कवि तन्मय होकर कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान् थे, परंतु स्वभाव से कवि न थे। तो भी, अद्वितीय न होने पर भी, इनकी कविता ऊँचे दर्जे की है, और हम सूरदास, तुलसीदास, भूषण, विहारी और देव के अतिरिक्त इनको किसी हिंदी-कवि से नीचा पद नहीं दे सकते।

केशवदास ने बहुत बातों के बड़े ही हृदयग्राही कथन किए हैं। निम्न-लिखित विषयों के वर्णन विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं—

अयोध्या, स्वयंवर, सूर्योदय, राम-विवाह, परशुराम और राम का संवाद, भरत की सेना, वर्षा, लंकादाह, उपवन, रामाश्वमेध की चमू (रामचंद्रिका में) तथा वर्षा और शरत् का वर्णन (विज्ञान-गीता में)।

केशवदास सदैव महाराजों में रहे, अतः इन्होंने बड़े आदमियों की बातचीत और उनके साज-सामान का बहुत ही ठीक, यथा-योग्य, वर्णन किया। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है), सीता और हनुमान् का इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणांगद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं में होना असंभव है। इस विषय में वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियों और राजों की बातचीत में ऋषियों के मान पर सदैव

सोभित मंचन की अवली गज - दंतमयी छवि उज्ज्वल छाई ;
 ईस मनौ वसुधा में सुधारि सुधाधर - मंडल मंडि जुन्हारि ।
 ता महुँ 'केशवदास' विराजत राजकुमार सबै सुखदारि ;
 देवन सों मिलि देव-सभा जनु, सीय स्वयंवर देखन आई ॥ ४६ ॥

आपने कथावाले ग्रंथों में छंद बहुत शीघ्र बदले । इस कारण इनकी राम-चंद्रिका और भी सुहावनी हो गई है । रीति और रस-ग्रंथों में इन्होंने प्रायः लक्षण आदि दोहों में और उदाहरण सबैयों अथवा दंडकों में कहे । यह रीति इन्हीं की चलाई हुई है । बाद को भाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका अनुकरण किया । केवल कथा-प्रसंगवाले कवियों में से बहुतों ने गोस्वामी तुलसीदास के मार्ग पर चलकर दोहे-चौपाइयों में ही कविता की ।

इन्होंने तुकांत में बड़ी कड़ाई नहीं रखी । कई स्थानों पर सबैए के दो पदों में एक प्रकार के तुकांत रखे हैं, और शेष दो में बिलकुल दूसरे प्रकार के (रामचंद्रिका, अध्याय सातवाँ, छंद चौतीसवाँ; अध्याय चौबीसवाँ, छंद बाईसवाँ; अध्याय उतालीसवाँ, छंद छत्तीसवाँ देखिए) । विज्ञान-गीता में भी एक स्थान पर 'साधु' का दूसरा तुकांत 'करालु' रक्खा (पृष्ठ १६वाँ देखिए) । इसी प्रकार कई स्थानों में किया । इससे प्रकट होता है कि आप तुकांत को अधिक नहीं मानते थे, परंतु इनके पीछे बहुतेरे कवियों ने इस स्वच्छंदता को स्थिर नहीं रक्खा । भाषा में तुकांत-हीन पद लिखने में कोई दोष नहीं, परंतु अभी इसे बहुत कम लोग मानते हैं । हाल में हमारे यहाँ तुकांत-हीन कविता भी होने लगी है ।

केशवदास को अनुप्रास का इष्ट न था, जैसा कि इनके बनाए हुए पूर्वोक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा, परंतु कभी-कभी एक-आध अनुप्रास-पूर्ण पद्य भी यह लिख देते थे । यथा—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
 निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, जग-जीव जतीन की छूटी तटी ।
 अघ-ओघ कि बेरी कटी विकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी ;
 चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी जटी पंचवटी ॥ ४७ ॥

इस छंद को इन्होंने 'एषा पंचवटी' इत्यादि श्लोक देखकर बना दिया होगा । आपकी कविता में अलंकार बहुतायत से आए हैं, परंतु पूर्ण रसों के उदाहरण इनकी या बहुत, से कवियों की कविता में अधिकता से नहीं पाए जाते हैं । इन्होंने परिसंख्यालंकार बहुत स्थानों पर लिखा है ('मूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय' इत्यादि) । राम-राज्य का वर्णन विशेषकर परिसंख्यालंकार ही में हुआ है ।

उपमा, रूपक और दृष्टांत भी अधिकता से इनके काव्य में पाए जाते हैं। विज्ञान-गीता में रसों और अलंकारों के साफ उदाहरण बहुत कम आए हैं।

केशवदास की कविता में उत्तमोत्तम छंदों का बाहुल्य है। प्रायः प्रत्येक विषय पर इन्होंने उत्कृष्ट कविता की, और वह हरएक विषय पर सराहनीय है। केशवदास को भाषा का 'मिल्टन' कहना चाहिए। इन दोनों कवियों का पांडित्य और काव्य अत्यंत सराहनीय है, परंतु शेक्सपियर और तुलसीदास एवं सूरदास की कविता के बराबर इनकी कविता नहीं पहुँचती। जहाँ केशवदास ने प्रत्येक विषय पर विशद काव्य किया है, वहाँ यह भी कहना पड़ता है कि इनकी कविता किसी स्थान पर ऐसी नहीं है कि वैसी रचना कोई दूसरा कवि न बना सका हो। कोई भी बिना तन्मय हुए अद्वितीय काव्य नहीं बना सकता। हमारे कवियों में सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारीलाल, भूषण आदि एक-एक विषय में आसक्त थे। अतः उस-उस विषय पर उन्होंने ऐसी उत्तम, सच्ची कविता की है, जैसी किसी भाषा का कोई भी कवि उस विषय पर नहीं लिख सका। केशवदास किसी विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः इनकी कविता ऐसी कहीं नहीं हुई, जिससे जान पड़े कि मानो कवि तन्मय होकर कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान् थे, परंतु स्वभाव से कवि न थे। तो भी, अद्वितीय न होने पर भी, इनकी कविता ऊँचे दर्जे की है, और हम सूरदास, तुलसीदास, भूषण, बिहारी और देव के अतिरिक्त इनको किसी हिंदी-कवि से नीचा पद नहीं दे सकते।

केशवदास ने बहुत बातों के बड़े ही हृदयग्राही कथन किए हैं। निम्न-लिखित विषयों के वर्णन विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं—

अयोध्या, स्वयंवर, सूर्योदय, राम-विवाह, परशुराम और राम का संवाद, भरत की सेना, वर्षा, लंकादाह, उपवन, रामाश्वमेध की चमू (रामचंद्रिका में) तथा वर्षा और शरत् का वर्णन (विज्ञान-गीता में)।

केशवदास सदैव महाराजों में रहे, अतः इन्होंने बड़े आदमियों की बातचीत और उनके साज-सामान का बहुत ही ठीक, यथा-योग्य, वर्णन किया। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है), सीता और हनुमान् का इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणांगद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं में होना असंभव है। इस विषय में वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियों और राजों की बातचीत में ऋषियों के मान पर सदैव

ध्यान रखते थे । । इन्होंने कहीं-कहीं अनुपयुक्त कथन भी कर दिए हैं । रावण का दूत रामचंद्र से कुछ कहने के लिये उनके पास भेजा गया था । उसने लौटकर रावण से रामचंद्र का वर्णन निम्न-लिखित दंडक द्वारा किया—

भूतल के इंद्र भूमि बैठे हुते रामचंद्र
मारिच - कनक - मृगछालहिँ बिछाए जू;
कुंभहर कुंभकर्न - नासाहर गोद - सीस
चरन अक्षप - अच्छ - अरि-उर लाए जू ।
देवांतक, नरांतक त्यों ही मुसक्यात बीर
बिभीषन बैन तन कान रुख बाए जू;
मेघनाद मकराच्छ महोदर - प्रानहर

बान त्यों बिलोकत परम सुख पाए जू ॥ ४८ ॥

यह छंद सुनकर केशवदास के रावण को कुछ भी क्रोध नहीं आया । ऐसे कटु वाक्य केशवदास भले ही कहें, परंतु स्वयं रावण का दूत रावण ही से ऐसा कहकर अपने प्राण गँवाए बिना कभी न बचता । ऐसी-ऐसी बातें हमारे कवियों ने भक्ति-भाव के कारण, रावण को जलील करने के लिये, कहलाई हैं; परंतु उन्होंने यह नहीं सोचा कि ये बातें संभव और संगत भी हैं, या नहीं ?

केशवदास ने, जहाँ तक हो सका है, सनाढ्यों की बड़ी बड़ाई की है । ये बातें इनके-से महाकवि के मुख से शोभा नहीं पाती ।

आपने सीता के छोड़े जाने के कुछ ही पहले जो सीता और राम का वार्तालाप कराया है, उसमें काल-विरुद्ध दूषण है । वह ऐसी ही बातचीत है, जैसी आजकल की यहाँ की स्त्रियाँ अपने पतियों से करती हैं, परंतु उस समय स्त्रियों का पद यहाँ भी वैसा ही था, जैसा आजकल योरप में है । इस विषय में भवभूति-कृत उत्तर-राम-चरित्र देखने योग्य है ।

केशवदास ने कवि-प्रिया में पृथ्वी को त्रिकोण कहा है (छठा अध्याय) । वास्तव में यह आकार भारत का है । जैसा कि सब जानते हैं, पृथ्वी गोल है । इससे अनुमान होता है कि केशवदास ज्योतिष अच्छी तरह नहीं जानते थे ।

महर्षि विश्वामित्र का राज्ञसों द्वारा यज्ञ में विघ्न करने से पीड़ित होना एक आश्चर्य की बात है । यह संदेह उठता है कि ऋषि लोग तो शाप से ही अपना काम चला लेते थे, तब विश्वामित्र शाप से काम न लेकर अयोध्या क्यों दौड़े आए ? इसका उत्तर कुछ प्राचीन ग्रंथों ने दे दिया है । विश्वामित्र ने कई बार क्रोध करके अपनी तपस्या का फल खो दिया था, अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि क्रोध न करेंगे । बिना क्रोध के शाप नहीं दिया जा सकता, इस कारण

वह शाप भी नहीं दे सकते थे । गोस्वामी तुलसीदास ने इस बात को बचाकर विश्वामित्र को क्रोध के वश नहीं कराया, परंतु केशवदास ने कह दिया—

जान्यो विस्वामित्र के क्रोध बस्यो उर आय ;

राजा दसरथ सों कह्यो वचन बसिष्ठ बनाय ॥ ४६ ॥

आजकल हमारे यहाँ तीर्थ-स्थान और प्रतिमा बहुत माननीय हैं, परंतु केशवदास संभवतः इन दोनों बातों के कुछ प्रतिकूल थे । इन्होंने गोदावरी के विषय में लिखा है—

रीति मनो अविवेक कि थापी ; साधुन की गति पावत पापी ।

इन्होंने रामचंद्रिका में गंगासागर से सत्संग को बड़ा बतलाया है, और विज्ञान-गीता में लिखा है—

चित्त न तजत विकार न्हात जद्यपि नर गंगा ।

फिर इसी ग्रंथ में कहा है कि प्रतिमा-पूजन शूद्र को करना चाहिए । इन्होंने मठपतियों की इतनी निंदा की कि उनके छूने में भी पाप बतलाया । केशवदास ने असली देव की व्याख्या रामचंद्रिका के पचीसवें अध्याय में रामचंद्र से इस प्रकार कराई—

राम रमापति देव नहिँ रंग न रूप न भेव ;

देव कहत ऋषि कौन को सिखऊँ जाकी सेव ॥ ५० ॥

सत चित प्रकास प्रभेव ; तेहि वेद मानत देव ।

तेहि पूजि ऋषि रुचि मंडि ; सब प्राकृतन को छंडि ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार विज्ञान-गीता के पंद्रहवें अध्याय में लिखा है—

अजन्मु है, अमनु है ; असेष अंत सुन है ;

अनादि, अंत-हीनु है ; जु नित्य ही नवीनु है ।

अरूप है, अज्ञेय है ; अमाप है, अमेय है ;

निरीह, निर्विकार है ; सुमध्य अध्यहार है ॥ ५२ ॥

अकृत्य है, अखंडित्वै ; असेष जीव मंडित्वै ;

समस्त सक्ति-जुक्त है ; सु देव देव मुक्त है ।

ताकी पूजा करहु ऋषि ; कृत्रिम देवन छंडि ;

मनसा - वाचा - कर्मना ; निषट कपट को खंडि ॥ ५३ ॥

इसी अध्याय में इन्होंने कहा कि वासना छोड़कर प्राणायाम साधना अच्छा है । इन कथनों से प्रकट है कि केशवदास भी सूरदास की भाँति केवल एक परमेश्वर को मानते और शेष देवतों को कृत्रिम समझते थे । वासना छोड़ना एवं प्राणायाम साधना गीता का आशय है । विज्ञान-गीता का, उदाहरण-स्वरूप,

जो छंद ऊपर कहा गया है, वह भी गीता के आशय पर है, और उसी पर विज्ञानगीतावाला जीवनमुक्त का यह लक्षण भी है—

लोक करै सुख-दुःखनि कै जनि राग विरागनि या मँह आनै ;
 डारै उपारि समूल अहतरु, कंवन - काँच न जो पहिचानै ।
 बालक ज्यों भँवें भूतल में, भव आपुन से जड़ जंगम जानै ;
 केसव बेद - पुरान प्रमान तिन्हें सब जीवनमुक्त बखानै ॥ ५४ ॥
 इन्होंने विज्ञान-गीता के इस दोहे में अद्वैत मत का बड़ा ही हृदयग्राही

उदाहरण दिया है—

देव अरूप, अमेय है कहे निरीह प्रकास ;
 सब - जीवमंडित कहौ कैसे 'केसवदास' ? ॥ ५५ ॥

ज्यों अकास बट-बटनि मैं पूरन लीन न होइ ;
 यों पूरन सब देह मैं रहै कहैं मुनि लोइ ॥ ५६ ॥

केशवदास कहते हैं कि मनुष्य नित्यप्रति लौट-लौट कर वही कर्म करता है, परंतु आश्चर्य कि इससे वह ऊबता नहीं। इनके मत में ससार और स्वर्ग-नरक के लक्षण यों हैं—

जोही जानौ कर्म अब सबै जगत के कंत ;
 आदि सरस मध्यम बिरस, अति नीरस है अंत ॥ ५७ ॥
 जोई करै सु भोगवै यह समुझौ नृपनाथ ;
 स्वर्ग-नरक, बंवन, मुकुत, मानौ मन की गाथ ॥ ५८ ॥

इस प्रकार गूढ़ कहकर इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये स्थूल ज्ञान भी कहा है। केशवदास ने दान दो प्रकार के कहे हैं—एक सुपात्रों को और द्वितीय कुपात्रों को। इनके मत में कुपात्रों को दान देने से दानी को पुण्य के बदले घोर पाप होता है। सुपात्रों के लिये दान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस।

पूजिए द्विज आपने कर नारिसंजुत जानिए ;
 देवदेवहि थापिकै पुनि बेद-मंत्र बखानिए ।
 हाथ लै कुस, गोत्र उच्चरि, स्पर्शनजुक्त प्रमानिए ;
 दान दै कछु और दीजहि दान सात्त्विक जानिए ॥ ५९ ॥

देत नहीं अपने कर दानै ; औरन हाथ जु मंगल जानै ।
 दानहि देत जु आरसु आवै ; सो वह राजस दान कहाव ।
 विप्रन दीजत हीन बिधानै ; सो वह जानहु तामस दानै ॥ ६० ॥

द्विज धाम देहिँ जु जाय ; बहु भाँति पूजि सुराय ।
 कछु नाहिनै परिमान ; कहिए सु उत्तम दान ॥ ६१ ॥
 द्विज कौ जु देत बुलाय ; कहिए सु मध्यम राय ।
 गुनि जाँचना मिस दानु ; आति हीन ता कहँ जानु ॥ ६२ ॥
 दान-पात्रों का क्रम इन्होंने यों कहा है—

पहिले निज वर्तिन देहु अबै ; फिरि पावहिँ नागर लोग सबै ।
 फिरि देहु सबै निज देसिन को ; उवरो धनु देहु विदेसिन को ॥ ६३ ॥
 दान सकाम तथा अकाम एवं दक्षिण (धर्म-निमित्त) और वाम (धर्म-विरुद्ध)
 भी होते हैं । केशवदास ने भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ माना है । इन्होंने दान-पात्र
 ब्राह्मणों को ही कहा है, और उन्हीं में न्यूनाधिक गुणों के कारण उत्तमता की
 न्यूनाधिकता कर दी है । इन्होंने भूखों, कंगालों आदि का दान से अधिक संबंध
 नहीं माना, और न देश-हितकारक दानों का वर्णन किया है ।

केशवदास ने हर स्थान पर ब्राह्मणों की महिमा गाई है । उदाहरणार्थ
 दो-चार छंद नीचे लिखे जाते हैं—

द्विज दोषी न बिचारिए, कहा पुरुष, कह नारि ;
 राम, बिरामन कीजिए, वाम ताड़का तारि ॥ ६४ ॥

× × ×
 ब्रह्म दोष के अग्निकन सब समूल जरि जात ।

× × ×
 ज्यों द्विज-दोष ते संतति नासति, त्यों गुन भाजत लोभ के आगे ।

× × ×
 बिप्र न जानहु ये जग-रूपै, जानहु ये सब बिष्णु-स्वरूपै ।

साचारो वा निराचारो साधुर्वासाधुरेव च ;
 अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः ।

× × ×
 जिनके पूजे तुम भए अंतर्जामी श्रीप ;
 तिनकी बात हमैं कहा ब्रूक्त त्रिभुवन-दीप ॥ ६५ ॥

× × ×
 गाय, द्विज, राज, तिय काज न गोहारि लागै
 भोगवै नरक घोर चोर को अभय दानि ।

परंतु इसके साथ ही केशवदास शत्रु पर आनेवाली दया को भी निज
 समझते थे—

दया धिक अरि पै आवै ।

अंत में आपने सब धर्मों का सार निम्न-लिखित कलि-धर्म कहा है—

जब बेद - पुरान नसैहैं ; जप तीरथ मध्य वसैहैं ।

उपदेस जु मारि किँवारे ; कलि केवल नाम उघारे ॥ ६६ ॥

स्त्रियों के वास्ते इन्होंने केवल पति-भक्ति धर्म कहा है—

कुबजै, कलही, काहली, कुटिल, कृतघ्न, कुरूप ;

सपने हू न तजै तरुनि कोढ़ी हू पति भूप ॥ ६७ ॥

नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार ;

पंगु, गुंग, बौरा, बधिर, अंध, अनाथ अपार ॥ ६८ ॥

इन्होंने अपने सब ग्रंथों में अन्य ग्रंथों के छंद बराबर लिखे हैं। इनकी कविता कुछ कठिन भी होती है, यहाँ तक कि कवियों में यह बात प्रसिद्ध है—

कवि कहँ दीन न चहै विदाई ; पूछै केसव की कविताई ।

केशवदास सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि (Poet of general vision)

थे। इन्होंने रामचंद्रिका में रामचंद्र की ठग से भी समता कराई है। इसका यह प्रयोजन नहीं कि कवि उन्हें ठग कहता है, वरन् जंगल में ऐसे लोग भी मिलते थे, जो उन्हें ठग समझ बैठते थे। इसी भाँति उन्होंने हनुमान् के विषय में विभीषण से रावण को यह सलाह दिलवाई कि—

एक रंक मारि क्यों बड़ो कलंक लीजई ;

बुंद सोकिगो, कहा महासमुद्र छोजई ? ॥ ६९ ॥

केशवदास ने एक महाकाव्य भी बनाया, क्योंकि रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और महाकाव्य के लक्षण भी इसमें मिलते हैं। इनके मतानुसार भी यह उत्तम काव्य है।

केशवदास भाषा-काव्य के एक बड़े भारी कवि थे, और देवजी आदि ने भी इनको महाकवि माना है। यथा 'केसव आदि महाकविन' इत्यादि। यह महाशय भाषा में भामह-मम्मट के समान थे।

हम अब इस प्रबंध को केशवदास-कृत रचना के कुछ उदाहरणों के साथ समाप्त करते हैं। हिंदी के अनेक रसिक सूर तथा तुलसी के अतिरिक्त केशव को ही सर्वश्रेष्ठ कवि समझते हैं। हमारी समझ में इनका नंबर छठा है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनके पीछे सतिराम का नंबर आता है।

उदाहरण—

रामचंद्रिका

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,

कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को ;

बिपति हरत हठि पदुमिनि-पात-सम,
 पंक ज्यों प्रताल पेलि पठवै कलुष को ।
 दूरि कै कलंक अंक भव-सीस-ससि-सम,
 राखत हैं 'कैसौदास' दास के वपुष को ;
 साँकरे की साँकरनि सनमुख होत ही त्यों
 दसमुख मुख जोवै गजमुख मुख को ॥ ७० ॥

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाइ,
 ऐसी मति कहो धौं उदार कौन की भई ?
 देवता, प्रसिद्ध, सिद्ध, ऋषिराज तप - बृद्ध,
 कहि - कहि हारे सब, कहि न केहूँ लई !
 भावी, भूत, वर्तमान जगत बखानत हैं,
 'कैसौदास' कहूँ न बखानी काहूँ पै गई ;
 पति कहै चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
 नाती कहै षट्मुख, तदपि नई - नई ॥ ७१ ॥

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि-
 पूरन बतावैं न बतावैं और उक्ति को ;
 दरसन देत जिन्हें दरसन समुझै न,
 नेति - नेति कहैं वेद छाँड़ि भेद जुक्ति को ।
 जानि यह 'कैसौदास' अनुदिन राम - राम,
 रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को ;
 रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
 भक्ति देहि महिमाहि नाम देहि मुक्ति को ॥ ७२ ॥

× × ×
 बोलि न बोल्यो बोल, दयो फिरि ताहि न दीन्हों ;
 मारि न मारयो सत्रु, क्रोध मन बृथा न कीन्हों ।
 जुरि न मुरे संग्राम, लोक की लीक न लोपी ;
 दान, सत्य, सनमान, सुजस दिसि - विदिसा ओपी ।
 मन लोभ, मोह, मद, कामवस भयो न 'कैसवदास' भनि ;
 सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतारमनि ॥ ७३ ॥

गाधिराज को पुत्र साधि सब मित्र सत्रु - बल ;
 दान कृपान विधान बस्य कीन्हो भुवमंडल ।

कै मन अपने हाथ, जीति जग इंद्रियगन अति ;
 तप - बल याही देह भए छत्रिय ते ऋषिपति ।
 तेहि पुर प्रसिद्ध 'केसव' सुमति काल अतीतागतनि गुनि ;
 तहँ अदभुत गति पगु धारियो बिस्वामित्र पवित्र मुनि ॥ ७४ ॥

पुनि आए सरजू सरित तीर ;
 तहँ देखे उज्जल अमल नीर ।
 नव निरखि - निरखि दुति गति गँभीर ;
 कछु बरनन लागे सुमति धीर ॥ ७५ ॥
 अति निपट कुटिल गति जदपि आप ;
 वह देत सुद्ध गति छुवत आप ।
 कछु आपुन अथ - अथ गति चलंत ;
 फल पतितन कहँ ऊरध फलंत ॥ ७६ ॥
 मदमत्त जदपि मातंग संग ;
 अति तदपि पतित - पावन तरंग ।
 बहु न्हाइ - न्हाइ जेहि जल सनेह ;
 सब जात स्वर्ग सूकर सदेह ॥ ७७ ॥

देखी वन - बारी, चंचल - भारी, तदपि तपोधन मानी ;
 अति तपमय लेखी, गृह - थित पेखी, जगत दिगंबर जानी ।
 जग जदपि दिगंबर, पुष्पवती नर, निरखि - निरखि मन मोहै ;
 पुनि पुष्पवती तन, युत अति पावन, गर्भ - सहित सब सोहै ॥ ७८ ॥
 पुनि गर्भ सँजोगी, रति रस - भोगी, जग जनलीन कहावै ;
 गुनि जगजनलीना, नगर प्रवीना, अति पति के चित भावै ।
 अति पतिहि रमावै, चित भ्रमावै, सौतनि प्रेम बढ़ावै ;
 अब यों दिन - रातिन अदभुत भौतिन कवि - कुल-कीरति गावै ॥ ७९ ॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय ;
 होम - हुतासन - धूम नगर एकै मलिनाइय ।
 दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही मैं ;
 श्रीफल को अभिलाष प्रकट कविकुल के जी मैं ।
 अति चंचल जहँ चतदलै, विधवा बनी न नारि ;
 मन मोह्यो ऋषिराज को अदभुत नगर निहारि ॥ ८० ॥

x

x

x

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरिनी नृपनंदनि ;
 तिन न करत संहार कहा मदमत्त - गयंदनि ?
 जिन बेधत सुख लच्छ-लच्छ नृपकुंअर, कुंअरमनि ;
 तिन वाननि वाराह, बाघ मारत नहिं सिंहनि ?
 नृप-नाथ नाथ दसरथ, सुनिय अकथ कथा यह मानिए ;
 मृगराज राज - कुल - कलस अब बालक वृद्ध न जानिए ॥ ८१ ॥

×

×

×

तरु तालीस, तमाल, ताल, हिंताल, मनोहर ;
 मंजुल बंजुल, तिलक, लकुच-कुल, नारिकेर बर ।
 एला, ललित लवंग, संग पुंगीफल सोहैं ;
 सारो, सुक-कुल कलित, चित्त कोकिल, अलि मोहैं ।
 सुभ राजहंस, कलहंस-कुल, नाचत मत्त मयूरगन ;
 अति प्रफुलित, फलित सदा रहै 'केसवदास' विचित्र बन ॥ ८२ ॥

×

×

×

सोमित मंचन की अवली गजदंतमई छवि उज्जल छाई ;
 इस मनौ वसुधा मैं सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई ।
 तामहँ 'केसवदास' विराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
 देवन सों जनु देव - सभा मिलि सीय-स्वयंबर देखन आई ॥ ८३ ॥

×

×

×

कुंडल परसन मिस कहत, कहौ कौन यह राज ;
 संसु - सरासन - गुन करौ करनालंबित आज ! ॥ ८४ ॥

रावण—

बज्र को अखर्व गर्ब गंज्यो जेहि पर्वतारि,
 जीत्यो है सुपर्व सर्व भाजे लै-लै अंगना ;
 खंडित अखंड आसु कीन्हो है जलेस-पासु,
 चंदन सों चंद्रिका सों कीन्हीं चंद-बंदना ।
 दंडक में कीन्हो कालदंड हू को मान खंड,
 मानो कीन्हीं काल ही की कला-खंड-खंडना ;
 'केसव' कोदंड बिस-दंड ऐसे खंडे अब,
 मेरे भुज - दंडन की बड़ी है बिडंबना ॥ ८५ ॥

बाण—

हैं जब हीं जब पूजन जात पिता - पद - पावन पाप - प्रनासी ;
 देखि फिरौं तब हीं तब रावन सातौ रसातल के जे विलासी ।
 लै अपने भुजदंड अखंड करौ छिति - मंडल छत्र - प्रभा - सी ;
 जानै को 'केसव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीनी उसासी ॥ ८६ ॥
 कैटभ-सो, नरकासुर - सो पल मैं मधु - सो, सुर-सो ज्यहि मारथो ;
 लोक चतुर्दस - रच्छक 'केसव' पूरन वेद - पुरान बिचारथो ।
 श्री - कमला - कुच - कुंकुम - मंडित पंडित देव अदेव निहारथो ;
 सो कन माँगन को वलि पै करतारहु ने कर तार पसारथो ॥ ८७ ॥

रावण—

भौर ज्यों भँवत भूत वासुकी गनेस - जुत,
 मानौ मकरंद - बुंद माल गंगजल की ;
 उड़त पराग पट - नाल - सी विसाल बाहु,
 कहा कहाँ 'केसौदास' सोभा पल-पल की ।
 आयुध सकल सर्वसंगलासमेत सर्व,
 पर्वत उठाय गति कीन्ही है कमल की ;
 जानत सकल लोक, लोकपाल, दिगपाल,
 जानत न वान, वात मेरे बाहु-बल की ? ॥ ८८ ॥

x

x

x

खंडित मान भयो सबको नृप - मंडल हारि रह्यो जगती को ;
 व्याकुल बाहु, निराकुल बुद्धि, थक्यो बल-विक्रम लंकपती को ।
 कोटि उपाव किए, कहि 'केसव' केहुँ न छाँड़त भूमि रती को ;
 भूरि बिभूति प्रभाव सुभावहि ज्यों न चलै चित जोगि - जती को ॥ ८९ ॥

x

x

x

प्रभात-वर्णन

ब्योम मैं मुनि देखिए रवि लाल श्री-सुख साजहीं ;
 सिंधु मैं वड़वागि की जनु ज्वाल - माल विराजहीं ।
 पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि - पूरित सोहई ;
 सूर बाजिन की खुरी अति तिच्छता तिनकी हई ॥ ९० ॥
 चढ़्यो गगन-तरु धाय, दिनकर वानर अरुन मुख ;
 दीन्हों मुकि भहराय, सकल तारका कुसुम विन ॥ ९१ ॥

x

x

x

राम-जनकपुर-गमन—

सातहु दीपनि के अरुनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने ;
बीस बिसे व्रत-भंग भयो सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने ?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आइ गए घनस्याम बिहाने ;
जानकि के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुण्य पुराने ॥ ६२ ॥

×

×

×

सब छत्रिन आदि दै काहु छुई न छुए विजनादिक बात डगै ;
न घटै न बढ़ै निसिवासर 'केसव' लोकन को तम-तोम भगै ।
भवभूषन भूषित होत नहीं, सदमत्त गजादि-मषी न लगै ;
जन्त हू थल हू परिपूरन श्रीनिमि के कुल अद्भुत जोति जगै ॥ ६३ ॥
आपने-आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव-पालैं सदाई ;
केवल नाम ही के भुवपाल कहावत हैं, भुव पालि न जाई ।
भूपन की तुमही धरि देह विदेहन मैं कल कीरति गाई ;
'केसव' भूषन की भव-भूषन भू-तन ते तनया उपजाई ॥ ६४ ॥
एक सुखी यहि लोक बिलोकिए, हैं वहि लोक निरै-पगधारी ;
एक इहाँ दुख देखत 'केसव', होत उहाँ सुरलोक विहारी ।
एक इहाँ-ऊ-उहाँ अति दीन, सु देत दुहूँ दिसि के जन गारी ;
एकहि भाँति सदा सब लोकन है प्रभुता मिथिलेस, तिहारी ॥ ६५ ॥

×

×

×

परशुराम-संवाद—

बर बान सिखीन असेष समुद्रहि सोखि सखा सुख ही तरिहौं ;
पुनि लंकहि औटि कलंकित कै फिरि पंक कलंकहि की भरिहौं ।
भल भूँजिकै राकस खाकस कै दुख दीरष देवन को हरिहौं ;
सितिकंठ के कंठन को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं ॥ ६६ ॥

प्रचंड हैहयादि राज दंड - मान जानिए ;

अखंड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिए ।

अदेव, देव जे अभीत रच्छमान लेखिए ;

अमेय तेज भर्ग भक्त भार्गवेस देखिए ॥ ६७ ॥

दूटै दूटनहार तरु बायुहि दीजत दोष ;

त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष ।

हम पर कीजत रोष, काल-गति जानि न जाई ;
 होनहार है रहै, मिटै मेटे न मिटाई ।
 होनहार है रहै, मोह - मद सबको छूटै ;
 होय तिनूका बज्र, बज्र तिनूका है टूटै ॥ ६८ ॥
 'केसव' हैहराज को मासु हलाहल कौरन खाय लियो रे ;
 ता लागि मेद महीपन को घृत घोरि दियो न सिरानो हियो रे ।
 खीर षड़ानन को मद पूरन, सो पल मैं करि पान लियो रे ;
 तौ लौं नहीं सुख जौ लौं न तू रघुवंस को सोनु-सुधा न पियो रे ॥ ६९ ॥
 कंठ कुठार जसै अबहार कि फूलो असोक ससोक समूरो ;
 कै चितसारी चढ़ै कि चिता तन चंदन चित्र कि पावक पूरो ।
 लोक मैं लोक बड़ो अपलोक सु 'केसवदास' जु होउ सु होऊ ;
 बिप्रन के कुल को भृगुनंदन, सूरज के कुल सूर न कोऊ ॥ १०० ॥
 सुनि सकल लोकगुरु जामदग्नि ;
 तप विसिख असेषन की जु अग्नि ।
 सब विसिख छाँड़ि सहिहैं अखंड ;
 हर - धनुष करयो जिन खंड - खंड ॥ १०१ ॥
 भगन भयो हर - धनुष साल तुमको अब सालै ;
 बृथा होइ विधि - सृष्टि, ईस आसन ते चालै ।
 सकल लोक संहरहुँ, सेष सिर ते धर डारो ;
 सप्तसिंधु मिलि जाहिँ, होहि सब ही तम भारो ।
 अति अमल जोति नारायनी कहि 'केसव' बुझि जाहि वरु ;
 भृगुनंद, सँभार कुठार, मैं कियो सरासनजुक्त सरु ॥ १०२ ॥
 राम-राम जब कोप करयो जू ; लोक-लोक भय भूरि भरयो जू ;
 वामदेव आपुन तब आए; रामदेव दोनो समुझाए ॥ १०३ ॥
 × × ×

भरत-चित्रकूट-गमन—

सब सारस हंस भए खग खेचर वारिद ज्यों बहु वारन गाजे ;
 बन के नर, वानर, किन्नर बालक लै, मृग ज्यों मृगनायक भाजे ।
 तजि सिद्ध समाधि न 'केसव' दीरघ दौरि दरीन में आसन साजे ;
 सब भूतल भूधर हाले अचानक आए भरत के दुंदुभि बाजे ॥ १०४ ॥
 जुद्ध को आजु भरत चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि धाई ;
 प्रात चली चतुरंग-चमू वरनी सु न 'केसव' कैसेहुँ जाई ।

यों सबके तनवाननि पै भलकी अरुनोदय की अरुनाई ;
 अंतर ते जनु रंजन को रजपूतनि की रज ऊपर आई ॥ १०५ ॥
 उठिकै धर धूरि अकास चलो ;
 बहु चंचल बाजि खुरीन दली ।
 भुव हालति जानि अकास हिए ;
 जनु थंभित ठौर - हि - ठौर किए ॥ १०६ ॥
 रन राजकुमार अरुभहिँगे जू ;
 बहु सम्मुख धायनि जूभहिँगे जू ।
 जनु ठौरनि-ठौरनि भूमि नवीने ;
 तिनके चढ़िवे कहँ मारग कीने ॥ १०७ ॥
 रहि पूरि विमाननि व्योमथली ;
 तिनको जनु टारन धूरि चली ।
 परिपूरि अकासहि धूरि रही ;
 सु गयो मिटि सूर - प्रकास सही ॥ १०८ ॥
 अपने कुल को कलह क्यों देखहिँ रवि भगवंत ;
 यहै जानि अंतर कियो मानौ मही अनंत ॥ १०९ ॥
 बहु तामहँ दीह - पताक लासैं ;
 जनु धूम मैं अग्नि की ज्वाल बसैं ।
 रसना किधौ काल कराल घनी ;
 किधौ मीचु नचै चहुँ ओर बनी ॥ ११० ॥
 देखि भरत की चल धुजा धूरिन मैं सुख देति ;
 बुद्ध-चुरन को मनहुँ प्रति जोधन बोले लेति ॥ १११ ॥

×

×

×

स्फुट

कच स्वेत विराजै, कीरति राजै, जनु 'केसव' तप-बल की ;
 तनु बलित पलित जनु सकल बासना निकरि गई थल-थल की ।
 कंपित सुभ-ग्रीवा, सब अँग सीवा, देखत चित्त भुलाहीं ;
 जनु अपने मन प्रति, यह उपदेसति, या जग मैं कछु नार्ही ॥ ११२ ॥

×

×

×

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
 निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी ।

अघ - ओष की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु - ज्ञान - गटी ;
चहुँ ओरन नाचत मुक्ति नटी गुन धूरजटी जटी पंचवटी ॥ ११३ ॥

X

X

X

लंका में सीता

हिमांसु सूर - सो लगै, सु बात वज्र - सी वहै ;
दिसा लगै कृसानु ज्यों, विलेप अंग को दहै ।
विशेष कालराति - सी कराल राति मानिए ;
वियोग सीय को न, काल लोकहार जानिए ॥ ११४ ॥
पतिनी पति विनु दीन अति, पति पतिनी विनु मंद ;
चंद बिना ज्यों जाभिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद ॥ ११५ ॥

X

X

X

कहूँ किन्नरी किंगरी लै वजावैं ;
सुरी, आसुरी वाँसुरी गीत गावैं ।
कहूँ जच्छिनी पच्छिनी लै पढ़ावैं ;
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं ॥ ११६ ॥
पियै एक हाला, गुहैं एक माला ;
वनी एक वाला नचैं चित्रसाला ।
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को ;
पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका को ॥ ११७ ॥
फिरयो देखिकै राजसाला सभा को ;
रह्यो रीभिकै वाटिका की प्रभा को ।
फिरयो वीर चौहूँ चितै सुद्ध गीता ;
बिलोकी भली सिंघुपा - मूल सीता ॥ ११८ ॥

आँसु वरषि, हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ ;
निरखि - निरखि पिय - मुद्रिकहि वरनति हैं बहु भाइ ॥ ११९ ॥

यह सूर - किरन तम - दुःख - हारि ;

ससि - कला किधौ उर - सीतकारि ।

कल कीरति - सी सुभ सहित नाम ;

कै राज - सिरी यह तजी राम ॥ १२० ॥

कै नारायन - उर सम लसंति ;

सुभ अंकन ऊपर श्री - बसंति ।

बर विद्या - सी आनंद दानि ;
जुत अष्टापद मनु सिवा मानि ॥ १२१ ॥

जनु माया अच्छर - सहित देखि ;
कै पत्री निश्चयदानि लेखि ।

प्रिय - प्रतीहारिनी - सी निहारि ;
'श्रीरामोजय' उच्चारकारि ॥ १२२ ॥

पिय पठई मानौ सखि सुजान ;
जगभूषन को भूषन - निधान ।

निजु आई हमको सीख देन ;
यह किधौ हमारो मरमु लेन ॥ १२३ ॥

सुखदा, सिखदा, अर्थदा, जसदा, रसदातारि ;
रामचंद्र की मुद्रिका किधौ परम गुनारि ॥ १२४ ॥

बहुवरना, सहजप्रिया, तमगुनहरा प्रमान ;
जग मारग दरसावनी सूरजकिरन समान ॥ १२५ ॥

श्रीपुर मैं, वन - मध्य हौं, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी, अब तियन की को करिहै परतीति ? ॥ १२६ ॥

कहि कुसल मुद्रिके, रामगात ;
पुनि लछिमन - सहित समान तात ।
यह उत्तर देति न बुद्धिवंत ;
केहि कारन धौं हनुमंत संत ? ॥ १२७ ॥

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ;
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम ॥ १२८ ॥

दीरघ दरीन वसैं 'केसौदास' केसरी ज्यों,
केसरी को देखि वन - करी ज्यों कँपत हैं ;

बासर की संपति उल्लूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चपत हैं ।

केकी सुनि ब्याल ज्यों बिलात जात घनस्याम,
घनन के घोरन जवासे ज्यों तपत हैं ;

भौर ज्यों भँवत वन, जोगी ज्यों जगत रैन,
साकत ज्यों राम नाम तेरोई जपत हैं ॥ १२९ ॥

लंका-दहन—

जटी अग्नि-ज्वाला अटा स्वेत हैं यों ;
 सरत्काल के मेघ संध्यासमै ज्यों ।
 लगी ज्वाल - धूमावली नील राजें ;
 मनो स्वर्न की किकिनी नाग साजें ॥ १३० ॥

लसैं पीत छत्री मढ़ी ज्वाल मानौ ;
 ढके ओढ़नी लंक बच्छोज जानौ ।
 जरैं जूह - नारी' चढ़ीं चित्रसारी ;
 मनौ चेटका मैं सती सत्वधारी ॥ १३१ ॥

कहूँ रैनचारी गहे जोति गाढ़े ;
 मनो इस - रोषाग्नि में काम डाढ़े ।
 कहूँ कामिनी ज्वाल - मालानि भोरैं ;
 तजैं लाल सारी, अलंकार तोरैं ॥ १३२ ॥

कहूँ भौन - राते रचे धूमछाँहीं ;
 ससी-सूर मानौ लसैं मेघ माहीं ।
 जरै सखसाला मिली गंधमाला ;
 मलै अद्रि मानो लगी दाव - ज्वाला ॥ १३३ ॥

चली भागि चौहूँ दिसा राजधानी ;
 मिली ज्वालमाला फिरैं दुःखदानी ।
 मनौ इस - बानावली लाल लोलैं ;
 सबै दैत्य - जायान के संग डोलैं ॥ १३४ ॥

लंक लगाइ दई हनुमान विमान बचे अति उच्चरुखी है ;
 पाचि फटैं उचटैं बहुधा मनि, रानी रटैं बहु पानो दुखी है ।
 कंचन को पधिल्यो पुर पूर, पयोनिधि मैं पसरैति सुखी है ;
 गंग हजारमुखी गुनि 'केसौ' गिरा मिलो मानौ अपारमुखी है ॥ १३५ ॥

×

×

×

स्फुट

मार के उतारिबे को औतरे हौ रामचंद्र ,
 किधौ 'केसौदास' भूरि भारत प्रबल दल ;
 दूष्ट हैं तरुवर, गिरे गन - गिरिवर,
 सूखे सब सरवर, सरिता सकल जल ।

उचकि चलत हरि दचकनि - दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल - थल ;
लचकि - लचकि जात सेष के असेष फन,
भागि गई भोगवती अतल - वितल - तल ॥ १३६ ॥

× × ×
राघव की चतुरंग चमू चय धूरि उठी जल हू थल छाई ;
मानौ प्रताप - हुतासन - धूम सु 'केसवदास' अकासन माई ।
मेठिकै पंच प्रभूत किधौ विधि रेनुमई नव रीति चलाई ;
दुःख-निवेदन को भव-भार को भूमि किधौ सुरलोको सिधई ॥ १३७ ॥
दीनदयालु कहावत हौ हरि, हौं अति दीन दसा गहि गाढ़ो ;
रावन के अध-ओघ मैं 'केसव' बूझत हौं वरही गहि काढ़ो ।
ज्यों गज की, पहलाद कि कीरति, त्यों ही विभीषन को जस बाढ़ो ;
आरत बंधु पुकार सुनो किन, आरत हौं तौ पुकारत ठाढ़ो ॥ १३८ ॥
'केसव' आपु सदा ही सह्यो दुख, दासन देखि सके न दुखारे ;
जाको भयो जेहि भाँति जहाँ दुख, ताहि तहाँ तिहि भाँति उधारे ।
मेरियै बार अवार कहा, कहूँ नाहिन दास के दोष विचारे ;
बूझत हौं महामोह - समुद्र मैं, राखत काहे न राखनहारे ॥ १३९ ॥

× × ×
इनको विलगु न मानिए कहि 'केसव' पल आधु ;
पानी, पावक, पौन, प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु ॥ १४० ॥

× × ×
महामीचु दासी सदा पाई धोवै ;
प्रतीहार हूँ कै सदा सूर सोवै ।
छपानाथ लीन्हें रहै छत्र जाको ;
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको ? ॥ १४१ ॥
सका - मेघमाला, सिखी - पाककारी ;
करै कोतवाली महादंडधारी ।
पढ़ैं वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके ;
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताके ? ॥ १४२ ॥

पेट चढ़यो, पलना, पलिका चढ़ि पालकि हू चढ़ि मोद मढ़यो रे ;
चौक चढ़यो, चितसारी चढ़यो, गज-वाजि चढ़यो, गढ़ गर्ब गढ़यो रे ।

व्योम बिमान चढ़योई रहै, कहि 'केसव' सो कबहूँ न पढ़यो रे ;
चेतत नाहिँ रह्यो चढ़ि चित्त, सु चाहत मूढ़ चिता हूँ चढ़यो रे ॥ १४३ ॥

X

X

X

लंका-युद्ध

जाके रथाग्र पर सर्प - ध्वजा विराजै ;
श्रीसूर्य - मंडल - विडंबन जोति साजै ।
आखंडलीय वपु जो तनत्रानधारी ;
देवांतकै सो सुरलोक विपत्तिकारी ॥ १४४ ॥
जो हंसकेतु भुजदंड निषंगधारी ;
संग्राम - सिंधु बहुधा अवगाहकारी ।
लीन्है छुड़ाइ जेहि देव - अदेव - वामा ;
सोई खरात्मज बली मकराच्छ - नामा ॥ १४५ ॥

X

X

हन्यो विघ्नकारी बली वीर वामै ;
गयो सीम्रगामी गए एक जामै ।
चल्यो लै सबै पर्वतै कै प्रनामै ;
न जान्यो विसल्यौषधी कौन तामै ॥ १४६ ॥
लसै ओषधी चार भो व्योमचारी ;
कहै देखि यों देवदेवाधिकारी ।

पुरी भौम की - सी लिए सीस राजै ;

महामंगलार्थी हनूमंत गाजै ॥ १४७ ॥

किधौं प्रात ही काल जी में विचारयो ;

चल्यो अंसु लै अंसुमाली सँहारयो ।

किधौं जात ज्वालामुखी जोर कीन्हें ;

महामृत्यु जामें मिटै होम लीन्हें ॥ १४८ ॥

X

X

X

भगी देखिकै संकि लंकेस - बाला ;

दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला ।

तहाँ दौरि गो बालि को पूत फूल्यो ;

सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो ॥ १४९ ॥

गहै दौरि जाको, तजै ताकि ताको ;

तजै जा दिसा को, भजै बाम ताको ।

भली कै निहारी सबै चित्रसारी ;
 लहै सुंदरी क्यों दरी को विहारी ? ॥ १५० ॥
 तजै दृष्टि को चित्र की सृष्टि धन्या ;
 हँसी एक ताको तहीं देव - कन्या ।
 तहीं हास ही देव - कन्या दिखाई ;
 गही संकिकै लंक - रानी बताई ॥ १५१ ॥
 सु - आनी गहे - केस लंकेशरानी ;
 तम - श्री मनो सूर सोभा-निसानी ।
 गहे वाँह ऐँचै चहूँ ओर ताको ;
 मनौ हंस लीन्हे मृनाली - लता को ॥ १५२ ॥
 छुटी कंठमाला, लरै हार दूटे ;
 खसै फूल फूले, लसै केस छूटे ।
 फटी कंचुकी, किंकिनी चार छूटी ;
 पुरी काम की - सी मनौ रुद्र लूटी ॥ १५३ ॥
 विना कंचुकी स्वच्छ बच्छोज राजै ;
 किधौँ साँच हूँ श्रीफलै सोभ साजै ।
 किधौँ स्वर्न के कुंभ लावन्य - पूरे ;
 वसीकर्न के चूर्न संपूर्न रुरे ॥ १५४ ॥
 मनो इष्टदेवै सदा इष्ट ही के ;
 किधौँ गुच्छ द्वै काम - संजीवनी के ।
 किधौँ चित्त - चौगान के मूल सोहै ;
 हिए हेम के हाल गोला विमोहै ॥ १५५ ॥
 सुनी लंक - रानीन की दीन बानी ;
 तहीं छाँड़ि दीन्हों महामौनमानो ।
 उख्यो सो गदा लै जदा लंक - वासी ;
 गए भागिकै सर्व साखा-विलासी ॥ १५६ ॥

×

×

×

बुद्ध जोई जहाँ भाँति जैसी करै, ताहि ताही दिसा रोकि राखै तहीं ;
 आपने अस्त्र लै सस्त्र काटै सबै, ताहि केहू कहूँ धाव लागै नहीं ।
 दौरि सौमित्र लै बान को दंड ज्यों खड खंडी धुजा धीर छत्रावली ;
 सैल-सृंगावली छोड़ि मानौ उड़ी एक ही बेर कै हंस - बंसावली ॥ १५७ ॥

लच्छन सुभ लच्छन बुद्धि - विचच्छन रावन सों रिस छोड़ि दई ;
 बहु वाननि छंडैं जे सिर खंडैं ते फिरि मंडैं सोभनई ।
 जद्यपि नर पंडित गुन - गन - मंडित रिपुबल-खंडित भूलि रहे ;
 तजि मन - बच - कायक सूर - सहायक रघुनायक सों वचन कहे ॥१५८॥
 ठाढ़ो रन गाजत केहुँ न भाजत तन - मन लाजत सब लायक ;
 सुनि श्रीरघुनंदन मुनिजन - वंदन दुष्ट - निकंदन सुखदायक ।
 अब टरै न टारयो, मरै न मारयो, हौं हठि हारयो धरि सायक ;
 रावन नहिँ मारत, देव पुकारत है अति आरत जगनायक ॥१५९॥

× × ×
 जेहि सर मधु, मुर मरदि महासुर मर्दन कीन्हैउ ;
 मारेहु कर्कस नरक, संख हति संख जु लीन्हैउ ।
 निष्कंटक सुर - कटक करयो, कैटभ - वपु खंड्यो ;
 खर, दूषन, त्रिसिरा, कबंध, तरुखंड विहंड्यो ।
 सह कु भर्कन ज्यहि संहारयो, पल न प्रतिज्ञा ते टरयो ;
 तेहि वान प्रान दसकंठ के कंठ दसौ खंडित करयो ॥ १६० ॥

× × ×
 सिगरे तन भूषन भूषित कीने ;
 धरिकै कुसुमावलि अंग नवीने ।
 द्विज, देवनि बंदि पढ़ी सुभ गीता ;
 तव पावक - अंक चली चढ़ि सीता ॥ १६१ ॥
 सबस्त्रा सबै अंग सिंगार सोहैं ;
 विलोके रमा, देव, देवी विमोहैं ।
 पिता - अंक ज्यों कन्यका सुभ्र गीता ;
 लसैं अग्नि के अंक त्यों सुद्ध सीता ॥ १६२ ॥
 महादेव के नेत्र की पुत्रिका - सी ;
 कि संग्राम की भूमि मैं चंडिका-सी ।
 मनो रत्न - सिंहासनस्था सची है ;
 किधौं रागिनी राग पूरे रची है ॥ १६३ ॥
 गिरा पूर में है पयो - देवता - सी ;
 किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी ।
 किधौं पद्म ही में सिंहाकंद सोहै ;
 किधौं पद्म के कोस पद्मा विमोहै ॥ १६४ ॥

कि सिंदूर - सैलाग्र मैं सिद्ध - कन्या ;
 किधौं पद्मिनी सूर - संजुक्त धन्या ।
 सरोजासना है मनौ चारु वानी ;
 जपा - पुष्प के बीच बैठी भवानी ॥ १६५ ॥

मनौ ओषधी - वृंद मैं रोहिनी - सी ;
 कि दिग्दाह मैं देखिए जोगिनी-सी ।
 धरा-पुत्र ज्यों स्वर्न - माला प्रकासै ;
 मनौ जोति - सी तच्छका भोग भासै ॥ १६६ ॥

आसावरी मानिक - कुंभ सोभै
 असोक - लगना वन - देवता - सी ;
 पालास - माला - कुसुमालिमध्ये,
 वसंत - लक्ष्मी सुभ - लच्छना - सी ।
 आरक्त - पत्रा सुभचित्र - पुत्री,
 मनौ विराजै अति चारु बेला ;
 संपूर्ण सिंदूर - प्रभास कैधौं,
 गनेस - भाल - स्थल चंद्र - रेखा ॥ १६७ ॥

×

×

×

विज्ञान-गीता

लोग लगे सिगरे अपमारग, पोच, भलो - बुरो जानि न जाई ;
 चंचल हस्तिन को सुखदा अचला विच दामिनि को दुखदाई ।
 हंस, कलानिधि, सूर प्रभा हत, खंड सिखंडन की अधिकाई ;
 'केसव' पावसकाल, किधौं अविवेक महीपति की ठकुराई ॥ १६८ ॥

×

×

×

कवि-प्रिया

नारायन कीन्हौं मनि उर अवदात गनि,
 कमला कि वानी भनि सोभा सुभ सारु है ;
 'केसव' सुरभि केस सारदा सुवेस वेस,
 नारद को उपदेस विसद विचारु है ।
 सौनक ऋषि विसेषि सीरष सिखानि लेखि,
 गंगा की तरंग देखि विमल विहारु है ;
 राजा दसरथ - सुत सुनो राजा रामचंद्र,
 रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है ॥ १६९ ॥

सीतल समीर टारु, चंद्र - चंद्रिका निवारु,
 ऐसे ही तौ 'केसौदास' हरष हेरातु है ;
 फूलनि फैलाइ भारि डारु घनसारु चट,
 चंदन को ढारु चित चौगुनो पिरातु है ।
 नीर-हीन मीन मुरभाइ जीवै नीर ही ते,
 छीर के छिरीके कहा धीरज धिरातु है ;
 पाइ है तो पीर किधौ यों हीं उपचारु करै,
 आगि ही को डाढो अंग आगि ही सिरातु है ॥ १७० ॥

को है दमयंती, इंदुमती, रति राति - दिन,
 होहि न छबीली छिन इन जो सिंगारिए ;
 'केसव' लजात जलजात जातवेद यौं डव,
 जातरूप बापुरो विरूप - सो निहारिए ।
 मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो,
 चंद बहुरूप अनरूपक विचारिए ;
 सीताजू के रूप पर देवता कुरूप को हैं,

रूप हू को रूप सो लै वारि - वारि डारिए ॥ १७१ ॥
 सारिका खात न माखन दाख न दाड़िम हू सह मेटि इठाई ;
 'केसव' ऊख, मयूखहु दूखत, आई हैं तो पहुँ छोड़ि जिठाई ।
 तो रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहूँ ढिठाई ;
 ता दिन ते उन राखी उठाइ समेत सुधा वसुधा की मिठाई ॥ १७२ ॥
 बालि बध्यो, बलिराउ बिंध्यो, फरसूली के सूल कपाल थली है ;
 काम जरथो जग काम परथो बँधि सेष धरथो विष हालाहली है ।
 सिंधु बँध्यो किल काली नथ्यो कहि 'केसव' इंद्रकुचालि चली है ;
 राम हू को हरी रावन वाम, तिहूँ पुर एक अदृष्ट बली है ॥ १७३ ॥

'केसौदास' ओरछे के आस-पास तीस कोस,
 तुंगारन्य नाम बैरी को अजीत है ;
 विधि - कैसौ बंध वरवारन बलित बाघ,
 बानर, बराहु बहु मिल्ल को भीत है ।
 जम की जमाति-सो कि जामवंत - कैसो दल,
 महिषमुखद स्वच्छ रिच्छनि को भीत है ;
 अचल अनलवंत सिंधु - सो सरितजुत,
 संशु - कैसो जटाजूट परम पुनीत है ॥ १७४ ॥

भूति बिभूत पियूषहु की विषईस सरीस को पाप वियो है ;
है किधौ 'केसव' कस्यप को घर देव-अदेवनि के मन मोहै ।
संत हियो कि वसैं हरि संतत सोभ अनंत कहै कवि को है ;
चंदन-नीर-तरंग-तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै ॥ १७५ ॥

नीके कै केँवार देहौँ द्वार-द्वार 'केसौदास',
मेरे घर आस - पास सूरजौ न छावैगो ;

छिन में छावाय लैहौँ ऊपर अटानि आबु,
आँगन पटाय लैहौँ जैसे मोहिँ भावैगो ।

न्यारे-न्यारे नापदान मूँदिहौँ भरोखा-जाल,
पाय है न पैँडो पौन आवन न पावैगो ;

माधव, तिहारें विन मोपहिँ मरन मूढ,

आवन कहत, सु तो कौन पैँडे आवैगो ? ॥ १७६ ॥

'केसव' सरिता सकल मिलत सागर मन मोहै ;

ललित लता लपटानि तरुन तन तरुवर सोहै ।

रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन ;

मनभावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन ।

इहि रीति रमन रमनीन सों रमन लगे मन भावने ;

पिय, गमन करन को को कहै, गमन न सुनियत सावने ॥ १७७ ॥

धिक मंगन बिनु गुनहिँ, गुनहिँ धिक सुनत न रीक्षिय ;

रीक्षु धिक बिनु मौज, मौज धिक देत जु खीजिय ।

दीबो धिक बिनु साँचु, साँचु धिक धरम न भावै ;

धरम सु धिक बिनु दया, दया धिक अरि पहुँ आवै ।

अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ,

मति धिक 'केसव' ज्ञान बिनु, ज्ञान सुधिक बिनु हरि-भगति ॥ १७८ ॥

कर्न-से दुष्ट ते पुष्ट हुते भट पाय सपुष्टन सासन टारे ;

सोदर सेन दुसासन-से सब साथ समर्थ भुजा उसकारे ।

हाथी हजारन के बल 'केसव' खैचि थके पट को डर डारे ;

द्रौपदी को दुरजोधन पै तिल अंग तऊ उघरयो न उधारे ॥ १७९ ॥

×

×

×

रसिक-प्रिया

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसैं रस-भीने ;

आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यों दुति दीने ।

बाल के भाल मैं लाल विलोकत ही भरि लोचन लालन लीने ;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन मैं मनौ आसन कीने ॥ १८० ॥

कानन के रँगे रंग, नैनन के डोलौ संग ,
नासाअग्र रसना के रस ही समाने हौ ;
और कहा कहौ गूढ़ मूढ़ हौ जू जानि जाहु ,
'केसौदास' प्रौढ़ रूढ़ नीके करि जाने हौ ।

तन आन, मन आन, कपट - निधान कान ,
साँची कहौ मेरी आन काहे को डराने हौ ;
वे तो हैं विकानी हाथ मेरे, हौ तुम्हारे हाथ ,
तुम ब्रजनाथ, हाथ कौन के विकाने हौ ? ॥ १८१ ॥

चंचल न हूजै नाथ, अचल न खैंचां हाथ ,
सोवै नीके सारिकाऊ सुक तो सोवायो जू ;
मंद करौ दीप - दुति, चंद मुख देखियतु ,
दौरिकै दुराय आऊँ द्वार ते दिखायो जू ।

मृगज, मराल - बाल बाहिरै विडारि देउ ,
भयो तुम्हें 'केसव' सु मोहूँ मन भायो जू ;
छल के निवास ऐसे वचन - बिलास सुनि ,
सौगुनो सुरति हू ते स्याम सुख पायो जू ॥ १८२ ॥

तोरि तनी, टकटोरि कपोलन, जोरि रहे कर हौं न रहौंगी ;
पान खवाइ, पिआइ सुधा-रस, पाइँ गहे तस हौं न गहौंगी ।
'केसव' चूक सबै बकसी, मुख चूमि चले यह पै न सहौंगी ;
कै मुख चूमन दे फिरि मोहिँ कै आपनी धाइ सों जाइ कहौंगी ॥ १८३ ॥

पहिले तजि आरसु आरसी देखि घरीक घस्यो घनसारहि लै ;
पुनि पोंछि गुलाव तिलोंछि फुलेल अँगौछे मैं आछे अँगौछनि कै ।
कहि 'केसव' मेद-जवादि लै माँजि इते पर आँजि मैं आँजन दै ;
बहुरो दुरि देखौं तौ देखौं कहा सखि, लाज तौ नैनन लागियै है ॥ १८४ ॥

भाल गुही गुन लाल लटै लपटी लर मोतिन की सुख-दैनी ;
ताहि विलोकति आरसी लै कर आरस सौं एक सारस-नैनी ।
'केसव' स्याम दुरे दरसी परसी उपमा मुख की अति पैनी ;
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मद्धि धसी मनो धार-त्रिवैनी ॥ १८५ ॥

सौंह दिवाइ सखी पहिँ बारक कानन कानन आनि बसाए ;
जानै को 'केसव' कानन तैं कित हूँ कव नैनन माँहि सिधाए ।
लाज के साज धरेइ रहे सब, नैनन लै मन को सु मिलाए ;
कैसी करौँ अब, क्यों निकसै, यों हरे-ई-हरे हियरे हरि आए ॥ १८६ ॥

जिन न निहारे, ते निहारत निहारिवे को,
काहु न निहारे जिन कैसे कै निहारे हैं ;
सुर - नर - नाग नव - कन्यन के प्रानपति,
पति देवतानि हू के हिय मैं बिहारे हैं ।
याही विधि 'केसौराय' रावरे असेष अंग,
उपमा न उपजे, विरंचि पचि हारे हैं ;
मान-मद मोचन मदन मन - मोचन को,
तिय - व्रत - मोचन ए लोचन तिहारे हैं ॥ १८७ ॥

भाँति भली वृषभान-लली जब सों अँखिया अँखियान सों जोरी ;
भाँह चढ़ाइ कछू डरपाइ बोलाइ लई हँसिकै इत भोरी ।
'केसव' क्यों हूँ सु ता दिन ते रुचि कै न निहारत केती निहोरी ;
लीलत है सबही के सिँगार अँगारन ज्यों बिन चंद चकोरी ॥ १८८ ॥

है तरुनाई तरंगिनि पूर अरुव पूरव राग रंगे पय ;
'केसवदास' जहाज मनोरथ संभ्रम बिभ्रम भूरि भरे भय ।
ताके तरंग तरंगति तुंग तिसिंगल सूल बिसालन के चय ;
कान्ह कछू करुनामय है, सखि तैं ही किए करना वरुनालय ॥ १८९ ॥

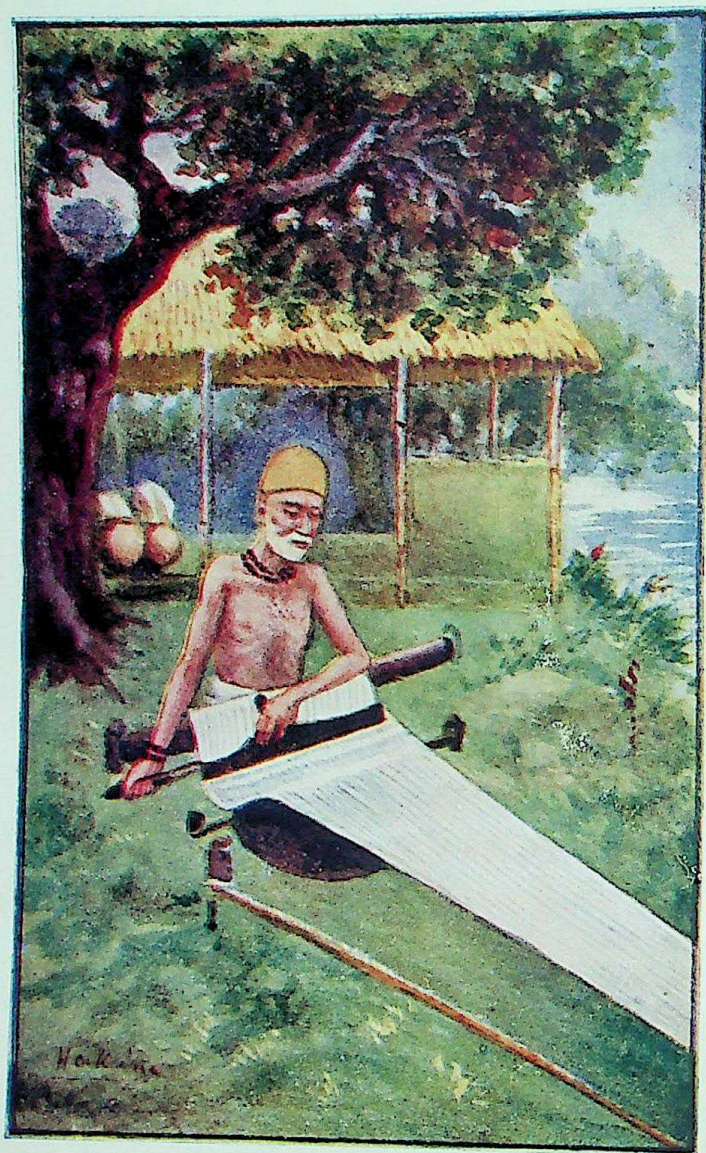
सिखै हारी सखी, डरपाइ हारी सेवकिनि,
दामिनि दिखाइ हारी निसि अधरात की ;
कूकि-कूकि हारी रति, मारि-मारि हारयो मार,
हारी उर कीरति विगत सम बात की ।
दई निरदई, दई बाहि कहा ऐसी मति,
जरत ज्यों रैन - दिन ऐसे सम गात की ;
कैसेहू न मानति मनाइ हारी 'केसौदास'
बोली हारी कोकिला, बोलाइ हारी चातकी ॥ १९० ॥

ब्रज की कुमारिका वै लीने सुक-सारिका,
पढ़ावै कोक-कारिकानि 'केसव' सबै निबाहि ;

गोरी-गोरी-भोरी - भोरी, थोरी-थोरी बैसन की,
 फिरै देवता-सी दौरी-दौरी चोरा-चोरी चाहि ।
 बिन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
 कुटिल कटाच्छ - बान यहै अचरजु आहि ;
 एते मान ईठ ढीठ मरे को अडीठ मनु,
 पीठि दै-दै मारति, सो चूकति न एकौ ताहि ॥ १६१ ॥



हिंदी-नवरत्न



महात्मा कबीरदास

करन सुधर करधा सध्यों, ज्ञान-ध्यान मन-लीन ;
निरभय मुकवि कबीर धनि, सत्य-कथन-पन पीन ।

गंगा-प्राइमपार्ट-प्रेस, लखनऊ

महात्मा कबीरदासजी

—o—

महात्मा कबीरदास का जन्म एवं मृत्यु-काल विविध ग्रंथों में अनेक प्रकार से लिखा हुआ है। कबीर-कसौटी में ये काल संवत् १४५५ तथा १५७१ माने गए हैं; भक्ति-सुधा-विंदु-स्वाद में संवत् १४५१ तथा १५५२ और कबीर संप्रदाय में संवत् १२०५ तथा १५०५। डॉ० हंटर ने जन्म-काल संवत् १४३७ माना है, और विल्सन ने मृत्यु-काल संवत् १५०५ बतलाया है। वेस्कट महाशय ने 'कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ' में ये काल संवत् १४५७ और १५७५ लिखे हैं। पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने जन्म-काल कबीर-कसौटी का माना है, और मृत्यु-काल भक्ति-सुधा-विंदु-स्वाद का। कबीर साहब बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। इनकी अवस्था कहीं-कहीं १२० वर्ष की मनी गई है। कबीर-कसौटी में जन्म और मृत्यु-काल साफ़-साफ़ संवत् १४५५ की ज्येष्ठ-शुक्ला पूर्णिमा और १५७५ लिखे हैं। यही ठीक जँचते हैं।

आपकी माता और पिता के नाम नीमा और नीरू थे। वे जाति के जुलाहे काशीधाम में रहते थे। किसी-किसी का यह भी कथन है कि नीमा और नीरू कबीर साहब के पालक-मात्र थे, और इनका जन्म एक हिंदू विधवा (ब्राह्मणी) के गर्भ से हुआ था, जिसने लोक-लाज के भय से इन्हें लहरतारा तालाब के पास डाल दिया था। नीमा और नीरू ने इन्हें वहाँ से उठाकर पाला। हमको समझ पड़ता है कि यह कथा मनगढ़ंत है। कबीर साहब वास्तव में नीमा और नीरू के ही पुत्र होंगे। इन्होंने अपने को काशी का जुलाहा बार-बार कहा, किंतु ब्राह्मणी का मातृत्व कहीं नहीं वर्णित किया। यथा—

तू बाम्हन, मैं कासी का जुलहा, बूझो मोर गियाना।

कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए।

इन तथा ऐसे-ही-ऐसे सैकड़ों पदों से कबीर साहब वास्तविक जुलाहे समझ पड़ते हैं। आप लड़कपन से ही धार्मिक थे, और उपदेश सुनने का चाव रखते थे। आप तिलक इत्यादि लगाकर राम-नाम जपा करते थे। कहते हैं, लोगों ने

इनसे कहा कि जब तक तुम निगुरे रहोगे, तब तक तिलक-जाप आदि से पूरा फल न होगा। इसी विचार से आपने प्रसिद्ध महर्षि स्वामी रामानंद को अपना गुरु बनाया। एक जुलाहे को शिष्य बनाने से स्वामीजी की महानुभावता प्रकट होती है।

कबीर साहब के धार्मिक सिद्धांतों में बहुत-सी बातें ऐसी भी निकलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आपको सूफ़ी-मत का अच्छा ज्ञान था। इसलिये, अथवा अन्य कारणों से, मौलवी ग़लाम-सरवर ने ख़ज़ीनतुल-आसफ़िया में आपको भौंसीवाले शैख़ तक्की का शिष्य कहा है। यह महाशय सूफ़ी-मत के पूर्ण ज्ञाता थे। सरवर महाशय का कथन है कि कबीर साहब को हिंदू लोग 'भगत कबीर' और मुसलमान 'पीर कबीर' कहते थे। कबीर महाशय ने अपनी कविता में शैख़ तक्की का नाम अवश्य लिया, किंतु उन्हें अपना गुरु नहीं कहा, वरन् 'सुनहु तकी तुम सेख' में आप उनसे अपना मत मनवान्सा रहे हैं। इधर कबीर साहब ने स्वामी रामानंद को कई बार साफ़-साफ़ गुरु कहा है। इससे शैख़ तक्की का गुरुपन अग्राह्य है। स्वामी रामानंद का पांडित्य अगाध था, और उनका सूफ़ियों से प्रायः वाद हुआ करता था। इसलिये उनके पट्ट शिष्य कबीर का सूफ़ी-सिद्धांत जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी रामानंद महात्मा रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे। महात्माजी वैष्णव थे। उन्होंने द्विज-मात्र को अपने शिष्यत्व में लिया, किंतु शूद्रों को रामानुजीय संप्रदाय में सम्मिलित हाने का अधिकार नहीं दिया। स्वामी रामानंद ने यह त्रुटि दूर करके शूद्रों को भी शिष्य बनाया, और इस प्रकार रामानुजीय संप्रदाय के अंतर्गत रामानंदी शाखा-संप्रदाय चलाया। आपने प्रसिद्ध भक्त रैदास-नामक चमार को भी शिष्य बना लिया। इतना करने पर भी स्वामी रामानंद एक जुलाहे मुसलमान को शिष्य बनाने पर तैयार न थे, और इधर कबीरदास को उन्हीं का शिष्य होने की लौ लगी थी। इसलिये आपने स्वामीजी का शिष्य बनने की एक अनोखी युक्ति निकाली। स्वामी रामानंद सूर्योदय के पूर्व मणिकर्णिका-घाट पर नित्य स्नान करने जाया करते थे। एक दिन कबीरदास उनके मार्ग का सीढ़ी पर लेट गए, और उनका पैर इनके सिर पर पड़ गया। बेचारे स्वामीजी 'राम-राम' कहकर अलग हो गए, किंतु कबीर ने तुरंत उठकर कहा—“आपने मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे राम-नाम का मंत्र दिया है, अतः मैं आपका शिष्य हो चुका।” स्वामीजी ने कबीर की शिष्यत्व पर ऐसी भक्ति देखकर उन्हें हृदय से लगाया, और शिष्य भी मान लिया। इस प्रकार कबीर साहब महात्मा रामानंद के शिष्य हुए।

कबीर साहब अशिक्षित थे। आपने जितनी कविता बनाई, वह मौखिक थी। बीजक में आप स्वयं लिखते हैं—

मसि - कागज छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ ;
चारिउ जुग का महातम कबिरा मुखहिँ जनाई बात ।

हज़ारों पद बनाने और अविचल भक्त होने पर भी आपने कपड़ा बुनने का अपना पैतृक व्यवसाय कभी नहीं छोड़ा, यद्यपि सुना जाता है कि वह यह भी कहा करते थे—

कासी का मैं वासी बाँभन, नाम मेरा परवीना ;
एक बार हारि-नाम विसारा, पकरि जोलाहा कीना ।
माई, मेरे कौन विनैगो ताना ।

रचना में भी आपने बार-बार जुलाहेपन की बातों का उल्लेख किया है, जिसके उदाहरण आगे दिए जायेंगे। आपका विवाह बनखंडी बैरागी की पालिता कन्या लोई के साथ हुआ था, जिससे आपके कमाल और कमाली-नामक पुत्र और कन्या उत्पन्न हुईं। लोई बड़ी सुंदरी थी, और उसने कबीर के सद्गुणों पर रीझकर इनका साथ पसंद किया था। कबीर साहब संत-संग को बहुत पसंद करते थे। एक बार इनके यहाँ कुछ संत ऐसे समय में आए, जब आतिथ्य करने को इनके पास कुछ भी न था। इस पर यह बड़े संकट में पड़े। तब लोई ने कहा—यदि आपकी इच्छा हो, तो एक साहूकार के उस बेटे से धन लाऊँ, जो मुझ पर मोहित है। कबीर ने संत-समादर के विचारसे यह भी स्वीकार कर लिया, और लोई ने रात को उसके पास जाने का वचन देकर धन प्राप्त किया, जिससे संतों का आतिथ्य हुआ। रात को जाने के समय बड़े ज़ोर से पानी बरसने लगा। तब भी कबीर साहब वचन रखने के लिये अपने कंधे पर चढ़ाकर लोई को साहूकार के पुत्र के यहाँ ले गए। जब उसने यह जाना, तब कबीर साहब के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी, और इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ऐसे माता-पिता पाकर भी कमाल उच्चतम आचरण न प्राप्त कर सका। उसके विषय में स्वयं कबीरदास लिखते हैं—

बूढ़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल ;
हरि का सुमिरन छोड़के घर ले आया माल ।

कबीर साहब जो कपड़ा बनाकर बाज़ार में बेचने ले जाते थे, उसे कभी-कभी बेचने के स्थान पर साधुओं को दे देते, और खाली हाथ घर लौट आते थे। ऐसे पुरुष को पुत्र की धन पर आसक्ति बुरी लगा ही चाहे।

कबीर साहब ने देश-देश घूमकर लौकिक ज्ञान का उपार्जन किया। आप बलाख तक गए। सत्य के इतने पक्षाती थे कि जो बात असत्य जँचती थी, उसकी तीव्र शब्दों में आलोचना अवश्य करते थे, चाहे इनके मत से उससे थोड़ा ही-सा

अंतर क्यों न हो। स्वयं संत और योगी थे, किंतु गृह-त्याग को पसंद न करने के कारण ऐसे लोगों की आपने निम्न-लिखित शब्दों द्वारा निंदा की है—

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा ;
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलै, काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा।

इसी भाँति हिंदू और मुसलमानों के सैकड़ों धार्मिक आचार-विचारों पर आपने शुद्ध भाव से तीव्र कटाक्ष किए हैं। 'भूठा रोज़ा, भूठी ईद'-जैसे वाक्य आपके मुख पर सदैव रहते थे। इन कारणों से बादशाह सिकंदर लोदी तक आपकी शिकायत पहुँची, और उसने इन्हें जंजीरों से बँधवाकर गंगाजी में फेंकवा दिया, किंतु यह किसी प्रकार बच गए। आपने स्वयं लिखा है—

गंग - लहर मेरी टूटी जँजीर ; मृगछाला पर बैठे कबीर।

कहु कबीर काउ संग न साथ ; जल-थल राखत हैं रघुनाथ।

इनके माहात्म्य-विषयक बहुत-से अन्य उपाख्यान भी प्रचलित हैं, जिनमें अप्राकृतिक घटनाओं का कथन है। उनका यहाँ समावेश नहीं किया जाता। धार्मिक विरोध से ही समझ पड़ता है कि अंत में आपको अपने जन्म-स्थान तथा आजन्म के निवास-स्थान काशी को छोड़ना पड़ा, यद्यपि आपके काशी छोड़ने का एक कारण यह भी था कि आप वहाँ मरने के कारण स्वर्ग प्राप्त करना निश्चय समझते थे। कहते हैं, काशी में मरने से मनुष्य स्वर्ग को अवश्य जाता है, और मगहर में शरीर छोड़ने से नरक को। इसी से कबीर साहब यह कहकर काशी से मगहर चले गए कि 'जो कविरा कासी मरै, तो रामै कौन निहोर ?' भक्ति-सुधा-विंदु-स्वाद का कथन है कि आपने संवत् १५४६ में मगहर पधारकर तीन वर्ष के अनंतर शरीर छोड़ा। कबीर-कसौटी में इस घटना का वर्णन निम्न-लिखित है—

पंद्रह सौ पचहत्तर किय मगहर को गौन ;

माघ-सुदी एकादशी रहो पौन में पौन।

(कबीर-कसौटी)

इनका शरीरांत होने पर हिंदू तथा मुसलमान शिष्यों में इनके अंतिम संस्कार के विषय में झगड़ा होने लगा, किंतु जब शव पर से चद्दर उठाई गई, तब उसके स्थान पर फूलों का ढेर मिला। इस पर फूलों के दो भाग करके एक भाग से हिंदुओं ने काशी में कबीर-चौरा बनाया, और दूसरा भाग मुसलमानों ने गाइफर मगहर में कब्र बनाई, जो अब तक मौजूद है। ये दोनों स्थान अब भी आपके पंथवालों के द्वारा पूजे जाते हैं। शव के स्थान पर फूलोंवाली कथा महात्मा नानक तथा चित्तौर-वाले बाप्पा रावल के विषय में भी प्रचलित है। समझ पड़ता है, किसी ने शव

हटाकर फूल रख दिए होंगे । महात्मा कबीरदास सिद्ध योगी थे । आपके धार्मिक विचार बहुत ऊँचे थे । इन बातों का कथन कुछ विस्तार के साथ आपके गुण-प्रदर्शन में किया जायगा ।

कबीर साहब के बहुत-से शिष्य इनके जीवन-काल ही में हो गए थे । इनके पीछे कबीर-पंथ अब तक चल रहा है । भारत में अब भी आठ-नव लाख मनुष्य कबीर-पंथी हैं । इनमें मुसलमान बहुत थोड़े हैं, और हिंदू बहुत अधिक । कबीर साहब का मान रीवाँ-नरेश ने बहुत किया । रीवाँ-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने बीजक, की टीका भी रची । कबीरदास के पीछे इनके मत की बारह शाखाएँ स्थापित हुईं, जिनके नेता निम्न-लिखित थे — श्रुतगोपाल, भगूदास, नारायणदास, चूड़ामणिदास, जगूदास, जीवनदास, कमाल, टाकशाली, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंद और कमलानंद । कबीर-पंथियों में त्यागी और गृहस्थ, दोनों हैं । इनका कोई दूसरा धर्म नहीं है, वरन् हिंदू कबीर-पंथी हिंदू हैं, और मुसलमान कबीर-पंथी मुसलमान । कबीर-पंथ उनका विश्वास-मात्र है । हिंदू कबीर-पंथी अधिकतर नीच जातियों के हैं, और इस पंथ के कई गुरु भी ऐसे ही हैं । वास्तव में तो कोई नीच जाति है ही नहीं, और सब हिंदू बराबर हैं, किंतु जैसा लोग प्रायः समझते हैं, उन विचारों से समझाने-भर को हिंदुओं में यहाँ ऊँची-नीची जातियों के कथन किए गए हैं ।

कबीरदास ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, वरन् केवल मुख से भाखे । इनके शिष्यों ने उन्हें लिपि-बद्ध किया । ऐसी दशा में उनमें बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है । बीजक ग्रंथ को भगूदास लेकर भागे थे । तभी से उनका नाम भगवानदास से भगूदास हो गया । विचार किया जाता है कि जब भगूदास ग्रंथ को लेकर भागे थे, तब उन्होंने उसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया होगा । वेस्कट महाशय का विचार है कि इस बात पर विश्वास करने के लिये दलीलें हैं कि कबीर की अधिकतर शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिंदू-धर्म के साँचे में ढल गई हैं । हमको समझ पड़ता है कि कुछ घटाने-बढ़ाने से इन महात्मा के उपदेशों में अंतर डालना कठिन था । आपने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, और सबमें एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है । आप राम-नाम की महिमा गाते थे, एक ही ईश्वर को मानते थे, कर्मकांड के घोर विरोधी और सखी-भाव के अविचल भक्त थे । अवतार, मूर्ति, रोज़ा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को नहीं मानते थे । अहिंसा, मनुष्य-मात्र की समता तथा संसार की असारता को इन्होंने बार-बार गाया है । यह उपनिषदों के विचारवाले ईश्वर को मानते थे, और साफ़ कहते थे कि वही शुद्ध ईश्वर है, चाहे उसे राम कहो या अल्ला । ऐसी दशा में शिष्यों

द्वारा पाठ-परिवर्तन से इनकी शिक्षाओं का प्रभाव उलटा नहीं जा सकता था । उन्हें उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त कर देने और नए बनाने पड़ेंगे ।

थोड़ा-सा उलट-पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता था कि राम-नाम अधिक न होकर सत्य-नाम अधिक हो । यह निश्चित बात है कि यह राम-नाम और सत्य-नाम, दोनों को भजनों में रखते थे । इन शब्दों के व्यवहार की मात्राओं में थोड़ा-सा घट-बढ़ हो जाने से शिक्षा उलट नहीं सकती । इसी प्रकार कुछ बदलने से दो-चार स्थानों पर प्रतिकूल शिक्षाएँ दिखाई जा सकेंगी, किंतु और कोई अंतर न पड़ेगा । प्रतिमा-पूजन इन्होंने निंदनीय माना तथा अवतारों का विचार सदा त्याज्य लिखा है । दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार-महिमा भी व्यक्त होता है । वे हमारी समझ में अवश्य प्रक्षिप्त हैं । कबीर साहब के मुख्य विचार उनके ग्रंथों में सूर्यवत् चमक रहे हैं । उन्हें कोई बदल नहीं सकता । असली विरोध हमको केवल आवागमन-सिद्धांत पर समझ पड़ता है, और यह नहीं जान पड़ता कि इस विषय में यह हिंदू-मत को मानते थे कि मुसलमानी को । अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिक्षाओं में नहीं देख पड़ता । इसलिये समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपि-वद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं । जब तक इन महात्मा का एक भी मुख्य ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिक्षाएँ संसार से हट नहीं सकती । आपने उन्हें प्रत्येक ग्रंथ में सौ-सौ बार दुहराकर कहा है ।

महात्मा कबीरदास के ग्रंथ बहुत-से मिलते हैं । जो ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, उनके नाम यहाँ लिखे जाते हैं—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) उग्रज्ञानमूलसिद्धांत, (४) ब्रह्मनिर्ूपण, (५) हंसमुक्तावली, (६) कबीर-परिचय की साखी, (७) शब्दावली, (८) पद, (९) साखियाँ, (१०) दोहे, (११) सुखनिधान, (१२) गोरखनाथ की गोष्ठी, (१३) कबीरपंजी, (१४) बलक की रमैनी, (१५) विवेक-सागर, (१६) विचारमाला, (१७) कायापंजी, (१८) रामरत्ना, (१९) अठपहरा, (२०) निर्भयज्ञान, (२१) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, (२२) रामानंद की गोष्ठी, (२३) आनंदराम, (२४) सागरमंगल, (२५) अनाथमंगल, (२६) अक्षर-भेद की रमैनी, (२७) अक्षर-खंड की रमैनी, (२८) अलिफ-नामा, (२९) अर्जुनामा, (३०) आरती, (३१) भक्ति का अंग, (३२) छप्पय, (३३) चौकाघर की रमैनी, (३४) ज्ञान-गूडड़ी, (३५) ज्ञानसागर, (३६) ज्ञान-सरोदय, (३७) कबीराष्टक, (३८) करमखंड की रमैनी

(३६) मुहम्मदबोधनाम-माहात्म्य, (४०) पिया पहिचानवे को अंग, (४१) पुकार कबीर-कृत, (४२) शब्द अलहदुक, (४३) साधु को अंग, (४४) सत-संग को अंग, (४५) स्वाँस गुंजार, (४६) तीसा-जंत्र, (४७) जन्मबोध, (४८) ज्ञानसंबोध, (४९) मखमोह, (५०) निर्भयज्ञान, (५१) सतनाम या सतकबीर, (५२) बानी, (५३) ज्ञान-स्तोत्र, (५४) सतकबीर बंदीछोरो, (५५) शब्द-वंशावली, (५६) उग्रगीता, (५७) वसंत, (५८) होली, (५९) रेखता, (६०) भूलना, (६१) खसरा, (६२) हिंडोला, (६३) वारहमासा, (६४) चौँचरा, (६५) चौँतीसा, (६६) रमैनी, (६७) बीजक, (६८) आगम, (६९) रामसागर, (७०) सोरठा, (७१) कबीरजी को कृत, (७२) शब्द पारखा, (७३) आदि ग्रंथ, (७४) ज्ञान-वत्तीसी और (७५) ज्ञान-तिलक । उपर्युक्त ग्रंथों में बहुत-से संदिग्ध भी हैं । कई ऐसे भी नाम हैं, जो अन्य ग्रंथों के भाग-मात्र समझ पड़ते हैं । हमने खोज में मिले हुए ग्रंथों के नाम यहाँ लिखे हैं । खोज से इतर दो-ही-चार नाम उपर्युक्त नामावली में हैं । आपके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि-ग्रंथ हैं । इनके सभी ग्रंथों में प्रायः वे ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं । इस ग्रंथ के लिखते समय हमने बेलवेडियर-प्रेस की छपी हुई चारो भाग शब्दावली, अखरावती, ज्ञान-गुदड़ी, रेखते और भूलने देखे हैं । इनके अतिरिक्त महात्मा पूर्णदास-कृत टीका-सहित बीजक तथा मनोरंजन-पुस्तकमाला की कबीर-वचनावली भी देखी गई हैं । पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने वचनावली को ऐसे परिश्रम और चातुरी से संगृहीत किया है कि यदि इसमें कुछ उल्टवाँसी और कठिन पद भी लिखे गए होते, तो पाठकों को इस एक ही ग्रंथ से कबीरदास की पूरी कविता का अच्छा परिचय मिल जाता । इन दो बातों के न लिखने पर भी संग्रह बहुत ही अनमोल है, और उपाध्यायजी की गुण-ग्राहकता की साक्षी देता है । बीजक में ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञानचौँतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसंत, चौँचरा, बेलि बिरहुली और हिंडोल सम्मिलित हैं । उपर्युक्त तीन भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे हैं । कबीर साहब के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उन सबका विषय एक ही-सा है । किसी में कोई कथा-प्रसंग नहीं, और सबमें मुक्तकों द्वारा कबीर के सिद्धांतों का कथन है । सबमें नए-नए छंदों द्वारा वे ही विचार सैकड़ों बार दुहराकर आए हैं । अतः जो पाठक केवल धार्मिक विचार जानने अथवा काव्यानंद के लिये इनके ग्रंथ पढ़ेंगे, उनके लिये इन सबका पढ़ना बड़े धैर्य का काम होगा । इसलिये इनके सब ग्रंथों से पढ़ने योग्य छंदों को उठाकर एक संग्रह-ग्रंथ बनाना इनके और लोक के साथ बड़ा उपकार करना है ।

द्वारा पाठ-परिवर्तन से इनकी शिद्दाओं का प्रभाव उलटा नहीं जा सकता था । उन्हें उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त कर देने और नए बनाने पड़ेंगे ।

थोड़ा-सा उलट-पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता था कि राम-नाम अधिक न होकर सत्य-नाम अधिक हो । यह निश्चित बात है कि यह राम-नाम और सत्य-नाम, दोनों को भजनों में रखते थे । इन शब्दों के व्यवहार की मात्राओं में थोड़ा-सा घट-बढ़ हो जाने से शिद्दा उलट नहीं सकती । इसी प्रकार कुछ बदलने से दो-चार स्थानों पर प्रतिकूल शिद्दाएँ दिखाई जा सकेंगी, किंतु और कोई अंतर न पड़ेगा । प्रतिमा-पूजन इन्होंने निंदनीय माना तथा अवतारों का विचार सदा त्याज्य लिखा है । दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार-महिमा भी व्यक्त होता है । वे हमारी समझ में अवश्य प्रक्षिप्त हैं । कबीर साहब के मुख्य विचार उनके ग्रंथों में सूर्यवत् चमक रहे हैं । उन्हें कोई बदल नहीं सकता । असली विरोध हमको केवल आवागमन-सिद्धांत पर समझ पड़ता है, और यह नहीं जान पड़ता कि इस विषय में यह हिंदू-मत को मानते थे कि मुसलमानी को । अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिद्दाओं में नहीं देख पड़ता । इसलिये समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपि-वद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिद्दाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं । जब तक इन महात्मा का एक भी मुख्य ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिद्दाएँ संसार से हट नहीं सकती । आपने उन्हें प्रत्येक ग्रंथ में सौ-सौ बार दुहराकर कहा है ।

महात्मा कबीरदास के ग्रंथ बहुत-से मिलते हैं । जो ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, उनके नाम यहाँ लिखे जाते हैं—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) उग्रज्ञानमूलसिद्धांत, (४) ब्रह्मनिर्ूपण, (५) हंसमुक्तावली, (६) कबीर-परिचय की साखी, (७) शब्दावली, (८) पद, (९) साखियाँ, (१०) दोहे, (११) सुखनिधान, (१२) गोरखनाथ की गोष्ठी, (१३) कबीरपंजी, (१४) बलक की रमैनी, (१५) विवेक-सागर, (१६) विचारमाला, (१७) कायापंजी, (१८) रामरत्ना, (१९) अठपहरा, (२०) निर्भयज्ञान, (२१) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, (२२) रामानंद की गोष्ठी, (२३) आनंदराम, (२४) सागरमंगल, (२५) अनाथमंगल, (२६) अक्षर-भेद की रमैनी, (२७) अक्षर-खंड की रमैनी, (२८) अलिफनामा, (२९) अर्जनामा, (३०) आरती, (३१) भक्ति का अंग, (३२) छुपय, (३३) चौकाघर की रमैनी, (३४) ज्ञान-गूडड़ी, (३५) ज्ञानसागर, (३६) ज्ञान-सरोदय, (३७) कबीराष्टक, (३८) करमखंड की रमैनी

(३६) मुहम्मदबोधनाम-माहात्म्य, (४०) पिया पहिचानवे को अंग, (४१) पुकार कबीर-कृत, (४२) शब्द अलहदुक, (४३) साधु को अंग, (४४) सत-संग को अंग, (४५) स्वाँस गुंजार, (४६) तीसा-जंत्र, (४७) जन्मबोध, (४८) ज्ञानसंबोध, (४९) मखमोह, (५०) निर्भयज्ञान, (५१) सतनाम या सतकबीर, (५२) बानी, (५३) ज्ञान-स्तोत्र, (५४) सतकबीर बंदीछोरो, (५५) शब्द-वंशावली, (५६) उग्रगीता, (५७) वसंत, (५८) होली, (५९) रेखता, (६०) भूलना, (६१) खसरा, (६२) हिंडोला, (६३) बारहमासा, (६४) चाँचरा, (६५) चौँतीसा, (६६) रमैनी, (६७) बीजक, (६८) आगम, (६९) रामसागर, (७०) सोरठा, (७१) कबीरजी को कृत, (७२) शब्द पारखा, (७३) आदि ग्रंथ, (७४) ज्ञान-वत्तीसी और (७५) ज्ञान-तिलक । उपर्युक्त ग्रंथों में बहुत-से संदिग्ध भी हैं । कई ऐसे भी नाम हैं, जो अन्य ग्रंथों के भाग-मात्र समझ पड़ते हैं । हमने खोज में मिले हुए ग्रंथों के नाम यहाँ लिखे हैं । खोज से इतर दो-ही-चार नाम उपर्युक्त नामावली में हैं । आपके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि-ग्रंथ हैं । इनके सभी ग्रंथों में प्रायः वे ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं । इस ग्रंथ के लिखते समय हमने बेलवेडियर-प्रेस की छपी हुई चारों भाग शब्दावली, अखरावती, ज्ञान-गुदड़ी, रेखते और भूलने देखे हैं । इनके अतिरिक्त महात्मा पूर्णदास-कृत टीका-सहित बीजक तथा मनोरंजन-पुस्तकमाला की कबीर-वचनावली भी देखी गई हैं । पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने वचनावली को ऐसे परिश्रम और चातुरी से संगृहीत किया है कि यदि इसमें कुछ उल्टवाँसी और कठिन पद भी लिखे गए होते, तो पाठकों को इस एक ही ग्रंथ से कबीरदास की पूरी कविता का अच्छा परिचय मिल जाता । इन दो बातों के न लिखने पर भी संग्रह बहुत ही अनमोल है, और उपाध्यायजी की गुण-ग्राहकता की साक्षी देता है । बीजक में ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञानचौँतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसंत, चाँचरा, बेलि बिरहुली और हिंडोल सम्मिलित हैं । उपर्युक्त तीन भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे हैं । कबीर साहब के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उन सबका विषय एक ही-सा है । किसी में कोई कथा-प्रसंग नहीं, और सबमें मुक्तकों द्वारा कबीर के सिद्धांतों का कथन है । सबमें नए-नए छंदों द्वारा वे ही विचार सैकड़ों बार दुहराकर आए हैं । अतः जो पाठक केवल धार्मिक विचार जानने अथवा काव्यानंद के लिये इनके ग्रंथ पढ़ेंगे, उनके लिये इन सबका पढ़ना बड़े धैर्य का काम होगा । इसलिये इनके सब ग्रंथों से पढ़ने योग्य छंदों को उठाकर एक संग्रह-ग्रंथ बनाना इनके और लोक के साथ बड़ा उपकार करना है ।

ऐसा ही ग्रंथ बनाकर पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय धन्यवादाई हुए हैं। कबीर महाशय के बहुत-से छंद नानक-पंथ के ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं। अब हम इन महात्मा के भावों को इन्हीं के शब्दों में कहकर उनके विषय में अपने विचार लिखेंगे।

ईश्वर

कबीर साहब ने अपने ग्रंथों में सबसे अधिक ईश्वर का वर्णन किया है। इसलिये इनके ईश्वर-संबंधी विचार-प्रदर्शक कुछ छंद यहाँ लिखे जाते हैं—

- (१) मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में ;
 ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी-गँडास में ।
 नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डी, ना मास में ;
 न मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना कावे-कैलास में ।
 ना तो कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं जोग-वैराग में ;
 खोजी होय, तो तुरतै मिलिहौँ पल-भर की तालास में ।
 मैं तो रहौँ सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ;
 कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सब साँसों की साँस में ।
- (२) कहूँ उस देस की वतियाँ ; जहाँ नहिँ होत दिन - रतियाँ ।
 नहीं रवि, चंद औ तारा ; नहीं उजियार अंधियारा ।
 नहीं तहँ पौन औ पानी ; गए वहि देस जिन जानी ।
 नहीं तहँ धरनि-आकासा ; करे कोइ संत तहँ वासा ।
 वहाँ गम काल की नाहीं ; तहाँ नहिँ धूप औ छाहीं ।
 न जोगी जोग से ध्यावै ; न तपसी देह जरवावै ।
 सहज में ध्यान से पावै ; सुरत का खेल जेहि आवै ।
 सुरंगं नाद नहिँ भाई ; न बाजै संख - सहनाई ।
 निहद्धर जाप तहँ जापै ; उठत धुन सुन्न से आपै ।
 मंदिर में दीप बहु बारी ; नयन बिन भई अंधियारी ।
 'कबीरा' देस है न्यारा ; लखै कोइ नाम का प्यारा ।
- (३) ताकर कौन रूप औ रेखा ; दूसर कौन आइ जो देखा ।
 ओ ओंकार आदि नहिँ बेदा ; ताकर कहूँ कौन कुल भेदा ।
 सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रगट भई एक जोत ;
 ताहि पुरुष की मैं बलिहारी निरालंब जो होत ।
 तहिया होत पवन नहिँ पानी ; तहिया सृष्टि कौन उतपानी ।

तहिया होत कली नहिँ फूला ; तहिया होत गर्भ नहिँ भूला ।
तहिया होत विद्या नहिँ बेदा ; तहिया हुते सब्द नहिँ स्वादा ।
तहिया हुते पिंड नहिँ वासू ; नहिँ घर, धरनि, न पवन अकासू ।
तहिया होत गुरू नहिँ चेला ; गम्य अगम्य न पंथ दुहेला ।

अविगति की क्या गति कहौ, जाके गाँव न ठाँव ;

गुनो बिहूना पेखना, का कहि लोजे नाँव ।

(४) साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय ;

दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय ।

एक कहों तो है नहीं, दोय कहों तो गारि ;

है जैसा तैसा अहै, कहै 'कबीर' विचारि ।

चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत ;

'कविरा' सुमिरै ताहि को, जेहि की भुजा अनंत ।

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान ;

निरगुन सरगुन के परे रहै हमारा न्यान ।

साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिँ ;

राई ते परबत करे, परबत राई माहिँ !

जाको राखै साँझ्याँ, मारि सकै नहिँ कोय ;

बारु न बाँका करि सकै, जो जग दैरी होय ।

भूला - भूला क्या फिरै, सिर पर बँध गइ बेल ;

तेरा साईं तुझमें ज्यों तिल माहीं तेल ।

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ;

तेरा तुझको सौंपते क्या लागत ह मोर ।

साधू मोरे सब बड़े अपनी - अपनी ठौर ;

सब्द बिबेकी पारखी सो माये को मोर ।

समझा का घर और है, अनसमझा का और ;

जा घर में साहब बसै, बिरला जानै ठौर ।

अच्छर घट में ऊपजे व्याकुल संसय सूल ;

किन अंडा निर्मायिया कहा अंड का मूल ।

पानी हूँ ते पातला, धूवाँ हूँ ते भीन ;

तिन हूँ ते अति ऊतला दोस्त 'कबीरा' कीन ।

गुरू झरोखे बैठिकै सबका मुजरा लेय ;

जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय ।

भवसागर जल बिल्व भरा मन नहिँ बाँधे धीर ;
सबद सनेही पिउ मिला उतरा पार 'कबीर' ।

(५) मेरी नजर में मोती आया है ;

कोइ कहे हल्का, कोइ कहे भारी, दोनो भूल-भुलाया है ।
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर थाके, तिनहूँ खोज न पाया है ;
सेस, सारदा पढ़ि रटि हारे, संकर बहु गुन गाया है ।
है तिल के तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है ;
चहुँ दल कमल तिरपुटी साजे ररंकार दरसाया है ।
ररंकार पद सेत सुभ्र सध खटदल कमल बताया है ;
पारब्रह्म महुँ सुभ मंभारा सोइ निहिँ अछुर रहाया है ।
भैवरगुफा में सोइहं राजै मुरली अधिक बजाया है ;
सत्तलोक सतपुरुष विराजै अलख अगम दोउ भाया है ।
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्महुँ पार जो गाया है ;
यह सब बातें देही मंदिर प्रतिविंव अंड जु पाया है ।
प्रतिविंव पिंड ब्रह्माँड है नकली असली पार बताया है ;
कह 'कबीर' सत्तलोक सार है पुरुष नियारा पाया है ।

(६) संतो बीजक मत परमाना ;

कैयक खोजी खोजि थके, कोइ विरला जन पहिँ चाना ।
चारिउ जुग औ निगम चार औ गावैं ग्रंथ अपारा ;
विष्णु, विरंचि, रुद्र, ऋषि गावैं, सेस न पावैं पारा ।
कोइ निरगुन-सरगुन ठहरावैं, कोइ जोति बतावैं ;
नाम धनी का सब ठहरावैं, रूप को नहीं लखावैं ।
कोउ सूछम असथूल बतावैं, कोउ अच्छर निज साँचा ;
सतगुरु कहैं विरला पहिँचानै, भूला फिरा असँचा ।
लोभ के भक्ति सरे नहिँ कामा साहिव परम सयाना ;
अगम, अगोचर धाम धनी का, सब कहैं हूँ जाना ।
दिखै न पंथ, मिलै नहिँ पंथी, दूँदत ठौर-ठिकाना ;
कोउ ठहरावैं सून्यक कीन्हा जोति एक परमाना ।
कोउ कह रूप-रेख नहिँ वाके, धरत कौन को ध्याना ;
रोम रोम में परगट करता, काहे भरम भुलाना ।
पच्छ, अपच्छ, सबै पचि हारे, करता कोइ न विचारा ;
कौन रूप है साँचा साहब नहिँ कोई निरवारा ।

बहु परचय परतीति दृढ़ावै, साँचे को बिसरावै ;
 कलपत कोटि जनम जुग बीतै, दरसन कतहुँ न पावै !
 परमदयालु, परमपुरुषोत्तम, तेहि चीन्हे ना कोई ;
 ततहर हाल निहाल करत है रीभत है निज सोई ।
 बधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै नाना मत का ज्ञानी ;
 बीजक - मत कोई बिरला जानै, भूलि फिरे अभिमानी ।
 कह 'कबीर' करता में सब हैं, करता सकल समाना ;
 भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझे संत सुजाना ।

उपर्युक्त दोनो पदों में कबीरदास ने थोड़े में बहुत कुछ कहा है। चहुँदल कमल, तिरपुटी, सेत सुत्र, षट्दलकमल, भँवरगुफा, मुरली (अनहद नाद), प्रतिविम्ब (जीव), पिंड (शरीर), पार (परे, परब्रह्म) आदि योग तथा वेदांत-संबंधी शब्द हैं, जो कबीर का इन शास्त्रोंवाला ज्ञान प्रकट करते हैं। ररंकार से रम्-रम् आकार अर्थात् राम-राम का प्रयोजन है। इसमें योग-संबंधी नादवाले विचार भी आ जाते हैं। निर्गुण, सगुण, ज्योति, सूक्ष्म, स्थूल, अक्षर (अविनाशी), अगम, अगोचर, रेख, रूप आदि भी ईश्वर-संबंधी पद्मापन्न-विचारों में आए हैं। इनमें बहुत-से अभावात्मक विचार हैं, और उनके संबंध में भावात्मक शब्द पद्मापन्न-विचार में दिखाए गए हैं। मुख्यता अभावात्मक (Negative) विचारों की ही रही है। यही उपनिषदों का ढंग है। परमदयालु, परमपुरुषोत्तम से भगुणवाद चल पड़ता है। कर्ता में सबका होना और सबमें कर्ता का होना अद्वैत विचार दिखलाता है। इन शब्दों से कबीरदास की बहुज्ञता प्रकट होती है। साहित्य-गौरव में भी ये दोनो पद बहुत अच्छे हैं।

(७) एकै काल सकल संसारा ; एक नाम है जगत पियारा ।
 त्रिया पुरुष कछु कहो न जाई ; सर्वरूप जग रहा समाई ।
 रूप, अरूप जाइ नहिँ बोली ; हलुका गरुआ जाय न तोली ।
 भूख न तृखा, धूप नहिँ छाँहीं ; दुख-सुख-रहित रहै तेहि माहीं ।

अरस-परस कछु रूप गुन, नहिँ तहँ संख्या आहि ;
 कहै कबीर पुकारि कै अदभुत कहिए ताहि ।
 कुसलै-कुसल कहत जग बिनसै, कुसल काल की फाँसी हो ;
 कह 'कबीर' सब दुनिया बिनसल, रहल राम अविनासी हो ।

बाबा अगम अगोचर कैसा ;
 ताते कहि समझाऊँ ऐसा ।

जो दीसै सो तो है नाहीं, है, सो कहा न जाई ;
 सैना - बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई ।
 दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै विनसै नाहिँ न्यारा ;
 ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करौ विचारा ।
 विन देखे परतीति न आवै, कहे न कोउ पतियाना ;
 समझा होइ सो सबदै चीन्है, अचरज होय अयाना ।
 कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा ;
 वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जाननहारा ।
 काजी कथै कतेब कुराना, पंडित वेद - पुराना ;
 वह अच्छर तौ लखो न जाई मात्रा लगै न काना ।
 नादी - वादी पढ़ना - गुनना बहु चतुराई थीना ;
 कह 'कबीर' सो परै न परलै, नाम - भक्ति जिन चीना ।

अबधू कुदरत की गति न्यारी ;

रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी ।
 एते लवंगे फल नहिँ लगै, चंदन फूल न फूलै ;
 मच्छ सिकारी रमै जंगल में सिंध समुद्रहिँ भूलै ।
 रेंडा रूख भया मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटी बासा ;
 तीन लोक ब्रह्मंड खंड में देखै अंध तमासा ।
 पंगुरु मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ;
 गूँगा ज्ञान - विज्ञान प्रकासै, अनहद बानी बोलै ।

(८) रूप - सरूप कछु तहँ नाहीं ; ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं ।
 अरज तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है ।
 नहिँ निरगुन, नहिँ सरगुन-भाई, नहिँ सूक्ष्म-अस्थूल ;
 नहिँ अच्छर, नहिँ अविगत भाई, ये सब जग की भूल ।
 जहाँ करम की गति कछु नाहीं, कह 'कबीर' हम जाना ;
 हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरवाना ।
 सहज कमल में झिलमिल दरसै, आपुइ वसत अपारा ;
 जोति-सरूप सकल जग व्यापी, अघट पुरुष है पारा ।
 सुन्न सहर में वास हमारा, जहँ सरबंगी जावै ;
 साहब 'कबीर' सदा के संगी, सबद महल लै आवै ।
 किंगरी, सारंग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ;
 द्वादस भानु उए उजियारा, खटदलकवलमभारसबद ररकारा है ।

कोटिन भानु उदय जो होई, एते ही पुन - चंद्र लखोई ;
 पुस रोम सम एक न होई, ऐस पुरुष दीदारा है ।
 प्रथम एक जो आवै आप, निराकार, निरगुन, निरजाप ;
 नहिं तब भूमि, पवन, आकासा, नहिं तब पावक, नीर निवासा ।
 कहै 'कबीर बिचारि कै, जाके बर्न न गाँव ;
 निराकार औ निर्गुना है पूरन सब ठाँव ।

आगे सून्य, स्वरूप अलख नहिं लखि परै ;
 तत्त्व निरंजन जान, भ्रम जनि चित धरै ।
 जाके दरसन साहब दरसैं अनहद सबद सुनावै ;
 माया के सुख दुख करि जानैसरगुनसुपनचलावै ।
 पूरि रह्यो असमान, धरनि में, जित देखो, तित सहब मेरा ;
 तसबी एक दिया मेरे साहब, दास 'कबीर' दिलहि बिच फेरा ।

अनहद नाद (ईश्वर-संबंधी)

पाँच तत्त्व कर पूतरा, जुक्ति रची मैं कीव ;
 मैं तोहिं पूछौं पंडिता, सबद बड़ा की जीव ।
 सत्त सबद परमान, अनहद वानी जो दृढ़ै ;
 और भूठ सब ज्ञान, कहै 'कबीर' बिचारि कै ।
 सत्रह संख्या पर अधर दीप जहँ सबदातीत बिराजै ;
 निरतै सखी बहू बिधि सोभा, अनहद बाजा बाजै ।
 सहस औ द्वादसै रूह हैं संग में, करत कल्लोल अनहद बजाई ।
 वह तीन लोक ते भिन्न राज; तहँ अनहद धुनि चहुँ पास बाज ।
 मुरली बजत अखंड सदा ये तहँ सोऽहं भनकारा है ।
 खोइस भानु हंस को रूप; बीना-सम धुनि बजै अनूप ।
 सबद - भेद जो जानही, सो पूरा कँड़हार ;
 कह 'कबीर' धूमच्छ है सोऽहं सबदहिं पार ।

यहि घट चंदा, यहि घट सूर; यहि घट गाजै अनहद तूर ।
 यहि घट बाजै तबल निसान; बहिरा सबद सुनै नहिं कान ।

अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)

तत्त्वमसी इनके उपदेसा; इ उपनिषत कहैं संदेसा ।

साधो एक रूप सब माहीं;
 अपने मनहिं बिचारि कै देखो, और दूसरा नाहीं ।
 एकै तुचा, रुधिर पुनि एकै बिप्र, सूद्र के माहीं ;

कहीं नारि, कहिँ नर होइ बोलैं, गैव पुरुष वह आहीं ।
 आपै गुरु होइ मंत्र देत हैं, सिष होइ सबै सुनाहीं ;
 जो जस गहै, लहै तस मारग, तिनके सत गुरु आहीं ।
 सब्द पुकार सत्त मैं भाषौं, अंतर राखौं नाहीं ;
 कहै 'कबीर' ज्ञान जेहि निर्मल, विरले ताहि लखाहीं ।

दया कौन पर कीजिए, का पर निर्दय होय ;

साँई के सब जीव हैं कीरी, कुंजर दोय ।

बीज मध्य ज्यों विरछा दरसै, विरछा मद्धे छाया ;
 परमात्म में आत्म तैसे, आत्म मद्धे माया ।
 ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अंड आकारा ;
 निह अच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तारा ।
 ज्यों रवि मद्धे किरन देखिए, किरन मध्य परकासा ;
 परमात्म में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा ।
 स्वासा मद्धे सबद देखिए, अर्थ सबद के माहीं ;
 ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन इमि न्यारा, मिला सदाहीं ।
 आपहि बीज, वृच्छ, अंकुरा, आप फूल, फल, छाया ;
 आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया ।
 अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया ;
 निहअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया ।
 आत्म में परमात्म दरसै, परमात्म में भाँई ;
 भाँई में परछाई दरसै, लखै 'कबीरा' साँई ।
 ज्ञान के कारन करम कमाय ; होय ज्ञान तव करम नसाय ।
 फल - कारन फूलै वनराय ; फल लागे पर फूल सुखाय ।
 मिरग पास कस्तूरी बास ; आपु न खोजै, खोजै घास ।
 पारैं पिंड मीन लै खाई ; कह 'कबीर' लोगन बौराई ।

साधो, एक आपु जग माहीं ;

दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं ।

जल - तरंग जिमि जल ते उपजै, फिरि जल माहिँ रमाई ;

काया भाँई पाँच तत्त्व का बिनसे कहाँ समाई ।

आप ही भक्त, भगवंत है आप ही और नहिँ दूसरा, अर्ज सुने री ;
 मुक्त होवै छुटै बंधन सेती तबै कौन सो मरै तिसै कौन मारै ;
 अहंकार तजै, भय रहित होवै, तबै कौन तरै तिसै कौन तारै ।

हुब्बाव तो है उठनेहि में जी है बैठने में मतलब खुदा ;
हुब्बाव दरथाव 'कबीर' है जो दुजा नाम बोलै सोइ बुदबुदा ।
सुन्न का बुदबुदा, सुन्न उतपत भया, सुन्न ही माहिँ फिरि गुप्त होई ;
जाप अजपा जपो, अलख आपै लखो, बाहरे-भीतरे एक सोई ।
चोट कापै करौं, उलटि आपै डरौं, जहाँ देखौं, तहाँ प्रान मेरा ।

भजूँ, तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन ;

भजन - तजन के मध्य में सो 'कबीर' मन मान ।

वह तत यह तत एक है, एक प्रान, दुइ गात ;

अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात ।

उपर्युक्त छंदों में महात्मा कबीर के ईश्वर-संबंधी विचारों का सारांश लिखा गया है। इन पर विचार करने के पूर्व इस विषय से मिलते-जुलते उपनिषदों आदि में लिखित हिंदू सिद्धांतों का कुछ कथन आवश्यक समझ पड़ता है। ईश्वर की पूजा एक साकार रूपादि-संबंधी है, और दूसरी निराकार अलख की। इन्हें दार्शनिक शब्दों में व्यक्त और अव्यक्त मार्ग कहते हैं। उपासक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो मुख्यतया केवल ज्ञान से काम लेते हैं, और दूसरे वे, जो प्रेम की प्रधानता रखते हैं। ये दो शुद्ध तार्किक विभाग हैं। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य ज्ञान और प्रेम, दोनों रखता है। उपासक लोगों में अंतर इतना ही रहता है कि बुद्धि तथा प्रेम की मात्राएँ उनमें घट-बढ़ रहती हैं, अर्थात् किसी में प्रेम की न्यूनाधिक प्रधानता रहती है और किसी में बुद्धि की। ऋषियों ने पृथक्-पृथक् स्वभाववाले मनुष्यों के योग्य पृथक्-पृथक् विद्याएँ रची हैं, जिन्हें उपासना भी कहते हैं। ये निर्गुणात्मिका तथा सगुणात्मिका होती हैं। इनके दो-दो भाग हैं—सात्त्विक तथा राजस ।

राजस में कुछ-न कुछ स्वार्थ लगा रहता है, किंतु सात्त्विक में नहीं। इसी-लिये उपनिषदें राजसिक विद्याओं का वर्णन न करके सात्त्विक का करती हैं। सात्त्विक उपासना दो प्रकार की होती है—अहंग्रह और प्रतीक। प्रतीक शब्द प्रतिमा से संबंध रखता है, और अहंग्रह आत्मा से। अद्वैतवाद का मूलाधार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) है। यहाँ वह से प्रयोजन ईश्वर का है, और तू से जीवात्मा का। इस वाक्य का लक्ष्य ब्रह्म है। बृहदारण्यक में 'अयमस्मि' से यही भाव निकलता है। अद्वैतवाद दोनों को एक मानता है, और ऐसा मत प्रकट करता है कि जीवात्मा का अविद्या-जन्य अहंकार ही उसे दिखलाने-भर को परमात्मा से पृथक् करते हुए समझ पड़ता है। अद्वैतवाद में प्रकृति या जीवात्मा सत् नहीं है; जो है, सो परमात्मा-ही-परमात्मा है। यह वाद उपनिषदों से

निकलता है, और शंकराचार्य ने इसे पुष्ट किया। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-नामक चार और प्रधान मत हैं, जो ईश्वर के अतिरिक्त जीवात्मा तथा प्रकृति को न्यूनाधिक रीति से सत् अथवा सत् के समान मानते हैं।

मानुष-शरीर में सोलह चक्र माने गए हैं, जिनका योग-शास्त्र से संबंध है। योग में अभ्यास की प्रधानता है। अभ्यास ही से योगी की अधिकाधिक वृद्धि होती है। योगी समाधि में जो कुछ देखता या सुनता है, उससे इस वृद्धि की जाँच करता है। इसी देखने और सुनने का संबंध ईश्वर-संबंधी ज्योति और अनहद नाद से है। जब समाधि की अवस्था में योगी की चौदहो इंद्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अर्थात् वह पाँचो ज्ञानेन्द्रियों, पाँचो कर्मेन्द्रियों और तःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से कुछ काम नहीं लेता, तब उसको त्रिपुटी (भौहों के बीचवाले स्थान) में एक ज्योति देख पड़ती है। अभ्यास के साथ यह ज्योति क्रमशः १६ रूपों में दिखाई देती है, जिनके प्रथम नौ रूप निम्न-लिखित हैं—नीहार (ओस), धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), तडित् (विजली), स्फटिक और चंद्र। ये नाम केवल समता-प्रदर्शन के लिये कहे गए हैं। ज्योति के इनसे ऊँचे जो और सात रूप हैं, वे केवल योगियों को ज्ञात हैं, सर्व-साधारण को नहीं बतलाए जा सकते। सुनने से संबंध शब्द (अर्थात् अनहद नाद) का है। ओ३म् की सोलह कलाएँ अथवा मात्राएँ होती हैं। इन सोलहो पर क्रमशः पूर्ण अधिकार करने पर योगी प्रणव को समझता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसी को नाद भी कहते हैं। संसार की सब शक्तियों का मिलकर जो स्फुरण होता है, वही प्रणव या नाद है। यह नाद निरंतर हुआ करता है, इसीलिये इसे अनहद (अनाहत) कहते हैं। इसी को दशनादम् भी कहा है, जिन्हें योगी लोग सुनते हैं। नादविंदु - उपनिषत् में ११ नाद कहे गए हैं, जिनकी उपमा इन नादों से दी गई है—१. जलधि-तरंग, २. घन-गरज, ३. मेरी, ४. निर्भर (पहाड़ी नदी), ५. मृदंग, ६. घंटा, ७. वेणु, ८. किकिणी, ९. वंशी, १०. वीणा, ११. भ्रमर।

जो-जो पदार्थ यहाँ लिखे गए हैं, उनके शब्दों से प्रयोजन है। इस ध्वनि-संबंधी उन्नति की तीन कक्षाएँ हैं। उपर्युक्त पहली चार ध्वनियाँ प्रथम कक्षा से संबंध रखती हैं। इसी तरह नंबर ५ से ७ तक दूसरी कक्षा से और अंतिम चार तीसरी कक्षा से संबद्ध हैं। इनके आगे भी अन्य ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं, जिनका कथन शब्दों में नहीं हो सकता। सात शब्द नीचे प्रकार के माने गए हैं, तथा इनसे ऊपर कुछ और उच्च प्रकार के शब्द कहे गए हैं। जैसे दर्शन-संबंधी १६ प्रकार ऊपर दिखलाए गए हैं, वैसे ही श्रवण-संबंधी १८ शब्द समझ पड़ते हैं।

षोडश कला-युक्त पुरुष ब्रह्म है। जब ब्रह्म का पूर्ण ध्यान होता है, तब कलाओं का विचार नहीं होता, और वे (कलाएँ) मिली हुई समझी जाती हैं। ऐसी दशा में ईश्वर को निष्कल कहते हैं। जब कलाओं पर ध्यान रखकर ईश्वर पर विचार होता है, तब उसको सकल कहते हैं। परब्रह्म निष्कल है, और अपरब्रह्म सकल। इन सोलहो कलाओं की उपमा चंद्रमा की सोलहो कलाओं से दी जाती है, यहाँ तक कि ईश्वरीय और चांद्र कलाओं के नाम भी एक ही हैं, यथा—अमृत, मानत, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिना, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रति, अंगदा, पूर्ण और पूर्णामृत। इसी उपासना को षोडशकल-पुरुष-विद्या कहते हैं, जिसमें निर्गुण-ध्यान और सगुणोपासना, दोनों सम्मिलित हैं।

अवतारों, पैगंबरों, सिद्धों आदि के प्रति पूजन अथवा मान प्रतीक-उपासना से ही संबंध रखता है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार की प्रतिमा-मात्र है। निर्गुण-उपासना प्रतीक-उपासना से ऊँची है, किंतु उसमें भी सगुणत्व एवं प्रतीकत्व लगा है; सो वह भी बुद्धि की अपेक्षा प्रधानतः प्रेम-मार्ग से ही संबंध रखती है। सबसे पहले प्रतीक-उपासना का दर्जा है। उससे बढ़कर सगुण-उपासना की पात्रता आती है, और उससे भी आगे निर्गुण का पद है, जो प्रेम से विशेष संबंध न रखकर प्रधानतः निर्विशेष ज्ञान का विषय है; निर्विशेष ज्ञान को ही प्रेमी लोग तल्लीनता कहते हैं। इसीलिये स्थूल प्रकार से सगुण की उपासना तथा निर्गुण का ज्ञान कहा गया है। वास्तविक ईश्वर इन दोनों से ऊपर है। ये दोनों सिखलाने-भर को हैं। जब रेखागणित सिखलाया जाता है, तब यह पढ़ाया जाता है कि रेखा में लंबाई है, किंतु चौड़ाई बिल्कुल नहीं। यह बतलाने को बोर्ड पर एक रेखा भी खींची जाती है, किंतु वह स्वयं अशुद्ध है; क्योंकि बिना चौड़ाई के रेखा सोची तो जा सकती है, खींची नहीं जा सकती। फिर भी बिना इसके रेखागणित समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान देने के निर्गुण और सगुण-विचार साधन-मात्र हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने कहा है कि ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमें एक गुण स्थापित करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि उसमें अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर का विचार पूरुषतया शब्दों में कहा नहीं जा सकता, वरन् इशारे से समझाया जा सकता है। अतएव कहते हैं कि ईश्वर का असली अहंग्रह भाव सगुण और निर्गुण, दोनों से ऊपर है। उपासना और ज्ञान निर्गुण और सगुण, दोनों ही में होते हैं।

निर्गुण-सगुण-विचारों का अपने यहाँ मनोरंजक इतिहास है। वेदों में तैत्तिरीय देवताओं की मुख्यता है, और उन्हीं को यज्ञों से प्रसन्न किया जाता था। फिर भी

इतना कहा गया कि वे केवल ईश्वरीय शक्ति से सबल हैं, अपनी से नहीं। वह ईश्वर कैसा है, सो वेदों में बहुत करके अकथित है। पीछे से ब्राह्मण तथा सौत्र कालीन सभ्यता में कर्मकांडीय यज्ञों का तो पूरा प्रचार रहा, किंतु ज्ञानकांड के संबंध में यह भाव उठा कि जिन इंद्रादि देवताओं में अपना निजी बल नहीं है, वे महान् कैसे ? इस प्रकार औपनिषत् ज्ञान एक ईश्वर की ओर झुका, विशेषतया उसके निगुण भाव पर। उपनिषदों ने बहुधा उसे अव्यय, अलोहित, अस्नाविर, अरूप आदि कहा। अनंतर यह भाव उठने लगा कि जो ईश्वर अपने से कोई विशिष्ट संबंध रखता ही नहीं, वह आराध्य नहीं है। इस प्रकार बृहस्पति के अनीश्वरवादी चार्वाक सिद्धांत से लोक-रक्षा करने को महर्षि कपिल, जैमिनि और गौतम बुद्ध के उपदेशों ने जन्म लिया, किंतु समय पर उन्हीं से बढ़कर भारत में अनीश्वरवाद चलने लगा, जिसका समाज में प्रतिकार परमसत्य-किंतु शुष्क निगुणवाद न कर सका। तब महर्षि वादरायण व्यास ने श्रीभगवद्गीता द्वारा पहलेपहल कुछ स्थूल सगुणवाद का दृढ़ प्रचार किया। इसमें प्रतीकत्व आधिक्य से नहीं है। गंगा की महत्ता है, किंतु उनमें स्नान से कोई फल नहीं कथित है। प्रतिमा-पूजन भी गीता में नहीं है। हरप्पा और मोहंजोदड़ो में ३३वीं तथा २८वीं शताब्दी संवत् पूर्व की सभ्यता निकली है। उसमें शिवलिंग पाए गए हैं, किंतु 'न तस्य प्रतिमास्ति' द्वारा वेद ने आर्यों में प्रतिमा-पूजन न आने दिया। बौद्ध-काल के पूर्व तक अनार्यों में तो प्रतिमा-पूजन मिलता है, किंतु आर्यों में नहीं। प्रतिमा भी केवल लक्ष्मी की मिली है, सो भी सांकेतिक, और उसके पूजन का वर्णन नहीं है। बुद्ध भगवान् के पीछे यहाँ प्रतिमा-पूजन चला, जो तुकों, शकों, हूणों आदि के हिंदू बनाने से और बढ़ा। इन्हीं लोगों के प्रभाव से पाप-स्वीकृति, तौबा आदि की नकल पर अपने यहाँ भी तीर्थ-स्नान आदि द्वारा पाप-विमोचन की प्रणाली चली। वेदादि में भी पाप - विमोचन पर बिनतियाँ सवितर आदि से की गई, किंतु पीछे की भाँति उसमें भारी सुगमता न थी। अब तीर्थ-स्नान, प्रतिमा-पूजन आदि के ही सहारे से हिंदू-धर्म चल रहा है। भक्ति इन्हीं पर बहुधा अवलंबित रहती है। भारत में गीता के पूर्व स्वल्प सगुणत्व के साथ निगुण ब्रह्म का प्रचार था, और पीछे मुख्यतया सगुणत्व का हुआ। अनंतर मोटिया सगुणत्व दिनोदिन बढ़ता आया है। दार्शनिकों का विचार है कि योग द्वारा जो ज्योति और शब्द का ज्ञान होता है (जिसका कथन ऊपर हो चुका है), वह एक प्रकार से अप्राकृतिक है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अनहद नाद और ज्योति के ज्ञान, जो समाधि से प्राप्त होते हैं, वे भी अप्राकृतिक न होकर प्राकृतिक-सात्र हैं, और जैसा साधारण शब्दों तथा रूपों का

ईश्वर से संबंध है, वैसा ही उनका भी, उससे विशेष कुछ भी नहीं; अर्थात् उन ज्योतियों तथा नादों में कोई विशेष ईश्वरीय सत्ता नहीं है, जो कुछ है, वह साधारणी सत्ता-मात्र है । उनका विचार है कि कर्णेंद्रिय को सदैव काम करने का अभ्यास है; अतः जब हम उससे कोई भी काम नहीं लेना चाहते, जैसा समाधि-अवस्था में होता है, तब वह ऐसे शब्दों को पकड़ती है, जो हमारी इच्छा-शक्ति की जाग्रत अवस्था में उस(कर्णेंद्रिय)के लिये अति सूक्ष्म होने के कारण सुन नहीं पड़ते । ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों शक्ति बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि समाधिस्थ मनुष्य अंत में ऐसे-ऐसे शब्द सुनने लगता है, जो उसे अप्राकृतिक और ईश्वरीय समझ पड़ते हैं । इसी प्रकार नेत्र बंद करके समाधि लगाने से आँख में जो देखने के स्नायु हैं, उनका प्राकृतिक स्फुरण होने से उन्हें त्रिपुटी में ज्योति देख पड़ने लगती है, जिसके रूप अभ्यास-वृद्धि के साथ बदलते जाते हैं । इन्हीं रूपों को योगी ईश्वरीय ज्योति का साक्षी मानने लगता है, यद्यपि सूक्ष्मता का विचार छोड़ देने से इनमें साधारण पदार्थों के देखने से बढ़कर कोई भी मुख्य ईश्वरीयता नहीं है । यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों में इस विषय पर कोई वास्तविक भेद है भी नहीं, क्योंकि दार्शनिक भी इन्हें वास्तव में अप्राकृतिक नहीं मानते । वे केवल इनकी सूक्ष्मता पर जोर देते हैं । इस विषय पर अपने को मत-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं है । इतना हर तरह से मानना पड़ता है कि योगी जो ज्योति देखता और शब्द सुनता है, उसके आकार-प्रकार साधारण ज्ञान से सूक्ष्मतर हैं । जब सभी बातों में ईश्वरीय शक्ति है, तब सूक्ष्म बातों में उसकी कुछ अधिकता अवश्य-मेव होगी ।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होगा कि हिंदू-मत में ईश्वरीय भाव बहुत ही ऊँचा है । अब हम कबीर साहब के ईश्वर-संबंधी कथनों पर विचार करते हैं । आपने कहा है कि ईश्वर में सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है, किंतु बंदा (आदमी) नहीं कर सकता । इससे ईश्वर ही में शक्ति है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है । कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वरवाद पर बहुत बड़ा जोर दिया है । 'सैना बैना' से 'गूँगे के गुड़' की भाँति समझाने में आपने शून्य, ज्योति और शब्द या अनहद नाद, इन तीन बातों पर विशेष जोर दिया है । शून्यवाद अनीश्वरवाद को कहते हैं, और ईश्वरवाद में भी शून्य का वर्णन आता है । ईश्वर को बार-बार शून्य शहर का वासी आदि कहकर कबीर साहब ने यह व्यक्त किया है कि अद्वैतवाद सत्य है, अथच ईश्वर के अतिरिक्त प्रकृति, जीवात्मा आदि कुछ भी सत् नहीं हैं, क्योंकि यदि वे सत् होते, तो

ईश्वर के अतिरिक्त और भी पदार्थ होते, और वह शून्य का निवासी न होता। योग में इंद्रियों के शून्यप्राय कर देने से ही ज्योति का दर्शन होता है। इससे कबीर साहब ने शून्य का अधिक वर्णन करके यह भी दिखलाया है कि इंद्रियों की अकर्मण्यता अर्थात् लय द्वारा ज्योति-दर्शन होनेवाला योग का विचार सत्य है।

इस प्रकार 'शून्य' के कथन द्वारा कबीर साहब ने, हमारी समझ में, अद्वैत मत, अथवा योग की ज्योति एवं शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द, नाद आदि से आपका प्रयोजन अनहद नाद से है, जैसा आपने कहा भी है। आपने अनहद ढोल, अनहद घंट और नाद, इन तीनों बातों का इस संबंध में विशेष कथन किया है। ये सब बातें योग-शास्त्र के विचारों तथा अनुभवों से पूरी-पूरी मिल जाती हैं, जैसा ऊपर वर्णित है। शब्द को आप रंकार-मूलक मानकर राम-नाम को पूज्य समझते हैं। इतनी ही पोप-लीला आपके कथनों में है, या यों कहें कि समझ पड़ती है। योग के चार स्थूल विभाग हैं—राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग। कबीर साहब का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

ईश्वर के संबंध में आपका विचार बहुत ही ऊँचा है। इससे ऊँचा भाव आज तक शायद किसी भारी हिंदी-कवि ने नहीं प्रकट किया। आपने साफ़ कह दिया है कि ईश्वरीय विचार सगुण और निर्गुण, दोनों से ऊँचा है। यह भी प्रकट रूप से कहा गया है कि भक्ति सगुण ईश्वर की करे, और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे; किंतु ये दोनों बातें समझाने-भर को हैं, क्योंकि असली ईश्वर इन दोनों से परे है। प्रतीक-उपासना की आपने पूरे बल के साथ निंदा की है। प्रतिमा, अवतार, पैगंबर, मुल्ला, काज़ी, ब्राह्मण आदि में से आप किसी को पूज्य नहीं मानते, और सद्गुण पर ही जोर देते हैं। यह महात्मा उपनिषदों की सच्ची संतान थे। इन्होंने सिवा सच्चे, चोखे ज्ञान के और कुछ भी नहीं कहा, और समझाने-बुझाने आदि के लिये किसी प्रकार ईश्वरीय विचार की सत्यता में तिल-मात्र असत्यता नहीं घुसने दी। सत्य-कथन का इस महात्मा को इतना चाव था कि चाहे भ्दा-पन भी आ जाय, विरोध हो जाय, स्त्री का सतीत्व तक भ्रष्ट हो जाय, किंतु मुख से असत्य बात न निकले, और कर्मों में असत्यता का आवेश न हो। हिंदू दार्शनिक सिद्धांतों में आपने अद्वैतवाद को पूर्ण बल के साथ अपनाया, किंतु, फिर भी, उसमें कहे हुए प्रत्येक विचार को नहीं माना। अद्वैत में आपने ईश्वर की अद्वैतता-मात्र पर जोर दिया है। इतना और कहना पड़ता है कि यद्यपि कबीर साहब ने भक्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना ठीक कही है, तो भी इनकी

रचना में उसका बहुत कम समावेश है। भक्ति का उपदेश आप अवश्य करते हैं, किंतु ईश्वर में तार्किक सत्यता स्थिर रखने के लिये उसके सगुण-वर्णन को दृढ़ नहीं करते, जिससे भक्ति के लिये कोई अवलंब कम मिलता है। ईश्वर की भक्ति क्यों की जाय ? इस प्रश्न का उत्तर जो आपने दिया है, वह बहुत चित्ताकर्षक नहीं है। ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव आपकी रचना में कम आए हैं। आप निर्वाण आदि के ही लिये भक्ति का उपदेश करते हैं ; यह कम दिखलाते हैं कि दुःखों का दमन ईश्वर ने किया, अथवा वह हमारे लिये बड़ा उत्सुक है, या हमारे कष्टों, दुःखों, दुराचरणों आदि के हटाने में तत्पर है। आपकी रचना में आत्मा की उत्सुकता परमात्मा की ओर विशेष है, किंतु परमात्मा की उत्सुकता बहुत कम है, बल्कि कुछ भी नहीं। जो थोड़ी-सी है, वह पर्याप्त नहीं। यह नहीं समझ पड़ता कि आत्मा परमात्मा के लिये क्यों इतना उत्सुक हो ? केवल मुक्ति की चाट यथेष्ट नहीं है। प्रेम करने के योग्य बहुत-सी बातें कबीर के ईश्वर में नहीं मिलतीं। इनके ईश्वर के संबंध में उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है (उदासीन भाव से भक्ति शांत भाव के अंतर्गत कही जा सकती है)। इसका कारण तार्किक शुद्धता ही दिखाई देती है। ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा है, उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नहीं कहा। स्वामी दयानंद तक ने सब कुछ छोड़कर वेदों का सहारा अवश्य ढूँढ़ा, किंतु कबीर ने कोई सहारा नहीं लिया, केवल सच्चा-सीधा ईश्वर कहा। इसीलिये उसमें कुछ शुष्कता आ गई है।

चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जायँ बुद्धि, बल, बानी।

यह विचारि जे चतुर विशागी, रामहिँ भजहिँ तरक सब त्यागी।

महात्मा तुलसीदास को अनन्य भक्त होकर भी ऊपर-लिखी बात कहनी पड़ी; किंतु आप राम-भक्ति को तर्क-हीन बतलाते हैं, और इतना होने पर भी संशय न होने का उपदेश एवं 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी विश्वासात्मिका भक्ति के बल पर देते हैं। कबीरदास के कथनों में संशयात्मक के लिये ठौर ही नहीं है। वह कहते ही नहीं कि अमुक पुस्तक ईश्वर की आज्ञा है ; फिर संशय क्या किया जाय ? वह ईश्वरीय कृपाओं के उदाहरण ही नहीं देते कि कोई उन पर संदेह प्रकट करे। वेद, कुरान, बाइबिल आदि का अधिकार उन ग्रंथों के ईश्वरीय संबंध पर ही अवलंबित है। यदि कोई इस संबंध को न मान सके, तो उन पुस्तकों पर विश्वास कैसे करे ? कबीरदास के कथनों में ऐसे विश्वासों की आवश्यकता ही नहीं है। अन्य बहुतेरे उपदेशक कहते हैं कि हमारे कथन अमुक ग्रंथ में कथित होने, हमसे ईश्वर का अमुक संबंध होने एवं ऐसे-ही-ऐसे अन्य कारणों

से मान्य हैं ; किंतु महात्मा गौतम बुद्ध की भाँति कबीर साहब मानो यही कहते हैं कि हमारे कथन ठीक होने के कारण ठीक हैं ; जो उनमें भूल निकाल सकें, वे निकालें । वह स्वयं सबकी भूलें निकालने का बीड़ा उठाए बैठे थे । उनके कथनों में कोई भूल न निकाल सका । योगियों के कथन होते हैं कि हमने अमुक बात योग-बल से देखी है, इसलिये तुम्हें माननी चाहिए । यदि संदेह हो, तो 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी रखी हुई है; परंतु बाबा, सारे प्राकृतिक नियमों और अध्ययनों के फलों को किस कोने में ठूँसें, जो अंध-विश्वास के अनुयायी बनें ? उत्तर यही मिलेगा कि कौन अंध-विश्वास करने को कहता है ? खुद योग-साधन कर देख न लो । पर साठ बरस तक श्रम करने को समय किसके पास है ? फल यह है कि आप अपना योग-बल लिए बैठे रहिए, और हम अपने अविश्वास पर दृढ़ रहें । कबीर के कथनों में ऐसी बातों की आवश्यकता नहीं । आपके छंदों तथा जीवन के चरित्रों से जान पड़ता है कि आप योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे । आपकी गणना पैगंबरों और मिस्टिक (Mystic) महापुरुषों में हो सकती है । फिर भी आपने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने का उपदेश नहीं दिया, और सारी चितावनियाँ तथा विचार बुद्धि-ग्राह्य लिखे । इसलिये यदि इनका ईश्वर-प्रेम मोहक न हो, तो भी सत्यता की मात्रा विशेष होने से हम उसको योग्य समझते हैं, और इन्हें बहुत भारी धर्मोपदेशक मानते हैं । इतना तो भी कहना पड़ेगा कि अपनी भक्ति शुष्क देखकर ही शायद आपने उल्टवाँसी आदि कहकर अपने धार्मिक उपदेश जनता तक पहुँचाने चाहे हों, किंतु इन अंतिम प्रयत्नों में केवल मूर्ख-मोहनी विद्या है ।

उदासीन भक्ति का यह प्रयोजन हमने माना है कि ईश्वर की महत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार करें, उसके नियमों को दयामय समझें, किंतु नियमातिरिक्त दया को न्याय के प्रतिकूल मानकर असाधारण व्यक्तिगत दया की आशा उससे न करें । ऐसी भक्ति का मुख्य अंग कर्तव्य-पालन है । ईश्वर से कोई विशिष्ट व्यक्ति-गत संबंध असंभव है ।

अवतार

- (१) तेहि साहब के लागौ साथी ; दुइ कुल मेटिकै होहु सनाथा ।
 दसरथ-कुल अवतरि नहिँ आया; नहीं लंक के राय सताया ।
 नहिँ देवकि के गरभहिँ आया ; नहीं जसोदा गोद खेलाया ।
 पृथिवी रमन दमन नहिँ करिया ; पैठि पताल नहीं बलि छुरिया ।
 नहिँ बलि राय सौँ माँझी रारी ; ना हरनाकुस बधल पछारी ।
 रूप बराह धरनि नहिँ धरिया; छत्री मारि निछुत्र न करिया ।

गंडक सालग्राम न सीला ; मच्छ-कच्छ है नहिँ जल हीला ।
द्वारावती सरीर न छाड़ा ; लै जगनाथ पिंड नहिँ गाड़ा ।

(२) संतौ, आवै जाय सो माया;
है प्रतिपाल काल नहिँ वाके, ना कहिँ गया, न आया ।
क्या मकसूद मच्छ - कच्छ होना, संखासुर न संहारा ;
अहै दयालु, द्रोह नहिँ वाके, कौन कहौ को मारा ।
वे करता, न बराह कहावै, धरनि धरै नहिँ भारा ;
ई सब काम नहीं साहेब के, झूठ कहै संसारा ।
खंभ फारि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ;
हिरनाकुस नख उदर विदारै, सो नहिँ करता होई ।
बावन - रूप न बलि को जाँचै, जो जाँचै, सो माया ;
बिना विवेक सकल जग जड़ है, माया जग भरमाया ।
परसुराम छत्री नहिँ मारा, ई छल माया कीन्हा ;
सतगुरु भक्ति भई नहिँ जानै जीव सु मिथ्या दीन्हा ।
सिरजनहार न व्याही सीता, जल - पखान नहिँ बंधा ;
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ।
गोप, ग्वाल, गोकुल नहिँ आए, कर ते कंस न मारा ;
मेहेरवान है सबका साहेब, ना जीता ना हा ।
वे करता नहिँ बौध कहावै, नहीं असुर को मारा ;
ज्ञान - हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा ।
वे करता नहिँ भए कलंको, नहीं कलिंगहि मारा ;
ई छल - बल सब मायै कीन्हा, जतिन - सतिन सब टारा ।
दस अवतार ईश्वरी माया करता कै जिन पूजा ;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, उपजै - खपै सो दूजा ।

माया

ई माया रघुनाथ कि वैरिनि, खेलन चली अहेरा हो ;
चतुर चिकनिया चुनि - चुनि मारे, कोइ न राखा नेरा हो ।
मौनी, पीर, दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो ;
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो ।
बेद पढ़ंते बेदुवा मारे, पुजा करंते स्वामी हो ;
अर्थ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ।

सुंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो ;
नाथ मुछंदर चले पीठि दै, सिंगल हू में बोरी हो ।
साकठ के घर करता - धरता, हरि - भक्तों के चेरी हो ;
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतौ, ज्यों आवैं त्यों फेरी हो ।

माया महा ठगिनि हम जानी ;

निरगुन फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी वानी ।
केसव के कमला है बैठी, सिव के भवन भवानी ;
पंडा के मूरति है बैठी, तीरथ में भइ पानी ।
जोगी के जोगिनि है बैठी, राजा के घर रानी ;
काहू के हीरा है बैठी, काहु के कौड़ी कानी ।
भक्तन के भक्तिन है बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, यह सब अकह कहानी ।

अवतार तथा माया-संबंधी उपर्युक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा कि कबीर साहब अवतारी, देवी, देवता आदि को माया के अंग समझते और नहीं मानते थे ।

कर्म-गति

कर्म - गति टारी नाहिं टरी ।

मुनि बसिष्ठ - से पंडित ज्ञानी, सोधि कै लगन धरी ;
सीता - हरन, मरन दसरथ को, बन में विपति परी ।
कहँ वह फंद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी ;
सीता को हरि लैगो रावन, सुवरन लंक जरी ।
नीच हाथ हरिचंद विकाने, बलि पाताल धरी ;
कोटि गाय नित पुन करत नृग गिरगिट - जोनि परी ।
पँडवाजुन के आप सारथी, तिन पर विपति परी ;
दुरजोधन को गरव घटायो, जदु - कुल - नास करी ।
राहु, केतु औ' भानु, चंद्रमा विधि संजोग परी ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, होनी है के रही ।

यह पद सूरदास के ऐसे ही एक पद से बहुत कुछ मिलता है । संभव है, उन्हीं का पद कबीर साहब के शिष्यों ने इनकी रचना में रख दिया हो, क्योंकि यह इनके सिद्धांतों से भी बहुत कुछ नहीं मिलता, जैसा कि नीचे के वर्णन से प्रकट होगा ।

आवागमन

इस सिद्धांत पर हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर है। हिंदुओं का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य, वरन् देहधारी, जीवन में जैसे कार्य करता है, तदनुसार भविष्य में अन्य योनियाँ प्राप्त करके संसार में कर्म कमाता है। उधर मुसलमानों का मत है कि जीवात्मा एक ही बार मनुष्य-योनि पाकर फिर उसमें कभी नहीं आता। कबीर साहब की रचना पढ़कर इस प्रश्न पर भ्रम-सा होता है, क्योंकि आप इन दोनों विरुद्ध सिद्धांतों के समर्थन में स्थान-स्थान पर छंद लिखते हैं। इसीलिये यह निश्चय नहीं होता कि कर्मों के सिद्धांत पर इनका दृढ़ मत क्या था ?

उदाहरण—

हिंदू-विचार

निर्गुन नाम बिना पछितैहौ फिरि-फिरि यहि नगरी ।
कहत 'कबीर' बसा है हंसा आवागमन मिटावै ।

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहौ ।

पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ ;
काँटा पर कै पानी पैहौ, प्यासन ही मरि जैहौ ।
दूजा जनम सुवा का पैहौ, वाग बसेरा लैहौ ;
टूटे पंख, बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहौ ।
बाजीगर के बंदर हूँ हौ, लरिकन नाच नचैहौ ;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ ।
सत्त नाम की टेर न करिहौ, मन-ही-मन पछितैहौ ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, नरक निसानी पैहौ ।

अष्ट कमल से ऊपजै, लीला अगम अपार ;

कह 'कबीर' चित चेतिकै आवागमन निवार ।

मुसलमानी विचार

सोच-समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी ;
कह 'कबीर' धरि राखु जतन से, फेरि हाथ नहिँ आनी ।

जियरा ऐसा पाहुना, मिलै न दूजी बार ।

मानुष - तन दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार ;

पक्का फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार ।

राम

राम को कबीर साहब दशरथ-नंदन अथवा अवतार समझकर नहीं जपते थे,

वरन् ईश्वरीय शब्द ररंकार के संबंध में पवित्र मानते थे। इनके गुरु स्वामी रामानंद ने जो इन्हें राम का मंत्र दिया था, उससे उनका प्रयोजन अवतार ही का था। फिर भी कबीर की रचना में सैकड़ों स्थानों पर राम-नाम होते हुए भी उससे अवतार का संबंध कभी नहीं बैठता। इससे जान पड़ता है कि शिष्य होने के बहुत दिन पीछे, अपने विचार दृढ़ कर लेने पर, कबीर साहब ने इन छंदों की रचना की। इन्होंने यद्यपि गुरु-मंत्र का भाव छोड़ दिया, तथापि उसके शब्दों से श्रद्धा नहीं हटाई।

उदाहरण—

रमै घट-घटन में, आपु न्यारा रहै, पूर्न आनंद है राम सोई।
पाँच पच्चीस गुन सील से रहित है, कौन-सी दृष्टि से राम देखा।
दसरथ-सुत तिहुँ लोकहि जाना; राम-नाम का मर्म है आना।
अब सुनि लेहु जवाहिर मोदी खरा-खोट नहिँ बूझा;
सिव, गोरख अस जोगी नाहीं, उनहुँ को नहिँ सूझा।
बड़-बड़ साधू बाँधे छोरे, राम भाग दुइ कीन्हा;
'रा-रा' अच्छर पाखर लीन्हा, 'मा' हि मरम तजि दीन्हा।
राम के नाम ते पिंड ब्रह्मंड सब, राम को नाम का मर्म बानी;
निर्गुन निरंकार के पार परब्रह्म है, तासु को नाम रंकार जानी।
रसना राम-राम गुन पीजै; गुनातीत निर्मूलक लीजै।
निर्गुन ब्रह्म जपौ रे भाई, जेहि सुमिरत सुधि-बुधि सब पाई।
कहै 'कबीर' वह शख्स तहक्रीक कर राम का नाम जो पृथी लाया।

ज्ञान

ज्यों अँधरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान;
अपनी-अपनी कहत हैं, काको धरिए ध्यान।
ज्ञानी से कहिए कहा, कहत 'कबीर' लजाय;
अंधे आगे नाच ते कला अकारथ जाय।
ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रख्यो निज रूप;
बाहर खोजैं बापुरे, भीतर वस्तु अनूप।
जौ लौं तारा जगमगै, तौ लौं उगै न सूर;
तौ लौं जिय जग कर्म बस, जौ लौं ज्ञान न पूर।

उपर्युक्त प्रथम तीन दोहों में झूठे ज्ञान की निंदा की गई है, सच्चे की नहीं। तीसरे दोहे में बुद्धि की निंदा और प्रतिभा की स्तुति हुई है। चौथे में सच्चे ज्ञान की महिमा गाई गई है।

भक्ति और प्रेम

अर्थ - खर्ब लौं दर्बि है, उदय - अस्त लौं राज ;
 भक्ति महातम ना तुलै, ये सब कौने काज ।
 और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति-कर्म निष्कर्म ;
 कहै 'कबीर' पुकारिकै भक्ति करौ तजि भर्म ।
 जो जन विरही नाम के सदा मगन मन माहिँ ;
 ज्यो दर्पन की सुंदरी किनहूँ पकरी नाहिँ ।
 विरह-वान जिहि लागिआ, औषध लगत न ताहि ;
 सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जियै, उठै कराहि-कराहि ।
 सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय ;
 आँखि न खोलूँ डरपता मति सपना हूँ जाय ।
 सबही तरु तर जायकै, सब फल लीन्हों चीखि ;
 फिरि-फिरि 'कविरा' माँगता दरसन ही की भीखि ।
 यह तौ घर है प्रेम का, खाला का धर नाहिँ ;
 सीस उतारै, मुँह धरै, तब पैठै घर माहिँ ।
 हिरदै में महबूब है, हरदम का प्याला ;
 पीएगा कोई जौहरी, गुरु-मुख मतवाला ।
 पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी ;
 आठ पहर भूमत रहै, जस मैगल हाथी ।
 बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका ;
 वाके नजर न आवता, क्या राजा - रंका ।
 धरती जो आसन किया, तंबू असमाना ;
 चोला पहिरा खाक का, रह पाक समाना ।
 गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय ;
 ऐसो तम अंगार है, ताहि चकोर चवाय ।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर के चित्त में भक्ति एवं ईश्वरीय प्रेम की मात्रा अथाह थी ।

जप

अजपा जाप जपै मन लाई ; जाके जपे मिटै दुचिताई ।
 लूटि सकै, तौ लूटिए सत्तनाम की लूटि ;
 पाछे फिरि पछिताहुगे, प्रान जाहिँ जब छूटि ।

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय ;
जो सुख में सुमिरन करै, तौ दुख काहे होय ।

यत्न

द्वार धनी के परि रहै, धका धनी का खाय ;
कवहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय ।
जिन हूँड़ा, तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि ;
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि ।

जप और यत्न को सभी संत लोग पसंद करते हैं । इन्हें कबीर साहब ने भी अच्छा कहा है । उक्त पाँचों छंद ऐसे लोक-प्रिय हुए कि कहावतों में परिणत हो गए हैं । महात्मा कबीरदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य भारत में बहुत अधिक पड़ा है । सिवा गोस्वामी तुलसीदास के और किसी हिंदी-कवि का प्रभाव इन प्रांतों में कबीर साहब से बढ़कर नहीं पड़ा । इस कथन का प्रयोजन स्वामी शंकराचार्य से पीछेवाले महात्माओं और कवियों से है ।

गुरु

गुरु दयाल कब करिहौ दाया ;
काम, क्रोध, हंकार वियापै, नाहीं छूटै माया ।
जौ लगि उत्पति बिदु रचो है साँच कभूँ नहिँ पाया ;
पाँच चोर सँग लाय दियो है, इन सँग जन्म गँवाया ।
तन-मन डस्यो भुवंगम भारी, लहरै वार न पारा ;
गुरु गारुड़ी मिल्यो नहिँ कवहीं, विष पसरयो विकरारा ।
कह 'कबीर' दुख कासों कहिए, कोई दरद न जानै ;
देहु दिदार दूर करि परदा, तब मेरो मन मानै ।
चकई बिछुरी रैनि की आय मिली परभात ;
सतगुरु से जे बीछुरे मिलैं दिवस नहिँ रात ।
गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौँ पाँय ;
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दिया बताय ।
'कविरा' ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और ;
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिँ ठौर ।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर साहब गुरु का मान बहुत करते थे । ईश्वर के पीछे आप गुरु को ही मानते थे ।

सखी-संप्रदाय से आत्मा का वर्णन

कबीर साहब ने आत्मा को स्त्री मानकर ईश्वर में प्रायः पति-भाव स्थापित

किया है। रूपक की भाँति इन दोनों के विवाहों के भी अनेक बार अनेक प्रकार से वर्णन किए गए हैं। आपकी भक्ति सखी-संप्रदाय की थी। इनकी रचनाओं में शृंगार-पूर्ण वर्णन इस संबंध में बहुत आया है; किंतु उनमें भी शृंगार का आभास-मात्र है। प्रत्येक स्थान पर पाठक को भासित होता जाता है कि शृंगार कहने ही भर को है, वास्तविक वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा ही का है। इन कारणों से आपका शृंगार-वर्णन अरुचिकर हो गया है, और उसे पढ़कर अधिकतर स्थानों में काव्यानंद नहीं आता। आपके ऐसे थोड़े ही इस प्रकार के छंद हैं, जिनमें काव्य का स्वाद मिलता है। कई स्थानों पर भावों में जीवात्मा और परमात्मा का विचार इतना दृढ़ है कि उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के ऊपरी कथन को सत्य मानने से स्त्री के काम इतने उन्मत्तता-पूर्ण हो गए हैं कि कोई कुलटा भी उतनी निर्लज्जता न दिखलावेगी। ऐसे स्थानों पर जीवात्मा एवं परमात्मा का ही विचार मानने से वर्णन ठीक बैठता है, और ऊपरी स्त्रीवाला कथन मिलाने से रूप बिलकुल बिगड़ जाता है। स्त्री पति से मिलने को इतनी उत्सुक है कि ऊँचे रपटीले रास्ते में चढ़ती चली जाती है। रास्ता विकट है, पैर आगे नहीं पड़ता; वह गिर-गिर पड़ती है, किंतु चली ही जाती है। पति महाशय ऊपर बैठे हैं। उनको इसकी रस्ती-भर भी परवा नहीं कि ऐसे स्थान पर पहुँचने में उनकी स्त्री की क्या दशा होगी? ऐसे अधिकतर वर्णनों में पति की ओर से पूर्ण उदासीनता देख पड़ती है, किंतु स्त्री को इतना प्रेम है कि मिलने के लिये उसका प्राण ही निकला जाता है। अपने पिता से कहती है कि बाबा, मेरा विवाह कोई अच्छा वर ढूँढ़कर करा दो, और जब तक ऐसा वर न मिले, तब तक तुम्हीं वर का काम करो। यहाँ पिता से गुरु का प्रयोजन है, और पति से ईश्वर का। मतलब यह है कि जब तक ईश्वर से पूरी लगन लग न सके, तब तक उसके स्थान पर गुरु को ही मानना चाहिए। इतना ही आध्यात्मिक विचार सीधे ढंग से बहुत अच्छा बैठता है, किंतु पुत्री द्वारा पिता से यह कहलाना बड़ा ही गहिँत है। रूपक सच्चा वह है, जिसमें उसके दोनों पक्षों में भाव ठीक उतर जाय। जब तक वर्णन दोनों पक्षों को न निबाहे, तब तक उसका रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में कथन ही बृथा है। कबीर साहब के अधिकांश शृंगार-पूर्ण कथन इस कसौटी पर कसने से ओछे बैठते हैं। इसीलिये इनकी रचना में आध्यात्मिक विषय तो बहुत अच्छा, ऊँचा और आनंदप्रद है, किंतु उसमें साहित्यिक मज़ा वैसा नहीं आता। इनके होली, चाँचरा, विवाह आदि के वर्णन इन्हीं विचारों से ओछे पड़ते हैं। कहते तो हैं कि होली खेतों, किंतु पिचकारी मारते हैं ज्ञान की, जिसका प्रयोजन यह निकलता है कि होली न

खेलकर उससे बिल्कुल विपरीत आचरण द्वारा ज्ञानोपार्जन करो। यदि ऐसी शिक्षा देनी है, तो दीजिए, हम बड़ी प्रसन्नता से सुनने को तैयार हैं; किंतु मिथ्या आशा न दिलाइए। ऐसी दशा में साहित्यानंद का पूर्ण अभाव हो जाता है। जो कहना हो, वही ठीक-ठीक कहिए, किंतु और का और न हो। यदि अन्योक्ति आदि में वर्णन करना हो, तो ऐसा सौंका निकालिए, जिसमें उनकी आवश्यकता जान पड़े। यथा—

वहि सज्जा अरजा रहति यहि हौं चाहति सैन ;
हे रतौंधि, यह वात मम सैन समै विसरै न।

(दास कवि)

यहाँ कथन तो रतौंधी से किया जा रहा है, किंतु प्रयोजन है नायक के चेताने का। साक़ कहने से साथवाले जान जाते, इससे रतौंधी को संबोधन करके बात कही गई। मौंका अन्योक्ति के लिये अच्छा है, अतः काव्यानंद आता है। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर कवीर साहब ने भी अन्योक्तियाँ, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से गर्भित कथन अच्छे भी किए हैं, किंतु आपके अधिकतर ऐसे विवरण फीके हो गए हैं। उदाहरण—

(१) दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना ;
वहियाँ पकरि पिय लै चले, तव उजुर न करना ।
इक अंधियारी कोठरी, दुजे दिया न वाती ;
देहि उतारि ताहीं घरौं जहँ संग न साथी ।
इक अंधियारी कूइयाँ, दुजे लेजुर दूटी ;
नैन हमारे अस डुरै, मनो गागर फूटी ।
लगन सुनत गवने कै, मुँह कुम्हिलाइन हो ;
लै रे उतारिन तेहि घर, जहँ दिसि न दुवार हो ।

(२) बार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय ;
धन मैली, प्यु ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय ।
जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि - गिरि परौं ;
उठहुँ सँभारि - सँभारि चरन आगे धरौं ।
समझ-सोच पग धरौं जतन से बार - बार डिग जाय ;
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिँ ठहराय ।
अधर भूम जहँ सहल पिया का हम पै चढ़ो न जाय ;
दूती सद्गुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय ।

(३) दुलहिनी गाओ मंगलचार, हमारे घर आए रजा राम भरतार ।
 तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचो तत्त्व बराती ;
 रामदेव मोहिँ व्याहन आए, मैं जोवन - मद - माती ।
 सरिर सरोवर बेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा ;
 रामदेव संग भाँवरि लैहौं, धन-धन भाग हमारा ।
 सुर तैतीसौ कौतुक आए, सुनिवर सहस अठासी ;
 कह 'कबीर' मोहिँ व्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी ।
 वालम आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे ।
 सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे ;
 एकमेक हूँ सेज न सोवै, तब लग कैसो नेह रे ।
 अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह वन धरै न धीर रे ;
 ज्यों कामी को कामिनि प्यारी, ज्यों प्यासे को नीर रे ।
 है कोइ ऐसा पर - उपकारी, पिय सों कहै सुनाय रे ;
 अब तो वेहाल 'कबीर' भए हैं, बिन देखे जिउ जाय रे ।
 सेजरिया बैरिन भइ, हमको जागत रैन बिहाय ।
 हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ;
 दीनदयाल, दया करि आओ समरथ सिरजनहार ।
 कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी करि लेव ;
 दास 'कबीर' विरह अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव ।

(४) खेलि ले नैहरवा दिन चारि ।
 पहिली पठौनी तिन जन आए नौवा, बाम्हन, भाट रे ;
 बाबुलजी, पैयाँ तोरी लागौं, अब की गवन दे टारि रे ।
 दुसरी पठौनी आपै आए लैकै डुलिया - कहार रे ;
 धरि बहियाँ डुलिया बैठारिन, कोउ न लगै गुहार रे ।
 लै डुलिया जाइ वन माँ उतारिन, कोइ न संगी हमार रे ;
 कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, इक घर हैं दस द्वार रे ।

उपयुक्त छंदों के विषय में हम अपना मत ऊपर लिख आए हैं । छंदावली नंबर ३ में स्त्री का पद पुरुष की अपेक्षा बहुत ही नीचा और आश्रित है । जीवात्मा और परमात्मा के विचार में सब ठीक है । नंबर ४ में पति यमराज ही हो गया है । स्त्रियों के विषय में कबीर साहब का मत यों भी उनकी उचित महिमा के प्रतिकूल था । आपने लिखा है—

सौंप - बीछि को संत्र है, माहुर भारे जात ;
विकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात ।

अन्योक्ति

हे गुनवंती बेलरी, तुव गुन वरनि न जाय ;
जर काटे ते हरिअरी, सींचे ते कुम्हिलाय ।
बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुविधि बसाय ;
मूल बिना सो तूमरी, सरोपात करुवाय ।
हम जान्यो कुलहंस हौ, ताते कीन्हों संग ;
जो जनत्यों वक्-वरन हौ, छुवन न देख्यौ अंग ।

रूपक

कुबुधि कमानी चढ़ि रहो कुटिल वचन का तीर ;
भरि - भरि मारै कान लौं, सालै सकल सरीर ।
भीनी-भीनी खीनी चदरिया !

काहे क ताना, काहे कि भरनी, कौन तार से हीनी चदरिया ;
ईगला - पिँगला ताना - भरनी, सुखमन तार ते बीनी चदरिया ।
आठ कँवल, दस चरखा डोलै, पाँच तत्त्व, गुन तीनी चदरिया ;
साई को सिँयत मास दस लागै, ठोंकि-ठोंकि कै लीनी चदरिया ।
सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों - की - त्यों धरि दीनी चदरिया ।

उपर्युक्त चह्रर का रूपक बहुत ही अच्छा बना है । इसमें योग-संबंधी शब्द भी अच्छे हैं । आपने रूपक बहुत अच्छे कहे हैं ।

उल्टवाँसी और सांकेतिक पद

कबीर साहब ने उल्टवाँसी बहुत-सी कही हैं । इनमें देखने को तो उल्टा कथन किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है । इसीलिये इन्हें उल्टवाँसी कहते हैं । इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं, और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं । “पाँच पचीस को दमन करो ।” एक ऐसा ही वाक्य है । इसी प्रकार के बहुत-से कथन ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं । वैदिक साहित्य का कुछ स्वाद इन महात्मा की रचना में कहीं-कहीं मिलता है । उदाहरण—

(१) बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता ।

यहाँ अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है ।

(२) चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय ;
आवागमन कि गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय ।
यहाँ चिउँटी से बानी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का ।

(३) संतो, जगत नींद ना कीजै ;
काल न खाय, कल्प नहिँ व्यापै, देह जरा नहिँ छीजै ।
उलटा गंग समुद्रहि सोखै, ससि औ' सूरहि ग्रासै ;
नौ ग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिब प्रकासै ।
बिनु चरनन को दुहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै ;
संसय उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोइ बूझै ।
औंधे घड़ा नहीं जल बूझै, सीधे सों जल भरिया ;
जेहि कारन नर भिन्न - भिन्न करै, गुरु प्रसादैं तरिया ।
बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर कछु न सूझै ;
उलटा वान पारधिहि लागै, सूर होय सो बूझै ।
गायन करे कबहुँ नहिँ गावै, अनबोला नित गावै ;
नटवट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै ।
कथनी वदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी ;
धरती उलटि अकासहि वेधै, ई पुरुखन की बानी ।
बिना पिया के अमिरित अँचवै, नदी नीर भरि राखै ;
कहै 'कबीर' सो जुग - जुग जीवै, राम-सुधा-रस चाखै ।

इसका अर्थ पूर्णदास ने लिखा है । यहाँ सब लिखना अनावश्यक है ।

(४) तेहि पानी दुइ परवत, दरिया लहर समानी ।

(५) संतो, अचरज यक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी ।
पिताहि के सँग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ;
खसमहिँ छुँड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु बिचारी ।
भाई के सँग ससुरे गवनी, सासुहि सावन दीन्हा ;
ननद - भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा ।
समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरवारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, पुरुख जनम भो नारी ।

ऐसे-ऐसे उलटे कथनों से भी सीधे अर्थ निकलते हैं । जिसे अर्थ देखना हो, वह टीका पढ़े । सीधा अर्थ फीका क्या, अशुद्ध है, किंतु आध्यात्मिक शुद्ध । इसे अन्योक्ति भी कहते हैं ।

- (६) पहिले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे ;
 बाप - पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे ।
 हंडुर राजा टीका बैठे, बिषहर करै खवासी ;
 स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी ।
 कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी ;
 कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, भैसे न्याव निवारी ।
- (७) जो चरखा जरि जाय बढैया ना भरै ;
 कातूँ सूत हजार चरखुला जिन जरै ।
 बाबा मोरा ब्याहु कराओ अच्छा बरहि तकाय ;
 जौलौँ अच्छा (वर) ना मिलै, तौलौँ तुमहि विहाय ।
 प्रथमै नगर पहुँचतै परि गौ सोक सँताप ;
 एक अचंभा देखिया, बिटिया ब्याहिल बाप ।
- (८) माटि क कोट, पषान को ताला ; सोइ के बन सोई रखवाला ।
 भूकि-भूकि कूकुर मरि गयऊ ; काज न एक सियार से भयऊ ।
 मूस विलारी एक सँग कहु कैसे रहि जाय ;
 अचरज यह देखा हो संतो, हस्ती सिंहि खाय ।
- (९) माई, मैं तो दोनो कुल उजियारी ।
 सास - ससुर को लातन मारी, जेठ कि मूछ उखारी ;
 राँध - परोसिन कीन्ह कलेवा, धरि बुढ़िया महतारी ।
 पाँच पूत कोखिया के खाए, छठए ननद दुलारी ;
 स्वामी हमरे सेज विछावै, सूतव गोड़ पसारी ।
 पाँच खसम नैहर में कीन्हें, सोरह किए ससुरारी ;
 वा मुंडो का मूड़ मुड़ाऊँ, (जु) सरवरि करै हमारी ।
 कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, आपै करौ विचारी ;
 आदि - अंत कोइ जानत नाहीं, नाहक जनम खुवारी ।

इन सब कथनों से आध्यात्मिक अर्थ न केवल निकाले गए हैं, वरन् कबीर साहब ने जान-बूझकर उपदेशों को भड़कीला बनाने के विचार से उलटे कथनों द्वारा भी गूढ़ धार्मिक अर्थ निकालने की विधि रक्खी है। ऐसे उलटे कथनों में मूर्ख-मोहिनी विद्या आ जाती है। यही दोष पड़ता है। आपकी रचना कहीं-कहीं मूर्ख-मोहिनी है, और कहीं-कहीं परमोच्च, अतएव उससे मूर्ख या पूर्ण ज्ञानी प्रसन्न हो सकते हैं, साधारण पुरुष नहीं।

उपमा और तत्तुल्य अन्य अलंकार

इनका समावेश भी कबीर साहब की रचना में जहाँ-तहाँ पाया जाता है।

पतिवरता पति को भजै और न आन सुहाय ;
सिंह-बच्चा जो लंघना, तो भी घास न खाय ।
संत न छाँड़े संतई, कोटिक मिलैं असंत ;
मलय भुजंगन वेधिया सीतलता न तजंत ।
'कबिरा' संगति साधु की ज्यों गंधी का वास ;
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी मिले सुवास ।

मधुर वचन हैं ओषधी, कटुक वचन हैं तीर ;
स्वप्न द्वार है सचरै, सालैं सकल सरीर ।
मूर्ख को समुभावते ग्यान गाँठि का जाय ;
कोइला होय न ऊजरो नौ मन साबुन लाय ।
मूर्ख सों क्या बोलिऐ, सठ सों कहा बसाय ;
पाइन में क्या मारिऐ, चोखा तीर नसाय ।
जब दिल भिला दयाल सों, तब कुछ अंतर नाहिँ ;
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन हरि माहिँ ।

कर्मकांड

कबीर साहब ने कर्मकांड पर सदैव घोर अश्रद्धा प्रकट की—

मूढ़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुझाय ;
बार - बार के मूढ़ते भेड़ न बैकुंठ जाय ।
पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का - सा खेल ;
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल ।
आचारी सब जग मिला, मिला विचारि न कोय ;
कोटि अचारी वारिऐ, एक विचार जो होय ।
जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं जहँ गाहक नाहिँ ;
बिनु विवेक भटकत फिरैं पकरि सब्द की छाहिँ ।
'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर ;
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ।
नेति - नेति जेहि वेद कह, जहाँ न मन ठहराय ;
मन-बानी को गम नहीं, ब्रह्म कहा किन आय ।
पद गावै लवलीन है, कटै न संसय - फाँस ;

सबै पछोरे थोथरा एक बिना विसवास ।
अनजाने को नरक सरग है, हरि जाने को नार्ही ।

कर्ता एक और सब बाजी ; ना कोई पीर, मसायल, काजी ।
बाजी ब्रह्मा, विष्णु, महेसा ; बाजी इंदर, चंद गनेसा ।
बाजी जलचर सकल जहाना ; बाजी जान जमी, असमाना ।
बाजी बरनौ इस्मृति - वेदा ; बाजी गर का लखै न भेदा ।
जिन दुनिया में रची मसीद ; झूठा रोजा, झूठी ईद ।
कहु दो भिस्त कहाँ ते आई ; किसके हित तुम छुरी चलाई ?
कर्ता किरतिम बाजी लाई ; हिंदु तुझ दुइ राह चलाई ।
साँच एक अल्ला का नाम ; ताको झुक - झुक करो सलाम ।
कह 'कबीर' कछु आन न कीजै ; राम-नाम जपि लाहा लीजै ।

अहिंसा

अहिंसा का आपने सदा प्रतिपादन किया है । मुसलमान होकर भी कबीर साहब ने हिंसा से पूर्ण घृणा दिखलाई, जिससे एवं अन्य बातों से जान पड़ता है कि आप चित्त से हिंदू थे—

मैं तुहिँ पूछौँ मूसलमाना ; लाल जर्द का ताना - वाना ।
काजी, काज करौ तुम कैसा ; घर - घर जवे कराओ वैसा ।
बकरी, मुरगी किन कर साया ; किसके हुकुम तुम छुरी चलाया ।
दर्द न जानै, पीर कहावै ; बैता पढ़ि - पढ़ि जग समुझावै ।
कह 'कबीर' सैयद कहलावै ; आप सरीखा जगत मुलावै ।
दिन - भर रोजा धरत हौ, राति हनत हौ गाय ;
एक खून, एक बंदगी, कैसे खुसी खुदाय ।

उपदेश

कबीर साहब ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं—
और के छिए लेत हौ साँचा ; तुमसों कहहु कौन है नीचा ।
जासु नाम है गर्व - प्रहारी ; सो कस गर्वहि सकहि सँभारी ।
जो तू साँचा वानियाँ, साँची हाट लगाव ;
अंदर भाड़ू देय कै कूरा दूरि बहाव ।
अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ;
अति का भला न वरसना, अति की भली न धूप ।
मोर - तोर की जेवरी वटि बाँधा संसार ;
दास 'कबीरा' क्यों बँधै, जाके नाम अधार ।

मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जानु ;
 दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछानु ।
 बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूरि ;
 पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूरि ।
 प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय ;
 कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ।
 जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसौ तहँ सोग ;
 कह 'कबीर' कैसे मिटैं चारो दीरघ रोग ।
 निंदक एकहु मति मिलै, पापी मिलैं हजार ;
 इक निंदक के सीस पर कोटि पाप को भार ।
 चलौ-चलौ सब कोइ कहै, पहुँचै विरला कोय ;
 एक कनक अरु काभिनी, दुरगम घाटो दोय ।
 मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय ;
 तन-मद, मन-मद, जाति-मद, माया-मद, सब लोय ।
 विद्या-मद अरु गुनहु मद, राज - मद उनमद ;
 इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद ।
 सुख का सागर सील है, कोइ न पावै थाह ;
 सब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहिँ साह ।
 जो जल बाढ़ै नाउ में, घर में बाढ़ै दाम ;
 दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन को काम ।
 माँगन मे सो मरि रहे, मरे सो माँगन जाहिँ ;
 तिनसे पहिले वे मरे, होत कहत जे नाहिँ ।
 गो-धन, गज धन, वाजि-धन और रतन-धन-खान ;
 जब आवै संतोष - धन, सब धन धूरि - समान ।
 नीचे - नीचे सब तरे जेते बहुत अधीन ;
 चढ़ि बोहित अभिमान की बूड़े ऊँच कुलीन ।
 सबते लघुताई भली, लघुता से सब होय ;
 जस दुतिया का चंद्रमा सीस नवै सब कोय ।
 रूखा-सूखा खायकै ठंडा पानी पीव ;
 देखि विरानी चूपरी मति ललचावै जीव ।
 'कबीरा' साईं मुञ्चको रूखी रोटी देय ;
 चुपरी माँगत मैं डरूँ, रूखिहु छीनि न लेय ।

आधी औ' लूखी भली, सारी सों संताप ;
 जो चाहैगा चूपरी, बहुत करैगा पाप ।
 'कबिरा' बैरी सबल हैं, एक जीव रिपु पाँच ;
 अपने - अपने स्वाद को बहुत नचावैं नाच ।
 हिरदै भीतर आरसी मुख देखा नहिँ भाय ;
 मुख तौ तब ही देखता दिल को दुविधा जाय ।
 जूवा, चोरी, मुखबिरी, ब्याधि, घूस, परनारि ;
 जो चाहै दीदार को एती वस्तु निवारि ।
 'कबिरा' मैं तो तब डरौं जो मुझ ही में होय ;
 मीचु, बुढ़ापा, आपदा सब काहू में सोय ।
 लंबा मारग, दूरि घर, विकट पंथ बहु मार ;
 कह 'कबीर' कस पाइए दुरलभ गुरु - दीदार ।
 एक कर्म है बोवना, उपजै वीज बहुत ;
 एक कर्म है भूँजना, उदै न अंकुर सूत ।
 कर बहियाँ बल आपनी, छाँड़ु विरानी आस ;
 जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास ।
 ऊपर की दोऊ गई, हिय की गई हिराय ;
 कह 'कबीर' चारिउ गई, तासों कहा वसाय ?
 रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय ;
 दिल - मंदिर में पैठि करि तानि पिछौरा सोय ।
 सबसे आछी मधुकरी भाँति - भाँति का नाज ;
 दावा काहू का नहीं, बिना विजायत राज ।
 बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ;
 जो दिल खोजू आपना, मुझ - सा बुरा न होय ।
 प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि 'कबीरा' नाच ;
 तन - मन तापर वारहूँ, जो कोई बोलै साँच ।

चेतावनी

ऐसी गति संसार की, ज्यों गाड़र की ठाट ;
 एक पड़ी जेहि गाड़ में, सबै जायँ तेहि बाट ।
 चलती चक्की देखिकै दिया 'कबीरा' रोय ;
 दुइ पट भीतर आयकै साबुत गया न कोय ।

काम, क्रोध, मद, लोभ की जव लग घट में प्रान ;
कहा मूर्ख, कह पंडिता, दोनो एक समान ।
माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिँ जाय ;
मान बड़े मुनिवर मिले, मान सयन को खाय ।

मन

मन के विषय में भी इन महात्मा ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं—

केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ो सौ वार ;
मन को क्यों नहिँ मूड़िए, जामें विषय - बिकार ।
मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ;
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक ।
मन - मुरीद संसार है, गुरु - मुरीद कोइ साधु ;
जो मानै गुरु - वचन को, ताको मता अगाधु ।
'कबिरा' मन तौ एक है, भावै सोई पाय ;
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय ।
मन के बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदलै सोय ;
एकै रंग में जो रहै, ऐसा विरला कोय ।
मनुवा तौ पंछी भया, उड़िकै चला अकास ;
ऊपर ही ते गिरि परा या माया के पास ।
मन - कुंजर महमंत था, फिरता गहिर गँभीर ;
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गइ प्रेम - जँजीर ।
'कबिरा' मनहि गयंद है, आँकुस दै - दै राखु ;
बिस की वेली परिहरौ, अमिरित का फल चाखु ।
मन माया तौ एक है, माया मनहि समाय ;
तीनि लोक संसै परा, काहिँ कहूँ समुझाय ।
मन - सागर, मनसा - लहरि, बूड़े - बहे अनेक ;
कह 'कबीर' ते बाँचिहैं जिनके हृदय विवेक ।
नैनन आगे मन बसै रलि-पिलि करे जो दौर ;
तीनि लोक मन - भूप है, मन - पूजा सब ठौर ।
तन-बोहित, मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय ;
कवहीं दरिया अगह बहि, कवहीं गगन समाय ।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ;
कह 'कबीर' प्यो पाइए मन ही की परतीत ।

तीन लोक टींड़ी भई, उड़िया मन के साथ ;
हरिजन हरि जाने बिना परे काल के हाथ ।
बाजीगर का बंदरा ऐसा जिउ मन साथ ;
नाना नाच नचायकै राखै अपने हाथ ।
मन - गयंद मानै नहीं, चलै सुरति के साथ ;
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाही हाथ ।
मन स्वारथ आपहि रसिक बिषय लहरि फहराव ;
मन के चलते तन चलै, ताते सरबसु जाय ।
देस - देस हम बागिया ग्राम - ग्राम की खोरि ;
ऐसा जियरा ना मिला, जो ले फटक-पछोरि ।
मेरा - तेरा मनुवा कैसे एक होय रे ।

मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ;
मैं कहता सुरभावनहारी, तू राखा उरभोय रे ।
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे ;
मैं कहता निरमोही रहियो, तू जाता है सोय रे ।
जुगन-जुगन समुभावत हारा, कहा न मानत कोय रे ;
तू तो रंडी फिरै बिहंडी सब धन डारे खोय रे ।
सतगुरु धारा निरमल वाहै, वामें काया धोय रे ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, तबही वैसा होय रे ।

नीति

सिंहों के लेहेंडु नहीं, हंसों की नहिँ पाँति ;
लालों की नहिँ वोरियाँ, साधु न चलै जमाति ।
लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि ;
चींटी लै सकर चली, हाथी के सिर धूरि ।
नवन - नवन बहु अंतरा, नवन - नवन बहु बान ;
ये तीनो बहुतै नवै चीता, चोर, कमान ।
'कबिरा' सीप समुद्र की खारा जल नहिँ लेय ;
पानी पावै स्वाति का सोभा सागर देय ।
ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर ;
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर ।
हंसा, बक यकरंग लखिय, चरै एक ही ताल ;
छीर - नीर ते जानिए, बक उधरै तेहि काल ।

गुनिया तो गुन को गहै, निरगुन गुनहि धिनाय ;
 बैलहि दीजै जायफर, क्या बूमै, क्या खाय ।
 बना - बनाया मानवा बिना बुद्धि बेतुल ;
 कहा लाल लै कीजिए बिना बास का फूल ।
 प्रेम-प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिए धाय ;
 अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय ।
 खुलि खेलौ संसार में, बाँधि न सकै कोय ;
 घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय ।
 सब काहू का लीजिए साँचा सबद निहारि ;
 पच्छपात नहिँ कीजिए, कहै 'कबीर' बिचारि ।

तीव्र आलोचना

कबीर साहब सत्य-प्रिय तथा भारी उपदेशक होने के कारण अनुचित बातों की तीव्र आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे—

वावन - रूप छल्यो बलि राजा ; बाम्हन कीन्ह कौन को काजा ।
 बाम्हन ही सब कीन्ही चोरी ; बाम्हन ही को लागल होरी ।
 अंध सो दर्पन वेद - पुराना ; दरबी कहा महारस जाना ।

संतो, पाँड़े निपुन कसाई ।

कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, कलि माँ बाम्हन खोंटे ।

फूटी आँखि बिबेक की, लखै न संत - असंत ;

जाके सँग दस - बीस है, ताको नाम महंत ।

तीव्र आलोचना के बहुत-से उदाहरण अन्य प्रसंगों में ऊपर आ चुके हैं, और आगे भी आवेंगे ।

मृत्यु

अन्य उपदेशकों की भाँति आप भी श्रोताओं को मृत्यु की याद प्रायः दिलाया करते हैं—

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो ।

चँदन-काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो ।

उठौ री सखी, मोरि माँग सवारौ, दुलहा मोसे रूसल हो ;

आए जमराज, पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो ।

चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि घूघू ऊटल हो ;

कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, जग से नाता छूटल हो ।

साधो, ई मुरदन के गाँव ।

पीर मरे, पैगंबर मरिगे, मरिगे जिंदा - जोगी ;
 राजा मरिगे, परजा मरिगे, मरिगे वैद औ' रोगी ।
 चंदौ मरिहैं, सुरजौ मरिहैं, मरिहैं धरनि-अकासा ;
 चौदह भुवन चौधरी मरिहैं, इनहुन कै का आसा ।
 नौ हू मरिगे, दस हू मरिगे, मरिगे सहस-अठासी ;
 तैंतिस कोटि देवता मरिगे, परिगे काल कि फाँसी ।
 नाम अनाम रहै जो सद ही, दूजा तत्त न होई ;
 कहैं 'कबीर' सुनौ भइ साधो, भटकि मरै मति कोई ।
 नाथ मुछंदर नहिँ वचे, गोरख, दत्त औ' व्यास ;
 कहैं 'कबीर' पुकारि सब परे काल की फाँस ।
 पानी केरा बुदबुदा, असि मानुस की जात ;
 देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ।
 जुआ, जरा, बालापन वीत्यो, चौथि अवस्था आई ;
 जस मुसवा को तकै बिलैया, तसि जम घात लगाई ।
 जंत्र बजावत हौं सुना टूटि गए सब तार ;
 जंत्र बिचारा क्या करै, गया बजावन हार ।

कहावतें

इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे-बड़ों की जिह्वा पर हैं—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि ;
 हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठि ।
 संत नाम कड़ुवा लगै, मीठा लागै दाम ;
 दुविधा में दोऊ गए, माया मिली न राम ।
 साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर ;
 चढ़ै तो चाखै प्रेम - रस, गिरै तो चकनाचूर ।
 आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत ;
 अब पछितावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ।
 काल्हि करन सो आजु कर, आजु करन सो अब्ब ;
 पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ।
 माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहिँ ;
 यक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूंगी तोहिँ ।

आया है सो जायगा, राजा, रंक, फकीर ;
 इक सिंहासन चढ़ि चला, इक बँधि जात जँजीर ।
 आस - पास जोधा खड़े, सबै वजावैं गाल ;
 माँझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल ।
 मलिया आवत देखि कै कलिषाँ करै पुकार—
 फूली - फूली चुनि लई, काल्हि हमारी वार ।
 दस द्वारे का पीजरा, तामें पंछी पौन ;
 रहिवे को आचरज है, गए अचंभा कौन ।
 जो तोको काँटा वधै, ताहि बोय तू फूल ;
 तोहिँ फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल ।
 दुरबल को न सताइए, जाकी मोटी हाय ;
 बिना जीव की साँस से सार भसम हूँ जाय ।
 पोथी पढ़ि - पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ;
 ढाई अच्छर प्रेम के पढ़ै, सो पंडित होय ।
 पर - नारी पैनी छुरी, मति कोउ लाओ अंग ;
 रावन के दस सिर गए पर - नारी के संग ।
 छिमा बड़ैन को चाहिए, छोटेन को उतपात ;
 कहा बिष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ?
 मरि जाऊँ, माँगूँ नहीं अपने तन के काज ;
 परस्वारथ के कारनै मोहिँ न माँगत लाज ।
 बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ;
 जो नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल ।
 देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ;
 ग्यानी भुगतै ग्यान ते, मूरख भुगतै रोय ।
 फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सों रोय ;
 ज्यों - ज्यों भीजै कामरी, त्यों - त्यों भारी होय ।
 एकै साधे सब सधैं, सब साधे सब जाय ;
 जो तू सेवै मूल को, फूलै - फलै अघाय ।

कैसे दिन कटिहैं, जतन ब्रताए जैयो ।

यहि पार गंगा, वहि पार जमुना, बिचवा मड़ैया हमका छुवाए जैयो ।

मुखड़ा क्या देखै दरपन में ; तेरे दया-धरम नहिँ तन में ।

आम कि डार कोयलिया बोलै ; सुवना बोलै वन में ।

एठी धोती, पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, वे क्या चढ़िहैं रन में ।

तोहिँ मोरि लगन लगाए रे फकिरवा ।

सोवत ही मैं अपने मंदिर में, सबदन मारि जगाए रे फकिरवा ;
बूड़त ही भय के सागर में, बहियाँ पकरि समुझाए रे फकिरवा ।
एकै बचन बचन नहिँ दूजा, मोसों बंद छोड़ाए रे फकिरवा ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सत्त नाम - गुन गाए रे फकिरवा ।

संतों के नाम

कबीरदास के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उनमें रामानंद, गोरख, मुछंदर, तकी
और रैदास के नाम आए हैं—

साधन माँ रैदास संत हैं, सुपच रिषी से भगिया ;

घट - घट है अविनासी, सुनौ तकी तुम सेख ।

कहत 'कबीर' सुनो हो गोरख, तरै सहित परिवारा ।

कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए ।

दसौ दिसा ते क्रोध की उठी अपरवल आगि ;

सीतल संगति साधु की तहाँ उवरिए भागि ।

हिंदुआनी और मुसलमानी मतों पर विचार

आदम आदहि सुधि नहिँ पाई ; मामा हौवा कहूँ ते आई ।

तब नहिँ हते तुरुक औ' हिंदू ; माय के रुधिर, पिता के बिंदू ।

तब नहिँ होते गाय कसाई ; तब बिसमिल्ला किन फरमाई ।

तब नहिँ होते कुल औ' जाती ; दोजख - भिस्त कौन उतपाती ।

मन - मसले की सुधि नहिँ जाना ; मति भुलान तुइ - तीन बखाना ।

जो खुदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा ;

तीरथ मूरत राम निवासी, दुइ माँ किनु न हेरा ।

पूरब दिसा हरी को वासा, पच्छिम अलह मुकामा ;

दिल में खोजि दिलहि माँ देखौ, इहै करीमा, रामा ।

चौदह तबक किया निरवारा, अब नीचे का सुनो विचारा ;

सात तबक में छा रखवारा, भिन - भिन सुनो पसारा है ।

सेस, धवल, बाराह कहाई, मीन, कच्छ औ' कुरम रहाई ;

सो छा रहे सात के माही, यह पाताल पसारा है ।

पेटहिँ काहु न वेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहिँ आया ;

जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाए ; और राहि तुम काहे न आए ?

जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटै काहे न सुनति कराया ?
कारी, पीरी दूहो गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई ।
छौंड़ कपट नर अधिक सयानी, कह 'कबीर' भजु सारंगपानी ;
दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया ?

अज्ञा, राम, करिम, केसव, हरि, हजरत नाम धराया ।
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा ;
कहन - सुनन को दुइ करि थापे, यक नेवाज, यक पूजा ।
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम कहिए ;
कोइ हिंदू, कोइ तुरुक कहावै, एक जमी पर रहिए ।
वेद - किताब पढ़ैं, वै कुतवा, वै सुलना, वै पाँड़े ;
बिगत - बिगत कै नाम धरायो, यक माटी के भाँड़े ।
कह 'कबीर' वे दोनो भूले, रामहिँ किनहुँ न पाया ;
वे खसिया, वे गाय कटावैं, बादै जनम गँवाया ।
गुप्त - प्रगट है एकै मुद्रा ; काको कहिए बाँभन - सुद्रा ।
भूठ गरब भूलै मति कोई ; हिंदू, तुरुक भूठ कुल दोई ।

बहुरि नहिँ आवना या देस ।

जो - जो गए, बहुरि नहिँ आए, पठवत नहिँ संदेस ;
सुर, नर, मुनि औ' पीर, औलिया, देवी, देव, गनेस ।
धरि-धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा, बिष्णु, महेस ;
जोगी - जंगम औ' संन्यासी, दीगंवर, दरवेस ।
चुंडित, मुंडित, पंडित लोई सरग, रसातल, सेस ;
कोइ रहीम, कोइ राम बखानै, कोइ कहै आदेस ।
नाना मेख बनाय सबै मिलि ढूँढ़ि फिरे चहुँ देस ;
कहै 'कबीर' अंत न पैहो बिन सतगुरु-उपदेस ।

ना जानैं तेरा साहिब कैसा है ।

महजिद भीतर मुला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है ;
चाँटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहिब सुनता है ।
साँच कहाँ तो मारन धावैं, झूठे जग पतियाना ;
आतम मारि पषानहिँ पूजैं, उनमें कछु न ग्याना ।
बहुतै देखे पीर - औलिया, पढ़ैं किताब - कुराना ;
कह हिंदू मोहिँ राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना ।

हिंदु-तुर्क की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ;
 कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, राम न कहेउ खोदाई ।
 जिन दुनिया में रची मसीद ; झूठा रोजा, झूठी ईद ।
 साँच एक अल्ला का नाम ; ताको नय-नय करौ सलाम ।
 कहु धौ भिस्त कहाँ ते आई ; किसके हित तुम छुरी चलाई ?
 करता किरतिम बाजी लाई ; हिंदु, तुर्क दुइ राह चलाई ।

अरे, इन दोउन राह न पाई ।

हिंदू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई ;
 बेस्या के पाँयन तर सोवै, यह देखो हिंदुआई ।
 मुसलमान के पीर - औरलिया मुरगी-मुरगा खाई ;
 खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई ।
 बाहर से यक मुरदा लाए, धोय-धाय चढ़वाई ;
 सब खियाँ मिलि जेवन वैठीं, घर-भर करै बड़ाई ।
 हिंदुन की हिंदुआई देखी, तुर्कन की तुर्काई ;
 कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, कौन राह हूँ जाई ।

मुसलमानी विचारों का प्रभाव

तासु के बदन की कौन महिमा कहाँ, भासती देह अति नूर छाई ।
 सून्य के बीच में विमल बैठक, जहाँ सहज असथान है गैब केरा ।
 छोड़िना सूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी ;
 जाय जाहूत में खुदा खाविंद जहँ, वहीं मकान साकेत साजी ।
 (यहाँ मुसलमानी स्थान मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि को लिखते हुए
 कवि ने वहीं साकेत का कथन कर दिया, जो विष्णु का स्थान है ।)

मुरसिद नैनों बीच नबी है ।

कर नैनों दीदार महल में प्यारा है ।

सत्त पुरुख इक बस पच्छिम दिस तासों करौ निहोर ।

हिंदूपन का प्रभाव

खाला केरी बेटी ब्याहैं घर ही करैं सगाई ।

सुनति कराय तुर्क जो होना, औरत को क्या कहिए ।

अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए ।

इन कथनों से प्रकट है कि कबीर साहब के विचार बहुत ऊँचे थे । आप हिंदू-मुसलमानों के अंतर को बिलकुल नापसंद करते थे, और दोनों को एक

करना चाहते थे। आपकी रचना में नूर, गैव, मलकूत, जबरूत, लाहूत, खुदा, अल्ला, क़ाज़ी, मशायख़ (शैख़ की जमा), मुरशिद, दीदार, नबी, किताब आदि के कथन आने से आपके चित्त पर मुसलमानों का प्रभाव प्रकट होता है। इसी विचार से आपने पश्चिम में ईश्वर का स्थान बतलाया है। ख़ाला की संतानों का आपस में विवाह अनुचित समझना तथा मुन्नत से मुसलमान होने को न मानना एवं उपनिषदों के सिद्धांतों का समादर करना आपके ऊपर हिंदू-प्रभाव प्रकट करते हैं। सैकड़ों छंदों से प्रकट है कि इनकी रचना और विचारों पर हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक था। ईश्वर-संबंधी विचार हिंदुओं के हैं। इसी प्रकार उपदेश आदि में भी हिंदू-विचार ही हैं। कहा जा सकता है कि आप मुसलमाननुमा हिंदू थे, अर्थात् कहने को तो मुसलमान थे, किंतु ये वास्तव में हिंदू। मुसलमानी विचारों से नबी हिदायत करनेवाले को कहते हैं। कहा जाता है, १,२४,००० नबी हो गए हैं। नबियों से बढ़कर दरजा किताबियों का है, जिनमें चार प्रधान हैं। पैगंबर ईश्वर के बसीठी को कहते हैं। चारो मुख्य पैगंबरों के नाम हैं—मूसा, दाऊद, ईसा और मुहम्मद। इनकी किताबें क्रम से तौरीत, जुबूर, इंजील और क़ुरआन हैं। इनके अनुयायियों को क्रम से यहूदी (या मूसवी), ईसाई और मुसलमान कहते हैं। मूसा के पूर्व इब्राहीम भी मुख्य थे। इन दोनों के धर्म एक ही हैं, केवल खान-पान के विचार मूसा ने जोड़े। इब्राहीम की पुस्तक छोटी-सी है, जिसे सहीफ़ा इब्राहीमी कहते हैं। तौरीत को Old Testament भी कहते हैं। इंजील New Testament है। दोनों मिलकर बाइबुल हैं। जुबूर कोई पुस्तक नहीं है, वरन् तौरीत में जो दाऊद की शिक्षाएँ हैं, वे ही जुबूर कहा जा सकते हैं। दाऊदी कोई धर्म नहीं है, वरन् मूसवी उन्हें भी बुजुर्ग मानते हैं। मुसलमानों का विचार है कि इन चार पैगंबरों में से किसी को भी माननेवाला किताबी है, क्योंकि वह किसी-न-किसी ईश्वरीय किताब को मानता है। उनके विचार से हिंदू किताबी नहीं, मुशरिक हैं, अर्थात् ईश्वर का शरीकदार (साथी) मानते हैं। यह मुसलमानी विचार अशुद्ध है, क्योंकि हिंदू भी एकेश्वरवादी हैं।

कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य साधारण कथन

आपने प्रायः सब मुक्तक पद्य लिखे। आप ५ तत्त्व और २५ प्रकृतियों का प्रायः कथन करते हैं (पाँच तत्त्व पच्चीस प्रकृति तोनो गुनन मिलावै)। रूपक आपने बहुत कहे हैं। जीव-सीव ऐसा कथन बहुत आया है। सीव से ईश्वर का प्रयोजन लगाया गया है, यद्यपि शिव को आप ईश्वर नहीं मानते। आपने अवतारों, प्रतिमाओं तथा त्रिमूर्ति की प्रायः निंदा की है, किंतु जो ग्रंथ हमारे

देखने में आए हैं, उनमें पैगंबरों की खुली-खुली निंदा नहीं है, यद्यपि आप उन्हें मानते नहीं हैं। रोज़ा, ईद, मसजिद, शैख, सैयद आदि की आपने खुली-खुली निंदा की है। उस समय ऐसे कथन करने में बड़े साहस की आवश्यकता थी, क्योंकि तब इतनी स्वतंत्रता न थी, जितनी अब है। तब मनुष्य अपने नए विचारों के कारण प्राण-दंड तक पा सकता था, जैसा कि मंसूर का हाल हुआ। इसलिये कबीर साहब के निर्भीक वाक्य उनके भारी साहस के भी साक्षी हैं। आपके छंदों में अपने ही विचार अधिकता से हैं। अन्यो के विचारों को आप अपने शब्दों में कम कहते थे, किंतु वहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है। यथा—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी-बस का रे ;
बिरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे ।

ये पद मोह-मुद्गर

बालशावत्कीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणिरक्तः ;

वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ।

के आधार पर हैं।

कबीर साहब भी दुःखवादी समझ पड़ते हैं। यथा—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा ;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ विवेखा ।
बाटे - बाटे सब कोउ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी ;
सुकाचार्य दुख ही के कारन गरभै माया त्यागी ।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना ;
आसा - वृस्ना सब घट व्यापै, कोइ महल नहिँ सुना ।
सौँच कहौ, तौ सब जग खीभै, भूठ कहा नहिँ जाई ;
कह 'कबीर' तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई ।
यह संसार कगद की पुड़िया, बूँद परे धुल जाना है ;
यह संसार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है ।
यह संसार भाड़ औ' भाँखर, आगि लगै वरि जाना है ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, सतगुरु-नाम ठिकाना है ।

कबीर साहब होली, वसंत, चाँचरा आदि के वर्णन करने में उन विषयों पर बहुत कम कहकर मुख्य कथन अपने प्रिय सिद्धांतों का करते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास मिथिला, दंडक आदि सभी विषयों के सहारे केवल राम का कथन करते हैं।

कबीर साहब ने अपने अधिकांश छंद संतों को संबोधित करके कहे हैं। “कहै कबीर सुनो भइ साधो” इस प्रकार कहकर शेष पद में उस भजन के उपयुक्त कथन किए हैं। आप प्रतीकोपासना और कर्मकांड को निंद्य कहकर एकेश्वरवाद, अहिंसा, गुरु, जप, भक्ति, सदाचार, सद्बिचार और सत्य पर जोर दिया करते हैं। सब बातों पर विचार करने से आप बहुत बड़े उपदेशक समझ पड़ते हैं; और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के पीछे उत्तरी और मध्य-भारत पर गंत बारह सौ वर्षों में आप ही का प्रभाव जनता पर सबसे अधिक पड़ा है।

साहित्य-संबंधी विचार

आपने तुर्कांत-हीन कविता भी लिखी है। यथा—

सतगुरु की परतीति, सत्तनाम निज सार है ;

सोई मुक्ति-सँदेस सुनो साध सत भाव से।

जब रीतियों, नियमों आदि का मान आपने किसी बात में नहीं किया, तब साहित्य-संबंधी नियमों को ही क्यों मान देते? आपकी रचना में छंदोभंग बहुत पाए जाते हैं। संभव है, यह त्रुटि लिखनेवालों की भूल से आ गई हो, क्योंकि आपने हाथ से कलम छुआ ही नहीं। यद्यपि आपने पढ़ने-लिखने पर कभी ध्यान नहीं दिया, और लेखनी तक हाथ से नहीं छुई, तथापि आपकी रचनाओं से पांडित्य का पता लगता है। इन्होंने उस काल के अद्वितीय विद्वान् स्वामी रामानंद का शिष्य होना दिखला दिया है। इनकी रचना में अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से संबंध रखनेवाले शब्द बहुत आए हैं, जो पांडित्य को प्रकट करते हैं। इसके उदाहरण - स्वरूप केवल एक पद यहाँ लिखा जाता है—

सबका साखी मेरा साईं।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर लौं, औ' अब्याकृत नाई।

सुमति पचीस पाँच से कर ले, यह सब जग भरमाया ;

अकर, उकार, मकार, मातरा इनके परे बताया।

जाग्रत, सुपन, सुषुप्ति, तुरीया, इनते न्यारा होई ;

राजस, तामस, सात्त्विक, निरगुन, इनते आगे सोई।

सुखम, शून, कारन महुँ कारन, इन मिलि भोग बखाना ;

तेजस, बिस्व, पराग आतमा, इनमें सार न जाना।

परा, पसंती, मधमा, बैखरि, चौबानी ना मानी ;

पाँच कोस, नीचे कर देखो, इनमें सार न जानी।

पाँच ग्यान औ' पाँच कर्म की ये दस इंद्रि जानो ;
चित्त सोइ अंतःकरण बखानो, इनमें सार न मानो ।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो ;
चौदह इंद्रो, चौदह इंद्रा, इनमें अलख न पेखो ।
तत्पद, त्वंपद और असीपद वाच्य-लक्ष्य पहिचाने ;
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने ।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार सब्द विलगावै ;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै ।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है । अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है । २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है । पंच से विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार), पंचप्राण, पंचेंद्रिय, पंचतन्मात्राएँ (चित्ति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है । ओ३म् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है । अकार, उकार, मकार, मात्रा से उसी ओ३म् का प्रयोजन है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्त्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्व, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत-मत से संबंध रखते हैं । परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी चौबानी (चार बानी) योग तथा निरुक्ति से संबद्ध हैं । पंच कोषों का संबंध वेदांत से है । कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दस प्राणों के भेद हैं । १४ इंद्रियाँ पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती हैं । चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है । तत्पद, त्वंपद और असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन है, जो अद्वैत-मत का मूल-मंत्र है । वाचक, लक्ष्य, जहद, अजहदलक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है । इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू-शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है ।

कबीर साहब ने खड़ी बोली में भी रचना की है । कुछ गूज़लें भी कहीं ।
साधारणतः आपकी भाषा बनारस की है—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ;
रहँ आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ।
जो बिछड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते ;
हमारा यार है हममें, हमन को इतिज़ारी क्या ।
झलक सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकती है ;
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ।

न पल बिछड़ें पिया हमसे, न हम बिछड़ें पियारे से ;
 उन्हीं से नेह लगा है, हमन को बेकरारी क्या ।
 'कबीरा' इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से ;
 जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ।
 कोई कुच्छ कहै, कोई कुच्छ कहै, हम अटके हैं जहाँ अटके हैं ;
 नित सुरत कमल पर अमल किया, महबूब नाम से भटके हैं ।
 संसार विचार के छोड़ दिया, हम इसी बात पर सटके हैं ;
 इस दास 'कबीर' के भुलने में सब पंडित, काजी फटके हैं ।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़वर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है। वह ऊँचे थे, और अपने को वैसा ही समझते भी थे। उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धांतों पर चलकर लाभ उठा और मुक्त हो सकता है। इतना होने पर भी आपने यात्राजीवन कपड़ा बनाने का काम नहीं छोड़ा, और कविता में भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों पर दर्शाया। आपको जुलाहा होने की ग्लानि न थी, वरन् उसे आप अच्छा समझते थे।

उदाहरण—

वसीठीपन-संवंधी

साधु - संत तेई जना, (जिन) मानल वचन हमार ;
 आदि, अंत, उत्पति, प्रलय देखहु दृष्टि पसार ।
 अंध भया सब डोलता, कोय न करै विचार ;
 कहा मोर मानै नहीं, क्यों छूटै भ्रम - जार ।
 कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए ;
 समरथ का परवाना लाए, हस उबारन आए ।
 घर - घर हम सबसों कही, सब न सुनै हमार ;
 ते भवसागर डूबहीं लख चौरासी धार ।
 सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर ;
 अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर' ।
 अठवि चकरि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना ;
 जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है ।
 जोग - जुगति सों रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे ;
 कहै 'कबीर' अनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।

पाँच ग्यान औ' पाँच कर्म की ये दस इंद्रि जानो ;
चित्त सोइ अंतःकरण बखानो, इनमें सार न मानो ।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो ;
चौदह इंद्रो, चौदह इंद्रा, इनमें अलख न पेखो ।
तत्पद, त्वंपद और असीपद वाच्य-लक्ष्य पहिचाने ;
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने ।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार सब्द विलगावै ;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै ।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है । अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है । २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है । पंच से विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार), पंचप्राण, पंचेंद्रिय, पंचतन्मात्राएँ (क्षिति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है । ओ३म् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है । अकार, उकार, मकार, मात्रा से उसी ओ३म् का प्रयोजन है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्त्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्य, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत-मत से संबंध रखते हैं । परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी चौवानी (चार बानी) योग तथा निरुक्ति से संबद्ध हैं । पंच कोषों का संबंध वेदांत से है । कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दस प्राणों के भेद हैं । १४ इंद्रियाँ पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती हैं । चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है । तत्पद, त्वंपद और असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन है, जो अद्वैत-मत का मूल-मंत्र है । वाचक, लक्ष्य, जहद, अजहदलक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है । इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू-शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है ।

कबीर साहब ने खड़ी बोली में भी रचना की है । कुछ ग़ज़लें भी कहीं ।
साधारणतः आपकी भाषा बनारस की है—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ;
रहँ आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ।
जो बिछड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते ;
हमारा यार है हममें, हमन को इतिज़ारी क्या ।
ख़लक सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकती है ;
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ।

न पल बिछड़ें पिया हमसे, न हम बिछड़ें पियारे से ;
 उन्हीं से नेह लागा है, हमन को बेकरारी क्या ।
 'कबीरा' इस्क का माता, दुई को दूर कर दिल से ;
 जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ।
 कोइ कुच्छ कहै, कोइ कुच्छ कहै, हम अटके हैं जहाँ अटके हैं ;
 नित सुरत कमल पर अमल किया, महबूब नाम से भटके हैं ।
 संसार विचार के छोड़ दिया, हम इसी बात पर सटके हैं ;
 इस दास 'कबीर' के झुलने में सब पंडित, काजी फटके हैं ।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़वर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है। वह ऊँचे थे, और अपने को वैसा ही समझते भी थे। उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धांतों पर चलकर लाभ उठा और मुक्त हो सकता है। इतना होने पर भी आपने यात्राजीवन कपड़ा बनाने का काम नहीं छोड़ा, और कविता में भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों पर दर्शाया। आपको जुलाहा होने की ग़लति न थी, वरन् उसे आप अच्छा समझते थे।

उदाहरण—

वसीठीपन-संवंधी

साधु - संत तेई जना, (जिन) मानल वचन हमार ;
 आदि, अंत, उत्पति, प्रलय देखहु दृष्टि पसार ।
 अंध भया सब डोलता, कोय न करै विचार ;
 कहा मोर मानै नहीं, क्यों छूटै भ्रम - जार ।
 कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए ;
 समरथ का परवाना लाए, हस उबारन आए ।
 घर - घर हम सबसों कही, सबद न सुनै हमार ;
 ते भवसागर डूबहीं लख चौरासी धार ।
 सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर ;
 अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर' ।
 अठवि चकरि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना ;
 जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है ।
 जोग - जुगति सों रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे ;
 कहै 'कबीर' अनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।

ब्रह्मा, विष्णु, मरेश न सेसवा ; जोगि न, जंगम, मुनि दरवेसवा ।
आदि न अंत, न काल कलेसवा ; दास 'कबीर' ले आए सँदेसवा ।

सार सब्द गहि चलु वहि देसवा ।

सो चादरि सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-को-त्यों धरि दीनी चदरिया ।

एक नाम है अगम गँभीरा, तहवाँ अस्थिर दास कबीरा ।

छाँड़े लोक, अमृत की काया, जग में जोलह कहाया ;

चौरासी की बंदि छुड़ाया, निरअच्छुर बतलाया ।

साधु सबै मिलि आरति गावैं, सुकिरिति भोग लगाया ;

कहै 'कबीर' सब्द टकसारा, जम सों जीव छुड़ाया ।

जुलाहेपन से संबंध रखनेवाले

अस जोलहा कोई सम न जाना ; जिन जग आनि पसारनि ताना ।

कहैं 'कबीर' राम - रस - माते जोलहा-जाति कबीरा हो ।

मन दीया कहिँ और ही, तन साधन के संग ;

कह 'कबीर' कोरी गजी, कैसे लागै रंग ।

कहैं 'कबीर' सूत भल काता ; रहँट न होय मुक्तिकर दाता ।

उपसंहार

महात्मा कबीरदास के विषय में हमें जो कुछ कहना था, वह हम ऊपर कह चुके हैं। हिंदी-नवरत्न के अन्य कवियों की रचनाओं के उदाहरण हमने समालोचना-विभाग में थोड़े ही देकर अंत में कुछ विशेषता से लिखे हैं। महात्मा कबीरदासजी की रचनाओं के उदाहरण हम समालोचना के भीतर ही बहुत-से देते आए हैं। इसीलिये अंत में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कहा जा सकता है कि इनके उदाहरण कुछ अधिकता से आए हैं। इनकी रचना ऐसी आरोचन-पूर्ण समझ पड़ी कि हमें कुछ अधिक उदाहरण देना अच्छा लगा। जितने उदाहरण दिए गए हैं, वे या तो काव्य-गौरव के कारण, या उनमें विशेष धिचार होने के कारण आए हैं। भरसक ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं दिया गया, जिसमें इन दोनों में से एक भी बात न हो।

कबीरदास को हमने पहले सेनापति की श्रेणी में रक्खा था। यह हमारी सभी श्रेणियों में उच्चतम है, और इसके कवि नवरत्नवालों के सिवा और सबसे अच्छे हैं। इधर हिंदी-नवरत्न की द्वितीयावृत्ति निकालने में विचार उठा कि इस ग्रंथ में कबीरदास को न रखना ठीक नहीं है ; परंतु जिन कवियों को एक बार नवरत्न में लिख चुके हैं, उनमें से किसी को निकालना भी हमें अच्छा नहीं लगा। उधर

कठिनता यह हुई कि कवियों में नव के स्थान पर दस कवि अलग-अलग आने से ग्रंथ ही 'नवरत्न' कैसे रह जायगा ? अतएव भूषण और मतिराम को त्रिपाठी-बंधु कहकर एक मान लिया, और कबीर को भी स्थान दे दिया । आप वास्तव में पैगंबर (ईश्वर के वसीठी), मिस्टिक, सिद्ध, योगी, ब्रह्मानंदी, समाधिस्थ आदि पहले हैं, और कवि पीछे । इसीलिये हमने हिंदी के नवरत्नों में आपको सातवाँ नंबर दिया ।

कबीरजी ने अपनी रचना साहित्यानंद-प्रदान के लिये न करके उपदेशार्थ की । जो पैगंबर आदि की उपाधियाँ यहाँ लिखी गई हैं, वे यों ही उदाहरणार्थ नहीं लिखी गईं, वरन् हमारे कबीर साहब उन गुणों से वास्तव में भूषित समझ भी पड़ते हैं । ब्रह्मानंदी कवि भी होता है, या नहीं, यह प्रश्न कठिन है । हमें तो समझ पड़ता है कि वह कवि भी है, और ऊँचे दरजे का साहित्य ऐसे ही लोग रच सकते हैं । ब्रह्मानंद का उद्गार कविता में अच्छा होगा, क्योंकि यह उसका अच्छा माध्यम है । यह निर्विवाद समझ पड़ता है कि जितने लोगों ने हिंदी-रचना की है, उनमें गोस्वनाथ, रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि सौत्कृष्ट पुरुष हैं । ईश्वर-संबंधी भाव कबीरदास ने प्रायः सबसे ऊँचे कहे हैं । विचार-पूर्वक पढ़ने से प्रकट होगा कि हिंदी का कोई भी भारी कवि इस विषय में इनको बराबरी नहीं कर सका है । हिंदी-नवरत्न में ईश्वरीय विचार से आप सबसे ऊँचे मनुष्य हैं, इसमें हमें संदेह नहीं । संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास को इनसे बढ़कर या इनके बराबर बतलावें । हमारी समझ में ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर-संबंधी धार्मिक उच्चता को नहीं पहुँचे । इसमें हिंदू-मुसलमान का विचार करना भूल की बात है । फिर, वास्तव में, कबीरदासजी के ईश्वरीय विचार उपनिषदों पर ही अवलंबित हैं ।

व्यक्तित्व में बहुत ऊँचा कहने के पीछे जब कविता के विषय में कथन करना पड़ता है, तब लेखनी कुछ रुकने लगती है । यह निर्विवाद है कि कबीर साहब उच्च कोटि के कवि भी हैं । वर्तमान भारत के कवि-शिरमौर स्वयं श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने इन्हें सत्कवि मानकर इनके बहुत से पदों का अँगरेजी में अनुवाद किया । उस अनुवाद-ग्रंथ के देखने से भी कबीर साहब का साहित्यिक गौरव ऊँचा जान पड़ता है । इनके मूल पदों में अव्वल दरजे का साहित्य गौरव मिलता है; पर इनकी रचना बहुत विस्तृत है, और चुने हुए छंदों को छोड़कर सब कहीं उसमें वैसा आनंद नहीं आता । खास-खास मौकों को छोड़कर, काव्य-दृष्टि से, वह अवश्य फीकी लगती है । फिर भी हमारा दृढ़ सिद्धांत है कि फीके छंदों के कारण

किसी की अच्छी रचनाओं का मान न घटना चाहिए । कवि का मान सर्वोच्च छंदों से है, साधारण से नहीं । यदि साधारण को छोड़कर केवल उच्च कविता से कोई ऊँचे स्थान का अधिकारी हो, तो हम साधारण छंदों को इतना तक भुला देंगे, मानो उसने उन्हें रचा ही नहीं । महात्मा कबीरदास के ग्रंथों में कम-से-कम प्रायः १०० पृष्ठ ऐसे निकल सकते हैं, जिनमें उच्च कोटि की कविता है । शेष भागों में उन्हीं विचारों के बार-बार आने तथा किसी विशेष चमत्कार के न होने से वैसा काव्यानंद नहीं मिलता । यदि उन भागों को छोड़ दें, तो ये १०० पृष्ठ अवश्य उत्तम मिलते हैं । इनमें ईश्वर संबंधी उच्चातिउच्च विचार हैं । मनोरंजकता की मात्रा भी कम नहीं है । इन्हें हिंदी-नवरत्न के कवियों की रचनाओं से मिलाने पर हमें केवल काव्य की दृष्टि से इन महाकवि का स्थान मतिराम और चंद के बीच में समझ पड़ता है । ऐसा कथन साहस से खाली नहीं है, क्योंकि इतने बड़े महात्मा को किसी भी दृष्टि से तुलसी और सूर को छोड़कर और किसी से कम कहना सुननेवालों को अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा भय है । विशेष करके कबीर साहब एक पंथ के भी प्रवर्तक थे । इन विचारों से हम आपको हिंदी-साहित्यकारों में तुलसी और सूर के पीछे प्रायः सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, किंतु केवल साहित्य की दृष्टि से मतिराम के पीछे समझते हैं । आशा है, पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे; और यदि कोई मतभेद हो, तो हमारा यह कथन हठवाद न समझेंगे, क्योंकि संतार रचि-प्रधान है । एक को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही दूसरे को खराब ।

यदि कबीर साहब साहित्य की दृष्टि से ग्रंथ बनाते, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस कोटि की इनकी रचना है, उससे बहुत श्रेष्ठ लिख सकते । आपमें सत्कवि होने के सब गुण थे, केवल इच्छा न थी । आपने सत्कवि होना चाहा ही नहीं । आप तो उपदेशक और धर्म-प्रचारक थे । आप काव्य, कवि होने को न करके, धर्म-प्रचारार्थ करते थे । जहाँ तक हमें स्मरण है, आपने अपने को कवि कहा भी नहीं । लोक-प्रियता में आपकी रचना केवल गोस्वामी तुलसीदास के पीछे है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है । रचना में उद्दंडता अच्छी है । हम उसमें धर्मोपदेशक और गुरु के ओजस्वी वाक्य प्रचुरता से पाते हैं, किंतु मित्र कवि की मीठी मनोमोहिनी वाणी कम मिलती है । गुरु-पद के अधिकारी होने से आप उच्च शिक्षा कर्कश शब्दों तक में देते, किंतु मित्र न होने से मधुरता का समावेश रचना में नहीं कर सके हैं । मृदुलता-पूर्ण हास्य, शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन आप कम कराते हैं । अद्भुत रस, भयानक रस, शांत रस, बीभत्स रस आदि के लिये आपके छंद देखने योग्य हैं ।

आपका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिंदी अपनी पूर्व-माध्यमिक दशा में थी। आपके पहले सत्कवियों में केवल चंद बरदाई, सुसरो और विद्यापति ठाकुर की गणना है। ऐसे समय में उत्पन्न होकर अनेकानेक ग्रंथों द्वारा आपने हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार भी किया। संसार में आपका मान अच्छा हुआ। रीवाँ के तत्कालीन महाराजा वीरसिंहदेव आपके शिष्य थे। इनके विषय में मिश्रबंधु-विनोद में हमने निम्न-लिखित सम्मति प्रकट की थी—

“इन्होंने खरी बातें बहुत उत्कृष्ट और साफ़-साफ़ कही हैं, अथच इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहने-वाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीरजी का अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, और दृष्टि अत्यंत पैनी थी। कहीं-कहीं इनकी भाषा में कुछ गँवारूपन आ जाता है, पर उसमें उदंडता की मात्रा अधिक होती है। आपने प्रायः साधारण बातों ही में ज्ञान कहा है। इनके कथन देखने में तो साधारण समझ पड़ते हैं, पर उनमें गूढ़ आशय छिपे रहते हैं। इन्होंने रूपकों, दृष्टांतों, उपेक्षाओं आदि में धर्म-संबंधी ऊँचे विचारों एवं सिद्धांतों को सफलता-पूर्वक व्यक्त किया है। साधारण भजनों में प्रायः कबीरदास ने संसार की असारता दिखलाई है।”

उक्त कथन को हम अब भी ठीक मानते हैं। आपकी रचना तथा जीवन की सर्वोत्कृष्ट बातें सिद्धता और हिंदू-मुसलमानों को मिलाने के प्रयत्न हैं। आपका जीवन एवं काव्य धन्य है !

कबीर-पंथ में हिंदू-मुसलमान दोनों हैं। उसमें यौगिक क्रियाओं का भी समावेश है। वह गोरख-पंथ से कुछ-कुछ मिलता है। सिक्ख-धर्म में आपके वचनों का मान है। दादूदयाल आदि अनेक महात्मा भी इनके सिद्धांतों का मान करते थे।

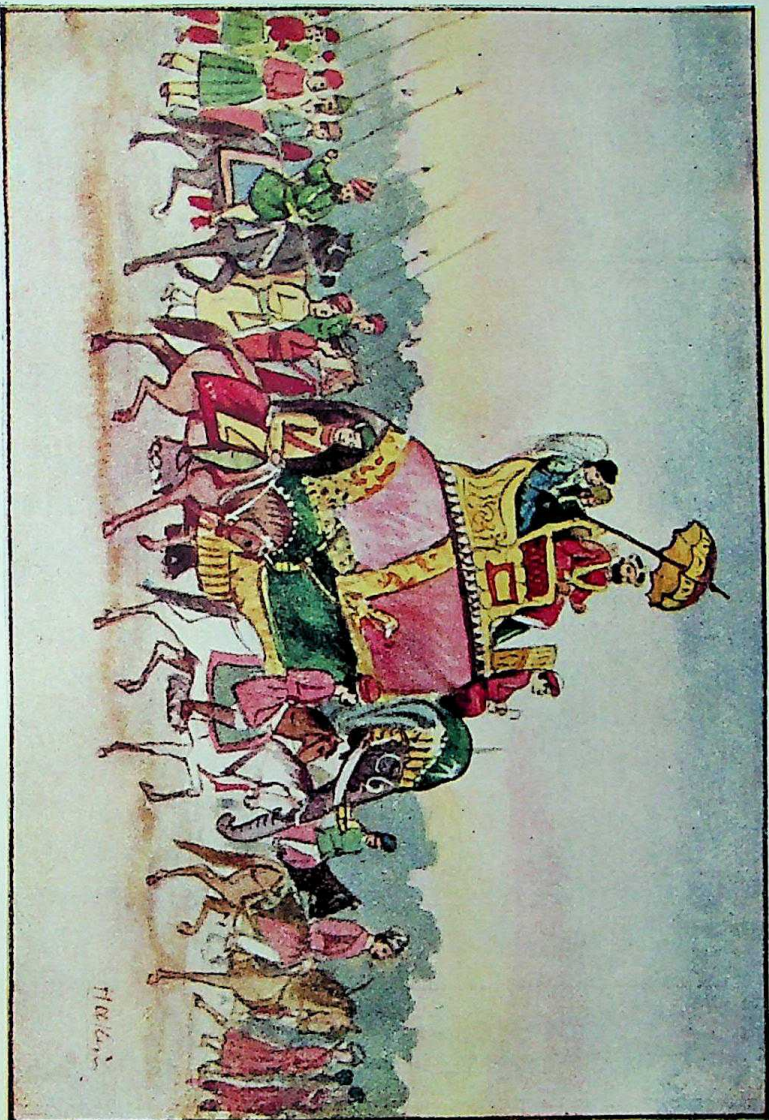
(८)

महाकवि चंद बरदाई

—:००:—

महाकवि चंद बरदाई वास्तव में हिंदी के प्रथम कवि हैं। इनके पहले भी प्रायः ३८ कवि हो गए हैं, परंतु उन सबकी रचना में महत्ता कम मिलती है। चंद बरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ़ रचना है, और छंद आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते थे, और स्वयं इन्हीं ने हिंदी-काव्य-रचना की नींव नहीं डाली। उस समय वंदीजन, चारण आदि राजों-महाराजों के यहाँ प्रायः रहा करते थे, और उनका यह काम ही था कि हिंदी-कवि। में राजा का यशोगान करें। स्वयं कवि चंद ने लिखा है कि गुजरात में एक बार राजा भोराभीमंग के राजकवि से उनसे वाद हुआ। इससे भी उस समय दरबारों में कवियों के उपस्थित रहने का प्रमाण मिलता है। कवियों की उस काल इतनी चाह थी कि चित्तौर के रावल समरसिंह का ब्याह जब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुंअरि से हुआ, तब उन्होंने कलेवा करने के समय दायज में कवि चंद के पुत्र जल्हन कवि को लेकर ही भोजन किया। यह हाल रासो में लिखा है। रासो के समाप्त करने के पहले ही कवि चंद का शरीर-पात हो गया। तब उनके इसी पुत्र (जल्हन) ने उसका अंतिम भाग लिखकर ग्रंथ समाप्त किया। इन सब बातों से प्रकट है कि उस समय हिंदी-कविता का अच्छा प्रचार था, पर तत्कालीन अन्य कवियों के बहुतेरे ग्रंथ ऐसे उत्कृष्ट न थे कि आठ सौ वर्षों के पीछे भी अब तक जीवित रहते, अथवा उनका प्रचार रहता। क्षेपक-बाहुल्य के कारण रासो के कथनों का ऐतिहासिक मूल्य संदिग्ध भी है। उस समय के और उससे पहले के प्रधान ग्रंथों में काल के कुचक्र ने केवल इस एक ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त कुछ को ही सजीव रखा है। कराल काल ने शेष सब ग्रंथों को निगलकर अपने उदर-समुद्र में सदा के लिये लीन कर लिया, जहाँ से अब उनका निबलना ऐसा ही दुःसाध्य है, जैसा स्थिर महासागर में फेंके गए लोहे के एक छोटे-से टुकड़े का। अतः यद्यपि वास्तव में कवि चंद हिंदी के प्रथम कवि न थे, तथापि वह हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट कवि अवश्य थे। काल ने अब प्रायः ३८

हिंदी-नवरत्न



चंद्र

दुरद-चंद्र, मुखमा-मंडे, लिए प्रवत दल साथ ;
भीम भूप-वल-मथन-हित जात चंद्र कवि-नाथ ।

कवियों को छोड़ अन्य सभी के यशों को चर्चित करके चंद ही को हिंदी का प्रायः प्रथम उत्कृष्ट कवि बना भी दिया है।

कवि चंद ने अपने जन्मादि का कुछ वर्णन नहीं किया, और राजकीय घटनाओं के संवत् लिखते हुए भी अपने विषय में कोई सन्-संवत् नहीं लिखा। हम लोग इतना अवश्य जानते हैं कि आप जगात-गोत्र के भाट थे, और लाहौर में जन्मे थे; पर इससे अधिक—जन्म, पूर्व-पुरुष आदि के विषय—निश्चयात्मक रीति पर कुछ नहीं जानते। चंद के कथनानुसार पृथ्वीराज का जन्म-संवत् १२०६ वि० में हुआ। ओझाजी कहते हैं कि यह जन्म-काल सं० १२२१ से पूर्व नहीं हो सकता। अनुमान से जान पड़ता है कि यह पृथ्वीराज से अवस्था में कुछ बड़े थे, क्योंकि एक तो पृथ्वीराज इनकी सलाहों को आदर से सुनते थे, दूसरे, एक स्थान पर उनके अपनी सलाह न मानने पर आपने लिखा कि राजा ने धन और वय से मत्त होकर मेरी सम्मति नहीं मानी। यदि यह राजा से बड़े न होते, तो ऐसा लिखने का इन्हें साहस ही न होता। फिर यदि ऐसा लिखते भी, तो राजा इन पर अवश्य रुष्ट हो जाते, पर पृथ्वीराज का इनसे रुष्ट होना पाया नहीं जाता। ऐसा लिखने के पीछे भी इनका पूर्ववत् मान बना रहा। इसके सिवा पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुंथारि के विवाह के समय इनका पुत्र जल्हन ऐसा गुणी हो चुका था कि रावल समरसिंह ने उसे हठ करके दायज में माँग लिया। वह उस समय संभवतः २५ वर्ष का होगा, और चंद शायद ४५ साल के हों। इसके पीछे संवत् १२२८ में पृथ्वीराज ने एक खज़ाना पृथ्वी के नन्हे खुदाकर पाया, जिसका वर्णन रासो के ७३८ वें पृष्ठ में है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४६ में, ४३ वर्ष की अवस्था में, हुई। उसी समय चंद की भी मृत्यु हुई, क्योंकि वह राजा के साथ ही मारे गए। १२४६ वि० में चंद की अवस्था संभवतः ६६ वर्ष की हो। अतः उनका जन्म-काल ११८३ वि० के लगभग समझ पड़ता है। इनकी अवस्था इससे बहुत अधिक भी नहीं जान पड़ती, क्योंकि यदि अधिक बुढ़े होते, तो मृत्यु-पर्यंत युद्धों में न सम्मिलित रह सकते। इस दूसरे हिसाब से भी इनकी अवस्था पृथ्वीराज से प्रायः २३ वर्ष अधिक निकलती है, जो अनुमान से भी मिलती है। चंद की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ ही हुई, यह बात प्रसिद्ध है। अतः चंद संवत् १२४६ में मरे। कहते हैं, जब शहाबुद्दीन गरी पृथ्वीराज को पकड़ ले गया, तब राजा को छुड़ाने के विचार से चंद-गोर-देश को गए, और वहीं मारे गए। कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज और चंद एक ही दिन उत्पन्न हुए। पृथ्वीराज-संबंधी रासो की घटनाएँ संदिग्ध होने से कवि चंद-संबंधी भी उपर्युक्त कथन असंदिग्ध नहीं हैं।

चंद के पिता राव बेनू थे। चंद लाहौर में उत्पन्न हुए, और अजमेर में इनका पालन-पोषण हुआ। यह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की राजधानी थी। यहीं चंद पृथ्वीराज के साथ रहने लगे, और यहीं आप पृथ्वीराज के तीन प्रधान मंत्रियों में से एक हो गए। पृथ्वीराज के शेष दोनो मंत्रियों के नाम कैमास और गुरुराम पुरोहित थे। कैमास तीनों में प्रधान था। चंद अजमेर से लेकर मृत्यु-पर्यंत सदैव पृथ्वीराज के साथ रहे, और युद्धों में भी लड़ते रहे। जो हाल रासो में वर्णित है, उसमें एक प्रकार से चंद की भी जीवनी है। इनकी स्त्री बड़ी गुणवती थी, और रासो उसी से कहा गया। बीच-बीच में उसने बहुत-से प्रश्न भी किए। चंद का पुत्र जल्हन बड़ा गुणी था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रावल समरसिंह उसे दहेज़ में ले गए, और वह उसी समय से चित्तौर में रहने लगा। यह रावल समरसिंह चित्तौर नरेश एवं वर्तमान उदयपुर के महाराणा के पूर्व-पुरुष कहे गए हैं। रावलसमरसिंह का समय प्रसिद्ध ऐतिहासिक ओभाजी सं० १३५८ बतलाते हैं, किंतु हमारा विचार है कि वह समरसिंह दूसरे थे, और रासोवाले पहले (देखिए हमारा भारत का इतिहास)। दूसरे समरसिंह के पूर्व-पुरुष पहले समरसिंह के पुत्र करणसिंह थे। यह कथन टाड-कृत राजस्थान के भी अनुकूल है। सं० १५१७वाले महाराणा कुंभकर्ण के शिलालेख में, मेवाड़-नरेशों के वर्णन में, समरसिंह का नाम नहीं है, किंतु महाराणा राजसिंहवाले सं० १७३२ के शिलालेख में है। एक बार कैमास पृथ्वीराज की ओर से गुजरात के राजा भोराभीमंग से लड़ने गया, पर भीमंग की भेजी हुई एक खत्रानी पर ऐसा आसक्त हुआ कि पृथ्वीराज को छोड़ भीमंग से मिल गया, और उसने नागौर पर उनका अधिकार करा दिया। यह दशा देख चंद बरदाई एक सेना-सहित नागौर जाने लगे। मार्ग में भीमंग के दल से युद्ध भी हुआ, पर उसको घोर समर में पराजित करके, यह वीर कवि जान पर खेलकर कैमास के पास जा पहुँचा। इसे देखकर कैमास को ऐसी लजा लगी कि वह सिर न उठाता था। तब चंद ने उसे समझाया कि भूल सबसे हो जाती है, पर भूल का न सुधारना ही मुख्य रूप से निच है। इस पर चंद और कैमास ने मिलकर युद्ध में भोराभीमंग के दल को पराजित कर नागौर पर फिर पृथ्वीराज का अधिकार कराया। फिर दोनो दिल्ली लौट आए। इस वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि चंद बरदाई कोरे कवि ही नहीं, अपितु प्रचंड युद्धकर्ता अथवा राजनीतिज्ञ भी थे। इस युद्ध का ऐतिहासिक मूल्य संशयाकीर्ण है।

पृथ्वीराज के यहाँ चंद की ऐसी प्रतिष्ठा थी, जैसी खास राजा के भाई की हो। एक बार चंद द्वारकापुरी को दर्शनार्थ गए। उस समय इनके साथ बहुत-से हाथी, सैकड़ों घोड़े और हज़ारों पैदल गए। मार्ग में आप चित्तौर के समीप भी

ठहरे। तब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि स्वयं इनके डेरे पर इनसे मिलने आईं। अनंतर यह कविजी चित्तौर जाकर महारानी के भाई की भाँति दो चार दिन पहुँचने में वहाँ रहे। महारानी पृथाकुँअरि रावल समरसिंह की पटरानी थी। यह हाल भी रासो में लिखा है। इससे इन कविरत्न के सम्मान का हाल स्पष्ट प्रकट होता है। द्वारका से पलटते समय चंद कवि पृथ्वीराज के शत्रु भोराभीमंग के यहाँ गए। वहाँ भी आपने पृथ्वीराज का यशोगान किया। इसी अवसर पर चंद ने वहाँ के राजकवि को वाद में हराया। कन्नौज के महाराज जयचंद के भतीजे का विवाह एक परम सुंदरी राजकुमारी से हो रहा था। बरात भी जा चुकी, पर राजकुमारी की इच्छा पृथ्वीराज के साथ विवाह करने की थी। यह सुनकर पृथ्वीराज ने सेना लेकर वहाँ जाने का विचार किया। यही भगड़ा जयचंद से फिर शत्रुता के उभड़ने का प्रधान कारण हुआ। चंद ने इस अवसर पर पृथ्वीराज को ऐसा करने से बहुत रोका, पर उन्होंने न माना। इसी पर चंद ने लिखा कि धन-वयोमत्त राजा ने उनकी सम्मति का आदर न किया। यदि चंद की सम्मति मानी जाती, तो पृथ्वीराज का जयचंद से भगड़ा एवं वैर न बढ़ता, और न शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को पराजित कर सकता।

चंद बरदाई का एकमात्र ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है, परंतु इसी एक ग्रंथ में २४०० से ऊपर पृष्ठ हैं। यह ग्रंथ मानो उस काल का प्राचीन इतिहास है। यह अपने समय का बड़ा मनोहर और ऐसा इतिहास बतलाता है, जो अन्यत्र विस्तार से अप्राप्य है। रासो अपने समय के परम दुष्प्राप्य सजीव इतिहास का ज्ञान कराता है। इस ग्रंथ-रत्न में पृथ्वीराज के समकालीन प्रायः सभी भारतवर्षीय राजों का सविस्तर वर्णन मिलता है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि रासो का बतलाया हुआ इतिहास एवं घटना चक्र बहुत संदिग्ध है। इस बात का विशेष कथन आगे आवेगा। दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ अप्राप्य हो गया था। यह देखकर काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने साहस पूर्वक, यथेष्ट धन खर्च करके, इसे प्रकाशित किया। पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या ने रासो पर बहुत अधिक और परम प्रशंसीय श्रम किया, और इसके विषय में बहुत-सी बातें खोज करके निकालीं। उनके साथ बाबू राधाकृष्णदास एवं रा० व० डॉक्टर श्यामसुंदर-दासजी ने भी इसके विषय में प्रचुर श्रम किया। यह ग्रंथ इन्हीं तीनों सज्जनों की संपादकता में प्रकाशित हुआ। दो भागों के पीछे बाबू राधाकृष्णदास की अकाल मृत्यु हो गई। शेष भागों का संपादन पूर्वोक्त दो ही महाशय करते रहे। अनंतर पंड्याजी का भी पीछा हो गया। संपादकों ने रासो के फुट-नोटों में अर्थ-पाठांतर आदि भी दिए हैं, जो संतोषदायक हैं। सं० १६४० के लगभग मेवाड़ के

महाराणा अमरसिंह ने चंद की रचनाओं को एकत्र कराया। कहा जाता है, समय-समय पर रासो के तीन संपादन हुए, और इसमें बहुत कुछ घट-बढ़ गया है। फिर भी रासो का प्राचीन भाग असली अवश्य है। घटने-बढ़ने का फल यही हुआ कि इसमें बहुत-से नवीन भाग मिल गए, और बहुत-सी ऐतिहासिक अशुद्धियाँ आ गईं। कहते हैं, समय के साथ प्राचीन रासो ग्रंथ छितर गया था, और तब सं० १६२६ से ४२ तक मेवाड़ नरेश महाराणा अमरसिंह ने किसी कवि द्वारा उसे संपादित कराया। इस ग्रंथ की सं० १६४२ की एक प्रतिलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में प्रस्तुत है।

रासो से प्रकट होता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ होती गईं, वैसे-ही-वैसे उसकी रचना भी हुई। ऐसा नहीं हुआ कि सब घटनाओं के पीछे वह एक साथ बनाया गया हो। इसी कारण, जैसे कविगण किसी घटना के वर्णन में प्रायः कह दिया करते हैं कि इस घटना से आगे चलकर बहुत उपद्रव अथवा लाभ हुए हैं, जो आगे लिखे जायेंगे, वैसे कथन रासो में नहीं पाए जाते। इसमें प्रत्येक घटना का बड़ा ही सजीव, पूर्ण एवं भव्य वर्णन है। प्रत्येक में मंत्रियों से जैसी जैसी सलाहें ली गईं, और जिस-जिस मंत्री ने जो-जो कहा, वह सब रासो में लिखा है, चाहे वे अनुमतियाँ नितान्त साधारणी क्यों न हों। इसी प्रकार युद्धों में जितने दिनों तक जो युद्ध रहा, जिसमें जो जैसा लड़ा, और जिस प्रकार अपनी अथवा शत्रु की चमू रक्खी गई, सो सब पूर्णता के साथ कहा गया है। बहुधा युद्धों में चंद ने अपनी तथा शत्रु-सेना की शोभा का वर्णन प्रायः सदैव भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। इसी प्रकार उन्होंने न-जाने कितने युद्धों के वर्णन दिए हैं, परंतु उन सबमें पार्थक्य वर्तमान है। इससे भी प्रकट होता है कि चंद ने घटनाओं के साथ-ही-साथ रासो को बनाया, नहीं तो एक ही प्रकार का घटनाएँ लिखने में एक ही-से वर्णन हो जाते, और उनमें वैचित्र्य बहुत कम रहता। प्रसिद्ध भागों के बाहुल्य से ऐसे कथन भी कुछ संशयाकीर्ण हो जाते हैं। संभवतः दोषकारों ने भी पुरानी कथन-प्रणाली स्थापित रखी।

इन बातों के रहते हुए भी पंडितवर, महामहोपाध्याय, रायबहादुर डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा को रासो के असली ग्रंथ होने में संदेह हो गया है। उनका यह मत है कि रासो को किसी ने सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में, चंद के नाम से, बनाया। इस संदेह की पुष्टि में दो प्रधान कारण दिए जाते हैं; एक तो यह कि रासो में प्रति सैकड़े १० के लगभग अलंकार-प्रारंभ आदि के शब्द हैं, और दूसरे, इसमें लिखी हुई घटनाओं के सब संवत् अशुद्ध हैं। कहा जाता है, चंद के समय हिंदी

में इतने विदेशी शब्दों का होना असंभव है, क्योंकि मुसलमानों के आने के पीछे ही उनके शब्द हिंदी में आ सकते थे ।

विदेशी शब्दों के विषय में पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या का यह मत है कि रासो में इतने अधिक विदेशी शब्द नहीं हैं, और थोड़े-बहुत ऐसे शब्दों का होना शंका का कारण नहीं हो सकता । बाबू श्यामसुंदरदास का मत है कि रासो में सैकड़ों-पीछे प्रायः १० ऐसे शब्द हैं, किंतु इसके कारण कोई संदेह न होना चाहिए । भारत में शहाबुद्दीन के साथ ही यवनों का प्रवेश नहीं हुआ । उसके प्रायः पौने दो सौ वर्ष पहले स ही ममूद गुज़नवी की चढ़ाईयों होने लगी थीं, और पंजाब का एक बड़ा भाग मुसलमानों के अधिकार में चला गया था । महमूद से भां तीन सौ वर्ष पहले सिंध तथा मुलतान के देशों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था । अतः पंजाबी-भाषा में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही था । फिर, चंद बरदाई का जन्म लाहौर में हुआ, जहाँ उस समय मुसलमानों ही का अधिकार था । चंद ने अपना बाल्य-काल इसी स्थान पर बिताया । स्वयं पृथ्वीराज के यहाँ शहाबुद्दीन का भाई हुसैन और उसका पुत्र, दोनों रहते थे । उन्हें जागीर भी मिली थी । पृथ्वीराज के राज्य की समा मुसलमानी राज्य से मिली हुई थी । ऐसी दशा में व्यापारिक संबंध से भी मुसलमानों का यातायात हिंदुओं के बीच अवश्य रहता होगा । इन सब कारणों से चंद की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक था, और इन शब्दों को देखकर हम रासो के असली होने के विषय में कोई संदेह नहीं उठा सकते । इतनी और भी बात है कि रासो का एक भाग हो असली समझ पड़ता है, और उसका बृहद्दश प्रक्षिप्त है । ऐसी दशा में पूरे ग्रंथ में शब्दों के पड़ते से कोई दृढ़ निष्कर्ष नहीं निकलता, क्योंकि उसमें प्रक्षिप्त भागों का भी पड़ता शामिल है ।

चंद के दिए हुए संवत्तों में घटनाओं का काल अटकलपच्ची नहीं लिखा गया । इतिहास द्वारा विदित समय से चंद के कहे हुए संवत् प्रायः सदा ६० वर्ष कम होते हैं, और यही अंतर एक-दो नहीं, प्रायः प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है । यदि चंद के किसी संवत् में ६० जोड़ दें, तो इतिहास से सिद्ध यथार्थ संवत् निकल आता है । चंद ने पृथ्वीराज के जन्म, उनके दिल्ली में गोद जाने, क्रन्नीज जाने तथा अंतिम युद्ध के क्रमशः १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ संवत् दिए हैं । इनमें ६० जोड़ देने से प्रत्येक घटना का यथार्थ संवत् निकल आता है (पृथ्वीराज-रासो, पृष्ठ १४० देखिए) । प्रत्येक घटना में केवल ६० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवत्तों से अनभिज्ञ न था, नहीं तो यदि किसी में ६० वर्षों का अंतर पड़ता, तो किसी में इससे कम

या इयादा का । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ । उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ६० वर्ष पीछे था । अब देखना चाहिए कि चंद ने इस विभिन्नता का कुछ संकेत भी दिया है या नहीं । रासो के १३८ वें पृष्ठ पर ये दो दोहे मिलते हैं—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद ;

तेहि रिपु जयपुर हरन को भय पृथ्विराज नरिंद ।

एकादस सै पंजदह विक्रम जिमि ध्रम सुत्त ;

त्रतिय साक पृथ्विराज को लिख्यो विप्र गुन गुप्त ।

इससे प्रकट है कि चंद कवि १११५ विक्रम-अनंद संवत् में पृथ्वीराज का जन्म बताता है । अतः वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत् लिखता है । अनंद का अर्थ साधारणतः आनंद कहा जा सकता है, पर इस स्थान पर आनंद का अर्थ लगाने से ठीक अर्थ नहीं बैठता । यदि आनंद शब्द होता, तो आनंदवाला अर्थ बैठ सकता था । अतः प्रकट होता है कि चंद अनंद संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है । यह अनंद संवत्, जान पड़ता है, साधारण संवत् से ६० वर्ष पीछे था । पंडितवर पंड्याजी ने लिखा है कि तत्कालीन चित्तौर नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के कुछ पट्टे-परवाने आदि भी मिले हैं, जो असली जान पड़ते हैं । इनमें भी इसी अनंद संवत् में समय दिया गया है, जो साधारण संवत् से ६० वर्ष पीछे है । उन्होंने यह भी कहा है कि बाप्पा रावल आदि के भी समय इसी संवत् से मिलाए जा सकते हैं । नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज में जो पुराने आज्ञा-पत्र (पृथ्वीराज, समरसिंह आदि के) मिले हैं, उनमें भी इसी संवत् का प्रयोग हुआ है । अतः जान पड़ता है, उस समय राजों के यहाँ यही अनंद संवत् प्रचलित था ।

अनंद संवत् किस प्रकार चला, और साधारण संवत् से वह ६० वर्ष पीछे क्यों है, इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं, पर दुर्भाग्य-वश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता । बाबू श्यामसुंदरदास ने भी एक कारण बतलाया है, पर वह भी हम ठीक नहीं जान पड़ता । यदि अनंद संवत् का पता न लगे, तो भी स्लेपकों के बाहुल्य से सन् संवत्तों का गड़बड़ रासो के असली भागों के प्रतिकूल नहीं जा सकता । यह भी मानना ही पड़ेगा कि रासो की बहुतेरी घटनाएँ और उनके संवत् अशुद्ध हैं । फिर भी आगे आनेवाले कारणों से प्रकट है कि पूरा रासो जाली नहीं है । पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसके एक भाग को बनाया । रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉक्टर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने

रासो में इतिहास-संबंधी कई मोटी-मोटी भूलें दिखाकर उसे जाली प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, किंतु समझ ऐसा पड़ता है कि प्रक्षिप्त वर्णनों के बाहुल्य से इसमें अशुद्ध कथन अवश्य आ गए हैं, और रासो का कुछ भाग प्रक्षिप्त है, किंतु पूरा-का-पूरा रासो जाली मानने के प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं हैं।

अब हम श्रीमान् ओभाजी के खंडनात्मक तर्कों पर विचार करते हैं। आप पृथ्वीराज के समकालीन अथवा राजकवि जयानक के 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य' पर बहुत बड़ा भरोसा करते हैं, क्योंकि आपके कथनानुसार उसके द्वारा कथित घटनाएँ मालवे और गुजरात के शिलालेखों से मिल जाती हैं। यह ग्रंथ पृथ्वीराज के मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट लिखता है, न कि चंद। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि चंद भाट होकर भी मुख्यतया राजमंत्री थे, और साहित्य-रचना शौकिया करते थे, जैसा हम लोग (मिश्रबंधु) स्वयं करते हैं। ऐसी दशा में उनकी भाटों में संज्ञा न होनी कोई बात नहीं है। हमारी रियासतों के राजकवियों के कथन करने में आज भी कोई हमारे नाम नहीं लेता। ओभाजी स्वयं लिखते हैं—“पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चंद्रराज का वर्णन करते हुए जयानक ने उसकी अच्छे वृत्त (छंद) संग्रह करनेवाले चंद्रराज से उपमा दी है।” इसका उत्तर आप यह देते हैं कि जब वह स्वयं पृथ्वीभट को मुख्य भाट मानता है, तब इस चंद्रराज से चंद वरदाई का अस्तित्व नहीं प्रमाणित हो सकता। इतना अवश्य निश्चय होता ही है कि उस काल कोई चंद कवि था, जिसे पृथ्वीराज का राजकवि सम्मानार्थ चंद्रराज कहता है, और जिसके उपमान बनने से एक राजकुमार तक की महत्ता समझी गई। जयानक उसे अच्छे छंदों का बनानेवाला भी कहता है। चंद के विषय में वह श्लोक इस प्रकार है—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत् ;

संग्रहं यसुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ।

ओभाजी का विचार है कि यह चंद्रराज वह 'चंद्रक' कवि हो सकता है, जिसका नाम विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धवाले कश्मीरीक्षेत्र कवि लेते हैं। किंतु क्षेत्र किसी छोटे-से कवि चंद का कथन करते हैं, जिसे वह चंदक-मात्र कहें हैं। इधर जयानक किसी महापुरुष चंद्र का वर्णन चंद्रराज करके करता है। ये चंद्रक और चंद्रराज एक नहीं समझ पड़ते। चंद-कृत रासो देखने से प्रकट है कि वह राजमंत्री तथा पूज्य व्यक्ति एवं अच्छा कवि था। जयानक भी एक चंद को अच्छा कवि कहकर उससे राजकुमार की उपमा देने में राजकुमार का ही सम्मान समझता है। हमारी समझ में इन कथनों से रासोकार चंद के अस्तित्व का अच्छा समर्थन होता है।

चंदीय भाषा के विषय में ओभाजी की निम्न-लिखित सम्मति है—

“दोहों और कुछ-कुछ कवित्तों की भाषा तो ठिकाने की है, पर ओटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी भरमार है, जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नक़ल की हो। साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के रूप पुराने ढंग के हैं। कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है।”

इस सम्मति से भी प्रकट है कि इसके कुछ भाग पुराने अवश्य हैं। ऐसी दशा में भाषा की साक्षी कुछ प्रक्षिप्त भागों की प्रस्तुति बतलाने के अतिरिक्त चंदीय अस्तित्व को बिलकुल प्रमाणित नहीं करती, वरन् उसका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध करती है। अतएव हमारा और ओभाजी का केवल इतना मतभेद रह जाता है कि उनकी राय में इसमें क्षेपकों के बाहुल्य से प्राचीन होकर भी ग्रंथ बेकार है, किंतु हम बेकार नहीं समझते, वरन् आदर के साथ इसे साहित्य के इतिहास-ग्रंथ में स्थान देते हैं। क्षेपकों के न्यूनाधिक अस्तित्व से इतना हम भी कहेंगे कि इसमें कथित घटनाएँ ऐतिहासिक काम की तब तक न होंगी, जब तक वे अन्य दृढ़ आधारों से भी समर्थित न हों। इतिहास की दृष्टि से बेकार होकर भी रासो साहित्यिक दृष्टि से एक श्रेष्ठ ग्रंथ है, और इसका कुछ भाग बारहवीं शताब्दी का अथवा चंद-कृत है। केवल इतने छोटे मतभेद पर ओभाजी का ऐसा कहना अयोग्य था कि चंद था ही नहीं, और पूरा-का-पूरा रासो सोलहवीं शताब्दी का है। स्वयं उन्हीं की जाँच से इसके कुछ भाग अवश्य प्राचीन हैं।

अब हम ओभाजी के कुछ अन्य विचारों पर सम्मति प्रकट करेंगे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने कुछ तत्कालीन पट्टे-परवानों की नक़ल खोज में छापी है, जिनसे चंद, तत्पुत्र जल्हन, पृथाकुंआरि (पृथ्वीराज की बहन) तथा समरसिंह के संबंध प्रकट होते हैं। आप इनको जाली कहते हैं। हम इस कथन को साहस-मात्र समझते हैं। इनसे चंद-संबंधी हमारे बहुतेरे कथनों को पुष्टि मिलती है। यदि ये न होते, तो भी वे कथन अन्य प्रकार से समर्थित हैं। आप पृथाकुंआरि का अस्तित्व इस वास्ते नहीं मानते कि एक समरसिंह सं० १३५८ तक प्रस्तुत थे, और इधर रासो एक समरसिंह की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ, सं० १२४६ में, मानता है। यह निश्चित है कि तेजसिंह के पुत्र और जैत्रसिंह के पौत्र समरसिंह सं० १३५८ तक चित्तौर के राजा थे, किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सं० १२४६ में मरनेवाले कोई समरसिंह थे ही नहीं। हमारा मत है

कि वह पहले समरसिंह थे, और सं० १३५८ वाले दूसरे। केवल दूसरे समरसिंह के अस्तित्व से पहले का अस्तित्व नहीं कटता। खुनान-रासो आदि के आधार पर टाड महाशय भी पृथ्वीराज के वहनोई समरसिंह का अस्तित्व मानते हैं। महाराणा कुंभा द्वारा अकथित होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि इनकी वास्तविक महत्ता रासो के कथनों से बहुत कम हो। इस अकथन से अनस्तित्व अनिश्चित है, और यदि समरसिंह का अस्तित्व असिद्ध भी हो, तो यह कथन भी क्षेपक मानकर रासो के प्राचीन भाग दृढ़ रहते हैं।

रासो में गुजरात के भीमदेव की पृथ्वीराज से लड़ाई कथित है। भीमदेव का राजत्व-काल सं० १२५५ से १२६८ तक है। इसी बात से ओभाजी अनुमान करते हैं कि गद्दीनशीनी के समय भीमदेव विलकुल बाल्यावस्था में था। उधर इतिहास कहता है कि अपने पूर्ववर्ती राजा तथा भाई दूसरे मूलराज के समय में भीमदेव ने शिहाबुद्दीन गोरी को युद्ध में पराजित किया था, और तब वह भाई के स्थान पर राजा भी हो गया। ऐसी दशा में उसका पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को युद्ध में मारना तथा पृथ्वीराज की उससे लड़ाई असंभव नहीं। हाँ, उसका पृथ्वीराज द्वारा मारा जाना-मात्र प्रक्षिप्त है। ओभाजी भीमदेव की सं० १२३५ में बाल्यावस्था का निराधार अनुमान करके स्वयं रासो के प्रतिकूल अशुद्ध दोषारोपण करते हैं। इतिहास भी १२३५ के पूर्व भीमदेव को भारी युद्धकर्ता बतलाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि रासो में थोड़े-बहुत प्रक्षिप्त भाग अवश्य हैं। यह विचार उसमें कई ऐतिहासिक अशुद्धियों तथा भाषा-वैषम्य पर निर्भर है। कुछ भाषा नई देख पड़ती है, और कहीं-कहीं पुरानी तथा कुछ स्थानों पर पुरानी की नक़ल-सी। ओभाजी महाशय यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि रासो सब-का-सब जाली है, और उसका कोई भाग प्राचीन नहीं। उसके जाली होने में आपको इतनी प्रसन्नता होती है कि इसके समर्थन में कैसी भी भद्दी दलील हो, वह बावन तोले पाव रसी ठीक जँचती है, और इस बात पर इतनी दृढ़ता है कि रासो के किसी अंश को पृथ्वीराज का समकालीन माननेवाले उन्हें हठवादी-मात्र समझ पड़ते हैं। आप कहते हैं, यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रासो पहले छोटा था, और पीछे लोगों ने उसे बढ़ा दिया होगा, क्योंकि चंद के वंशवर कवि यदुनाथ ने सं० १८०० के अपने ग्रंथ वृत्तविलास में रासो का वही आकार बतलाया है, जो उसका वर्तमान आकार है। आपका विचार है—“यदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल-ग्रंथ अवश्य होगा, जिसके आधार पर उसने उक्त ग्रंथ का परिमाण लिखा होगा।” आपकी समझ में सं० १२४८ से सं० १८०० तक रासो में कोई क्षेपक का बढ़ना असंभव था,

और यदुनाथ पूरे ६०० वर्षों के रासो संबंधी आकार के त्रुटिवांछी बने-बनाए हैं। आपका यह भी विचार है कि प्रमार, परिहार, सोलंकी और चौहान को अग्नि-वंशी पहलेपहल चंद ही ने कहा, और जब सोलहवीं शताब्दी तक के किसी अन्य ग्रंथ में वे अग्नि-वंशी न कहे जाकर सूर्य या चंद्र-वंशी कहे गए, तब उन्हें अग्नि-वंशी कहनेवाला रासो भी प्राचीन ग्रंथ न होगा। सं० १४६० के हमीर महाकाव्य चौहान अग्नि-वंशी नहीं कहे गए हैं। यह भी कोई दृढ़ तर्क नहीं है। ये क्षत्रिय यज्ञ के कारण अग्नि-वंशी कहलाए। यज्ञ के प्रथम भी ये प्रस्तुत थे ही, और उस काल सूर्य या चंद्र-वंशी आदि कहलाते ही होंगे। ऐसी दशा में यदि कुछ ग्रंथों में इनके पुराने वंश कहे गए, तो इससे रासो के प्रतिकूल कुछ भी सिद्ध नहीं होता, वरन् यह बात उसकी प्राचीनता-व्यंजक है। यह तो प्रकट ही है कि दो-तीन शताब्दियों से ऐसे सब क्षत्रिय निर्विवाद रूप से अपने को अग्नि-वंशी कहते आए हैं। यदि यह बात पहलेपहल रासो द्वारा सोलहवीं शताब्दी में ही उठाई गई होती, तो इतना शीघ्र सर्वमान्य कभी न हो जाती। चंद्र-वंशी नानूराम के पास सं० १४५५ की लिखी हुई रासो की एक प्रति पंडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा कही गई है। यह बात यदि सत्य हो, तो रासो की प्राचीनता बहुत पीछे जाती है।

रासोकार पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का सात बार हारना कहता है, किंतु इतिहास उसका एक ही बार हारना लिखता है। इतिहास बहुधा मुसलमानी कथनों पर अवलंबित है, जिनमें उनकी हीनता का घटना स्वाभाविक था। फिर भी यह ऐतिहासिक अशुद्धता समझ पड़ती है, जो क्षेपकों के कारण हो सकती थी, अथवा चंद द्वारा अपने स्वामी के अनुचित प्रताप-कथन का फल हो। पृथ्वीराज की अवस्था, उनके विवाह तथा कुछ और बातों में भी ओझाजी ने ऐतिहासिक भूलें दिखलाई हैं। संभव है, अधिक ग्रंथ-पठन से उनका समर्थन हो सके। विवाहों के विषय में कुछ अत्युक्ति अवश्य समझ पड़ती है। फिर भी संभव है, कुल-नामादि एकत्राध साधारण भूल के कारण ही ओझाजी पूरे निबंधों को अशुद्ध कहते हों। पुरातत्त्ववेत्ता लोग इस विषय पर जाँच करेंगे। अपने को तो साहित्य से प्रयोजन है। ऊपर के कथनों से यह अवश्य सिद्ध है कि रासो के कुछ अंश पृथ्वीराज के समकालीन और कुछ क्षेपक हैं। भाषा और घटनाओं पर पूर्ण विचार करने से इन दोनों भागों की मात्राएँ न्यूनाधिक सिद्ध हो सकती हैं। फिर भी इतना हर हालत में दृढ़ है कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन था, और उसने तथा उसके पुत्र जल्हन ने रासो बनाया, जिसमें पीछे के कवियों ने बहुत कुछ घटाय़ा-बढ़ाया है। इससे अधिक छान-बीन हम रासो के ही पंडितों पर छोड़ते हैं।

यह बड़ा भारी ग्रंथ लगभग २५०० पृष्ठों का है, और इसमें कई प्रकार के वर्णन आए हैं, जिनमें युद्ध और शृंगार प्रधान हैं। मंगलाचरण में कवि ने एक छंद में आदि-देव-गुरु आदि की स्तुति करके फिर तीन षट्पदों में (जिन्हें वह कवित्त कहते हैं) धर्म, कर्म एवं मुक्ति की स्तुति की है। इसके पीछे वह पुराने कवियों की स्तुति करते हैं, जिनमें व्यास, शुक्रदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, डंडमाली और जयदेव का उल्लेख हुआ है। इनमें सब कवि संस्कृत के हैं, पर शायद डंडमाली प्राकृत का कवि हो। चंद ने कहा है कि इसने गंगा-नदी का वर्णन किया। यथा—

सतं डंडमाली उजाली कवित्तं ; जिनै बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं ।

तदनंतर चंद की स्त्री उनसे प्रश्न करती है, और तब वह ईश्वर-प्रभाव, पुराणादि का वर्णन करते हैं। ईश्वर के संबंध में चंद ने प्रथम तो एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म का कथन किया, पर अंत में ब्रह्मा की उत्पत्ति कहकर अन्य देवतों की भी चर्चा कर दी। अपने यहाँ विष्णु एवं शिव का विवरण नहीं दिया। ईश्वर-वर्णन १८५ पृष्ठ पर अच्छा है। उक्त वंदना से, उदाहरण-स्वरूप, दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं—

सादक (शादू लविक्रीडित छंद)

आदीदेव प्रतम्य नम्य गुरुयं अतीय वंदे पयं
सिष्टं धारनधारयं वसुमती लच्छीस चर्नाश्रयं ;
तंगुं तिष्ठति ईस दुष्ट दहनं सुर्नाथ सिद्धि श्रयं
थिर्चर्जगम जीव चंद नमयं सर्वेस वर्दामयं ।

यह रासो का प्रथम छंद है।

कवित्त (छप्पय)

सम बनिता बर बंदि चंद जंपिय कोमल कल ;
सबद ब्रह्म इह सत्ति अपर पावन कहि निर्मल ।
जिहित सबद नहिँ रूख रेख आकार ब्रज नहिँ ;
अकल अगाध अपार पार पावन त्रयपुर महिँ ।

विहिँ सबद ब्रह्म रचना करौ गुरु प्रसाद सरसे प्रसन ;
अद्यपि सुउकृति चूकौ जु गति कमलवदनि कवि तहँ हसन ।

अष्टादश पुराण कहने के बाद चंद महाशय अपनी लघुता बताते और फिर खल-स्वभाव कहकर सरस्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति करते हैं। इस प्रकार

६४ छंदों में वंदना तथा भूमिका कहकर आपने क्रमशः परीक्षित, वशिष्ठ, आबू-गिरि-उत्पत्ति, ऋषियों के वंश, चहुवान-उत्पत्ति तथा क्षत्रियों के ३६ वंशों को उत्पत्ति आदि की कथाएँ कही हैं। इसके पीछे चहुवानों के वंश का वर्णन किया और वीसलदेव की उत्पत्ति कहकर आना का जन्म कहा। आना ने अपनी माता से सुना कि वीसलदेव ने झूब मृगया खेली, और फिर वह नुंसक हो गया, परंतु पुनः पुरुषत्व प्राप्त करके उसने अनुचित आचरण किया। वीसलदेव ने बालुकाराय से युद्ध किया, और फिर गौरी वैश्या का सतीत्व नष्ट कर डाला। वैश्या ने उसे शाप दिया, जिसके अनुसार सर्प ने उसे डब लिया, और वह मर गया। तदनंतर उसकी चिता से ढूँढा-नामक राक्षस उत्पन्न हुआ। ढूँढा ने वीसलदेव के पुत्र सारंगदेव को मारकर अजमेर उजाड़ दिया। यह सुन सारंगदेव का पुत्र आना ढूँढा के पास गया। ढूँढा ने प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे अजमेर दे दिया, और वह स्वयं हारिफ ऋषि से उपदेश ग्रहण कर महात्मा हो गया। आनाजी ने आनासागर बनवाया, जो अब तक एक प्रसिद्ध तालाब है। आनाजी का प्रपौत्र सोमेश्वर था, जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। आनाजी के पीछे उनका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, और उसके पीछे उसका पुत्र आनंददेव गद्दी पर बैठा। इन्हीं के पुत्र महाराज सोमेश्वर हुए। दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री पृथ्वीराज की माता थी। चंद ने पृथ्वीराज की कथा अपनी स्त्री की इच्छा के अनुसार कही। मंगलाचरण में, प्रायः साठ पृष्ठों में, दशावतार की कथा कही गई है, जो उत्कृष्ट है। ये सब उपर्युक्त वर्णन २५४ पृष्ठों में समाप्त हो गए हैं। शेष ग्रंथ में पृथ्वीराज की कथा, विस्तार-पूर्वक, वर्णित है। पृथ्वीराज का शत्रुओं से प्रायः युद्ध हुआ करता था। रासो में अधिकतर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों एवं मृगया के ही वर्णन हैं। अतः, विस्तार-भय से अधिक न कहकर, हम रासो के अनुसार, यहाँ पृथ्वीराज के शत्रुओं, शत्रुता के कारणों और युद्धों का दिग्दर्शन कराए देते हैं—

शत्रु

शत्रुता के कारण तथा परिणाम

(१) भोराभीमंग

(गुजरात का राजा)

पृथ्वीराज के सायंत कन्ह ने एक बार इसके भाइयों को कहा-सुनी में मार डाला। यह सलष की कन्या इच्छिनी को चाहता था, पर पृथ्वीराज ने उससे विवाह कर लिया। इसने पृथ्वीराज के पिता को एक युद्ध में मारा। अंत को, कई युद्धों के बाद, पृथ्वीराज ने इसे मार डाला। पृथ्वीराज द्वारा भीमंग-वध अनैतिहासिक है।

(२) नाहरराय
(मंडोवर का राजा)

एक विवाह के कारण इससे युद्ध हुआ ।
इसने प्रथम अपनी कन्या पृथ्वीराज से व्याहने को
कहा था, पर पीछे यह नट गया । अंत को यह
पराजित हुआ, और विवाह संपन्न हुआ ।

(३) जियाउद्दीन
मुद्गलराय मेवाती

इसने कर नहीं दिया था, पर इसे पराजित
होना पड़ा ।

(४) शिहाबुद्दीन गोरी

इसकी चित्ररेखा नाम की एक परम सुंदरी
वेश्या थी । इसका भाई हुसैन उससे अनुरक्त हो
गया । इस पर इन दोनों में खटपट हुई, और
हुसैन पृथ्वीराज की शरण आया । इसी पर गोरी
से बहुत बार युद्ध हुए, और सदा वह हारा ।
कई बार पकड़ा भी गया, पर दुर्भाग्य-वश
पृथ्वीराज ने उसे दंड लेकर हर बार छोड़
दिया । इतिहास इसका एक ही बार पकड़ा जाना
कहता है । पृथ्वीराज ने अपनी वहन पृथाकुंआरि
का विवाह जब रावल समरसिंह से किया, तब
इनके सब सामंतों के साथ शिहाबुद्दीन ने भी रावल
को दहेज दिया । अंत को, ११६३ ई० में, उसने
राजा को युद्ध में पकड़ लिया, और मार डाला ।
उसके बाद भारत का बादशाह हो गया । फिर
पश्चिम के घुमरों ने उसे भी मार डाला, पर उसके
दास कुतबुद्दीन के हाथ से भारत का राज्य नहीं
छूटा । इस भाग के कुछ कथन रासो पर न होकर
इतिहास पर आश्रित हैं ।

(५) कुमोदनि
(कुमाऊँ का राजा)

यादवराज विजयपाल की पुत्री पद्मावती का इससे
विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने इसे पराजित
करके पद्मावती से अपना विवाह किया ।

(१) जयचंद
(कन्नौज का राजा)

यह भी वैसे ही अनंगपाल का दोहित्र था, जैसे पृथ्वीराज, पर उस (अनंगपाल) ने राज्य पृथ्वीराज ही को दिया । देवगिरि के राजा यादवराज की कन्या शशिव्रता से इसके भतीजे का विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने शशिव्रता को हरकर उससे अपना विवाह किया । इन दोनों बातों से, विशेषकर अंतिम बात से, कुढ़कर जयचंद ने एक यज्ञ में पृथ्वीराज की मूर्ति का अपमान किया । इस पर पृथ्वीराज ने यज्ञ विध्वंस कर डाला, और उसकी पुत्री संयोगिता को हरकर उससे विवाह किया । इन्हीं कारणों से जयचंद ने शिहाबुद्दीन से मिलकर, अदूरदर्शिता से पृथ्वीराज का सर्वनाश करवा डाला, पर दूसरे ही साल, ११९४ ई० में, शिहाबुद्दीन ने इसे मारकर बनारस का भी राज्य ले लिया । जयचंद के वर्णन में रासों में कई ऐतिहासिक भूले हैं ।

(७) अनंगपाल

यह पृथ्वीराज का नाना था । इसने दिल्ली का विशाल राज्य प्रसन्नता-पूर्वक पृथ्वीराज को देकर बदरीनाथ की यात्रा की, पर इसके वंशधर तोंवर राजपूतों ने पृथ्वीराज से अप्रसन्न होकर इसे बहकाया, और उनसे लड़ा दिया । इसके पराजित होने पर पृथ्वीराज इसके पैरों पर गिर पड़ा, और उसने इसे बहुत प्रसन्न किया । अंत में यह फिर बदरीनारायण को चला गया । अनंगपाल की भी ऐतिहासिक शुद्धता संदिग्ध है ।

(८) कर्नाटक-युद्ध

पृथ्वीराज ने विजय-लालसा से यह युद्ध ठाना था । अंत को कर्नाटकी नाम की एक रूपवती वेश्या पाकर यह वहाँ से प्रसन्नता-पूर्वक लौट आया ।

(९) गज्जरराय

यह भीम का साथी था । इसने पृथ्वीराज के बहनोई समरसिंह की राजधानी चित्तौर पर धावा किया था । पृथ्वीराज ने इसे भी हराया ।

- इस वर्णन से विदित होता है कि चौदह प्रधान शत्रुओं में नव से शत्रुता का कारण पृथ्वीराज के ब्याह थे । यदि इन्हें विवाह करने का इतना भारी शौक न होता, तो ४३ वर्ष की ही अल्पावस्था में ऐसा पराक्रमी राजा शिहाबुद्दीन से हारकर काल-कवलित न होता, और भारत उस समय यवनों के अधिकार में न जाता । पृथ्वीराज जितने पराक्रमी, शूर तथा उदार थे, उतने ही अदूरदर्शी और हठी भी । इन्हीं कारणों से बड़े-बड़े सामंत और बृहत् सेना रखने पर भी

एक क्षुद्र शत्रु से हारकर यह राजपाट और जीवन तक खो बैठे। पृथ्वीराज ने दस विवाह किए, और एक वेश्या को रक्खा। रासो के देखने से प्रकट होता है कि इनके प्रायः तीन ही काम थे—विवाह, आखेट और युद्ध।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो का प्रथम संपादन सं० १६४० के लगभग हुआ, और कुल तीन संपादन हुए। इसमें क्षेपक बहुत मिल गए, और ग्रंथ में छान-बीन, घटाव-बढ़ाव प्रचुरता से हुए। ऐसी दशा में कुछ ऐतिहासिक अशुद्धियों का आ जाना स्वाभाविक था। अतएव रासो में लिखे हुए उपर्युक्त कथनों को जब ऐतिहासिक घटनाओं से मिलाया जाता है, तब कुछ गड़बड़ पड़ती ही है। हमने अपने भारतीय इतिहास के द्वितीय भाग में, पृष्ठ ३६६ से ३७२ पर्यंत, चौहानों के वंश का हाल लिखा है। उसके देखने से विदित होगा कि महाराजा पृथ्वीराज के निकटवाले पूर्व-पुरुषों के विषय में भी ऐतिहासिकों में मत-भेद है, और उसका वर्णन, विविध आधारों में, अनेक प्रकार से है। टाड साहब राजपूताने के हिंदू ऐतिहासिकों के आधार पर चलकर पृथ्वीराज की वंशावली इस प्रकार लिखते हैं—वीसलदेव—सारंगदेव—आनाजी—सोमेश्वर—पृथ्वीराज (चर्महरदेव भाई)—रैनसी। यह वंशावली चंद के वर्णन से बहुत कुछ मिलती हुई है। उधर चित्तौर में एक शिला-लेख मिला है, जिसके अनुसार अजय के पुत्र आना सं० ११५० वि० में जीवित थे। वीसलदेव इन्हीं आना के पुत्र कहे गए, जिनके पौत्र पृथ्वीराज थे। स्मिथ महाशय किसी काश्मीरी ग्रंथ के आधार पर पृथ्वीराज को वीसलदेव का भतीजा मानते हैं। डफ़ महाशय ने अजमेर के चौहान-राजों की जो वंशावली लिखी है, उसमें चार विग्रहराज लिखे हुए हैं, जो नरेशानंबर ३, १२, १८ तथा २२ थे। इन्हीं में एक वीसलदेव था। तीसरे विग्रहराज के पुत्र प्रथम पृथ्वीराज लिखे हैं, जिनके पुत्र अजयराज या सल्हण थे। कहीं-कहीं आनाजी के पुत्र जयसिंह भी अजयराज लिखे हैं। अजयराज के पुत्र अरुणराज थे, जिनके पुत्र चौथे विग्रहराज तथा दूसरे पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर लिखे हुए हैं। डफ़ ने अजयराज का संवत् ११८७, अरुणराज का १२०७ एवं दूसरे पृथ्वीराज का १२२७ लिखकर चौथे विग्रहराज तथा सोमेश्वर के बीच पृथ्वीभट नाम का एक और राजा लिखा है। जान पड़ता है, स्मिथ महाशय ने चौथे विग्रहराज को असली वीसलदेव मानकर पृथ्वीराज को वीसलदेव का भतीजा लिखा है। वास्तव में तीसरे विग्रहराज वीसलदेव थे। यदि उनके पुत्र पहले पृथ्वीराज का उपनाम आनाजी मानें, तो चंद के अनुसार भी वंशावली प्रायः मिल जाती है, क्योंकि ऐसी दशा में आनाजी के पुत्र अजयराज मिलते हैं, और उनके अरुणराज, जिनका दूसरा नाम आनंददेव हो सकता था। इन्हीं के पुत्र सोमेश्वर थे, जो पृथ्वीराज

के पिता थे। इस हिसाब से केवल इतना भेद पड़ता है कि चंद ने आनाजी को बीसलदेव का पौत्र लिखा है और डफ़ ने पुत्र। बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव ने बहुत कम समय तक राज्य किया, और वह ढूँढा द्वारा मारे गए। उन्हीं के पुत्र आनाजी थे। संभव है, थोड़े ही काल तक राज्य करने के कारण उनका नाम डफ़ की नामावली से छूट गया हो, और उनके स्थान पर उनके पुत्र बीसलदेव को पौत्र न लिखकर पुत्र लिख दिया गया हो। इस प्रकार की क्षुद्र भूलें पौराणिक राजवंशों में भी मिलती हैं। हर हालत में अंतर यदि है भी, तो बहुत थोड़ा। बीसलदेव के पूर्व की वंशावली में चंद ने पूरे नाम लिखने का प्रयत्न न करके केवल कुछ विशेष नाम-मात्र गिना दिए हैं। अतएव, हमारी समझ में, ऐतिहासिक विचारों से चंद-कृत पृथ्वीराज की वंशावली थोड़ी-बहुत मिल जाती है। फिर भी उपर्युक्त कई कारणों से रासो के लिये यह कोई भारी प्रश्न नहीं है।

अब पृथ्वीराज-संबंधी घटनाओं के विषय में चंद ने जो लिखा तथा उनके समसामयिक लोगों का जो कथन किया, उस पर विचार करना शेष है। चंद बरदाई ने पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का कई बार पकड़ा जाना लिखा, किंतु इतिहास में ऐसा होना एक ही बार माना गया है। हो सकता है, पृथ्वीराज ने उसे दो-तीन बार पकड़ा या जीता हो, जिसे घटाकर मुसलमानी ऐतिहासिकों ने एक ही बार रक्खा हो, और चंद ने बढ़ाकर कई बार कह दिया हो। एक यह अंतर अवश्य पड़ता है कि चंद ने शिहाबुद्दीन को सुल्तान कहा है, किंतु जब तक उसने पृथ्वीराज को जीता, तब तक वह सुल्तान का भाई-मात्र था। उस सुल्तान के मरने पर शिहाबुद्दीन पीछे से सुल्तान हुआ। यह अवश्य है कि वह शिहाबुद्दीन को बहुत अधिक मानता था, जिससे संभव है, उस काल के हिंदुओं को उसके सुल्तान होने का ही भ्रम हो गया हो। संभव है, शत्रुओं पर आतंक जमाने को उसके सैनिक उसके सुल्तान न होने पर भी उसे सुल्तान ही कहते हों, जिससे चंद को भ्रम हो गया हो।

पृथ्वीराज के समसामयिक जिन १४ लोगों के नाम ऊपर दिए गए हैं, उनमें से गुजरात-नरेश भीम, मंडोवर के नाहरराय, शिहाबुद्दीन गोरी, कन्नौज के जयचंद और महोबे के राजा परिमाल ऐतिहासिक पुरुष हैं। कुमाऊँ-पति कुमोदभानु, चंदेरी के पंचाइन, उज्जैन-पति भीम, काँगड़ा-पति भान और बालुकाराय की चर्चा इतिहास में नहीं है। मुद्गलराय मेवाती और गज्जररा साधारण पुरुष-मात्र थे। पृथ्वीराज के समुर आबू-पति सलष का पता इतिहास में मिलता है। इतिहास बनारस को जयचंद की राजधानी बतलाता है, न कि कन्नौज को, किंतु समझ पड़ता है कि कन्नौज उसकी दूसरी राजधानी थी। चंद कवि ने पृथ्वीराज

का वर्णन विशेषकर दिल्ली के संबंध में किया है, किंतु इतिहास का कथन है कि पृथ्वीराज अजमेर में राज्य करते थे, और उनकी ओर से गोविंदराय दिल्ली का शासन-चक्र चलाते थे। चंद ने महाराजा सोमेश्वर के समय में दिल्ली में पृथ्वी-राज का विशेष वर्णन किया है। आपने यह भी लिखा है कि पिता के पीछे पृथ्वी-राज दिल्ली तथा अजमेर, दोनों के स्वामी हुए। इतिहास में पृथ्वीराज-कृत कर्नाटक-युद्ध का उल्लेख नहीं है।

जो मोटी-मोटी ऐतिहासिक भूलें रासो में हैं, वे प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण समझ पड़ती हैं। बहुत-से वर्णनों के मुख्यांग ठीक हैं तथा उपांग संदिग्ध। संवत्तों में भी कई गड़बड़ हैं, जो क्षेपकों के कारण हो सकते हैं।

रासो प्रायः संवत् १२२५ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था, जब प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का अंत हो रहा था, और हिंदी का प्रचार। प्राकृत का अंतिम व्याकरणकर्ता हेमचंद्र हुआ, जिसकी मृत्यु संवत् १२२६ में हुई। अपने समयानुसार रासो में प्राकृत-मिश्रित भाषा है, पर चंद कवि शब्दों को प्रायः शुद्ध रूप में भी लिखते थे। अपनी भाषा के विषय में उन्होंने यह श्लोक कहा है—

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीतिं नवं रसम् ;

पङ्क्ताभाषाश्च पुराणञ्च कुरानं कथितं मया ।

(रासो, पृष्ठ २३)

चंद की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। प्राकृत-रूप-मिश्रित भाषा लिखने का कारण चंद ने अनुस्वार से द्वितीया के स्थान पर प्रथमा का भी काम ले लिया है। तो भी भाषा से इनका अगाध पांडित्य प्रकट होता है। इन्होंने संस्कृत के अच्छे-अच्छे शब्द लिखे तथा पुराणों की कथाओं का अच्छा ज्ञान दिखाया है, यद्यपि संस्कृत के ग्रंथ उस समय अनुवादित नहीं हुए थे। इनकी भाषा ऐसी कठिन है कि एकाएक पूरी समझ में नहीं आती। कठिन छंदों का प्रायः आशय-मात्र समझ में आता है। पूर्णतया समझने की परिश्रम की आवश्यकता है। इनकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण है, एवं प्राकृत के-से रूपों का प्राधान्य होने के कारण वह वर्तमान हिंदी से बहुत भिन्न है, और मिलित वर्णों तथा अनुस्वारों का बाहुल्य एवं चंदह-नरिंदह आदि शब्दों के प्राचीन रूपों का प्रयोग होने से, पढ़ने में, एक प्रकार की दूसरी ही भाषा जान पड़ती है, फिर भी, ध्यान-पूर्वक देखने पर, वह वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती भी है। चंद ने उस समय की प्रचलित हिंदी लिखी, और हम लोग आज-कल की हिंदी लिखते हैं। क्षेपकों में पीछे की भी हिंदी है। यह मानना ही पड़ेगा

कि उस समय के देखते वर्तमान हिंदी ने बड़ी उन्नति कर ली है, पर चंद की हिंदी अब भी अपने बालकपन से ही एक अलौकिक आनंद देती है। जन्म-ग्रहण के थोड़ा ही पीछे हिंदी ने जो रूप पाया, उसका प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण चंद की असली हिंदी है।

यह कवि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष के समकालिक थे। इन्होंने श्लोकों से मिलते हुए कई प्रकार के छंद कहे हैं। आपके साटक एक प्रकार से हिंदी के श्लोक हैं। इनकी मात्रा चंद की कविता में बहुत है, और ये मनोहर हैं। पद्य छंद का भी चंद ने विशेष आदर किया है। छंद अपनी मनोहरता के कारण आदरणीय भी हैं। इनके अतिरिक्त चंद ने बहुत-से छंद लिखे हैं, और किसी को इतनी दूर नहीं चलाया कि वह अरुचिकर हो जाय। चंद ने कथा और छंद ऐसे क्रम-बद्ध प्रकार से कहे कि जान पड़ता है, चंद ही इस प्रथा के चलावनेवाले नहीं हैं, वरन् यह रीति उस समय के कवियों में स्थिर थी। चंद ने एकआध छंद ऐसा भी कह दिया, जिसका अब पता लगाना कठिन है। यथा बथूवा-छंद, रासो, पृष्ठ ८। पंड्याजीने इसे रिझुक-छंद माना है। उदाहरणार्थ यह लिखा जाता है—

प्रथम सु मंगल मूल श्रुतविय, स्मृति सत्य जल सिंचिय,

सुतरु एक घर घ्रम्म उभयो ;

त्रिषट साप रम्मिय त्रिपुर, वरन पत्त मुख पत्त सुभ्यो ।

कुसुम रंग भारह सुकल, उकति अलंव अभीर ;

रस दरसन पारस रमिय, आस असन कवि कीर ।

चंद ने श्लोक भी अच्छे-अच्छे, संस्कृत में, कहे हैं।

इन महाकवि ने युद्ध और शृंगार-रस का कथन तो उत्कृष्ट किया ही है, अन्य प्रकार के भी अनेकानेक बढ़िया वर्णन रासो में वर्तमान हैं।

आपने कई स्थानों पर, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, देवतों की बिनतियाँ बहुत विशद कही हैं। यथा शिव-स्तुति (४३ तथा ७७ पृ०), ईश्वर-स्तुति (१६० पृ०), भूमि-देवी-वर्णन (५८६ पृ०), सूर्य आदि के वर्णन (१३६६ तथा १३६७ पृ०), देवी-स्तुति (४६२ पृ०)। चंद ने नीति, वसंत (१२८७, १५०४, १५०७ पृ०), उपवन (५५३ पृ०), वाग (५१२ पृ०), पत्नी (२४२ पृ०), तलवार (१२२५ पृ०), मृगया (१५१२, ४७६ पृ०), सवारी (५६६ पृ०), खेमे (४८५ पृ०), सिंह (५७८ पृ०), वन, वर्षा, शरद् (७६४ पृ०), पकवान, भोजन, राज्याभिषेक (५६६ पृ०), विवाह-तैयारी (६४६ पृ०), नख-शिख (५६२ पृ०) आदि सभी परमोत्कृष्ट कहे। पृष्ठ १०८४, १०८७ में पृथ्वीराज की रानियों के वर्णन, ८०१-८०२ में नख-शिख, ७७६, १२८१, १३४३

में शृंगार-रस आदि के अच्छे कथन हैं। पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुंअरि (६४५ पृ०) के चित्रण में भी नख-शिख (६५२ पृ०) अच्छा कहा गया है। हंसावती के कथन में संयोग-शृंगार मनोहर है। वियोग का भी यत्र-तत्र कथन विशद हुआ है। षट्शतु (१५७८, १५८८ पृ०) और नख-शिख (१२४२, ५६३, ५६६ पृ०) चंद ने कई बार और कई प्रकार से कहे। १५६ पृष्ठ पर पृथ्वीराज की शोभा वर्णन करने में कवि ने उपमाएँ अच्छी-अच्छी दीं। कैमास जिस स्त्री पर लुब्ध होकर, कुछ दिनों के लिये पृथ्वीराज का साथ छोड़, भोराभीमंग का साथी हो गया था, उसके वर्णन का एक छंद यहाँ लिखते हैं—

चंद वदन, चख कमल, भौंह जनु भ्रमर गंध-रत ;
 कोर - नास, बिबोष्ठ, दसन दामिनी दमकृत ।
 भुज मृनाल, कुच कोक, सिंह लंकी, गति वारुन ;
 कनक कंति-दुति देह, जंव कदली-दल आरुन ।
 अलसंग नयन मयनं मुदित, उदित अनंगह अंग तिहि ;
 आनी सुमंत्र-आरंभ वर, देखत भूलत देव जिहि ।

पृथक्-पृथक् वर्णनों में इन कविरत्न ने उपमा, रूपक आदि के भी परमोत्कृष्ट कथन किए हैं (पृष्ठ ७७३, ७७४, ८२१, ११३४, ११३५, १३०४, १३०५, १४१८ आदि) ।

चंद ने प्रभात एवं सूर्य का कई बार बढ़िया वर्णन किया (१३६६, १३६७, १२२५, १२२६ पृ०) । दो-चार स्थानों पर योगियों की क्रियाओं का भी विवरण है (१४५०, १२४५, १२४६ पृ०) । पृथ्वीराज के गुण तथा कीर्ति आदि के बहुत अच्छे वर्णन कई बार किए गए हैं (१२८४, १२८५, १४५५ पृष्ठ में तेज और आकार का निर्णय आदि) ।

इन कविरत्न ने शोभा को हर एक स्थान पर देखा है। क्या देवता, क्या स्त्री, क्या सिंह, क्या मृगया, क्या युद्ध, क्या कन्नौज आदि, सभी स्थानों और बातों में उसका ध्यान नहीं छोड़ा, और कविता में भली भाँति सन्निवेश किया (पृष्ठ १४७२, १६२३, १६६७, १५७३, १५७४, ५५०, ५५२, ५७३, ५७८, ५७६, ५६६ आदि) ।

यह युद्ध-प्रधान ग्रंथ है। अतः इसमें युद्ध का न बहुत बार और कितने ही प्रकार का हुआ है (पृष्ठ ७०६, ७०८, ८१५, १२२५, १२२६, ११३४, ११३५, १३७५, १३७६, १३८१, १३८२ आदि) । चंद ने युद्ध तो प्रायः उचित कहे हैं, पर कवियों की विस्तारकारिणी प्रकृति के वशवर्ती होकर सेना-संख्या में अत्युक्ति कर दी है। जयचंद एवं सुल्तान के दल की गणना में इन्होंने क्रमशः ३० और १८ लाख मनुष्य कहे हैं, जो सर्वथा असंभव है।

इन महाकवि ने स्त्रियों के रूप, शृंगार, शोभा आदि के भी कई बार श्लाघ्य वर्णन किए हैं (पृष्ठ ५५०, ५६२, ५६६, ५७३, ६४५, ६४६, ६५२, ६५३, ७७६, ७८१, ८०१, ८०४, १२४२, १२४३, १०८४, १०८७, १२८१, १३०४, १३०५, १३४३, १४८२ आदि) ।

चंद ने शिव का शृंगार भी अच्छा कहा (पृष्ठ १५७३, १५७४) । इन्होंने ये और ऐसे-ही-ऐसे अन्य सैकड़ों वर्णन रासों में बड़ी उत्तमत्ता से किए । पृष्ठ आदि का जहाँ हवाला है, वहाँ नागरी-प्रचारिणी सभावाली रासों की प्रति का है ।

चंद बरदाई जैसे भाषा के प्राचीन कवि थे, वैसे ही संस्कृत के आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की भाँति वर्णन भी प्रायः पूर्ण और मनोहर करते थे । काव्य-प्रौढ़ता में चंद का प्रद बहुत बढ़ा हुआ है, और जितने विषयों के इन महाकवि ने उत्कृष्ट तथा पूर्ण कथन किए हैं, उतने के प्रायः अन्य भाषा-कवियों ने नहीं किए । चंद को नवरत्नों में रियायत से अथवा पुराने कवि होने के कारण नहीं स्थान दिया गया है, वरन् इनकी काव्य-प्रौढ़ता ही के कारण इन्हें यह सम्मान मिला है । अब यह जाना-माना गया है कि रासों का बृहदंश सत्रहवीं शताब्दी का है, और वह चंद के असली भागों से बहुत कुछ हिल-मिल गया है । यहाँ जो चंद का वर्णन है, वह रासों का सम्मेलन चाहिए । ये चंद अवश्य ही, और उनके प्राचीन कथन रासों में हैं ही । यदि कोई परिश्रम करके रासों के प्राचीन भाग अलग छापे, तो समालोचना भी अधिक मान्य बने । अभी तो पूरे रासों पर साहित्यिक कथन किए गए हैं । रासों भी हिंदी का एक अमूल्य रत्न है, और प्रत्येक हिंदी-रसिक को इसे पढ़ना चाहिए । इस लेख के भाषा-संबंधी भाग में रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदरदास के एक उस लेख से भी सहायता ली गई है, जो उन्होंने कृपया हमारे पास भेज दिया था ।

अब चंद की कविता के और भी उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

भयो जनम पृथिराज द्रुग खरहरिय सिखर गुर ;
भयो भूमि भुवचाल धमकि-धसमसिय अरिन पुर ।
गढ़न कोट सेलोठ नीरसरितन बहु बड्ढिय ;
भौचक भय भूमिया चमक चक्रित चित चड्ढिय ।
खुरसान थान खल-भल परिय ग्रंभपात भय ग्रंभनिय ;
बैताल बीर बिकसे मनहु हुंकारत खह देव निय ।

×

×

×

करिय नवनि कवि चंद छंद अन्नक पड्डि कर ;
 तूँ सुरपति सम कुँअर, देव सामंत समो वर ।
 अग्नि कन्ह, जल चंद, पवन गोइंद प्रबल बल ;
 धरा चंद बल धीर, तेज चामंड जलन खल ।
 रवि तेज कहर कारंभ सब चंद अमृत आबू धनी ;
 दिगपाल सबल सामंत सब रहै दबि धरती धनी ।

×

×

×

पीत वसन आरुहिय रत्न तिलकावलि मंडिय ;
 छुटिय चंचल चाल अलक गुंथिय सिर छंडिय ।
 सीसफूल मनिबंध पास नग सेत रत्न बिच ;
 मनो कनक - साखा प्रचंड काली उप्पम रुच ।
 मनु सोम सहायक राहु होइ कोटि भान सोभा गही ;
 अदभूत द्रव्य ससि अहि गल्यो साष सुरंग भनावही ।

×

×

×

हरितकनककांति कापि चंपेव गोरी ;
 रसितपदुमगंधा फुल्ल - राजीव - नेत्रा ;
 उरजजलज सोभा नाभि-कोसं सरोजं ;
 चरन - कमलहस्तीलीलया राजहंसी !

×

×

×

मुक्ताहारविहार सारसुबुधा अन्धा बुधा गोपनी ;
 सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गौरी गिरा जोगनी ।
 बीनापानि सुवानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी ;
 लंबोजा चिहुरार भार जवना बिघना घना नासिनी ।

×

×

×

तम्मै स्यामसुरंगवामनयनं मनमथवल्ली कला ;
 सुषुं धामय तेज दीपक कला तारुन्य लच्छी ग्रहा ।
 रूपं रंजित मंजुमाल कलया बासंतपत्रावली ;
 अश्रवं लच्छन काम धीरज गुणै धन्यौ दुती दंपती ।

×

×

×

वेस्या बंछित भूप रूप मनसा शृंगारहारावली ;
 सोयं सूरति लच्छि अच्छि तगुनं वेली सुकामावली ।
 का ववै कवि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं ;
 सोयं बाल तिरत्त उष्ट्र विद्रमं कामोद जोगेश्वरं ।

×

×

×

क्रम उधरीय किपाट चौर भग्गंत रोर तनु ;
 चक चक्की जंमिलहि उधरि सतपन्न मत्त जनु ।
 भृंगभृंगि सम भ्रमहि वज्जि मारुत सौरभ चलि ;
 गय उड़गन ससि घटिय बडिय आकास किरनि हर ।
 सैविधि सुरंग व्यापार धन रवि रत्तौ भुष दिष्ययौ ;
 भासकर सहसंकर क्रम्मकर नव कर कमुद विसण्ययौ ।
 कंठय भूषन छंद प्रकासय ; वारह अच्छर पिंगल भासय ।
 अठय संजतु मत्त प्रमानय ; कंठय भूषन छंद वषानय ।
 उगिररतं रत अंमर भासय ; भानु सुदेव दिवालय धानय ।
 पाप हरै तन क्रम्म प्रगासय ; कौ जम तात जमुन्नय भासय ।
 तात करन्नय पूरन पूरय ; बंधकमोदनि को मत्त सूरय ।
 बंध जवासुर ग्रीषम धानय ; अर्क पलासन काम बिरासय ।
 कौ सुनि तात सनी सर सूरय ; भास करै करुना मति पूरय ।
 है कर संस्तति भाप प्रकारय ; तारय नाथ दिनं मति तारय ।
 है वर ओष करं गिर पारय ; मानहुं देव दिवालय साजय ।
 भंजन कुंजअसूवत षंडय ; सो धरि ध्यान धरंत विरंचय ।
 एक धरी धरि ध्यान न दिषिय ; मुक्ति सलच्छिय संपन अणिय ।

सरद चंद प्रतिब्यं व तिमर तारन गयंद धर ;
 ब्रह्म विष्णु अंजुल उदंत आनंद नंद हर ।
 इक चक्र चिहुं दिसै चलत दिगपाल तुंग तन ;
 कमल पानि सारी अरुन्न संसार जियन जन ।

उत्तंग वीर छच्छव पवन मिरारंभ सप्तह सुमुष ;
 कवि चंद छंद इमि उच्चरे हरो मित्त दोइ दीन दुष ।

×

×

×

सिसिर समय दिन सरसगत मधु माधव बल मंडि ;
 भार अष्टदस वेल तरु पत्र पुरातन छंडि ।

करिय नवनि कवि चंद छंद अन्नके पड्डि कर ;
 तूँ सुरपति सम कुँअर, देव सामंत समो वर ।
 अग्नि कन्ह, जल चंद, पवन गोइंद प्रबल बल ;
 धरा चंद बल धीर, तेज चामंड जलन खल ।
 रवि तेज कहर कारंभ सब चंद अमृत आबू धनी ;
 दिगपाल सबल सामंत सब रहै दखि धरती धनी ।

×

×

×

पीत वसन आरुहिय रत्न तिलकावलि मंडिय ;
 छुट्टिय चंचल चाल अलक गुंथिय सिर छंडिय ।
 सीसफूल मनिबंध पास नग सेत रत्न बिच ;
 मनो कनक - साखा प्रचंड काली उप्पम रुच ।
 मनु सोम सहायक राहु होइ कोटि भान सोभा गही ;
 अदभूत द्रव्य ससि अहि गल्यो साष सुरंग भनावही ।

×

×

×

हरितकनककांति कापि चंपेव गोरी ;
 रसितपदुमगंधा फुल्ल - राजीव - नेत्रा ;
 उरजजलज सोभा नाभि-कोसं सरोजं ;
 चरन - कमलहस्तीलीलया राजहंसी ।

×

×

×

मुक्ताहारविहार सारसुबुधा अब्धा बुधा गोपनी ;
 सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गौरी गिरा जोगनी ।
 बीनापानि सुवानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी ;
 लंबोजा चिहुरार भार जघना विघ्ना घना नासिनी ।

×

×

×

तम्मै स्यामसुरंगवामनयनं मनमथवल्ली कला ;
 सुषं धामय तेज दीपक कला तारुन्य लच्छी ग्रहा ।
 रूपं रंजित मंजुमाल कलया वासंतपत्रावली ;
 श्रवं लच्छन काम धीरज गुणै धन्यौ दुती दंपती ।

×

×

×

वेस्या बंछित भूप रूप मनसा शृंगारहारावली ;
 सोयं सूरति लच्छि अच्छि तगुनं वेली सुकामावली ।
 का ववै कवि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं ;
 सोयं बाल तिरत्त उष्ट विद्रमं कामोद जोगेश्वरं ।

×

×

×

क्रम उघरीय किपाट चौर भगंत रोर तनु ;
 चक चक्की जंमिलहि उघरि सतपत्र मत्त जनु ।
 भृंगभृंगि सम भ्रमहि वजि सारत सौरभ चलि ;
 गय उडगन ससि घटिय वडिय आकास किरनि हर ।
 सैविधि सुरंग व्यापार घन रवि रत्तौ भुष दिष्यौ ;
 भासकर सहसंकर क्रम्मकर नव कर कमुद विसण्यौ ।
 कंठय भूपन छंद प्रकासय ; वारह अच्छर पिंगल भासय ।
 अष्टय संजनु मत्त प्रमानय ; कंठय भूपन छंद वषानय ।
 उगिरतं रत अंमर भासय ; भानु सुदेव दिवालय थानय ।
 पाप हरै तन क्रम्म प्रगासय ; कौ जम तात जमुन्नय भासय ।
 तात करन्नय पूरन पूरय ; बंधकनोदनि को मत्त सूरय ।
 बंध जवासुर ग्रीषम थानय ; अर्क पलासन काम बिरामय ।
 कौ सुनि तात सनी सर सूरय ; भास करै करुना मति पूरय ।
 है कर संलति भाष प्रकारय ; तारय नाथ दिनं मति तारय ।
 है वर ओष करं गिर पारय ; मानहुं देव दिवालय साजय ।
 भंजन कुंजअसूवत षंडय ; सो धरि ध्यान धरंत विरंचय ।
 एक घरी धरि ध्यान न दिष्यय ; मुक्ति सलच्छिय संपन अण्णिय ।

सरद चंद प्रतिव्यं व तिमर तारन गयंद घर ;

ब्रह्म विष्णु अंजुल उदंत आनंद नंद हर ।

इक चक्र चिहुं दिसै चलत दिगपाल तुंग तन ;

कमल पानि सारी अरुन्न संसार जियन जन ।

उत्तंग वीर छच्छव पवन मिरारंभ सप्तह सुमुष ;

कवि चंद छंद इमि उच्चरे हरो मित्त दोइ दीन दुष ।

×

×

×

सिसिर समय दिन सरसगत मधु माधव बल मंडि ;

भार अष्टदस वेल तरु पत्र पुरातन छंडि ।

नूतन रत मंजरि धरिय परिमल प्रगटि सुवास ;
 छत्र रुचिर छवि काम जनु अलि तुष्टत सुर रास ।
 आगम वसंत तरु पत्र डार ; उठि किसल नइय रँग रत्तधार ।
 अंकुरित पत्र गहरंति डार ; लहलहत जंग अडार भार ।
 मधु-पुंज-गुंज कमलनि अधीन ; जनु काम कोक संगीत कीन ।
 तरु तरनि कूक कोकिल सभार ; विरहिनी दीन दंपति आधार ।
 कलरव करंत षग-द्रुमति रोर ; निसि बीति सिसिर रतिराज भोर ।
 त्रिय पुरुष चपनि रुचि अनंग वड्डि ; दंपति अनंग विरहिनी जड्डि ।
 इम अवनिराज रित गवन कीन ; नव सुग्ध मध्य कंतन अधीन ।
 ग्रह-ग्रहनि गान गायंत नारि ; मन हरित सुग्ध मध्या धमारि ।
 तन भरति रत्त रँग पीत पानि ; हिय मोद प्रगट तन धरन जानि ।
 इम दुअ वसंत आगम अवनि ; मदमत्त करिय जनु गवनवनि ।
 मसि भीज दिननि पिय तन वनंग ; अवतार अवनि जनु धरि अनंग ।
 मुष हर्ष गंडमंडल प्रकास ; फरकंत अधर मधु रस विलास ।
 विगसंत कमल छवि नयन मंडि ; बंधूक अरुन रुचि षंडि छंडि ।
 मधुमास सुक्क निसि रुचिर चंद ; यहि गंध पवन छवि सीत मंद ।
 हुअ रोम पंचसर अंच देह ; कल मलिय ज्वलिय वनिता सनेह ।
 निसि प्रथम प्रहर तट गवन कीन ; सुभ सोम बाग मन हुअ अधीन ।
 सगपन्न धार इक लिय चढ़ाइ ; जल्लैव इक्क अंग पवन पाइ ।
 पिधे सुबाग बानिक रसाल ; निरषंत नयन सोभा विसाल ।

×

×

×

एक सुपुत्रिय पंग दीय दक्षिण सुदेव ग्रह ;

मानहीन माननिय रूप उप्पम रंभा कह ।

कमल अनूपम काज कछू ओपम मन मानिय ;

सुवर काम रति वाम मनो फेरिय सो आनिय ।

लच्छन बतीस वयसंधि इह सो ओपम अगकथ्यौ ;

चढ़नही सुमनमथ चित्त रथ चढ़नेमति चित रथ्यौ ।

संजोग संधि जोवन प्रवेस ; चित मंडि सुनौ संभरि नरेस ।

श्रीषंड - पंक कुंकुम सुरंग ; मानो सुकरी कर मरदि गल्ल ।

उप्पमा नष्प आवै न कब्बि ; तिन पड़ी होइ मयुषन सरब्बि ।

इक अंग उपम कहिय सुदुत्ति ; तारकन तेज द्रप्पन सुमुत्ति ।

पिंडुरी अंग भलकत सुरूर ; मनु रत्त रंग कंचन कि चूर ।
 ओपम्म नष फिर कहि उषाई ; कन्नैर कली फूलंत राइ ।
 पिंडुरी पाइ सोभंत वाम ; अँभखोन पंभ सोवन्न वाम ।
 उर जंघ दंड ओपम निरंग ; गज सुंड डिंभ कै खोन रंग ।
 नित्तंव तुंग इन भाइ कव्वि ; धरि चक्र सँवरि दुज वाम रव्वि ।
 नित्तंव भाग उत्तंग छंड ; मनु तुलत काम धरि लंक दंड ।
 लंकह प्रमान मुट्ठीत घट्टि ; वैनी ढलक्क दीसंत पुट्टि ।
 धिते सुकव्वि ओपम्म ओर ; नागिन सो हेम-पंभह सुजोर ।
 राजीव रोम अंकुरिव वार ; मानो पपील बंधी विलार ।
 गति हंस चलत मुक्कत विचार ; सिलवंत रूप गहि बाँधि भार ।
 कुच सरल दरस नारिंग रंग ; मरदे के कुंक कंचन उपंग ।
 जोवन प्रसंग इह रूप हद्द ; छुर करी हरी मुक्कै मसद्द ।
 तव लगिग होत हमथान मत्ति ; जव लगिग आनि सैसव कि रत्ति ।
 अधवीच वात हम सुनी तास ; कहि लेख लोग आवै न हास ।
 कलग्रीव रहे त्रिवलीय चाहु ; बैठोति चंद आसनति राहु ।
 धर अधर अरुन दीसै सुरंग ; जानै कि विंव फल-चंद जंग ।
 ओपम सु चंद वरदाइ लीन ; मनु अगर चंद मिलि संग कीन ।
 मधु-मधुर बानि सहसहति रंग ; कलयंठ कंठ केकीन लंघ ।
 वर दसन-पति दुति यों सुभाइ ; मोहक्क चंद जुव्वन वनाइ ।
 नासिक अनूप वरनी न जाइ ; मनु दीप भवन निध्वातपाइ ।
 सुंदरि वदन्न दूनौ बनाइ ; मनु रथ्य रव्वि दीपहि मनाइ ।
 कहँ लगिग कहों चहुआन-वाम ; सैसव सुवाल कंपैति काम ।
 अंबुज नयन्न मधुकर सहित ; पंजन चकोर चमकंत चित्त ।
 वैनीतिसाल सोभै विसाल ; मनो अरध उरग चडि कनक साल ।
 खवननि सहचरि वचन चित्त गुरुजन संभारिय ;
 रसन वचन चाहंत पन सु अप्पनौ विचारिय ।
 समभिलास गंधर्व भयौ किलकिंचित नारय ;
 नयन उमड़ि जलविद वदन अंसू परि भारिय ।
 उपमान इहै कवि चंद कहि बाल जदिन मुर संभयौ ;
 उपफेन असौ मज्झह रह्यो ससि कलंक उपफनि गयौ ।
 दिगु रत्ते करि बाल भौंह बंकी करि पिज्जिय ;
 सो ओपम वरदाइ चंद राजस मन भज्जिय ।

सैसव, जुवन नरिंद परसपर लरत विआन ;
 मनु सम रष्यत बाल दुहुन सों भीभक्त आनं ।
 भोहन्नि तीर जाने छुरी दुहुन बीच अड्डी करी ;
 पो रूप देषि संजोगि कौ उठि सहचरि मंतह हरी ।
 स्यामंगं कलधूतनूतसिखरं मधुरे मधू वेष्टिता ;
 बीते सीत सुगंध मंद सरसा आलोल संचेष्टिता ।
 कंठी कंठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपने ;
 रत्ने रत्न वसंत मत्त सरसा संजोग भोगायते ।
 मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिप दीसं ;
 भवर भाव भुल्लै अंत मकरंदव सीसं ।
 वहत बात उज्जलति मौर अति विरह अगनि किय ;
 कुहुकुहंत कल ठ पत्र राषस रति अगिगय ।
 पय लगिग प्रानपति बीनवों नाह नेह मुक्त चित धरहु ;
 दिन-दिन अवद्धि जुववन घटय कंत वसंत न गम करहु ।
 धुम्र चलिय बग पवन भ्रमत मकरंद कँवल कलि ;
 भय सुगंध तह जाइ करत गुंजार अलिय मिलि ।
 बलहीना डगमगहि भाग आवै भोगी जन ;
 उरधर लगै समूह कंपि भौ सीत भयतनन ।
 लत परी ललित सब पहुप रति तन सनेह जल पवित [किय ;
 निकरै अंग अंबुज हरुअ सीत सुगंध सुमंद लिय ।
 लै बंधं सुरथट्ट डंकित मधू, उन्मत्त अंगी धुनी ;
 कंद्रप्पे सुमनो वसंत रमनं, प्राप्तो धनं पावनं ।
 कामं तेग मनं धनुष्य सजनं, भीतं वियोगी मुनी ;
 विरहिन्या तन ताप पत्त सरसा संजोगिनी सोभनं ।

× × ×
 षट रिति वारह मास गय, फिरि आयो रु वसंत ;
 सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत ।
 जौ नलिनी नीरहि तजै, सेस तजै सुरतत ;
 जौ सुवास मधुकर तजै, तौ तिय तजै सु कंत ।
 रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ;
 उह रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग ।

×

×

×

चरने रत्तय पत्तराइ रितए कंजाय चंद्रानने ;
 मातंगं गयहंसमत्तगमने जंघाय रंभायने ।
 मध्यं छीन मृगेंद्रभारजघना नाभि च कामालये ;
 सिंभे सिंभ उरज त्यों नयनयौ एनै ससी भालये ।

तल चरन अरुन तिरत्तये ; जल नलिन सोक सपत्तये ।
 नष - पंति - कंतिथ मुत्तए ; जनु चंद अम्रत जुत्तए ।
 नग जरित नूपुर बजए ; कलहंस सव दवि लजए ।
 गति मत्त गरव गयंदए ; छुवि कहत कविवर चंदए ।
 गहि पिंड कनक विमानयं ; रँग रंग वंदन सानयं ।
 कर करिय जंघनि ओपमं ; रँग फटिक केसरि सोपमं ।
 घन जघन सघन नितंबयं ; छिन काम केलि विलंबयं ।
 कटि सोभ वर मृग राजयं ; कहि चंद यो कविराजयं ।
 वनि नाभिकोस सुकंजयं ; मनु काम भ्रमरय रंजयं ।
 रव मधुर मृदु कटि किंकिनी ; भलमलत नगफननी कनी ।
 सलि उदर त्रिवलि त्रिरेषयौ ; कुच जघन मंडि सुभेषयौ ।
 वनि रोमराजि सपंतयं ; प्रतिविव दैनि सुभंतयं ।
 उर उरज जलज विराजहीं ; कलधौत श्रीफल लाजहीं ।
 उर पुहुपहार उहासियं ; इक होत जोजन वासियं ।
 गर लजित कंठ तु कामिनी ; कलयंठ कोक सु धामिनी ।
 रुचि चिबुक बिंद सु स्यामए ; जनु कमल वसि अलिधामए ।
 वलि पुहुपतिलक सुनासिका ; जनु कीर चुंचप्रहासिका ।
 तिन मुत्ति बेसर सोभए ; ससि मुक्र मिलि रसि लोभए ।
 तस नयन षंजन कंजए ; मुरराज सुर मन रंजए ।
 त्राटकं नग जर जगमगै ; बिय चक्र करि ससि पर जगै ।
 बिय भोह वंकिता अंकुरी ; जनु धनुक कामति संकुरी ।
 तसु मध्य तिलक जराइ कौ ; रवि चंद भिल रस आइ कौ ।
 गुथि केस चिक्कन बेनियं ; जनु प्रसित अहि ससि एनियं ।
 'सत दिव्य अंमर अंभर' ; नह मलिन होत अडंबर ।
 अंग वास आस सुगंधयं ; सँग चलत मधुवृत संगयं ।
 सम उदधि मथि कीनौ हरी ; फटि फेन प्रगटित सुदरी ।

गजपति चल्लिय जलदहल्लिय गरज नग धन भुल्लियं ;
 हलहलन घंटन घोर धुंधर नाग दुंभर डुल्लियं ।
 गत लगिग गिरिवर पुरहि तरवर हलहि धरवर धावही ;
 भलकंत दंत कि पंत बग धन धाम कल सति गावही ।
 गज बहत मद हद मनहुँ धन मद छुट्टि छिछन उम्भरै ;
 पग जोरि-जोरि मरोरि मुर जनु दिष्ष सुरपति छुभरै ।
 बनि पीलवानिन ढाल हालनि वनिय वैरष साजही ;
 मनु सिषर गिरिवर काम अंगन छत्र चमर कि राजही ।
 बहु अंधधुंधन चलत मगगन सुनत वजन चलही ;
 वै कोट ओटन अगढ़ मन्नत सिषर गिररद भलही ।
 दल मुष्य मंडिय मेघ छंडिय मनहु सुरपति वजयं ;
 सुर सोम सोमह मज्झ मोमह गेह तजि प्रज भजयं ।
 परि देस - देसन रौरि दौरिय सुनिय संभरि रजयं ;
 वर मंगि बाजिय सिलह संजिय वहै भोरा अजयं ।

X

X

X

सुनि एक राह संभरि नरेस ; पुरसान घान बंधे असेस ।
 धनु धनुक धार अज्जुन समान ; मनि रतन निद्धि जस आसमान ।
 वर तेज ओज जम जोर-जोर ; अरि छिपै तेज मनु चंद चोर ।
 जिन वान तेज गज सुक्कि मद्द ; चतुरंग सजि चव कलन सद् ।
 इह जोग वीर मुर्वी न वीर ; वेधत्त सत्त वर एक तीर ।
 कनवज रीति वजि जेय कंध ; इहधक्कि राज सह होइ निंध ।
 जोगिनी भूप औधूत रूप ; कह कहों रूप पंषी अनूप ।
 अधर तपंत पल्लव सु बास ; मंजरिय तिलक पंजरिय पास ।

X

X

X

अलि अलक कंठ कलयंठ मंत ; संजोगि भोक वर भुअ वसंत ।
 मधुरे हिमंत रितुराज मंत ; परसपर प्रेम सो पियन कंत ।
 लुढहित भोर सुगंध बास ; मिलि चंद कुंद फूले अकास ।
 वन बग मग हलि अंब मोर ; सिर ढरत जानि मनमथ्य चोर ।
 चलि सीत, मंद, सुगंध वात ; पावक मनो विरहनी पात ।
 कुह-कुह करंत कलयंठ जोट ; दल मिलहि जानि आनंग कोट ।
 रत्त नील ; हरि चलहि जानि मनमथ्य पील !

कुसमेष कुसम नव धनुष साज ; मंगी सुपंति गुन गरुअ गाज ।
 संजर सुवान सो मनहु नेह ; विद्वारि जानि जुव जननि देह ।
 उच्चलिय चलिय चंपक सरूप ; प्रजरहि प्रकट कंदण्य कूप ।
 कर वत्तपत्त केलुकि सुकत्ति ; विहरंत रत्त, विछुरंत छत्ति ।
 परिरंभ अनिल कंदलि कृपान ; सिर धुनहि सरस धुनि जान तान ।
 भंकुर भमूर अभिराम रम्म ; नन करहि पीय परदेस गम्म ।
 फूलिग पलास तजि पत्त रत्त ; रनरंग ससिर जोतौ वसंत ।
 दिष्प्रहि तपंत जिहि कंत दूरि ; थकि बोलि-बोलि जल रहिय पूरि ।
 संजोग भोग जुवतिन प्रवीन ; पै कंठ नादि दुह भगिय लीन ।
 रविजोग भोग ससि नौय थान ; दिन धरयौ देव पंचमि प्रमान ।

×

×

×

तन पंच प्रकारं, कहि समरां, तत उच्चारं, तिद्धारं ;
 सुति ग्यान प्रसंसं, नसयति ससं, वसयति हंसं, जिद्धारं ।
 मन पंच दुआरं, मभय निनायं, रुक्कि सवारं, अनहदं ;
 सुरक्रन्न सबद्धं, चितय जहं, नासिक तहं, तन भहं ।
 गुरुगम्य सु थानं, चितिय ध्यानं, ब्रह्म गियानं, रमि जोयं ;
 मन सून्य रमंतं, भिलमिल मंतं, नन भुलि जंतुं, सो जोयं ।
 तजि कामय क्रोधं, गुरु वच सोध, संभ्रित बोधं, सब्बानं ;
 अंगुष्ठ प्रमानं, भौहं विचानं, निगम न जानं, तिज्जानं ।
 गुर मुष्यय वत्तं, चितिय गत्तं, सिद्ध रमंतं, मुनि मोती ;
 षह महयं थान, पिंड समानं, मंडि सुध्वानं, छिठ जोती ।
 जब लषिय रूपं, भजि भ्रम कूपं, दीपक नूपं, सो भूपं ;
 तब नंसिय संसं, मुक्ति रमंसं, जोगय जंसं, सो रूपं ।

गजपंति चल्लिय जलदहल्लिय गरज नग धन भुल्लियं ;
 हलहलन घंटन घोर धुंधर नाग दुंभर डुल्लियं ।
 गत लगिग गिरिवर पुरहि तरवर हलहि धरवर धावही ;
 भलकंत दंत कि पंत बग धन धाम कल सति गावही ।
 गज बहत मद हद मनहुँ धन मद छुट्टि छिछन उम्भरै ;
 पग जोरि-जोरि मरोरि मुर जनु दिष्य मुरपति छुम्भरै ।
 बनि पीलवानिन ढाल हालनि बनिय वैरष साजही ;
 मनु सिषर गिरिवर काम अंगन छत्र चमर कि राजही ।
 बहु अंधधुंधन चलत मगगन सुनत वजन चल्लही ;
 वै कोट ओटन अगढ़ मन्नत सिषर गिररद भल्लही ।
 दल मुष्य मंडिय मेघ छंडिय मनहु मुरपति वजयं ;
 मुर सोम सोमह मज्झ मोमह गेह तजि प्रज भजयं ।
 परि देस - देसन रौरि दौरिय सुनिय संभरि रजयं ;
 वर मंगि बाजिय सिलह संजिय वहै भोरा अजयं ।

X

X

X

सुनि एक राह संभरि नरेस ; पुरसान षान बंधे असेस ।
 धनु धनुक धार अज्जुन समान ; मनि रतन निद्धि जस आसमान ।
 वर तेज ओज जम जोर-जोर ; अरि छिपै तेज मनु चंद चोर ।
 जिन वान तेज गज सुक्कि मद्द ; चतुरंग सजि चव कलन सद् ।
 इह जोग वीर^१ मुर्वी न वीर ; वेधत्त सत्त वर एक तीर ।
 कनवज रीति वजि जेय कंध ; इहधक्कि राज सह होइ निध ।
 जोगिनी भूप औधूत रूप ; कह कहों रूप पंषी अनूप ।
 अधर तपंत पल्लव सु वास ; मंजरिय तिलक पंजरिय पास ।

X

X

X

अलि अलक कंठ कलयंठ मंत ; संजोगि भोक वर भुअ वसंत ।
 मधुरे हिमंत रितुराज मंत ; परसपर प्रेम सो पियन कंत ।
 छुट्टहित भोर सुगंध वास ; मिलि चंद कुंद फूले अकास ।
 बन बग मगग हलि अंब मोर ; सिर ढरत जानि मनमथ्य चोर ।
 चलि सीत, मंद, सुगंध वात ; पावक मनो विरहनी पात ।
 कुह-कुह करंत कलयंठ जोट ; दल मिलहि जानि आनंग कोट ।
 रत्त नील ; हरि चलहि जानि मनमथ्य पील ।

कुसमेष कुसम नव धनुष साज ; मंगी सुपंति गुन गरुअ गाज ।
 संजर सुवान सो मनहु नेह ; विद्वारि जानि जुव जननि देह ।
 उच्चलिय चलिय चंपक सरूप ; प्रजरहि प्रकट कंदध्य कूप ।
 कर वत्तपत्त केलुकि सुकत्ति ; विहरंत रत्त, विछुरंत छत्ति ।
 परिरंभ अनिल कंदलि कृपान ; सिर धुनहि सरस धुनि जान तान ।
 भंकुर भमूर अभिराम रम्म ; नन करहि पीय परदेस गम्म ।
 फूलिग पलास तजि पत्त रत्त ; रनरंग ससिर जोतौ वसंत ।
 दिष्प्रहि तपंत जिहि कंत दूरि ; थकि बोलि-बोलि जल रहिय पूरि ।
 संजोग भोग जुवतिन प्रवीन ; पै कंठ नादि दुह भगिय लीन ।
 रविजोग भोग ससि नौय थान ; दिन धरथौ देव पंचमि प्रमान ।

×

×

×

तन पंच प्रकारं, कहि समरां, तत उच्चारं, तिद्वारं ;
 सुति ग्यान प्रसंसं, नसयति ससं, वसयति हंसं, जिद्वारं ।
 मन पंच दुआरं, मभय निनायं, रुक्कि सवारं, अनहदं ;
 सुरकन्न सबदं, चितिय जहं, नासिक तहं, तन भहं ।
 गुरुगम्य सु थानं, चितिय ध्यानं, ब्रह्म गियानं, रमि जोयं ;
 मन सून्य रमंतं, भिलमिल मंतं, नन भुलि जंतुं, सो जोयं ।
 तजि कामय क्रोधं, गुरु वच सोघ, संभ्रित बोधं, सब्बानं ;
 अंगुष्ठ प्रमानं, भौहं विचानं, निगम न जानं, तिज्जानं ।
 गुर मुष्यय वत्तं, चितिय गत्तं, सिद्ध रमंतं, मुनि मोती ;
 पह महयं थान, पिंड समानं, मंडि सुध्वानं, छिठ जोती ।
 जब लष्पिय रूपं, भजि भ्रम कूपं, दीपक नूपं, सो भूपं ;
 तव नंसिय संसं, मुक्ति रमंसं, जोगय जंसं, सो रूपं ।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र



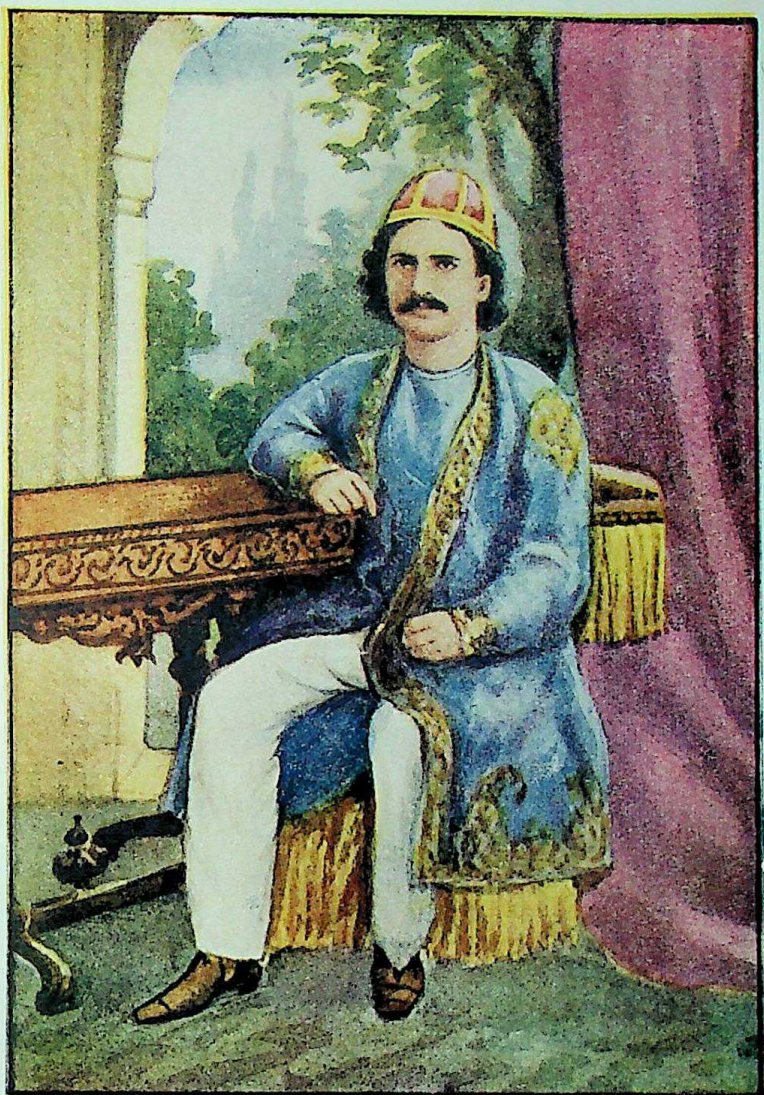
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भादौ-सुदी ७, संवत् १६०७ वि० को, काशी-पुरी में, हुआ। हर्ष का विषय है कि इन महाकवि की जीवनी इनके वात्सल्य-भाजन गोलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास और आरा-निवासी बाबू शिवनंदनसहायजी ने लिखी। प्रथम पुस्तक में ११४ और द्वितीय में ४४६ पृष्ठ हैं। ये दोनों ग्रंथ बहुत ही संतोषदायक हैं। इन दोनों महाशयों का श्रम प्रशंसनीय है। हम लोग इस विषय में बाबू शिवनंदनसहाय के बहुत ही कृतज्ञ हैं कि उन्होंने परिश्रम करके भारतेंदु की भारी जीवनी देखने का हम लोगों को अवसर दिया। इस जीवनी में बाबू साहब ने गद्य-काव्य भी अच्छा किया है, और कई स्थानों पर इसकी भाषा पढ़ने में बड़ा आनंद आता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप हम पाठकों से इनके पृष्ठ ३३७ को पढ़ने का अनुरोध करेंगे। इन दोनों जीवनीयों के अतिरिक्त 'सरस्वती' के प्रथम भाग में भी इनकी छोटी-सी जीवनी दी हुई है। इनके विषय में बहुत कुछ इन तीनों जीवनीयों से विदित हो जाता है, अतः हम उसे यहाँ संक्षेप में लिखते हैं।

इनके मूल-पुरुष राय बालकृष्ण थे, जिनके प्रपौत्र प्रतिद्वि सेठ अमीचंद और पौत्र बाबू हर्षचंद हुए। इन्हीं के पौत्र बाबू हरिश्चंद्र और दौहित्र बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरिधरदास, एक सत्कवि हो गए हैं। इनका वर्णन इनकी कविता की समालोचना में अलग लिखा गया है। मुकुंदी बीबी भारतेंदु की बड़ी और गोविंदी बीबी छोटी बहन थीं, और बाबू गोकुलचंद छोटे भाई। गोकुलचंदजी के दो पुत्र और दो पौत्र हुए। भारतेंदु के दो पुत्र और विद्यावती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके पुत्र शैशवावस्था ही में परलोकगामी हुए। कन्या के पाँच पुत्र हुए।

इनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी कि केवल पाँच वर्ष की अवस्था में, जब कि और बालक शुद्ध बोलना तक नहीं जानते, इन्होंने निम्न-लिखित दोहा बनाया—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्रीअनिरुद्ध सुजान ;
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान ।

हिंदी-नवरत्न



भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारत - कुमुदिनि - बंधु भारतेंदु हरिचंद ;
जिन विरची कविता करन जातीयता बुलंद ।

गंगा-प्रान्छार्ट-प्रेस, लखनऊ



इनकी माता का देहांत सं० १९१२ में और पिता का सं० १९१७ में हुआ। इनको पैतृक संपत्ति लाखों रूपयों की मिली थी, अतः केवल १० वर्ष की अवस्था में यह संपन्न घर के स्वच्छंद बालक हो गए। एक बार इनके पिता तर्पण कर रहे थे। इन्होंने उनसे पूछा—“बाबूजी, पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ?” इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा कि तू हमारे घर को डुबोवेगा। इसी प्रकार इन्होंने “करन चहत जस चारु कछु कछुवा-भगवान को” इस पद का, केवल ६ वर्ष की अवस्था में, एक चमत्कार-पूर्ण अर्थ सभा में लगाया था, जिस पर प्रसन्न होकर इनके पिता ने कहा—

“तू मेरा नाम चलावेगा।” इनके पिता के ये दोनो वाक्य यथार्थ हुए, जैसा कि इनकी जीवनी से प्रकट होगा। बाल्यावस्था में यह बड़े उपद्रवी थे, यहाँ तक कि एक बार तीन कोस तक बराबर दौड़ते ही चले गए।

भारतेंदु के हिंदी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के प्रथम शिक्षक क्रमशः पं० ईश्वरी-दत्त तिवारी, मौलवी ताजअली और बाबू नंदकिशोर थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के मकान पर एक स्कूल था। उसमें भी कुछ दिन तक यह पढ़े। इसी कारण यह राजा साहब को भी गुरुवत् मानते थे। इन्होंने कुछ दिन बनारस के क्वींस कॉलेज में भी शिक्षा पाई। पढ़ने में इन्होंने कभी मन नहीं लगाया; फिर भी अपनी बुद्धि की तीव्रता से यह अपने सब सहपाठियों से श्रेष्ठतर परीक्षा देकर अध्यापकों को आश्चर्य में डाल देते थे। ११ वर्ष की अवस्था में पढ़ना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथजी की यात्रा की। इन्होंने मराठी, बँगला, गुजराती, साङ्गवारी आदि अनेक भाषाएँ समय-समय पर स्वयं सीख लीं। इनके काव्यगुरु पंडित लोकनाथ थे।

१४ वर्ष की अवस्था में, बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नोदेवी से, इनका विवाह हुआ। इन्होंने सं० १९२३ में कुचेसर की, सं० १९२८ में हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर आदि की और सं० १९३४ में पुष्कर-क्षेत्र की यात्राएँ कीं। इस साल प्रयाग में एक व्याख्यान भी दिया। सं० १९३६ में सरयूपार की यात्रा की। उसी वर्ष काशी-नरेश के साथ आपने वैद्यनाथजी के दर्शन किए। सं० १९३८ में यह, महाराणा सजनसिंह से मिलने को, मेवाड़ पधारे। वहीं श्रीनाथ द्वारे के दर्शन किए। सं० १९४० में बलिया गए। डुमरावँ, पटना, कलकत्ता, हरिहर-क्षेत्र और इलाहाबाद भी प्रायः जाया करते थे।

इनमें स्वदेश-प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से इसके बहुतेरे उदाहरण मिल सकते हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है—

(१) इन्होंने सं० १९२३ में चौखंभा-स्कूल स्थापित किया, जिसमें विना फीस दिए बालक पढ़ते थे। असमर्थों को भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि की सहायता भी दी जाती थी। इस स्कूल को भारतेन्दु ने १२ वर्ष तक अपने ही व्यय से चलाया। फिर म्युनिसिपैलिटी और सरकार ने भी कुछ-कुछ सहायता दी। धीरे-धीरे यह हाईस्कूल हो गया, और अब तक हरिश्चंद्र-हाईस्कूल के नाम से इनकी कीर्ति बढ़ा रहा है।

(२) सं० १९२५ में आपने 'कवि-वचन-सुधा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली। यह दूसरे साल पाक्षिक हो गई, और इसमें गद्य-काव्य भी दिया जाने लगा। कुछ काल के उपरांत यह साप्ताहिक हुई, और इसमें काव्य, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों के लेख निकलने लगे। इसे भारतेन्दुजी ने ७½ साल तक बड़ी योग्यता और उत्तमता से चलाया। तदनंतर यह अन्य हाथों में जाकर लोगों की सहानुभूति खो बैठी। फिर, भारतेन्दु के अस्त होने पर, जब इसने एक दिन भी अपना कालम काला नहीं किया, अथच शोक में एक अक्षर भी नहीं लिखा, तब सबकी आँखों में घृणास्पद होकर, उसी साल, अपना मुँह काला कर, इस संसार से कूच कर गई।

(३) सं० १९३० में इन्होंने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' निकाली। यह आठ मास चलकर 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। सं० १९३६ में भारतेन्दुजी ने इसे मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या को दे दिया। उनके प्रबंध में थोड़े ही समय के बाद चंद्रिका अस्त हो गई। सं० १९४० में भारतेन्दुजी ने 'नवोदित' के नाम से इसे फिर निकाला, परंतु तीन ही मास प्रकाशित होकर यह सदैव के लिये अदृश्य हुई।

(४) सं० १९३० में इन्होंने स्त्रियों के उपकारार्थ, गर्वर्नमेंट के इच्छानुसार, 'बाल-बोधिनी' नाम की पत्रिका निकाली, परंतु वह भी चार ही वर्ष चली।

(५) सं० १९२७ में इनके द्वारा कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित हुई। इसमें प्रसिद्ध कवि सरदार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विजकवि (मन्नालाल) आदि उपस्थित होते थे। भारतेन्दु स्वयं पुस्तक-रचना करते थे, तथा पुरस्कार एवं प्रशंसा-पत्र देकर और-और लेखकों को भी इस काम के वास्ते उत्साहित करते थे। इसी सभा से पंडित अंबिकादत्त व्यास, द्विज बलदेव आदि को प्रशंसा-पत्र मिले।

(६) सं० १९३० में इन महाशय ने 'तदीय समाज' स्थापित किया। इसमें सभ्यों से कई नियम पालन करने को प्रतिज्ञा-पत्र लिखाया जाता था। इन नियमों में हिंसा-निषेध एवं स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार भी था। इस समाज

से 'भगवद्भक्ति' नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी, जो कुछ दिन चलकर बंद हो गई। यह समाज इनको बहुत प्रिय था।

(७) इसी संवत् में इन्होंने 'पेनीरीडिंग-क्लब' कायम किया। उसमें सुलेखकों के लिखे हुए अच्छे-अच्छे लेख भी पढ़े जाते थे। एक बार बाबू साहब उसमें श्रांत पत्रिका का वेष बनाकर गए, और गठरी पटक, पैर फैलाकर, इस ढंग से बैठे कि दर्शकगण अत्यंत ही प्रसन्न हुए। इसी में एक बार थिएटर का स्टेज बनाकर यह चूसा पैगंबर बने। कई गज़ कागज़ जोड़कर जन्मपत्री की भाँति लपेटे हुए आप हाथ में लिए थे, जिसे खोलते और अपने उपदेश पढ़ते जाते थे। इस पौँचवें पैगंबर के उपदेशोंवाला लेख हास्य-रस में व्यंग्य से सच्चे उपदेश का अच्छा नमूना है।

(८) सं० १९३१ में इनके द्वारा वैश्यहितैषिणी सभा स्थापित हुई। अपनी स्थापित सभाओं के अतिरिक्त अन्योन्य सभाओं और देश-हितैषी कार्यों में भी यह सहायक रहते थे।

(९) सं० १९३२ में इन्होंने श्रीनिवार्क, श्रीरामानुज, श्रीमध्व और श्रीविष्णु स्वामी-नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ट, प्रवीण और पारंगत नाम की तीन परीक्षाएँ नियत कीं। इनमें परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को पारितोषिक भी देते थे।

(१०) इन्होंने सामाजिक सुधार पर भी ध्यान दिया, और अपनी पुत्री के विवाह में अश्लील गीतों का गाना बंद कर दिया। इस विषय में इनकी कविता में स्थान-स्थान पर बहुत कुछ पाया जाता है।

इनकी जीवन-यात्रा की प्रायः सभी बातों का निचोड़ ज़िंदादिली है, और वह इनके सभी कार्यों से प्रकट होती है। शतरंज अच्छी खेलते, गाने-बजाने का शौक रखते और खुद भी कई बाजे बजाते थे। कबूतर उड़ाने का वसन था। ताश भी खेलते थे। हुकुम, चिड़िया, ईंट और पान के स्थान पर इन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म रखे। इसी प्रकार बीबी, बादशाह की जगह देवी-देवतों के रूप थे। बुढ़वामंगल के मेले में आप बड़ा उत्सव करते थे। उदारता इतनी बड़ी-चढ़ी थी कि कवियों, पंडितों आदि को हजारों रुपए दान कर देते थे। जिसने इनकी कोई चीज़ पसंद की, वह तुरंत उसकी नज़र हुई। दीपमालिका को इतर के चिराग जलाते थे, और देह में लगाने के वास्ते तो सदैव तेल के स्थान पर इतर ही बर्ता जाता था। सारांश यह कि रुपए को पानी की तरह बहाते थे। इनकी यह दशा सुनकर महाराज काशी-नरेश ने एक दिन इनसे कहा—“बबुआ, घर को देखकर काम करो।” इस पर इन्होंने तुरंत उत्तर दिया—“हुज़ूर! यह धन मेरे बहुत-से बुज़ुर्गों को खा गया है; अब मैं इसको खा डालूँगा।” सं० १९३७

में वह अपने छोटे भाई से अलग हुए थे, और थोड़े ही वर्षों में इन्होंने अपने हिस्से की समस्त पैतृक संपत्ति उड़ा डाली। अपने ननिहाल की कई लाख रुपयों की संपत्ति के यह और इनके छोटे भाई उत्तराधिकारी थे। इनकी उड़ाऊ दशा देखकर इनकी नानी ने कुल संपत्ति का हिवानामा इनके अनुज के नाम लिख दिया, परंतु विना इनकी रज़ामंदी के वह क्रानून के अनुसार ठीक न था। अपनी नानी के कहने पर इन्होंने तुरंत उस पर हस्ताक्षर कर दिए, और इस प्रकार अपने भाग के दो-ढाई लाख रुपए छोड़ देने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं किया। यह काम इन्हीं का-सा दरियादिल आदमी कर सकता था। आपके जीवन एवं साहित्य का सबसे बड़ा प्रभाव देश और हिंदी-साहित्य में जातीयता का वर्द्धन था। आप ही ने हिंदी में धार्मिक के स्थान पर देशभव जातीयता का भारी प्रचार किया।

इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुंदा कमर में बाँधकर कबीर गाते गलियों में निकलते थे। पहली एप्रिल को अँगरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिये कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेंदु उस दिन कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दी कि महाराज विजयानगरम् की कोठी में एक योरप के विद्वान् सूर्य और चंद्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हजारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए, परंतु कुछ न देखकर लज्जित हो लौट गए। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चंद्र-स्कूल में सुप्त गाना सुनावेंगे। जब हजारों आदमी एकत्र हुए, तब परदा खुला, और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमाकर लौट गए। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दी कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार होकर गंगाजी को पार करेगी, और खड़ाऊँ न डूबेगी। हजारों लोग एकत्र हुए, परंतु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब समझे कि यह भी मज़ाक़ था। भारतेंदु ने सुंदर कपड़े, खिलौने, फ़ोटो एवं अपूर्व पदार्थों का संग्रह सदैव किया। इन्हें तसवीरों का संग्रह बहुत ही प्रिय था, और इन्होंने बड़ा परिश्रम करके बहुत-से बादशाहों एवं अन्य महाशयों की तसवीरें एकत्र की थीं; परंतु एक हज़रत ने आकर उनकी बड़ी प्रशंसा की, और इन्हें अपनी आदत से विवश होकर वह संग्रह उन्हें दे डालना पड़ा। इसी दान के पीछे लोगों ने इन्हें पछताते देखा। फिर उन्होंने ५००) तक व्यय करके वह संग्रह उन हज़रत से माँगना चाहा, परंतु उन्होंने न दिया। इनके साथ के बैठनेवाले हमारे बनारसी मित्र स्वर्गीय बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री हमसे कहते थे कि इनके साथ बैठने में लोगों का जी

इतना प्रसन्न रहता था कि कभी चित्त ऊबता ही न था । चाहे जितना शोक क्यों न हो, इनके पास पहुँचे कि चित्त प्रफुल्लित हो गया ।

सुनते हैं, अच्छे पदार्थों के शौक के साथ इन्हें मद्य की भी लत पड़ गई थी, परंतु, फिर भी, अपने काव्य में इन्होंने मदिरा की बड़ी निंदा की । मल्लिका नाम की एक बंगालिन से भी इनका लगाव हो गया, और इन्होंने उसे घर बिठा लिया । इनके सब गुणों में माधवी और मल्लिका-विषयक दोष बिलकुल छिप जाते हैं । महाकवि कालिदास के मतानुसार “एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विव वाङ्मयः ।” यह भारतेंदु थे भी, सो इनमें कुछ कलंक का भी होना स्वाभाविक ही था । अतः लोगों को उस पर दृष्टि भी न डालनी चाहिए । अपने स्वभाव का इन्होंने स्वयं बड़ा ही बढ़िया एवं यथार्थ वर्णन किया है । यथा—

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के है,
कविन के मीत, चित हित गुन गानी के ;
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
‘हरीचंद’ नगददमाद अभिमानी के ।
चाहिये की चाह, काहू की न परवाह, नेही
नेह के दिधाने सदा सूरत निमानी के ;
सरवस रासक के, दास-दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के ।

मेवाड़-यात्रा में इन्हें भय हुआ कि अंतकाल निकट आ गया । उस समय इन्होंने अपने अनुज से पत्र द्वारा अपनी स्त्री को प्रसन्न रखने तथा मल्लिका की भी लाज रखने का आग्रह किया । इनका सम्मान साधारण जन-समाज एवं राजा-महाराजों में बहुत अधिक था ; और, होता क्यों न ? ऐसे पुरुष-रत्न इस स्वार्थी संसार में कहाँ देख पड़ते हैं ? और सब बातें छोड़कर हम इनके सम्मान के विषय में केवल एक बात यहाँ लिखते हैं । संवत् १६३७ में पं० रामशंकर व्यास ने ‘सारसुधानिधि’-नामक पत्र में इन्हें ‘भारतेंदु’ की पदवी से विभूषित करने का प्रस्ताव छपवाया । उसी समय समस्त पत्रों एवं सब मनुष्यों ने मुक्त कंठ से इन्हें भारतेंदु कहना शुरू कर दिया, और तभी से इन्हें यह उपाधि मिली । हिंदी, हिंदू और हिंद के प्रचंड दुर्भाग्य से संवत् १६४० में यह महाशय क्षय-रोग से पीड़ित हुए, और सब कुछ दवा होने पर ६ जनवरी, संवत् १६४१ को पौने दस बजे, रात के समय, यह भारत का चंद्र संसार को रोता छोड़ अस्त हो गया !

इन महाकवि ने केवल ३५ वर्ष इस संसार को सुशोभित किया, और प्रायः

१८ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ की। पहले यह केवल गद्य लिखते थे, पोछे से पद्य भी लिखने लगे। इस १७ वर्ष के अल्पकाल में इन्होंने १७५ ग्रंथ बनाए। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाए हुए और भी वर्तमान हैं। यों तो इन्होंने पाँच वर्ष को आयु में ही एक दोहा बनाया था, परंतु १६ या १७ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी। इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व बाबू रामदीनसिंह, अध्यक्ष खड्गविलास-प्रेस, को दे दिया था जिन्होंने इनके मुख्य-मुख्य ग्रंथों को 'हरिश्चंद्र-कला' के नाम से, छ भागों में, प्रकाशित किया।

प्रथम भाग (नाटकावली)

(१) 'नाटक'-नामक ४३ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा। इनके अतिरिक्त और बहुत-सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढ़ने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई।

(२) 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक संवत् १९३२ में बना। यह आर्य-क्षेमेश्वर-कृत 'चंडकौशिक' के आशय पर बनाया गया, परंतु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और भारतेन्दु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसमें महाराज हरिश्चंद्र की सत्य-परोक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्व काल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चंद्र की सत्य-प्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में भी पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबंध करूँ ? विश्वामित्र और हरिश्चंद्र की बातचीत से यह साफ़ प्रकट होता है कि ऋषि को पृथ्वी का लेना अभोष्ट नहीं था ; वह किसी उपाय से राजा को सत्य-अष्ट-मात्र करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चंद्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत ब्योहार ;
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को टरै न सत्य-विचार ।
बैचि देह-दारा-सुवन होय दास हू मंद ;
रखि है निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद ।

इस ग्रंथ में कवि ने विश्वामित्र का तक्राजा, गंगा-वर्णन, हरिश्चंद्र का स्त्री और अपने को बेचना, श्मशान-वर्णन और रोहिताश्व के मरने पर शैव्या और हरिश्चंद्र का विलाप आदि स्थल बहुत ही उत्कृष्ट कहे हैं। इससे भारतेन्दु की

कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इस नाटक का अभिनय इत्रके सामने, बलिया में, संवत् १६४० में, हुआ। इसमें ८२ पृष्ठ हैं। कथा मूल-रूप में भी अनैतिहासिक है। इसका वर्णन केवल अष्टद पुराणों में है, किंतु लोक में ख्याति बहुत है।

(३) 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना बढ़िया हुआ है कि किसी स्वतंत्र ग्रंथ से कम आनंददायक नहीं है। ग्रंथ १०६ पृष्ठों का है। इसमें चंद्रगुप्त को राज्य देने और राक्षस को उनका मंत्री करा देने के कारण चाणक्य और राक्षस मंत्रों में खूब ही नीति की चोटें चली हैं। अंत में चाणक्य से हारकर राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बनना ही पड़ा। नीति का जटिल विषय होने पर भी इसकी भाषा ऐसी मीठी है कि पाठ करने में बड़ा ही आनंद आता है। नाटक में चंद्रगुप्त के कौशल का पतन बहुत अनुचित और इतिहास-विरुद्ध है। मंत्री राक्षस की जितनी प्रशंसा की गई है, वैसी बुद्धिमत्ता के उनके काम नहीं दिखाए गए हैं। केवल स्वामिभक्ति तथा इमानदारी समुचित साधन नहीं हैं। यह कथा भी अनैतिहासिक है। चाणक्य तीन पुस्तों तक चंद्र के घराने में सचिव रहे। राक्षस कात्यायन के मित्र सुबुद्धि शर्मा थे। कात्यायन नंद-वंश के मंत्री वास्तव में थे।

(४) 'धनंजय-विजय' कांचन-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद है। यह भी स्वतंत्र ग्रंथ की भाँति मनोहर है। १६ पृष्ठों का है। संवत् १६३० में बना। रचना-कौशल साधारण है।

(५) 'कपूरमंजरी' को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १६३२ में बना। इसमें एक प्रेम-कहानी कही गई है। हास्य का भाग विशेष है।

(६) 'चंद्रावली-नाटिका' त्वास इन्हीं की बनाई है। इसमें किसी ग्रंथ का अनुवाद या छाया नहीं है। यह ४५ पृष्ठों की है, और इसकी रचना संवत् १६३३ में हुई। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

भरित नेह नव - नीर नित वरसत सुरस अथोर ;

जयति अपूरव - वन कोरु लखि नाचत मन मार ।

यह दोहा इनको बहुत पसंद था, और इनकी बहुत-सी रचनाओं में वंदना के स्थान पर लिखा गया है। इस पुस्तक में भी यह वंदना में दिया गया है। इस नाटिका में चंद्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रंथ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। ऐसा प्रेम से छलकता हुआ कोई दूसरा ग्रंथ हमने नहीं देखा। इस ग्रंथ में सिवा प्रेम के दूसरा वर्णन नहीं है। इसको सर्वसाधारण ने इतना पसंद

किया कि एक महाशय ने ब्रजभाषा में और द्वितीय ने संस्कृत में इसका अनुवाद किया। इस ग्रंथ में शुकदेवजी, नारद, चंद्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। नाटकों में यह और सत्य-हरिश्चंद्र भारतेन्दु को बहुत पसंद थे। वास्तव में ये दोनों ग्रंथ इनकी रचना और भाषा-साहित्य के श्रृंगार हैं। इन ग्रंथों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय गद्य में भी शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग कर सकते थे। स्टेज पर खेलने में यह नाटक मनोरंजक न होगा, क्योंकि इसमें विषय-परिवर्तन बहुत कम है, और स्टेज के योग्य कई अन्य बातों का भी अभाव है। इसमें नाटकत्व कम है, और साधारण काव्य विशेष।

(७) 'विद्यासुंदर' की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुत यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने बंगला में विद्या-सुंदर-नामक नाटक बनाया। उसी ग्रंथ का अनुवाद भारतेन्दु ने किया। यह ग्रंथ संवत् १६२५ में, केवल १८ वर्ष की अवस्था में, इन्होंने बनाया, परंतु फिर भी इसकी भाषा ऐसी मधुर है, और इसमें ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंद हैं कि उनकी प्रशंसा किए बिना रहा नहीं जाता। उदाहरणार्थ इस ग्रंथ का एक छंद नीचे दिया जाता है—

हमहूँ सब जानती लोक कि चालन, क्यों इतनी बतरावती हौ ;
हित जामैं हमारे बनै, सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ ।
'हरिचंदजू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ ?

(८) 'भारत-जननी'-नाटक किसी अन्य कवि ने भारत-माता-नामक बंगला नाटक से अनुवादित किया था। इसको भारतेन्दु ने शोधकर प्रकाशित किया। इसमें भारत-संतानों की वर्तमान दुर्दशा का एवं गौण रूप से भूत-गौरव का वर्णन है। स्वदेश-भक्ति-पूर्ण एक होली भी बड़ी मनोहर कही गई है। ग्रंथ १२ पृष्ठों में समाप्त हुआ, और प्रशंसनीय है। स्वदेशानुराग की इसमें बहार है। रचना साधारणी है।

(९) 'भारत-दुर्दशा' इनका स्वतंत्र नाटक है, जो सं० १९३७ में लिखा गया। इसमें बड़ा ही उग्र एवं हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। इसमें इन्होंने फूट, बैर, कलह, सुस्ती, संतोष, खुशामद, कायरता, बहु धर्म, लुआछूत, शराब, पुराणों के वाक्य, जाति, ऊँच-नीच, विवाहों में जन्मपत्री का मिलाना,

बहु विवाह, बाल-विवाह, अपव्यय, अदालत, फ़ैशन, सिफ़ारिश, उपाधि, विधवा-विवाह न करना, विलायत-गमन की रोक, बहुत देवी, भूतों और प्रेतों के पूजन आदि बातों की निंदा की है, और यह व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में टिकस, बुधा-पीड़ा, अकाल, महुँगी, रोग आदि की जो विपत्तियाँ हैं, और हिंदोस्तानी जो काफ़िर, काले, नीच पुकारे जाते हैं, ये सब बातें उपर्युक्त अवगुणों ही के कारण हैं। भारत-दुर्दैव और सत्यानास फ़ौजदार की बातचीत में पहले भारत की वर्तमान दशा का वर्णन है, तदनंतर क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार का प्रवेश हुआ है। इसके पीछे छ हिंदोस्तानी सभ्यों की एक सभा का वर्णन है, जिसमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक संपादक, एक कवि और दो देशी भद्र पुरुष विद्यमान थे। सभा में सब सभ्यों के व्याख्यान हुए हैं, और रचयिता ने जिस देश के लोग जैसी हिंदी बोलते हैं, तथा जिस देश के जैसे विचार हैं, उनका ठीक उसी प्रकार से वर्णन इसमें किया है। युक्त-प्रदेशीय सभ्यों का बोदापन और कवि की अकर्मण्यता अच्छी दिखलाई गई हैं। इस ग्रंथ में तुलसीदास की चौपाइयाँ बहुत ही मज़ाक़ के साथ लिखी गई हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-मिश्रित वर्णन किया गया है; फिर भी, उस हास्य में गूढ़ आशय छिपे हुए हैं। इस ग्रंथ से भारतेंदु का अपार देश-प्रेम एवं उत्कृष्ट और जोरदार कविता करने की शक्ति प्रकट होती है। यह २२ पृष्ठों का एक बड़ा ही अनोखा ग्रंथ है, जिससे जातीयता टपकी पड़ती है।

(१०) 'नीलदेवी' एक जातीयता-पूर्ण काल्पनिक नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ाँ का महाराज सूर्यदेव के देश पर धावा करने का वर्णन है। अमीर की ओर सब बातचीत शुद्ध उर्दू में है। यह २० पृष्ठों का अपूर्व ग्रंथ संवत् १९३७ में बना। इसमें प्रत्येक वर्णन आद्योपांत बहुत ही अच्छा है। देव-वाक्य सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। पागल का पार्ट भी अनोखा है। कवि ने मानो सच्चा पागल लाकर दिखला दिया है। इसमें क्षत्रियों के युद्धोत्साह में कवि ने वीर-रस का चित्र सामने खड़ा कर दिया, और उहड़ता की हद कर दी है। यह नाटक बलिया में भारतेंदु के सम्मुख खेला भी गया। इस ग्रंथ से इनका उत्कट स्वदेश-स्नेह देख पड़ता है, और प्रकट होता है कि यह वीर-कविता भी परम मनोहर कर सकते थे।

(११) 'माधुरी' सं० १९४० में बनी। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह किसी अन्य कवि का बनाया हुआ ग्रंथ है। इसमें वृंदावन का वर्णन है, और केवल ८ पृष्ठों में प्रेम कहा गया है।

(१२) 'पाखंडविडंबन' संवत् १९२६ में बनाया गया । यह प्रबोधचंद्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद है । इसमें ११ पृष्ठ हैं ।

(१३) 'अंधेर-नगरी' संवत् १९३८ में बनी । यह १४ पृष्ठों का जातीयता-पूर्ण प्रहसन एक ही दिन में बना । इसमें सौदा बेचनेवालों की आवाजों एवं मुकद्दमे का वर्णन अच्छा है । इसके मूल-ग्रंथ बंगला और गुजराती में हैं ।

(१४) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' २० पृष्ठों का छोटा-सा प्रहसन संवत् १९३० में बना । इसमें मांस खानेवालों और मद्यपों की बहुत निंदा है । कवि ने ब्राह्मणों की भी निंदा की है । इसमें शास्त्रार्थ एवं उन्मत्तता के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं । हास्य-रस का अच्छा कौतुहल है, किंतु भोज्याभोज्य वस्तुओं पर इतना जोर दिया गया है कि अनौचित्य तक आ गया है ।

(१५) 'विषस्य विषमौषधम्' में एक महाराजा के सिंहासनच्युत होने का इतिहास हास्यमय वर्णन में कहा गया है, और परस्त्रीगमन की निंदा है । यह प्रायः गद्य ही में है । यह ९ पृष्ठों का ग्रंथ संवत् १९३३ में बनाया गया । इनके कई अन्य ग्रंथों की भाँति यह भी मनोहर है ।

(१६) 'दुर्लभ बंधु' शेक्सपियर-कृत 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद है । इसमें ८४ पृष्ठ हैं । यह संवत् १९३१ में बना । यह भी एक परमोत्कृष्ट अनुवाद है, और अँगरेज़ी से अनुवादित होने पर भी इसमें भाव बिगड़ने नहीं पाए हैं ।

(१७) 'सतीप्रताप' एक अपूर्ण नाटक था, जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया । इसमें २८ पृष्ठ हैं, और इसका भारतेन्दु-कृत भाग १९४० में बना । इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री का वर्णन है । पतिव्रत का श्रेष्ठ चित्र तथा उसका अच्छा फल दिखाया गया है । बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूर्ण भी ठीक किया है; रूप बिगड़ने नहीं पाया है ।

(१८) 'रत्नावली' में केवल ४ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९२५ में हुआ था, और फिर यह अपूर्ण रह गया ।

(१९) 'प्रेमयोगिनी' एक बड़ा ही विशद ग्रंथ बन रहा था, परंतु दुर्भाग्य-वश अपूर्ण ही रह गया । इसका केवल प्रथम अंक बना, जिसमें २६ पृष्ठ हैं । इस नाटक में भारतेन्दु अपने विषय में बहुत कुछ लिख रहे थे । इसके नायक रामचंद्र स्वयं वही हैं । समस्त ग्रंथ बहुत बड़ा होता, और इसमें उनके चित्त की वृत्तियाँ बहुत कुछ जान पड़तीं; परंतु शोक है कि यह अमूल्य ग्रंथ अपूर्ण रह गया । इसमें बनारसी, महुला की, माङ्गवारी और गुजराती भाषाओं में कविता की गई है । रोज़ की बोल-चाल तथा साधारण घटनाओं का कथन है, और इस कारण बड़ा ही स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वर्णन है । यद्यपि यह महाशय वल्लभीय

संप्रदाय के थे, तथापि इन्होंने गोस्वामियों के निकृष्ट आचरणों की यह कहकर निंदा कराई है कि “भाई ! मालौ लूटें, मेहस्वौ लूटें ।” इसमें काशी की निंदा एवं स्तुति बड़ी बढ़िया कही गई है। इसी भाँति मिसिर, भूपटिया और कहार की बातचीत एवं भूरीसिंह और दूकानदारों का मज़ाक बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ अनोखा और प्राकृतिक है। इसकी कविता बहुत ही मनोहर एवं औवल दर्जे की है। यह ग्रंथ संवत् १६३२ में बना, परंतु न-जाने क्यों अपूर्ण रह गया।

द्वितीय भाग (इतिहास-समुच्चय)

नाटकों के अतिरिक्त भारतेंदु में इतिहास-प्रेम भी बहुत था। हमारे अन्य स्तकवियों में से किसी ने इतिहास-विषयक इतने ग्रंथ नहीं लिखे।

(१) ‘काश्मीर-कुसुम’ की भूमिका में भारतेंदु ने इतिहास का अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनाना, उसकी समालोचना, हर्षदेव का कथन और काश्मीर के वर्तमान राजघराने का वर्णन किया है। कुसुम में इन्होंने एक चक्र दिया है, जिसमें राजसंख्या, नाम, समय, गत कलि, डायर के मत से, कनिष्क के मत से, विल्सन के मत से, राज्यकाल और विशेष वर्णन सूक्ष्मताय कहे गए हैं। इसमें बड़ा परिश्रम किया गया है, और इनके ऐतिहासिक ग्रंथों में यह इन्हें सबसे अधिक पसंद था। इसमें ३५ पृष्ठ हैं।

(२) ‘महाराष्ट्र देश का इतिहास’ केवल ६ पृष्ठों में है। इसमें कोई नई बात नहीं है।

(३) रामायण के समय में बहुत-सी ऐसी बातों का कथन है, जो उस काल थीं, परंतु भ्रम-वश कुछ लोग उन्हें आधुनिक समझने लगे हैं। वे बातें निम्न-लिखित हैं—भुशुंडी, जैन-मिन्तु, कौशल्या का घोड़ा काटना, मुनियों का मांस न खाना, गोलोक का वर्णन, सड़क का होना, कागज़ पर लिखा जाना, जल-सेना, मनुस्मृति के श्लोकों का होना, इस बात का ज्ञान कि चंद्र सूर्य के प्रकाश से चमकता है, गुलाबपाश, संस्कृत का बोला जाना। इस ग्रंथ में १० पृष्ठ हैं।

(४) ‘अगरवालों की उत्पत्ति’ ७ पृष्ठों में।

(५) ‘खत्रियों की उत्पत्ति’ १४ पृष्ठों में।

(६) ‘बादशाहदर्पण’ में दिल्ली के बादशाहों का हाल है। इसमें भी चक्र द्वारा ही वृत्तांत सूक्ष्म रूप से वर्णित है। तदनंतर उनका अल्प वृत्तांत कहा गया है। कुल २२ पृष्ठ हैं।

(७) ‘उदयपुरोदय’ में २७ पृष्ठों द्वारा बाप्पा रावल के समय तक का इतिहास लिखा गया है।

(८) 'पुरावृत्तसंग्रह' में ४६ पृष्ठों द्वारा स्फुट ऐतिहासिक विषय एवं दान-पत्रादि का वर्णन है ।

(९) 'चरितावली' में ६० पृष्ठ हैं । इसमें इन महाशयों के चरित्र लिखे हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन, महाराजा जंगबहादुर, द्वारकानाथ मित्र, श्रीराजाराम शास्त्री, लॉर्ड मेथ्रो, लॉर्ड लारेंस और तृतीय सिकंदर ज़ार । कई महापुरुषों की कुंडलियाँ भी इस ग्रंथ में दी हुई हैं । इन कुंडलियों में रावण की भी है ।

(१०) 'पंच पवित्रात्मा' मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातिमा, इमामहसन और इमामहुसैन के जीवन-चरित्र वर्णित हैं । यह ग्रंथ २२ पृष्ठों में है ।

(११) 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' में संवत् १६३३ के दिल्ली-दरबार का मनोहर वर्णन, २५ पृष्ठों में, किया गया है ।

(१२) 'कालचक्र' में २० पृष्ठों द्वारा संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं के समय निरूपण किए गए हैं ।

भारतेंदु के ऐतिहासिक विषयों से विदित होगा कि इन्होंने अच्छे-अच्छे विषयों को वर्णनार्थ चुना, और चुनते क्यों न ? इतने बड़े लेखक और कवि होकर यह महाशय अपना समय कैसे अनुचित विषयों पर खोते ? इन्होंने इतिहासों का लंबा-चौड़ा वर्णन कभी नहीं दिया, और थोड़े ही स्थान में बहुत कुछ कह देने का सदा प्रयत्न किया । वर्तमान खोजों से जो नई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, वह इनके लिखे हुए कई वर्णनों को पूरा बना सकती है ।

शेष चार भागों में विविध विषयों के कथन हैं । 'भक्तमाल उत्तरार्द्ध' में नाभादास के पीछे के भक्तों का वर्णन है । इसमें कविता विलकुल नाभादास की-सी और उसी रीति पर है । यदि इसको नाभादास के ग्रंथ में मिला दें, तो अंतर जानना कठिन हो जायगा । इसमें ३६ पृष्ठ और छप्पय-छंद विशेष हैं ।

पंचम भाग का काव्य कुल मिलाकर प्रशंसनीय है । इसमें पदों का आधिक्य है, परंतु सवैयाँ और घनाक्षरियों का अभाव नहीं है । यहाँ कई भाषाओं में कविता की गई है । विषयों में प्रायः प्रेम का प्राधान्य रखा गया है । ऐसे वर्णन औरों से अच्छे भी हैं । कविता की दृष्टि से इसके प्रथम और पंचम भाग ही विशेष प्रशंसा-पात्र हैं ।

भारतेंदु की रचना विस्तार में बड़ी है, किंतु नाटकावली के अतिरिक्त उसका प्रचार नहीं है । यदि इनके ग्रंथों से उत्कृष्ट भाग छाँटकर भारतेंदु-सुधा बनाई जाय,

तो शायद शेष उत्कृष्ट रचना का भी कुछ विशेष मान लोक में हो जाय । अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते हैं—

(१) इनके काव्य में जातीयता के पीछे सबसे अधिक और बढ़िया वर्णन प्रेम का है । इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी । अतः इनके सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी । इसके उदाहरण 'चंद्रावली-नाटिका' और पंचम भाग के प्रायः सभी ग्रंथ कहे जा सकते हैं । इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनों प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनों के वर्णन इनके काव्य में प्रायः मौजूद हैं ।

(२) यह महाशय अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे । जो-जो बड़ी घटनाएँ इनके समय में हुईं, प्रायः उन सभी पर इन्होंने कविता की । महाराज मल्हारराव गायकवाड़ का पदच्युत होना, दिल्ली-दरवार, युवराज का आगमन, मिसर और अफ़ग़ानिस्तान में युद्ध आदि सभी विषयों पर इन्होंने काव्य-रचना की । इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, उसमें जो-जो दोष थे, उन सबका इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है । हिंदी-साहित्य को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, प्रायः उन सभी विषयों पर इन्होंने साहित्य-रचना की है । ऐसा उन्नतिशील और प्रतिनिधि कवि हिंदी-साहित्य में कोई दूसरा नहीं हुआ ।

(३) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था । इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो ! स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था । भारतेंदु के बराबर हिंदोस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य महाकवि हिंदी के साहित्य में न होगा । हिंदोस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया । यह पुरुष-रत्न हिंदी, हिंदू और हिंदोस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गया है । हास्य के ग्रंथों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतन नहीं छोड़ा । 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा'-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं ।

(४) इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी । इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट मालूम होती है । 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर-नगरी' तो मानो इसके रूप हैं । और-और जगहों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है ।

(५) इनके काव्य में ज़ोरदारी (Force) भी बहुत है । भाषा-कवियों में से कम की रचना में इतना ज़ोर पाया जाता है । 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे ।

(८) 'पुरावृत्तसंग्रह' में ४६ पृष्ठों द्वारा स्फुट ऐतिहासिक विषय एवं दान-पत्रादि का वर्णन है ।

(९) 'चरितावली' में ६० पृष्ठ हैं । इसमें इन महाशयों के चरित्र लिखे हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुक्ररात, नैपोलियन, महाराजा जंगबहादुर, द्वारकानाथ मित्र, श्रीराजाराम शास्त्री, लॉर्ड मेथ्रो, लॉर्ड लारेंस और तृतीय सिकंदर ज़ार । कई महापुरुषों की कुंडलियाँ भी इस ग्रंथ में दी हुई हैं । इन कुंडलियों में रावण की भी है ।

(१०) 'पंच पवित्रात्मा' मुहम्मद, अली, वीवी फ़ातिमा, इमामहसन और इमामहुसैन के जीवन-चरित्र वर्णित हैं । यह ग्रंथ २२ पृष्ठों में है ।

(११) 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' में संवत् १६३३ के दिल्ली-दरबार का मनोहर वर्णन, २५ पृष्ठों में, किया गया है ।

(१२) 'कालचक्र' में २० पृष्ठों द्वारा संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं के समय निरूपण किए गए हैं ।

भारतेंदु के ऐतिहासिक विषयों से विदित होगा कि इन्होंने अच्छे-अच्छे विषयों को वर्णनार्थ चुना, और चुनते क्यों न ? इतने बड़े लेखक और कवि होकर यह महाशय अपना समय कैसे अनुचित विषयों पर खोते ? इन्होंने इतिहासों का लंबा-चौड़ा वर्णन कभी नहीं दिया, और थोड़े ही स्थान में बहुत कुछ कह देने का सदा प्रयत्न किया । वर्तमान खोजों से जो नई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, वह इनके लिखे हुए कई वर्णनों को पूरा बना सकती है ।

शेष चार भागों में विविध विषयों के कथन हैं । 'भक्तमाल उत्तरार्द्ध' में नाभादास के पीछे के भक्तों का वर्णन है । इसमें कविता विलकुल नाभादास की-सी और उसी रीति पर है । यदि इसको नाभादास के ग्रंथ में मिला दें, तो अंतर जानना कठिन हो जायगा । इसमें ३६ पृष्ठ और छप्पय-छंद विशेष हैं ।

पंचम भाग का काव्य कुल मिलाकर प्रशंसनीय है । इसमें पदों का आधिक्य है, परंतु सवैयाँ और घनाक्षरियों का अभाव नहीं है । यहाँ कई भाषाओं में कविता की गई है । विषयों में प्रायः प्रेम का प्राधान्य रखा गया है । ऐसे वर्णन औरों से अच्छे भी हैं । कविता की दृष्टि से इसके प्रथम और पंचम भाग ही विशेष प्रशंसा-पात्र हैं ।

भारतेंदु की रचना विस्तार में बड़ी है, किंतु नाटकावली के अतिरिक्त उसका प्रचार नहीं है । यदि इनके ग्रंथों से उत्कृष्ट भाग छोटकर भारतेंदु-मुद्रा बनाई जाय,

तो शायद शेष उत्कृष्ट रचना का भी कुछ विशेष मान लोक में हो जाय । अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते हैं—

(१) इनके काव्य में जातीयता के पीछे सबसे अधिक और बढ़िया वर्णन प्रेम का है । इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी । अतः इनके सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी । इसके उदाहरण 'चंद्रावली-नाटिका' और पंचम भाग के प्रायः सभी ग्रंथ कहे जा सकते हैं । इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनों प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनों के वर्णन इनके काव्य में प्रायः मौजूद हैं ।

(२) यह महाशय अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे । जो-जो बड़ी बटनाएँ इनके समय में हुईं, प्रायः उन सभी पर इन्होंने कविता की । महाराज मल्हारराव गायकवाड़ का पदच्युत होना, दिल्ली-दरबार, युवराज का आगमन, मिसर और अफ़ग़ानिस्तान में युद्ध आदि सभी विषयों पर इन्होंने काव्य-रचना की । इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, उसमें जो-जो दोष थे, उन सबका इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है । हिंदी-साहित्य को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, प्रायः उन सभी विषयों पर इन्होंने साहित्य-रचना की है । ऐसा उन्नतिशील और प्रतिनिधि कवि हिंदी-साहित्य में कोई दूसरा नहीं हुआ ।

(३) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था । इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो ! स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था । भारतेंदु के बराबर हिंदोस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य महाकवि हिंदी के साहित्य में न होगा । हिंदोस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया । यह पुरुष-रत्न हिंदी, हिंदू और हिंदोस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गया है । हास्य के ग्रंथों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतन नहीं छोड़ा । 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा'-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं ।

(४) इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी । इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट मालूम होती है । 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर-नगरी' तो मानो इसके रूप हैं । और-और जगहों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है ।

(५) इनके काव्य में जोरदारी (Force) भी बहुत है । भाषा-कवियों में से कम की रचना में इतना जोर पाया जाता है । 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे ।

(६) इनमें विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए। सौंदर्य के तो उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का धिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, भूपटिया, दलाल आदि की वातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी श्रेष्ठ नाटकों के अभिनय भी हो गए।

(७) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

(८) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद, रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं बनाया। रसों में इन्होंने ९ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पंडितों ने भी प्रामाणिक समझा। इनमें से कई को कुछ वैष्णव लोग भी मानते थे, और मानते हैं। इसी प्रकार शृंगार-रस में भी कई नए भेद माने हैं, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास-प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है। इसी जीवनी में इनके ग्रंथों का समय भी दिया हुआ है।

(९) इनके समय तक हिंदी-भाषा में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गए थे। अतः इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। आपने स्वयं भी दो उपन्यास लिखने आरंभ किए थे, परंतु वे अपूर्ण ही रह गए। उनके नाम हैं 'एक कहानी कुछ आप-उती कुछ जग-वीती' और 'हम्मीर-हठ'।

(१०) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती और भारत-दुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी वर्णन किया गया।

(११) इन्होंने पद्य में ब्रज-भाषा और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, माड़वारी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में काव्य किया, जो प्रायः सरस है। गद्य और पद्य प्रायः बराबर लिखे। परिवर्तन काल (सं० १८६०-१८२५) में खिचड़ी अथवा विशुद्ध हिंदी के प्रयोग में मतभेद था। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी को चाहते थे, और राजा लक्ष्मणसिंह तथा स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत-शब्द-गर्भित विशुद्ध हिंदी को। भारतेंदु ने प्रचलित उर्दू-

शब्दों को भी अपनाया, तथा अन्य प्रकार से संस्कृत-शब्द-संगुणित विशुद्ध हिंदी का आदर किया। समय के साथ अब फिर सांस्कृत संगुणन बढ़ रहा है।

भारतेंदु की रचना से उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्गु और लौकिक तथा वैदिक, दोनों कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र में गिरा चाहता है।

प्रेमयोगिनी

भूटिया—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नहीं खुलती। देखो, संखनाद होय गा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तौ आइथई, अधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करें ? तोरे तरह से हम हूँ के घर में से निकसि के मंदिर में घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी आवते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़ता है। अबहीं सुरजौ नहीं उगे।

भूटिया—का हो जगेसर ! ई नहीं कि जब संखनाद होय, तब भूटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे, चल्ले तौ आवत्थई। का भहराय पड़ी ! का सुतल थोरै रहली ? हम हूँ के भापट कंधे पर रखके यहर-ओहर घूमै के होतै, तब न ! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।

चंद्रावली

अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रंगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं, और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली।

(६) इनमें विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए। सौंदर्य के तो उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का धिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, भूपटिया, दलाल आदि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी श्रेष्ठ नाटकों के अभिनय भी हो गए।

(७) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

(८) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद, रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं बनाया। रसों में इन्होंने ९ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पंडितों ने भी प्रामाणिक समझा। इनमें से कई को कुछ वैष्णव लोग भी मानते थे, और मानते हैं। इसी प्रकार शृंगार-रस में भी कई नए भेद माने हैं, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास-प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है। इसी जीवनी में इनके ग्रंथों का समय भी दिया हुआ है।

(९) इनके समय तक हिंदी-भाषा में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गए थे। अतः इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। आपने स्वयं भी दो उपन्यास लिखने आरंभ किए थे, परंतु वे अपूर्ण ही रह गए। उनके नाम हैं 'एक कहानी कुछ आप-उती कुछ जग-वीती' और 'हम्मीर-हठ'।

(१०) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती और भारत-दुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी वर्णन किया गया।

(११) इन्होंने पद्य में ब्रज-भाषा और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, माड़वारी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में काव्य किया, जो प्रायः सरस है। गद्य और पद्य प्रायः बराबर लिखे। परिवर्तन काल (सं० १८६०-१८२५) में खिचड़ी अथवा विशुद्ध हिंदी के प्रयोग में मतभेद था। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी को चाहते थे, और राजा लक्ष्मणसिंह तथा स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत-शब्द-गर्भित विशुद्ध हिंदी को। भारतेंदु ने प्रचलित उर्दू-

शब्दों को भी अपनाया, तथा अन्य प्रकार से संस्कृत-शब्द-संगुणित विशुद्ध हिंदी का आदर किया। समय के साथ अब फिर सांस्कृत संगुणन बढ़ रहा है।

भारतेंदु की रचना से उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्ग्व और लौकिक तथा वैदिक, दोनों कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र में गिरा चाहता है।

प्रेमयोगिनी

भूटिया—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नहीं खुलती। देखो, संखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तौ आइत्यई, अधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करें ? तोरे तरह से हम हूँ के घर में से निकसि के मंदिर में घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी आवते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़ता है। अबहीं सुरजौ नहीं उगे।

भूटिया—का हो जगेसर ! ई नहीं कि जब संखनाद होय, तब भूटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे, चल्ले तौ आवत्यई। का भहराय पड़ी ! का सुतल थोरै रहली ? हम हूँ के भापट कंधे पर रखके यहर-ओहर घूमै के होतै, तब न ! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।

चंद्रावली

अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रंगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-संडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं, और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली।

मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं । और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी हैं, उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी वृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर भुक्कें । अहा ! इस मदिरा का शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकती । धन्य है, धन्य ! और दूसरा ऐसा कौन ?

भारत-दुर्दशा

मदवा पी ल पागल, जोवन वीत्यो जात ;
 बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात ।
 पी प्याला छक-छक आनंद सों नितहि सौँ भूँ अरु प्रात ;
 भूमत चलु ढगमगी चाल से भारि लाज कौ लात ।
 हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू जाके पिए लखात ;
 ऐसी सिद्धि छाड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात ।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

पी ले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम - हरी - रस का रे ;
 धिधिकिट धिधिकिट धिधिकिट धाधा बजै मृदंग थापकसका रे ।

नीलदेवी

सोओ सुख-निँदिया प्यारे ललन ।
 ननन के तारे दुलारे मेरे वारे,
 सोओ सुख - निँदिया प्यारे ललन ;
 भइ आधी रात, वन सनसनत,
 पसु - पंछी कोड आवत न जात,
 जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
 पातहु नहिँ पावत तरु न हलन ।
 झलमलत दीप सिर धुनत आय,
 मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय',
 सतरात बैन आलस जनाय,
 सनसन लागि सोरी पवन चलन ।
 सोए निसि के सब नींद घोर,
 जागत कामी, चितित चकोर ;
 बिरहिनि, बिरही, पादरु, चोर,
 इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न ।

अंधेर-नगरी

चूरन अमलवेद का भारी, जिसको खाते कृष्णमुरारी ।
मेरा पचाचक है पचलोना, जिसको खाता स्थाम सलोना ।
हिंदू चूरन इसका नाम, बिलायत - पूरन इसका काम ।
चूरन ऐसा हट्टा - कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा ।
चूरन चला दाल की मंडी, इसको खाएँगी सब रंडी ।
चूरन अमले सब जो खावें, दूसरी रिशवत तुरत पचावें ।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते ।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते ।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल - अजीरन - रोग ।
चूरन खावें एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिँ वात ।
चूरन पुलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते ।

प्रेमयोगिनी

तोहरे आँखि में चरबी छाई माल न चाप्यो गोजर ;
कैसी दून कि सूझि रही है असमानी के ऊपर ।
कहाँ कि ई तू बात निकासी खासी सत्यानासी ;
भूखे पेट कोऊ ना सुतता ऐसी है ई कासी ।
देखो तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी ।
आधी कासी भाँड़ - भँड़रिया, बाँभन औ' संन्यासी ;
आधी कासी रंडी - मुंडी, राँड़, खानगी खासी ।
लोग निकम्मे, भंगी, गंजड़, लुच्चे, बेबिसवासी ;
महा आलसा, झूठे, सोहदे, बेफिकरे, बदमासी ।
मैली गली भरी कतवारन, सड़ी चमारन पासी ;
नीचे नल ते बदबू उबलै, मना नरक - चौरासी ।
फिरै उचक्का, दै - दै धक्का, लूटै माल मवासी ;
कैद भए की लाज तनिक नहि बेसरमी नंगासी ।
साहेब के घर दौरे जावै, चंदा देई निकासी ;
चढ़ै बोखार नाम मंदिर का सुनतै हायँ उदासी ।
घर की जोरू, लड़के भूखे, वने दास औ' दासी ;
दाल कि मंडी रंडी पूजे, मानो इनकी मासी ।
आप माल कचरै, छानै उठि भोरै कागावासी ;
बाप कि तिथि दिन बाँभन आगै धरै सरा औ' वासी ।

करि ब्यौहार साख बाँधै मनु पूरी दौलति दासी ;
 घालि रूपैया, काढ़ि देवाला, माल डकारै ठासी ।
 काम-कथा अमिरित-सी पीवै, समुझै ताहि विलासी ;
 राम-नाम मुँह ते नहिँ निकसै, सुनतै आवै खाँसी ।

विद्यासुंदर

धिक है वह देह औ' गेह सखी जेहिके बस नेह को टूटनो है ;
 उन प्रान-पियारे बिना यहि जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है ।
 'हरिचंदजू' बात ठनी सो ठनी, नित की कुलकानि सों छूटनो है ;
 तजि आन उपाय अनेक भट्ट, अब तौ हमको बिख घूटनो है ।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अनेकानेक विषयों को लिया, और प्रायः सबमें इनको सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने भक्ति, तीर्थ, व्रत, धर्म, वीर, शृंगार, हास्य, करुणा, बीभत्स, राजनीति, समाज, प्राकृतिक दृश्य आदि सभी विषयों पर काव्य किया, और अपनी कलम का जोर दिखलाया। सबमें इनको कृतकार्यता प्राप्त हुई। शुद्ध हिंदी में गद्य लिखने के तो मानो यह एकमात्र सुधारक थे। इनके प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद भी गद्य के लेखक थे, परंतु प्रथम ने बहुत करके केवल अनुवाद और द्वितीय ने उर्दू-मिश्रित भाषा में प्रबंध लिखे। सबसे प्रथम साहित्य-पूर्ण सर्वांग-सुंदर गद्य के लेखक भारतेंदु ही हुए। उस समय से अब तक सैकड़ों गद्य-लेखक हो गए, और विद्यमान हैं। यह भी ठीक है कि अब गद्य-लेखन-प्रणाली ने, तुलना की दृष्टि से, खासी उन्नति कर ली है; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेखक कुल मिलाकर इनसे श्रेष्ठ हुआ, या है। दो-चार वर्तमान लेखकों की भाषा इनसे कुछ गंभीर और परिमार्जित अवश्य है, परंतु कुल मिलाकर भारतेंदु के लेखों में रोचकता वर्तमान सुलेखकों से भी अधिक है। भारतेंदु उत्तम गद्य-लेखन के जन्मदाता और अद्यापि सर्व-श्रेष्ठ गद्य-लेखक हैं। जितनी भाषाओं में इन महाकवि को काव्य-रचना करने की क्षमता थी, उतनी में काव्य रचने की शक्ति या योग्यता हमारे अन्य किसी भी एक कवि में नहीं है, और न कभी थी ही।

भारतेंदु के पहले हिंदी में नाटकों का अभाव-सा था, और स्वतंत्र नाटक का परमोत्कृष्ट ग्रंथ एक भी न था। इन महाकवि ने इस त्रुटि के दूर करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक करके १८ नाटक-ग्रंथ बनाए, जिनमें से, कहा जाता है, दो इनके नहीं हैं। इनमें से ६ ग्रंथ खास इन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं, और शेष संस्कृत आदि से अनुवादित। एक अँगरेज़ी का भी अनुवाद है। इनके

अनुवादों में ऐसा आनंद आता है, जैसा स्वतंत्र ग्रंथों में आना चाहिए। वर्तमान कवियों में गद्यानुवाद कई लोग ऐसा ही कर लेते हैं, परंतु पद्य-विभाग में भी रोचक अनुवाद करना इन्हीं का हिस्सा था।

इनके स्वतंत्र नाटकों में सभी उत्कृष्ट हैं, परंतु, उनमें भी, सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और नीलदेवी बहुत ही श्लाघ्य बने हैं। आपने अच्छे नाटक बनाए। इन नाटकों की गणना संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों के साथ हो सकती है। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नहीं कर सकते। भारत-दुर्दशा और प्रेमयोगिनी भी अपने ढंग के अपूर्व नाटक हैं। सती-प्रताप से भारतीय स्त्री-धर्म का उच्चाति-उच्च आदर्श प्रकट होता है। अंधेर-नगरी और वैदिकी हिंसा भी अच्छे मनोरंजक प्रहसन हैं, यद्यपि ये अनुवाद-से हैं।

इतिहास और धर्म-प्रेम भी इनकी कविता से भली भाँति प्रकट होते हैं। यह सच है कि इनकी कोरी कविता भाषा के प्रशंसनीय कवियों की रचनाओं की समता नहीं कर सकती, परंतु नाटकों को भी मिला लेने से इनका पद बहुत ऊँचा हो जाता है। वर्तमान काल में हिंदी-भाषा की इतनी उन्नति किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं हुई, जितनी कि भारतेंदु के द्वारा। इस एक ही व्यक्ति ने हिंदी-भाषा में कितने ही नए विषयों को उपस्थित कर दिया। कितने ही प्रकार के लेख और लेखक इनकी रचनाएँ पढ़कर तैयार हो गए। सचमुच यह वर्तमान हिंदी के जनक हो गए हैं। आशु-कविता करने की शक्ति इतनी बड़ी-चढ़ी थी कि आप धाराप्रवाह से नए छंद कहते चले जाते थे, और जिह्वा नहीं रुकती थी। कविता से इतना प्रेम था कि यह सोते में भी उसी के आनंद में निमग्न रहते थे। यहाँ तक सुना जाता है कि इन्होंने सोते में भी कुछ छंद बनाए।

हम हिंदी के ६ प्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट कवियों में इनकी भी गणना करते हैं। अब विस्तार के साथ इनकी रचना के कुछ और उदाहरण देकर हम यह ग्रंथ समाप्त करते हैं। उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

प्रगटहु रबिकुल-रबि, निसि बीती, प्रजा-कमलगन फूले;
मंद परे रिपुगन तारा - सम जन-भय तम उनमूले।
नसे चोर, लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो;
मागध, बंदी, सूत चिरैयन मिलि कल-रोर मचायो।



नव उज्जल जल - धार हार-हीरक - सी सोहाति ;
 विच-विच छहरत बूँद मध्य मुक्ता, मनि पोहाति ।
 लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत ;
 जिमि नरगन-मन त्रिविध मनोरथ करत, मिटावत ।
 सुभग स्वर्ग - सोपान - सरिस सबके मन भावत ;
 दरसन, मजन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत ।
 कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरवर-सम सोहत ;
 कहूँ छतुरी, कहूँ मढ़ी, बड़ी मन मोहत जोहत ।
 धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका ;
 घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका ।
 धोवत सुंदरि वदन करन अति ही छवि पावत ;
 बारिज नाते ससि - कलंक मनु कमल मिटावत ।
 सुंदरि ससि - मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत ;
 कमल - वेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ।
 दीठि जहीं जहँ जाति, रहति तित ही ठहराई ;
 गंगा - छवि 'हरिचंद' कछु वरनो नहिँ जाई ;



हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत ;
 जल - थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ।
 हम हीं नर के सीत सदा साँचे हितकारी ;
 यक हम ही सँग जात तजत जव पितु, सुत, नारी ।
 सो हम नित थित यक सत्य मैं, जाके बल सब जग जियो ;
 सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ।



सोई मुख, सोई उदर, सोई कर - पद दोय ;
 भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिँ कोय ।
 हाइ, माँस, लाला, रक्त, बसा, तुचा सब सोय ;
 छिन्न - भिन्न, दुरगंधमय मरे मनुज के होय ।
 फूल-बोझ हू जिन न सहारे, तिन पै बोझ काठ बहु डारे ।
 सिर-पीड़ा जिनकी नहिँ हेरी, करत कपाल-क्रिया तिन केरी ।

छिन हू जे न भए कहूँ न्यारे, तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे ।
जो दग-कोर महीप निहारत, आजु काक तेहि भोज विचारत ।
जुजवल जे नहिँ भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए ।
नरपति प्रजा भेद विनु देखे, गने काल सब एकहि लेखे ।
सुभग, कुरूप, अमृत-विख-साने, आजु सबै यक भाव विकाने ।
कुरु, दधीचि, कोऊ अब नाहीं, रहे नाम ही ग्रंथन माहीं ।

सौंभ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लख्यो है ;
पच्छिन के बहु सबदन के मिस जीअ-उचाटन मंत्र कह्यो है ।
मद्य - भरी नर - खोपरी सो ससि को नव विबहु धाइ गह्यो है ;
दै वलि जीव पसू यह मत्त हूँ काल कपालिक नीच रह्यो है ।
सूरज धूम विना की चिता, सोई अंत में लै जल माहिँ बहाई ;
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम, रोवत सो मनु लोग-लुगाई ।
धूम अँध्यार, कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र, लहू-सी ललाई ;
आनंद हेतु निसानर के यह काल मसान-सी सौंभ बनाई ।

रुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनिकै नर-नारी ;
फटफटाइ - दोइ पंख उलूकहु रटत पुकारी ।
अंधकार-वस गिरत काक अरु चील्ह करत रव ;
गिद्ध, गरुड, हड़गिल्ल भजत लख निकट भयद दव ।
रोवत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई ;
सँग दादुर - भोंगुर - रुदन - धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई ।

मुद्राराक्षस

भरित नेह नव नीर नित, वरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरव घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर ।
कौन है सीस पे, चंदकला, कहा याको है नाम, यही त्रिपुरारी ;
हाँ यही नाम है भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ।
नारिहि पूछत चंदहि नाहिँ कहै विजया जदि चंद लबारी ;
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत इस हरैं सब पीर तुम्हारी ।
पादप्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे ;
हाथ नचाइवे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिँ तारे ।

नव उज्जल जल - धार हार-हीरक - सी सोहति ;
 विच-विच छहरत बूँद मध्य मुक्ता, मनि पोहति ।
 लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत ;
 जिमि नरगन-मन विविध मनोरथ करत, मिटावत ।
 सुभग स्वर्ग - सोपान - सरिस सबके मन भावत ;
 दरसन, मजन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत ।
 कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरवर-सम सोहत ;
 कहूँ छतुरी, कहूँ मढ़ी, बढी मन मोहत जोहत ।
 धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका ;
 घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका ।
 धोवत सुंदरि वदन करन अति ही छवि पावत ;
 बारिज नाते ससि - कलंक मनु कमल मिटावत ।
 सुंदरि ससि - मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत ;
 कमल - वेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ।
 दीठि जहीं जहँ जाति, रहति तित ही ठहराई ;
 गंगा - छवि 'हरिचंद' कछू वरनो नहिँ जाई ;



हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत ;
 जल - थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ।
 हम हीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी ;
 यक हम ही सँग जात तजत जव पितु, सुत, नारी ।
 सो हम नित थित यक सत्य मैं, जाके बल सब जग जियो ;
 सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ।



सोई मुख, सोई उदर, सोई कर - पद दोय ;
 भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिँ कोय ।
 हाइ, माँस, लाला, रक्त, वसा, तुचा सब सोय ;
 छिन्न - भिन्न, दुरगंधमय मरे मनुज के होय ।
 फूल-बोझ हू जिन न सहारे, तिन पै बोझ काठ बहु डारे ।
 सिर-पीड़ा जिनकी नहिँ हेरी, करत कपाल-क्रिया तिन केरी ।

छिन हू जे न भए कहूँ न्यारे, तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे ।
जो दग-कोर महीप निहारत, आजु काक तेहि भोज बिचारत ।
जुजवल जे नहिँ भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए ।
नरपति प्रजा भेद विनु देखे, गने काल सब एकहि लेखे ।
सुभग, कुरूप, अमृत-बिख-साने, आजु सबै यक भाव विकाने ।
कुरु, दधीचि, कोऊ अब नाहीं, रहे नाम ही ग्रंथन माहीं ।

❀

❀

❀

साँझ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लह्यो है ;
पच्छिन के बहु सबदन के मिस जीअ-उचाटन मंत्र कह्यो है ।
मद्य - भरी नर - खोपरी सो ससि को नव विंवहु धाड़ गह्यो है ;
दै वलि जीव पसू यह मत्त है काल कपालिक नीच रह्यो है ।
सूरज धूम बिना की चिता, सोई अंत में लै जल माहिँ वहाई ;
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम, रोवत सो मनु लोग-लुगाई ।
धूम अंधार, कपाल निसाकर, हाड़ नछुत्र, लहू-सी ललाई ;
आनंद हेतु निसावर के यह काल मसान-सी साँझ बनाई ।

❀

❀

❀

रुआ चहुँ दिसि ररत, डरत मुनिकै नर-नारी ;
फटफटाइ - दोइ पंख उलूकहु रटत पुकारी ।
अंधकार-वस गिरत काक अरु चील्ह करत रव ;
गिद्ध, गरुड, हड़गिल्ल भजत लख निकट भयद दव ।
रोवत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई ;
सँग दादुर - भींगुर - रुदन - धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई ।

मुद्राराक्षस

भरित नेह नव नीर नित, वरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरव घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर ।
कौन है सीस पे, चंदकला, कहा याको है नाम, यही त्रिपुरारी ;
हाँ यही नाम है भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ।
नारिहि पूछत चंदहि नाहिँ कहै विजया जदि चंद लबारी ;
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत इस हरै सब पीर तुम्हारी ।
पादप्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे ;
हाथ नचाइवे सों नभ मैं इत के उत दूटि परै नहिँ तारे ।

देखन सों जरि जाहिँ न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे ;
यो थल के विनु कष्ट सों नाचत सर्व हरैं दुख सर्व तुम्हारे ।

सदा दंति के कुंभ को जो विदारै ; ललाई नए चंद-सी जौन धारै ।
जभाई समै काल-सो जौन वाढ़ै ; भलो सिंह को दंत सो कौन काढ़ै ।

काल सर्पिनी नंदकुल क्रोध - धूम - सी जौन ;
अबहूँ बाँधन देत नहिँ अहो सिखा मम कौन ?
दहन नंद - कुल - वन सहज अति प्रज्वलित प्रताप ;
को मम क्रोधानल पतँग भयो चहत अब आप ?

प्रिया दूरि, धन गरजहीं अहो दुःख अति घोर ;
औषध दूरि हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर ?

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं ;
जे रहे तेहू जाहिँ, तिनको सोच मोहिँ जिय कछु नहीं ।
सत सैन हू सों अधिक साधिनि काल की जेहि जग कहै ;
सो नंद-कुल की खननहारी बुद्धि नित मोमैं रहै ।

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ ;
पुनि बिटहु जे अति पास के, तिनको कछो करते रहौ ।
मुख लखत वीतत दिवस - निसि, भय रहत संकित प्राण है ;
निज उदर पूरन हेतु सेवा - वृत्ति स्वान - समान है ।

जहँ लौँ हिमालय के सिखर सुरधुनी - कन सीतल रहैं ;
जहँ लौँ विविध मनि - खंड - मंडित समुद दच्छिन दिसि बहैं ।
तहँ लौँ सबै नृप आइ भय सों तोहिँ सीस भुकावहीं ;
तिनके मुकुट - मनि - रँगो तुव पद निरखि हम सुख पावहीं ।

मूरख स्वामी लहि गिरै चतुर सचिव हू हारि ;
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन हूँ लहि वारि ।

धनंजयविजय

लीकहु नहि लखि परत चक्र की ऐसे धावत ;
दूरि रहत तरु-वृंद छिनकु मैं आगे आवत ।
जदपि वायु-बल पाइ धूरि आगे गति पावत ;
पै हय निज खुर-बेग पीछे ही मारि गिरावत ।
फेरत धनु टंकारि, दरप सिव-सम दरसावत ;
साहस को मनु रूप काल-सम दुसह लखावत ।
जय लछ्मि-सम वीर धनुष धरि रोष बढ़ावत ;
को यह, जो कुरुपतिहि गिनत नहिँ इत ही आवत ?



कंचन-वेदी बैठि वड़ोपन प्रगट दिखावत ;
सूरज को प्रतिबिंब जाहि मिलि जाल तनावत ।
अस्त्र - उपनिषद - भेद जानि भय दूरि भजावत ;
कौरव - कुल - गुरु पूज्य द्रोण आचारज आवत ।

कपूर्मंजरी

मंद-मंद लै सिरिस-सुगंधहि सरस पवन यह आवै ;
करि संचार मलय-परवत पै विरहिनि-ताप बढ़ावै ।
कामिनिजन के बसन उड़ावत, काम-धुजा फहरावै ;
जीवन प्रानदान सो वितरत वायु सवन मन भावै ।
देखहु लहि ऋतुराजहि उपवन फूली चारु चमेली ;
लपटि रहीं सहकारन सों बहु मधुर माधवी-बेली ।
फूले बर वसंत वन-वन मैं कहुँ मालती नबेली ;
तापै मदमाते - से मधुकर गूँजत मधुरसरेली ।



फूलैगे पलास वन आगि-सी लगाय कूर,
कोकिल कुहूँकि कल - सबद दुनावैगो ;
त्यों हीं सखी लोक सबै गावैगो धमारि, धीर-
हरन अबीर वीर सब ही उड़ावैगो ।

सावधान होहु री बियोगिनी सँभारि तन,
 अतन तनक हो मैं तापन ते तावैगो ;
 धीरज नसावत, बढ़ावत विरह, काम
 कहर मचावत वसंत अब आवैगो ।



राजा (आश्चर्य से)—अहाहा ! जैसे रूप का खज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गए । यह रूप, यह जोवन, यह चितवन, यह भोलापन ! कुछ कहा नहीं जाता । मालूम होता है, यह नहाकर बाल सुखा रही थी, उसी समय पकड़ आई है । अहा ! धन्य है इसका रूप ! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाल लेती है । इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है । अहा ! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं, मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं । काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहावने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं । बाल हाथों में लिए हैं, उनसे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं, मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया है कि उसकी पूँछ से अमृत बहा जाता है । भीगे वस्त्र से छोटे-छोटे इसके कठोर कुच अपनी उँचाई और श्यामताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी-गोरी जाँवे इसको चिपके हुए भीगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं, तो भी यह उनको दबाए देती है, वरंच इसी अंग उधरने से यह लजाकर सकपकानी-सी भी हो रही है, और योगबल से, खिँच आने से, जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो-होकर भूले हुए मृग-छौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है ।



विच० । गोरे तन कुंकुम सुरंग प्रथम न्दवाई बाल ;
 राजा । सो तो जनु कंचन तन्धो होन पीत सों लाल ।
 विच० । इंद्रनील-मनि - पैजनी ताहि दई पहिराय ;
 राजा । कमल-कली जुग घेरिकै अलि मनु बैठे आय ।
 विच० । सजी हरित सारी सरिस जुगल जंघ कहँ घेरि ;
 राजा । सो मनु कदली-पात निजखंभन लपट्यो फेरि ।
 विच० । पहिराई मनि-किंकिनी छीन सु कटि-तट लाय ;
 राजा । सो सिँगार - मंडप बँधी वंदनवार सुहाय ।

विच० । गोरे कर कारी चुरी चुनि पहिराई हाथ ;
 राजा । सो साँपिनि लपटी मनहुँ चंदन-साखा साथ ।
 विच० । निज करसों बाँधन लगी चोली तब वह बाल ;
 राजा । सो मनु खींचत तीर भट तरकस ते तेहि काल ।
 विच० । लाल कंचुकी मैं उगे जोवन जुगल लखात ;
 राजा । सो मानिक-संपुट बने मन-चोरी हित गात ।
 विच० । बड़े - बड़े मुक्तान सों गल अति सोभा देत ;
 राजा । तारागन आए मनो निज पति ससि के हेत ।
 विच० । करनफूल जुग करन मैं अति ही करत प्रकास ;
 राजा । मनु ससिलै द्वै कुमुदिनी बैछ्यो उतरि अकास ।
 विच० । बाला के जुग कान मैं बाला सोभा देत ;
 राजा । स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ पियत मकर करि हेत ।
 विच० । जियरंजन खंजन-दृगनि अंजन दियो बनाय ;
 राजा । मनहुँ सान फेरयो मदन जुगल बान निज लाय ।
 विच० । चोटी गुंथि पाटी सरस करिकै बाँधे केस ;
 राजा । मनहुँ सिंगार इकत्र है बँध्यो बार के वेस ।
 विच० । बहुरि ओढ़ाई ओढ़नी अतर-मुवास वसाय ;
 राजा । फूल-लता लपटी किरन रवि-ससि की मनु आय ।
 विच० । यहि विधि सों भूषित करी भूषन-वसन बनाय ;
 राजा । काम बाग भालरि लई मनु वसंत ऋतु पाय ।



मनभावनि भइ साँभ सुहाई ;

दीपक प्रगटि कमल सकुचाने, प्रफुलित कुमुदिनि निसि दिग आई ।
 ससि-प्रकास पसरित तारागन उगन लगे नभ मैं अकुलाई ;
 साजत सेज सबै जुवतीजन पीतम हित हिय हैत बढ़ाई ।
 फूले रैन फूल वागन मैं, सीतल पुपवन चली सुखदाई ;
 गौरी-राग सरस सुर सब मिलि गावत कामिनि काम-बधाई ।



तजौ गरव अब चंद तुम, भूलौ मात मन माहिँ ;
 क्रोध, हसनि, भ्रमंग छवि, तुममैं सपनेहुँ नाहिँ ।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
 गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ।
 कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत ;
 नारायन, गोविंद, कृष्ण ये नाम उचारत ।
 लै, बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत ;
 जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत ।
 जुग तूँ बन की बीन परम सोभित मन भाई ;
 लै अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ।
 आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
 कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं ।
 कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
 ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट ।



प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलौ भला सब अपनी वीरता हमी पर
 दिखानी थी। हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, विराना, सब छोड़कर
 तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म
 से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता। निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती। मुँह
 ढकौ, फिर भी बोलने बिना ब्रूवे जाते हो ! चलो वाह ! अच्छी प्रीति निवाही ।
 जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी । यों ही सही, अंत मरना है ।
 मैंने अपनी ओर से खबर दे दी । अब मेरा दोष नहीं, वस ।

केवल तुम्हारी



देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
 जिय मैं विरह-घटा घहरि - घहरि उठै ;
 त्यों ही इंद्रधनु, बगमाल देखि वनमाल
 मोती - लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै ।
 'हरिचंद' मोर - पिक - धुनि सुनि बंसी-नाद
 बाँकी छवि बार - बार छहरि - छहरि उठै ;

देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत-

पट - छोरे मेरे हिय फहरि - फहरि उठै ।



जोगिनि मुख पर लट लटकाई ;

कारी, धूँधरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ।

छूटे केस, गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ;

साँचे - ढरी प्रेम की मूरति अखिया निरखि सिराई ।



तरनितनूजा - तट तमाल - तरुवर बहु छाए ;

भुके कूल सों जल - परसन - हित मनहुँ सुहाए ।

किधौँ मुकुर मैं लखत उभकि सब निज-निज सोभा ;

कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ।

मनु आतप - बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;

कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन, मन सुख लहत ।

कहुँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भौँतिन ;

कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लागि रहि पाँतिन ।

मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;

कै उमंगे प्रिय - प्रिया - प्रेम के अनगिन गोभा ।

कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;

कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ।

कै पिय - पद - उपमान जानि यहि निज उर धारत ;

कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उचारत ।

कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं ;

कै ब्रज - तियगन - बदन-कमल की झलकत भाईं ।

कै सात्त्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल वगरे फिरत ;

कै जानि लच्छमी - भौन यहि करि सतधा निज जल धरत ।

परत चंद प्रतिबिंब कहुँ जल मधि चमकायो ;

लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ।

मनु हरि - दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ;

कै तरंग - कर मुकुर लिए सोभित छवि - छायो ।

कै रास - रमन मैं हरि - मुकुट - आभा जल दिखरात है ;

कै जल - उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है ।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
 गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ।
 कटि मृगपति को चरम, चरन मैं धुँधरू धारत ;
 नारायन, गोविंद, कृष्ण ये नाम उचारत ।
 लै, बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत ;
 जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत ।
 जुग तूँ बन की बीन परम सोभित मन भाई ;
 लै अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ।
 आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
 कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं ।
 कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
 ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट ।



प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलौ भला सब अपनी वीरता हमी पर
 दिखानी थी । हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, विराना, सब छोड़कर
 तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म
 से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता । निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती । मुँह
 ढकौ, फिर भी बोलने बिना ब्रूवे जाते हो ! चलो वाह ! अच्छी प्रीति निवाही ।
 जो हो, तुम जानते ही हो, हाथ कभी न करूँगी । यों ही सही, अंत मरना है ।
 मैंने अपनी ओर से खबर दे दी । अब मेरा दोष नहीं, वस ।

केवल तुम्हारी



देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
 जिय मैं विरह-घटा घहरि - घहरि उठै ;
 त्यों ही इंद्रधनु, बगमाल देखि वनमाल
 मोती - लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै ।
 'हरिचंद' मोर - पिक - धुनि सुनि बंसी-नाद
 बाँकी छवि बार - बार छहरि - छहरि उठै ;

देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत-

पट - छोर मेरे हिय फहरि - फहरि उठै ।

❀

❀

❀

जोगिनि मुख पर लट लटकाई ;

कारी, घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ।

छूटे केस, गेरुआ वागे सोभा दुगुन बढ़ाई ;

साँचे - ढरी प्रेम की मूरति अखिया निरखि सिराई ।

❀

❀

❀

तरनितनूजा - तट तमाल - तरुवर बहु छाए ;

मुके कूल सों जल - परसन - हित मनहुँ मुहाए ।

किधौँ मुकुर मैं लखत उभकि सब निज-निज सोभा ;

कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ।

मनु आतप - बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;

कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन, मन सुख लहत ।

कहुँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भौँतिन ;

कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लागि रहि पाँतिन ।

मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;

कै उमंगे प्रिय - प्रिया - प्रेम के अनगिन गोभा ।

कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;

कै पूजन को उपचार लै चळति मिलन मन मोहई ।

कै पिय - पद - उपमान जानि यहि निज उर धारत ;

कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उचारत ।

कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं ;

कै ब्रज - तियगन - बदन-कमल की झलकत भाईं ।

कै साच्चिक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल वगरे फिरत ;

कै जानि लच्छमी - भौन यहि करि सतधा निज जल धरत ।

परत चंद प्रतिबिंब कहुँ जल मधि चमकायो ;

लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ।

मनु हरि - दरसन हेत चंद जल बसत मुहायो ;

कै तरंग - कर मुकुर लिए सोभित छवि - छायो ।

कै रास - रमन मैं हरि - मुकुट - आभा जल दिखरात है ;

कै जल - उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है ।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
 गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ।
 कटि मृगपति को चरम, चरन मैं धुँधरू धारत ;
 नारायन, गोविंद, कृष्ण ये नाम उचारत ।
 लै, बीना कर वादन करत तान सात सुर सों भरत ;
 जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत ।
 जुग तूँ बन की वीन परम सोभित मन भाई ;
 लै अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ।
 आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
 कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं ।
 कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
 ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट ।



प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलौ भला सब अपनी वीरता हमी पर
 दिखानी थी । हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, विराना, सब छोड़कर
 तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म
 से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता । निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती । मुँह
 ढकौ, फिर भी बोलने बिना ब्रूवे जाते हो ! चलो वाह ! अच्छी प्रीति निवाही ।
 जो हो, तुम जानते ही हो, हाथ कभी न करूँगी । यों ही सही, अंत मरना है ।
 मैंने अपनी ओर से खबर दे दी । अब मेरा दोष नहीं, बस ।

केवल तुम्हारी



देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
 जिय मैं विरह-घटा घहरि - घहरि उठै ;
 त्यों ही इंद्रधनु, बगमाल देखि वनमाल
 मोती - लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै ।
 'हरिचंद' मोर - पिक - धुनि सुनि बंसी-नाद
 बाँकी छवि बार - बार छहरि - छहरि उठै ;

देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत-
पट - छोर मेरे हिय फहरि - फहरि उठै ।

❀

❀

❀

जोगिनि मुख पर लट लटकाई ;
कारी, घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ।
छूटे केस, गेरुआ वागे सोभा दुगुन बढ़ाई ;
साँचे - ढरी प्रेम की मूरति अखिया निरखि सिराई ।

❀

❀

❀

तरनितनूजा - तट तमाल - तरुवर बहु छाए ;
भुके कूल सों जल - परसन - हित मनहुँ सुहाए ।
किधौँ मुकुर मैं लखत उभकि सब निज-निज सोभा ;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ।
मनु आतप - बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन, मन सुख लहत ।
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ;
कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लागि रहि पाँतिन ।
मनु दग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;
कै उमंगे प्रिय - प्रिया - प्रेम के अनगिन गोभा ।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;
कै पूजन को उपचार लै चञ्चलि मिलन मन मोहई ।
कै पिय - पद - उपमान जानि यहि निज उर धारत ;
कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उचारत ।
कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं ;
कै ब्रज - तियगन - बदन-कमल की झलकत भाईं ।
कै सात्त्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल वगरे फिरत ;
कै जानि लच्छमी - भौन यहि करि सतधा निज जल धरत ।
परत चंद प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो ;
लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ।
मनु हरि - दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ;
कै तरंग - कर मुकुर लिए सोभित छवि - छायो ।
कै रास - रमन मैं हरि - मुकुट - आभा जल दिखरात है ;
कै जल - उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है ।

कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ;
 पवन-गवन-वस बिंब रूप जल मैं बहु साजत ।
 मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ;
 कै तरंग की डोर हिँडोरन करति कलोलै ।
 कै बाल - गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ;
 कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ।
 मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन - जल ;
 कै तारागन गगन लुकत प्रगटत ससि अविक्ल ।
 कै कालिंदी नीर - तरंग जिते उपजावत ;
 तितने ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ।
 कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार-जल उच्छरत ;
 कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ।
 कूजत कहुँ कलहंस, कहुँ मज्जत पारावत ;
 कहुँ कारंडव उड़त, कहुँ जल - कुक्कुट धावत ।
 चक्रवाक कहुँ वसत, कहुँ बक ध्यान लगावत ;
 सुक, पिक जल कहुँ पियत, कहुँ भ्रमरावलि गावत ।
 कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर विविध पंछी करत ;
 जलपान, न्हाण करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत ।



पचि मरत वृथा सब लोग जोग - सिर - धारी ;
 साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।
 विरहागिनि - धूनी चारो ओर लगाई ;
 बंसी - धुनि की मुद्रा कानों पहिराई ।
 अँसुअन की सेली गल मैं लगत सुहाई ;
 तन धूरि जमी, सोइ अंग भभूति रमाई ।
 लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ;
 साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी ।
 यह है सुहाग का अचल हमारे बाना ;
 असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना ।
 सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना ;
 कर चूरी, मुख में रंग तमोल जमाना ।

पीना प्याला भर रखना वही खुमारी ;
 साँची जोगिनि पिय बिना वियोगिनि नारी ।
 है पंथ हमारा नैनों के मत जाना ;
 कुल, लोक, वेद सब औ' परलोक मिटाना ।
 सिवजी - से जोगी को भी जोग सिखाना ;
 'हरिचंद्र' एक प्यारे से नेह बढ़ाना ।
 ऐसे वियोग पर लाख जोग बलिहारी ;
 साँची जोगिनि पिय बिना वियोगिनि नारी ।

❀

❀

❀

कहै को चंद-बदन की सोभा ;
 जाको देखत नगर-नारि को सहजहि ते मन लोभा ।
 मनु चंदा आकास छोड़ि कै भूमि लखन को आयो ;
 कैयों काम वाम के कारन अपनो रूप छिपायो ।
 भौहँ कमान कटान्छ बान से अलक भ्रमर घुँघरारे ;
 देखत ही बेधत हैं मन-मृग, नहिँ बचि सकत बिचारे ।

भारत-दुर्दशा

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ;
 हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई । ध्रुव ।
 सबके पहिले जेहि ईश्वर धन, बल दीनो ;
 सबके पहिले जेहि सम्य विधाता कीनो ।
 सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो ;
 सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो ।
 अब सबके पीछे सोई परत लखाई ।
 हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।
 जहँ भए साक्य, हरिचंद्ररु नहुस, जजाती ;
 जहँ राम, जुधिष्ठिर, वासुदेव, सरजाती ।
 जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती ;
 तहँ रही मूढ़ता, कलह, अविद्या राती ।
 अब जहँ देखहु, तहँ दुःख - हि - दुःख दिखाई ;
 हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।
 लरि वैदिक, जैन डुवाई पुस्तक सारी ;
 करि कलह बुलाई जवन-सैन पुनि भारी ।

तिन नासी बुधि, बल, विद्या, धन बहु बारी ;
 छाई अब आलस - कुमति - कलह - अधियारी ।
 भय अंध, पंगु सब दीन - हीन विलखाई ;
 हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।
 अंगरेज राजमुख-साज सजे सब भारी ;
 पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ।
 ताहू पै महँगी काल - रोग विस्तारी ;
 दिन - दिन दूने दुख ईस देत हा-हारी ।
 सबके ऊपर टिकस की आफति आई ;
 हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।

❀

❀

❀

उपजा ईश्वर - कोप से आया भारत बीच ;
 छार-खार सब हिंद करूँ मैं तो उत्तम, नहिँ नीच ।

मुझे तुम सहज न जानो जी ;

मुझे यक राक्षस मानो जी ।

कौड़ी - कौड़ी को करूँ मैं सब को मुहताज ;
 भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥ मुझे० ॥
 काल भि लाऊँ, महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग ;
 पानी उलटा कर वरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग ॥ मुझे० ॥
 फूट, बैर औ' कलह बुलाऊँ, लाऊँ सुस्ती, जोर ;
 घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर ॥ मुझे० ॥
 काफिर, काला नीच पुकारूँ तोहूँ पैर औ' हाथ ;
 दूँ इनको संतोष, खुसामद, कायरता भी साथ ॥ मुझे० ॥
 मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ महँगा करके अन्न ;
 सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन्न है मुझको धन्न ॥ मुझे० ॥

❀

❀

❀

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिँ घुसाए ;
 सैव, साक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए ।
 जाति अनेकन करीं, नीच अरु ऊँच बनायो ;
 खान-पान-संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ।
 जन्म-पत्र बिन मिले ब्याह नहिँ होन देत अब ;
 बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब ।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल, वीरजु मारथो ;
विधवा-ब्याह निषेध कियो, विभिचार प्रचारथो ।
रोकि विलायत - गमन, कूप - मंडूक बनायो ;
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ।
बहु देवी, देवता, भूत-प्रेत पुजाई ;
ईस्वर सों सब विमुख किए हिंदू धवराई ।

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा ;
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नहीं अच्छा ।
विस्तर पै मिस्तल लोथ पड़े रहना हमेशा ;
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा ।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो ;
पर जीम विचारी को सताना नहीं अच्छा ।
फ़ाक्रों से मरिए, पर न कोई काम कीजिए ;
दुनिया नहीं अच्छी है, ज़माना नहीं अच्छा ।
सिजदे से गर विहिश्त मिलै, दूर कीजिए ;
दोज़ख़ हि सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा ।
मिल जाय हिंदू श्राक में, हम काहिलों को क्या ;
ऐ मीरे-फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा ।

दूध सुरा, दधि हू सुरा सुरा अन्न धन, धाम ;
वेद सुरा, ईस्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम ।
जाति सुरा, विद्या सुरा, विनु मद रहै न कोइ ;
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होइ ।
ब्राह्मन, क्षत्री, वैश्य अरु सैयद, सेख, पठान ;
दे बताय मोहिँ कौन, जो करत न मदिरा-पान ।
पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के वृंद ;
गौतम पियत आनंद सों पियत अग्र के नंद ।
होटल मैं मदिरा पियै, चोट लगै नहिँ लाज ;
लोट लिए ठाढ़े रहत, टोटल दीबे काज ।
मद्यहि के परभाव सों रचत अनेकन ग्रंथ ;
मद्यहि के परकास सों लखत धरम को पंथ ।

मद पी बिधि जग को करत, पालत हरि करि पान ;
 मद्यहि पी कै नास सब करत संभु भगवान ।
 सोक-हरनि, आनंद - करनि, उमंगवनि सब गात ;
 हरि मैं तप बिनु लय-करनि केवल मद्य लखात ।



छठा दृश्य

[स्थान—गंभीर वन का मध्य भाग]

(भारत एक वृद्ध के नीचे अचेत पड़ा है)

[भारत-भाग्य का प्रवेश]

भारत-भाग्य—(गाता है—राग चैती-गौरी)

जागो, जागो रे भाई ;
 सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई ।
 निसि की कौन कहै, दिन वीत्यो, कालराति चलि आई ;
 देखि परत नहिँ हित - अनहित कछु परे बैरि - बस जाई ।
 निज उद्धार - पंथ नहिँ सूक्त, सीस धुनत पछिताई ;
 अबहूँ चेति पकरि राखौ किन, जो कछु बची बड़ाई ।
 फिरि पछिताए कछु नहिँ हूँ है, रहि जैहौ मुँह बाई ;
 सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई ।

(भारत को जगाता है, और भारत जब नहीं जागता, तब अनेक यत्न से फिर जगाता है । अंत में हारकर उदास होकर)

हाय ! भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है ? हाय ! क्या भारत के फिर वे दिन न आवेंगे ? हाय ! यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?—

भारत के भुज-बल जग रच्छित ; भारत-विद्या लहि जग सिच्छित ।
 भारत - तेज जगत बिस्तारा ; भारत - भय कंपत संसारा ।
 जाके तनिकहिँ भौंह हिलाए ; थर - थर कंपत नृप डर पाए ।
 जाके जय की उज्जल गाथा ; गावत सब महि मंगल साथ ।
 भारत - किरन जगत उजियारा ; भारत - जीव जियत संसारा ।
 भारत वेद, कथा, इतिहास ; भारत वेद - प्रथा परकासा ।
 फिनिक, मिसिर, सीरीय, युनाना ; मे पंडित लहि भारत - ज्ञाना ।
 रघ्यौ रुधिर जब आरज-सीसा ; ज्वलित अनल-समान अवनीसा ।

साहस, बल इन सम कोउ नहीं ; तबै रखौ महिमंडल माहीं ।
 कहा करी तकसीर तिहारी ; रे विधि, रुष्ट याहि की वारी !
 सबै सुखी जग के नर-नारी ; रे विधना, भारतहि दुखारी !
 हाय रोम ! तू अति बड़भागी ; बर्बर तोहि नास्यो जय लागी ।
 तोरे कीरति-थंभ अनेकन ; ढाहे गढ़ बहु करि प्रन टेकन ।
 मंदिर, महलनि तोरि गिराए ; सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए ।
 कछु न बची तुव भूमि-निसानी ; सो वरु मेरे मन अति मानी ।
 भारत-भाग न जात निहारे ; थाप्यो पग तौ सीस उधारे ।
 तोरयो दुर्गन, मंहल ढहायो ; तिनही मैं निज गेह बनायो ।
 ते कलंक सब फेरत फेरे ; ठाढ़े अजहूँ लखो धनेरे ।
 कासी, प्राग, अजोध्या-नगरी ; दीन - रूप सम ठाढ़ी सगरी ।
 चंडालहु जेहि निरखि धिनाई ; रहीं सबै भुव मुह-मसि लाई ।
 हाय पंचनद, हा पानीपत ; अजहूँ रहे तुम धरनि विराजत ।
 हाय चितौर, निलज तू भारी ; अजहूँ खरो भारतहि मँभारी ।
 जा दिन तुव अधिकार नसायो ; तेहि दिन क्यों नहिँ धरनि समायो ।
 रखौ कलंक न भारत-नामा ; क्यों रे तू वारानसि - धामा ।
 सब तजिकै, भजिकै दुख भारो ; अजहूँ वसत करि भुव मुख कारो ।
 अरे अग्रवन तीरथराजा ; तुमहुँ बचे अबलौ तजि लाजा ।
 पापिनि सरजू, नाम धराई ; अजहूँ बहति अवध - तट जाई ।
 तुममैं जल नहिँ जमुना, गंगा ; बढहु बेगि करि तरल तरंगा ।
 धोवहु यह कलंक की रासी ; वोरहु किन भट मथुरा, कासी ।
 कुस, कन्नौज, अंग अरु बंगहि ; वोरहु किन निज कठिन तरंगहि ।
 वोरहु भारत - भूमि सवेरे ; मिटै करक जिय के तब मेरे ।
 अहो भयानक भ्राता सागर ; तुम तरंग - निधि अति बल - आगर ।
 बोरे बहु गिरि, बन, अस्थाना ; पै विसरे भारत हित जाना ।
 बढहु न बेगि धाई क्यों भाई ; देहु भरत - भुव तुरत डुवाई ।
 घेरि छिपावहु बिंध्य, हिमालय ; करहु सकल जल भीतर तुम लय ।
 धोवहु भारत-अपजस-पंका ; मेटहु भारत - भूमि - कलंका ।

हाय ! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे ।—

जेहि छिन बलभारे ; हे सबै तेग धारे ।
 तब सब जग धाई, फेरते हे दुहाई ।

जग - सिर पग धारे ; धावते रोस भारे ।
 विपुल अवनि जीती ; पालते राजनीती ।
 जग इन बल काँपै ; देखि कै चंड दापै ।
 सोइ यह पिय मेरे ; हँ रहे आज चरे ।

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान ; करते अमृतोपम वेद - गान ।
 तब मोहत सब नर-नारि-वृंद ; सुनि मधुर बरन सजित सुछंद ।
 जग के सब ही जन धारि स्वाद ; सुनते इन ही को बीन - नाद ।
 इनके गुन होतो सबहिँ चैन ; इन ही कुल नारद, तानसैन ।
 इन ही के क्रोध कीन्हें प्रकास ; सब काँपत भूमंडल, अकास ।
 इन ही के हुँकृति-सब्द धोर ; गिरि काँपत हैं सुनि चारि ओर ।
 जब लेत रहे कर मैं कृपान ; इन ही कहँ हो जग तृन-समान ।
 सुनि कै रन-वाजन खेत माहिँ ; इन ही कहँ हो जिय संक नाहिँ ।

याही भुव महँ होत हैं हीरक, आम, कपास ;
 इत ही हिम-गिरि, गंग-जल, काव्य-गीत परकास ।
 जावाली, जैमिनि, गरग, पातंजलि, सुकदेव ;
 रहे भारतहि अंक मैं कवहिँ सबै भुवदेव ।
 याही भारत मध्य मैं रहे कृष्ण - मुनि - व्यास ;
 जिनके भारत-गान सौं भारत-बदन प्रकास ।
 याही भारत मैं रहे कपिल, सूत, दुरवास ;
 याही भारत मैं भए साक्यसिंह संन्यास ।
 याही भारत मैं गए मनु, भृगु आदिक होइ ;
 तब तिनसों जग मैं रह्यौ घृना करत नहिँ कोइ ।
 जासु काव्य सों जगत मधि अब लौँ ऊँचो सीस ;
 जासु राज-बल, धर्म की तृषा करहिँ अरुनीस ।
 सोई व्यास अरु राम के बंस सबै संतान ;
 ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन, रूप समान ।
 सोई बंस, रुधिरहु वही, सोई मन बिस्वास ;
 वही बासना, चित वही, आसय वही विलास ।
 कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तनु, कोटि-कोटि अति सूर ;
 कोटि-कोटि बुध, मधुर कवि मिले इहाँ की धूर ।
 सोइ भारत की आज यह भई दुर्दसा हाय ;
 कहा करै, कित जायँ, नहिँ सूक्त कछु उपाय ।

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोह-निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं । सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा ?

हा दैव ! तेरे विचित्र चरित्र हैं । जो कल राज करता था, वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है । कल जो हाथी पर सवार फिरते थे, वे आज नंगे पाँव वन की धूल उड़ाते फिरते हैं । कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नाम-लेवा और पानी-देवा कोई नहीं बचा, और कल जो घर अन्न-धन-पूत-लक्ष्मी हर तरह से भरे-पुरे थे, आज उन घरों में दूने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा !

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, वाण भट्ट प्रभृति कवियों के नाम-मात्र से, अब भी, सारे संसार से, ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम, रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र-चरित्र लोग हो गए हैं, उसकी यह दशा ! हाय, भारत भैया, उठो । देखो, विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है । अब सोने का समय नहीं है । अँगरेजों का राज्य पाकर भी न जगे, तो कब जगोगे ? मूर्खों-के प्रचंड शासन के दिन गए । अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहँचाना । विद्या की चर्चा फैल चली । सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई । तुमको उस पर भी वे ही सीधी बातें, भौंग के गोले, ग्राम्य गीत, वही बाल्य-विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें !

हाय ! अब भी भारत की यह दुर्दशा ! अरे, अब क्या चिंता पर संभलेगा ? भारत भाई, उठो, देखो, अब यह दुःख नहीं सहा जाता । अरे, कब तक बेमुध पड़े रहोगे ? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया । छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उस पर भी नहीं चेतते । हाय ! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती । प्यारे, जागो (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय ! इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है । किसी तरह होश में नहीं आता । हा भारत ! तेरी क्या दशा हो गई । हे कल्याणसागर भगवान् ! इधर भी दृष्टि कर । हे भगवती राजराजेश्वरी ! इसका हाथ पकड़ो । (रोकर) अरे, कोई नहीं, जो इस समय अवलंब दे । हा, अब मैं जीकर क्या करूँगा । जब भारत-ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में

पड़ा है, और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है ! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ, तो बड़ा कृतघ्न हूँ । (रोता है) हा विधाता ! तुझे यही करनी थी । (आतंक से) छिः-छिः, इतना क्लैव्य क्यों ? इस समय यह अधीरजपना ! बस, अब धैर्य । (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत ! मैं तुहारे ऋण से छूटता हूँ । मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उन्मृण होता हूँ । (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी ! हे परमेश्वर ! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले, जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो । (भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर) भैया, मिल लो । अब मैं विदा होता हूँ । भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते ? मैं ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते विदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते ? मैं ऐसा ही अभाग हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या ? बस, यह लो ! (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनि-का-पतन)

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी ;

वीर-कन्यका, वीर - प्रसविनी, वीर - बधू जग जानी ।

सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;

इनके जस की तिहूँ लोक मैं अमल धुजा फहरानी ।



सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई ;

यहि संसार रतन यक प्रेमहि, और वादि चतुराई ।

प्रेम बिना फीकी सब बातें कहहु न लाख बनाई ;

जोग, ध्यान, जप, तप, व्रत, पूजा प्रेम बिना विनसाई ।

हाव-भाव, रस - रंग - रीति बहु काव्य - केलि - कुसलाई ;

बिना लोन विज्जन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई ।

प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;

तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई ।



इस राजपूत से रहो हुशियार, खबरदार ;

गफ़लत न ज़रा भी हो, खबरदार, खबरदार ।

ईमाँ कि क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;

काफ़िर है ये पंजाब का सरदार, खबरदार ।

अज्ञदर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है;
विजली है, गुजव इसकी है तलवार, खबरदार ।
दरवार में वह तेगो - शररवार न चमके;
घर - बार से बाहर से भी हर बार खबरदार ।
इस दुश्मने-ईमाँ को है धोके से फँसाना;
लड़ना न मुकाविल कभी जिनहार, बरदार ।

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाहीं;
जागज ही सब रहैं, रेनि हूँ सोवहिँ नाहीं ।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब वीर हमारे;
अस-पीठि सों होहिँ चारजामे जनि न्यारे ।
तोड़ा मुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन;
रहैं खुली ही म्यान, प्रतंचे नहिँ उतरैं छन ।
देखि लेहिँगे कैसे पामर जवन वहादुर;
आवहिँ तो चढ़ि सनमुख कायर, कूर सबै जुर ।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिँ चलाई;
जो पै यक छन हूँ सनमुख हूँ करहिँ लराई ।

पिकदानो चपरगटूँ है [वस] नाम हमारा;
यक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा ।
उमरा जो कहैं रात, तो हम चाँद दिखा दें;
रहता है खुशामद से भरा जाम हमारा ।
कपड़ा किसी क, खाना कहीं, सोना किसी जा;
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा ।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा ।
ज़र दीन है, ईमान है, क्रुराँ है, नबी है;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा ।

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा;
अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।

पड़ा है, और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है ! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ, तो बड़ा कृतघ्न हूँ । (रोता है) हा विधाता ! तुझे यही करनी थी । (आतंक से) छिः-छिः, इतना क्लैब्य क्यों ? इस समय यह अधीरजपना ! वस, अब धैर्य । (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत ! मैं तुहारे ऋण से छूटता हूँ । मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उन्मृण होता हूँ । (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी ! हे परमेश्वर ! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले, जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो । (भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर) भैया, मिल लो । अब मैं विदा होता हूँ । भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते ? मैं ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते विदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते ? मैं ऐसा ही अभागा हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या ? वस, यह लो ! (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिकान्यतन)

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी ;

वीर-कन्यका, वीर - प्रसविनी, वीर - वधू जग जानी ।

सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;

इनके जस की तिहूँ लोक मैं अमल धुजा फहरानी ।



सब मिलि गाओ प्रेम-वधाई ;

यहि संसार रतन यक प्रेमहि, और वादि चतुराई ।

प्रेम बिना फीकी सब बातें कहहु न लाख बनाई ;

जोग, ध्यान, जप, तप, व्रत, पूजा प्रेम बिना बिनसाई ।

हाव-भाव, रस - रंग - रीति बहु काव्य - केलि - कुसलाई ;

बिना लोन विज्जन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई ।

प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;

तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई ।



इस राजपूत से रहो हुशियार, खबरदार ;

गफ़लत न ज़रा भी हो, खबरदार, खबरदार ।

ईमाँ कि क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;

काफ़िर है ये पंजाब का सरदार, खबरदार ।

अज़दर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है;
विजली है, गुज़व इसकी है तलवार, ख़बरदार ।
दरवार में वह तेग़े - शररवार न चमके;
घर - बार से बाहर से भी हर बार ख़बरदार ।
इस दुश्मने-ईमाँ को है धोके से फँसाना;
लड़ना न मुक़ाबिल कभी ज़िनहार, बरदार ।

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाहीं;
जागत ही सब रहैं, रेनि हूँ सोवहिँ नाहीं ।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब वीर हमारे;
अस-पीठि सों होहिँ चारजामे जनि न्यारे ।
तोड़ा मुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन;
रहैं खुली ही म्यान, प्रतंचे नहिँ उतरैं छन ।
देखि लेहिँगे कैसे पामर जवन बहादुर;
आवहिँ तो चढ़ि सनमुख कायर, कूर सबै जुर ।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिँ चखाई;
जो पै यक छन हूँ सनमुख हूँ करहिँ लराई ।

पिकदानो चपरगट्खूँ है [वस] नाम हमारा;
यक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा ।
उमरा जो कहें रात, तो हम चाँद दिखा दें;
रहता है खुशामद से भरा जाम हमारा ।
कपड़ा किसी क, खाना कहीं, सोना किसी जा;
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा ।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा ।
ज़र दीन है, ईमान है, क्रुरआँ है, नबी है;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा ।

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा;
अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।

पड़ा है, और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है ! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ, तो बड़ा कुतर्घ्न हूँ । (रोता है) हा विधाता ! तुझे यही करनी थी । (आतंक से) छिः-छिः, इतना क्लैव्य क्यों ? इस समय यह अधीरजपना ! वस, अब धैर्य । (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत ! मैं तुहारे ऋण से छूटता हूँ । मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उन्मृण होता हूँ । (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी ! हे परमेश्वर ! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले, जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो । (भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर) भैया, मिल लो । अब मैं विदा होता हूँ । भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते ? मैं ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते विदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते ? मैं ऐसा ही अभागा हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या ? वस, यह लो ! (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिका-न्यतन)

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी ;

वीर-कन्यका, वीर - प्रसविनी, वीर - वधू जग जानी ।

सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;

इनके जस की तिहूँ लोक मैं अमल धुजा फहरानी ।



सब मिलि गाओ प्रेम-वधाई ;

यहि संसार रतन थक प्रेमहि, और वादि चतुराई ।

प्रेम बिना फीकी सब बातें कहहु न लाख बनाई ;

जोग, ध्यान, जप, तप, व्रत, पूजा प्रेम बिना बिनसाई ।

हाव-भाव, रस - रंग - रीति बहु काव्य - केलि - कुसलाई ;

बिना लोन बिजन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई ।

प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;

तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई ।



इस राजपूत से रहो हुशियार, खबरदार ;

गफ़लत न ज़रा भी हो, खबरदार, खबरदार ।

ईमाँ कि क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;

काफ़िर है ये पंजाब का सरदार, खबरदार ।

अज़दर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है;
विजली है, गुज़व इसकी है तलवार, ख़बरदार ।
दरवार में वह तेग़े - शररवार न चमके;
घर - वार से बाहर से भी हर वार ख़बरदार ।
इस दुश्मने-ईमाँ को है धोके से फँसाना;
लड़ना न मुक़ाबिल कभी ज़िनहार, वरदार ।

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाहीं;
जागत ही सब रहैं, रेनि हूँ सोवहिँ नाहीं ।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब वीर हमारे;
अस-पीठि सों होहिँ चारजामे जनि न्यारे ।
तोड़ा मुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन;
रहैं खुली ही म्यान, प्रतंचे नहिँ उतरैं छन ।
देखि लेहिँगे कैसे पामर जवन बहादुर;
आवहिँ तो चढ़ि सनमुख कायर, कूर सबै जुर ।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहिँ तिनहिँ चखाई;
जो पै यक छन हूँ सनमुख हूँ करहिँ लराई ।

पिकदानो चपरगट्खूँ है [वस] नाम हमारा;
यक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा ।
उमरा जो कहें रात, तो हम चाँद दिखा दें;
रहता है खुशामद से भरा जाम हमारा ।
कपड़ा किसी क, खाना कहीं, सोना किसी जा;
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा ।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा ।
ज़र दीन है, ईमान है, क्रुरआँ है, नबी है;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा ।

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा;
अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।

अब सुख-सूरज को उदै नहीं इत है है
 सो दिन फिरि इत अब सपने हू नहिँ ऐहै ।
 स्वाधीनपनो, बल, धीरज सबै नसैहै ;
 मंगलमय भारत-भुव मसान है जैहै ।
 दुख-ही-दुख करिहै चारिहु ओर प्रकासा ;
 अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।
 इत कलह, विरोध सबन के हिय घर करिहै ;
 मूर्खता को तम चारिहु ओर पसरिहै ।
 वीरता, एकता, ममता दूरि सिधरिहैं ;
 तजि उद्यम सब ही दास - वृत्ति अनुसरिहैं ।
 है जैहैं चारिहु वरन सूद्र बनि दासा ;
 अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।
 है हैं इत के सब भूत - पिसाच - उपासी ;
 कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयंप्रकासी ।
 नसि जैहैं सिगरे सत्य-धर्म अविनासी ;
 निज हरि सों हैहैं विमुख भरत-भुव-वासी ।
 तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ विलासा ;
 अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।
 अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई ;
 निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई ।
 तुरकन-हित करिहैं हिंदुन संग लराई ;
 जवनन के चरनहि रहिहैं सीस चढ़ाई ।
 तजि निज कुल करिहैं नीचन-संग निवासा ;
 अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।
 रहे हमहुँ कवहुँ स्वाधीन आर्य बल-भारी ;
 यह देहैं जिय सों सब ही बात विसारी ।
 हरि-विमुख, धरम बिनु धन-बल-हीन, दुखारी ;
 आलसी, मंद, तन-छीन, लुधित संसारी ।
 सुख सों सहिहैं सिर जवन-पादुका त्रासा ;
 अब तजहु वीरवर, भारत की सब आसा ।

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए !

जागत नेकु न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए ।
यक दिन वह हो, जव तुम छिन नहिँ भारत-हित विसराए ;
इत के पसु-गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ;
अपनी संपति जानि इनहि तुम गह्यो, तुरंतहि धाई ।
प्रलय-काल-सम जौन सुदरसन असुर-प्राण-संहारी ;
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी !

❀

❀

❀

चलहु वीर, उठि तुरत सवै जय-ध्वजहि उड़ाओ ;
लेहु म्यान सों खरग खाँचि, रन-रंग जमाओ ।
परिकर कसि कटि उठौ, धनुष पै धरि सर साधौ ;
केसरिया बानो सजि - सजि रन-कंकन बाँधौ ।
जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारै ;
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद विचारै ।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी :
सिंह जगे कहूँ स्वान ठहरिहैं समर मँभारी ?
पद-तल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय ;
तनिकहुँ संक न करहु, धर्म जित, जय तित निश्चय ।
चिउँटिहु पद-तल दवे डसत हूँ तुच्छ जंतु इक ;
ये प्रतच्छ आरि, इनहिँ उपेछै जौन, ताहि धिक !
धिक तिन कहँ, जे आर्य होइ जवनन को चाहैं !
धिक तिन कहँ, जे इनसों कछु संबंध निबाहैं !
मारू बाजे बजैं, कहूँ धौंसा बहराहीं ;
उड़हिँ पताका, सत्रु - हृदय लखि - लखि थहराहीं ।
चारन बोलहिँ आर्य-सुजस, बंदी गुन गावैं ;
छुटहिँ तोप घनघोर, सवै बंदुक चलावैं ।
चमकहिँ असि, भाले दमकहिँ, ठनकहिँ तन बख्तर ;
हींसहिँ हय, भनकहिँ रथ, गज चिक्करहिँ समर-थर ।

अंधेर-नगरी

अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा ।
नीच-ऊँच सब एकहि ऐसे ; जैसे भँडुए, पंडित तैसे ।

कुल-मरजाद न मान-बढ़ाई ; सबै एक-से लोग - लुगाई ।
जाति-पाँति पूछै नहिँ कोई ; हरि का भजै, सो हरि का होई ।
बेस्या, जोरू एक समाना ; बकरी, गऊ एक करि जाना ।
साँचे मारे - मारे डोलै ; छली, दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलै ।
प्रगट सभ्य, अंतर छलधारी ; सोई राजसभा बल भारी ।
साँच कहै, ते पनही खावै ; भूटे बहु विधि पदवी पावै ।
छलियन के एका के आगे ; लाख कहौ, एकहु नहिँ लागे ।
भीतर होइ मलिन की काँठे ; चाहिए बाहर रँग चटकारो ।
धर्म, अधर्म एक दरसाई ; राजा करै, सो न्याय सदाई ।
भीतर स्याही, बाहर सादे ; राज करहिँ अमले अरु प्यादे ।
अंधाधुंध मन्थो सब देसा ; मानहु राजा रहत विदेसा ।
गो, द्विज, स्त्रुति आदर नहिँ होई ; मानहु नृपति विधर्मी कोई ।
ऊँच, नीच सब एकहि सारा ; मानहुँ ब्रह्म - ज्ञान बिस्तारा ।
अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा ।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ।

यह माया हरि की कलवारिनि, मद पियाय राखा बौराई ;
एक पड़ा भुइयाँ माँ लोटै, दूसर कहै चोखि दे भाई ।
ऐसा है कोई हरिजन मोदी, तन की तपन बुझावेगा ;
पूरन प्याला पियै हरी का, फेर जनम नहिँ पावेगा ।

तिल - भरि मछरी खाइवो, कोटि गऊ को दान ;
ते नर सीधे जात हैं सुरपुर बैठि बिमान ।

कलवारिन मदमाती काम - कलोल ;

भरि-भरि देति पियलवा महा ठोल ।

विशिष्ट नामों की तालिका

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अकबर	 २८, ३५१, ३५२	इंद्रजीत	 ३५२
अजमेर	 ४५२	उत्तर-कांड	 ९८, १३९
अनंगपाल	 ४६४	उदोतसिंह (कुमाऊँ-नरेश)	 ३३२
अफ़ज़लख़ाँ	 ३१६	उमापति	 २४
अमरसिंह	 ३५४	ओड़छा	 ३५३
अमरसिंह (मेवाड़)	 ४५४	औरंगज़ेब	 ३०१
अमीर खुसरो	 २४	अंगद	 १३९, ३६३
अयोध्या	 ५८, ९६	अंधेर-नगरी	 ४९०, ५२०
अयोध्या-कांड	 ६३, ८८, १३७	कइखा-रामायण	 ६३
अवध	 १६३	कबीर-कसौटी	 ३९५, ३९८
अष्टछाप	 २६	कबीर-परिचय की साखी	 ४००
अष्टयाम	 २०४, २०६	कबीरदास	 २४, ६१, ३९५
असी-घाट	 ५८	कमाल	 २४, ३९७
आगरा	 १७४	कर्पूर-मंजरी	 ४८७
आज़मशाह	 २०२	कलि-धर्माधर्म-निरूपण	 ६३, ७७
आत्माराम दुबे	 ४०	कवितावली रामायण	 ६३, ६८
आदि ग्रंथ	 ४०१	कविप्रिया	 ३५४, ३५९, ३८९
आना	 ४६२	कविवचन-सुधा	 ४८२
आरण्य-कांड	 ९२	कवित्त-रामायण	 १५४
आलम	 २९	कवींद्र	 २९
इटावा	 २००	काकभुशुंड	 ८०
इंडियन-प्रेस	 ५९, ८१	कालिदास	 २९, ३०२

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
काव्य-रसायन	 २१५, २१८	गऊघाट	 १७७
काश्मीर-कुसुम	 ४९१	गदाधर भट्ट	 ३२
काशी	 ५८, ७५, ७७	गरुड़	 ८४
काशी-नागरो-प्रचारिणी सभा	७७, २९९	गिरिधरदास	 ४८०
किष्किंधा-कांड	 ९२, १३८	गीतावली-रामायण	 ६३, ७१, १५२
कुतबन शैल	 २५	गुरुदत्तसिंह	 ३१
कुमारमणि भट्ट	 ३३२	गुरुराम पुरोहित	 ४५२
कुरुक्षेत्र	 ५८	गोकुलनाथ	२८, ३१, १७४, १७५
कुलपति	 २९	गोपाल-मंदिर	 ५८
कुशल-विलास	 २०२, २०८	गोपीनाथ	 ३१
कुंडलिया-रामायण	 ६३	गोविंदस्वामी	 १७२
कुंभकर्ण	 ६५, ११७	गोरखनाथ	 २४
कुंभकर्ण (महाराणा)	 २२, २४	गोस्वामीजी का घाट	 ५८
कुंभनदास	 २६, १७२	गोस्वामीजी की जीवनी	 ७१
कृपाराम	 २७	गौतम बुद्ध	 ६२
कृष्ण कवि	 २६१	गंग	 २८
कृष्ण-गीतावली	६३, ७३, १५३	गंगा-भूषण	 ३०५
कृष्णदास	 २६, १७२	गंजन	 २९
केदार	 २३	ग्रंथ साहब	 २५, ४०२
केशवदास	 २७, २६२	घनश्याम शुक्ल	 २९
कैमास	 ४५२	घासीराम	 २८
कोदोराम	 ७७	चतुर्भुजदास	 २६, १७२
कौशल्या	 १२१	चरणदास	 २५
खानखाना	 ५९	चित्रकूट	 ५८, ७६
खालिक्खारी	 २४	चिंतामणि	 २९, २९९
खुमान-रासो	 २१	चैतन्य	 २५

विशिष्ट नामों की तालिका

५२३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
चौरासी वैष्णवों की वार्ता	१७४	तुलसीदास	२६, ३९
चंद कवि या चंद वरदाई २३, १७५, ४५०		तोष	२६
चंद्रावली	६६४	थान	३२
छत्रसाल	२२, २८	दत्त	३२
छत्रसाल-दशक	३०२, ३०३	दयानंद	४१५
छप्पै-रामायण	६३	दिल्ली	४५२
छीत स्वामी	२६, १७२	दीनबंधु	५५
छदावली-रामायण	६३, ७२	दुर्लभबंधु	४९०
जगद्विनोद	३५७	दूलह	३१
जगन्नाथ-पुरी	५८	दूषण-उल्लास	३०२
जगनिक	२३	देव	२८, ३१, २००
जटाशंकर	२९९	देव काष्ठ जिह्वा	३२
जयदेव	२४	देवचरित्र	२०९
जयपुर	२६०	देवता	१२०
जयसिंह	२६०	देवमायाप्रपंच नाटक	२२०
जल्हन	२३, ४५०	देव-शतक	२०४, २२२
जसवंतसिंह	२६, २६२	दोहावली	६३, ७५, १५३
जहाँगीर-चंद्रिका	३५६	द्विजदेव	३२
जाति-विलास	२०३, २०४, २१२	धनंजय-विजय	४८७, ५०३
जानकी मंगल	६३, ७३	नखशिल	३५६
जायसी	२७	नरपति नाल्ह	२६
जयचंद (महाराजा)	५९२	नरसैयाँ	२६
टोडर	२८, ५९, ७५, १४१	नरहरिदास	४३, ८०
ठाकुर	३२	नरोत्तमदास	२७
तारक	५५	नवीन	३२
तिकवाँपुर	३००	नल-दमयंती	१७८

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
नाटक	 ४८६	पृथाकुंअरि	 ४५१
नाटकावली	... ४८६	पृथ्वीराज	 ४६२
नानक	... २५, ३९८	पृथ्वीराज-रासो	 ४५३, ४५५
नाभादास	... २८, ५७	पेशवा	 १७५
नारायणदेव	... २४	प्रतापनारायण	 ३३
निपटनिरंजन	... २७	प्रतापसाहि	 ३२
निषाद-पति गुह	... ११९	प्रयाग	 ५८, ९६
नीतिशतक	... २०४, २२४	प्रह्लाद-घाट	 ५८
नीमा	... ३९५	प्रेमचंद्रिका	२०२, २०४, २१०, २३६
नीरू	... ३९५	प्रेम-तरंग	 २०७
नीलकंठ	... २९७	प्रेम-दर्शन	 २२३
नीलदेवी	 ४९६, ५१६	प्रेम-दर्शन-पचीसी	 २२३
नूर मुहम्मद	 २७	प्रेम-दीपिका	 २२३
नेवाज	 २९	प्रेम-योगिनी	 ४९५, ४९७
नंददास	 २६, ४०, १७२	वनारसीदास	 २८
पजनेस	 ३२	वरवै-रामायण	 ६३
पदावली रामायण	 ६३, ७२	वरवै-सीता	 २३
पद्माकर	 ३१	वलभद्र मिश्र	 २८
परमानंददास	 २६, १७२	वसुआ-गोविंदपुर	 २६२
परशुराम	 ८७	वारदरवेणा	 २३
परिमाल	 ४६५	बाल-कांड	 ६४, ८५, १३४
पाखंड-विडंबन	 ४९०	बालाजी-बाजीराव	 १७५
पारासोली	 १७७	बाल-बोधिनी	 ४८२
पार्वती-मंगल	 ६३, ६७	बिठल-स्वामी	 २५, १७३
पावस-विलास	 २२१	बीजक कवीर	 ४०१
पंड	 २३	बीरबल	 २८, ३५३

विशिष्ट नामों की तालिका

५२५

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
वीसलदेव	 ४६२	भूषण-उल्लास	 ३०२
वेनी	 ३२	भूषण-प्रथावली	२९७, ३०४
वेनी-प्रवीन	 ३२	भूषण-हजारा	 ३०२
वेनू (राव), चंद के पिता	४५२	भोगनाथ	 ३४८
वैरीसाल	 ३२	भोगीलाल	 २०३
बोधा	 ३२	भोराभीमंग	 ४७०
ब्याहलो	 १७८	भौन	 ३२
भक्त कल्पद्रुम	 ७७	सतिराम	२८, २९९, ३३३
भक्तमाल	५७, १७५, १७६	मथुरा	 ५८
भक्ति-सुधा-विंदु	 ३९५	मणिदेव	 ३१
भगवतराय	 २२	मणियार	 ३२
भगोदास	 २४	मनीराम मिश्र	 ३२
भरत	 १३७	मलिहाबादी रामायण	 ५९
भरद्वाज	 ८०	मलूकदास	 ५९
भवभूति	 १०७	महाराजा बनारस	 ५९
भवानो-विलास	१०२, २०६	महावीर-चरित्र	 १०७
भवानंद	 २४	माधुरी	 ४८९
भाऊसिंह	 ३३९	मानसिंह	 २८
श्रीमद्भागवत	 १७६	मानसिंह (अयोध्या)	 २२
भारत-जननी	 ४८८	मिथिलापुरी	 ८६
भारत-दुर्दशा	 ४९६, ५०९	मीराबाई	 २६
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र	४८०	मुक्ता-मणिदास	 ५९
भावविलास	 २०५	मुद्राराक्षस	 ४८७, ५०१
भाषा-भूषण	 २९, २६२	मुबारक	 २८
भिखारीदास	 ३१	मेघनाद	 ११७
भूषण	 २८, २९९	मोहनलाल द्विज	 २३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
नाटक	४८६	पृथाकुंअरि	४५१
नाटकावली	४८६	पृथ्वीराज	४६२
नानक	२५, ३९८	पृथ्वीराज-रासो	४५३, ४५५
नाभादास	२८, ५७	पेशवा	१७५
नारायणदेव	२४	प्रतापनारायण	३३
निपटनिरंजन	२७	प्रतापसाहि	३२
निषाद-पति गुह	११९	प्रयाग	५८, ९६
नीतिशतक	२०४, २२४	प्रह्लाद-घाट	५८
नीमा	३९५	प्रेमचंद्रिका	२०२, २०४, २१०, २३६
नीरू	३९५	प्रेम-तरंग	२०७
नीलकंठ	२९७	प्रेम-दर्शन	२२३
नीलदेवी	४९६, ५१६	प्रेम-दर्शन-पच्चीसी	२२३
नूर मुहम्मद	२७	प्रेम-दीपिका	२२३
नेवाज	२९	प्रेम-योगिनी	४९५, ४९७
नंददास	२६, ४०, १७२	बनारसीदास	२८
पजनेस	३२	बरवै-रामायण	६३
पदावली रामायण	६३, ७२	बरवै-सीता	२३
पद्माकर	३१	बलभद्र मिश्र	२८
परमानंददास	२६, १७२	बसुआ-गोविंदपुर	२६२
परशुराम	८७	वारदरवेणा	२३
परिमाल	४६५	बाल-कांड	६४, ८५, १३४
पाखंड-विडंबन	४९०	बालाजी-बाजीराव	१७५
पारासोली	१७७	बाल-बोधिनी	४८२
पार्वती-मंगल	६३, ६७	विठ्ठल-स्वामी	२५, १७३
पावस-विलास	२२१	बीजक कबीर	४०१
पंड	२३	वीरबल	२८, ३५३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
व्रीसलदेव	४६२	भूषण-उल्लास	३०२
वेनी	३२	भूषण-ग्रथावली	२९७, ३०४
वेनी-प्रवीन	३२	भूषण-हजारा	३०२
वेनू (राव), चंद के पिता	४५२	भोगनाथ	३४८
वैरीसाल	३२	भोगीलाल	२०३
बोध	३२	भोराभीमंग	४७०
ब्याहलो	१७८	भौन	३२
भक्त कल्पद्रुम	७७	सतिराम	२८, २९९, ३३३
भक्तमाल	५७, १७५, १७६	मथुरा	५८
भक्ति-सुधा-विंदु	३९५	मणिदेव	३१
भगवतराय	२२	मणियार	३२
भगोदास	२४	मनीराम मिश्र	३२
भरत	१३७	मलिहाबादी रामायण	५९
भरद्वाज	८०	मल्लूकदास	५९
भवभूति	१०७	महाराजा बनारस	५९
भवानो-विलास	१०२, २०६	महावीर-चरित्र	१०७
भवानंद	२४	माधुरी	४८९
भाऊसिंह	३३९	मानसिंह	२८
श्रीमद्भागवत	१७६	मानसिंह (अयोध्या)	२२
भारत-जननी	४८८	मिथिलापुरी	८६
भारत-दुर्दशा	४९६, ५०९	मीराबाई	२६
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र	४८०	मुक्ता-मणिदास	५९
भावविलास	२०५	मुद्राराक्षस	४८७, ५०१
भाषा-भूषण	२९, २६२	मुबारक	२८
भित्तारीदास	३१	मेघनाद	११७
भूषण	२८, २९९	मोहनलाल द्विज	२३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या	४५३	रामशलाका	६३
मंदोदरी	 ११५, ११६	राम-सतसई	६३
रघुनाथ	 ३१	रामसहाय	३२
रघुराजसिंह (रीवाँ-नरेश)	१७६	रामसिंह	३५४
रत्नाकर	 ३००	रामाज्ञा	६३
रत्नावली	 ४९०	रामानुजाचार्य	३९६
रसखानि	 २८	रामानंद	२४, ३९६
रसराज	 ३४०	रायगढ़	३०६
रसलीन	 २९	रायप्रवीन	३५२
रसविलास	२०३, २१३, २५५	रावण	३७७
रसानंदलहरी	 २२३	राव बुद्धसिंह	३०३
रसिकप्रिया	३५०, ३५३, ३९१	रासो	४५२
रहीम	 २८	रुद्रराम सोलंकी	३०१
रागरत्नाकर	 २०४, २०७	रैदास	३९६
राजापुर	 ५९	रोला-रामायण	६३
राधाकृष्णदास	 १७२, २६१	लक्ष्मण	१११
राधिका-विलास	 २२३	लक्ष्मणसिंह (राजा)	३२
रामगुलाम	 ४०, ७७	लछिराम	३२
रामचरितमानस	२७, ६३, १५७	ललित	३२
रामचंद्र	१०७, १०८, ११०	ललितललाम	३४७
रामचंद्र पंडित	 ३२	लल्लूलाल	३२
रामचंद्रिका	३५४, ३६१, ३७४	लाल	२८, २९
रामदास	 १७६	लेखराज	३२, ३०५
रामबोला	 ४०	लोई	३९७
रामरसिकावली	 १७६	लंका-कांड	६३, ६४, ९४, १३९
रामलला-नहछू	 ६३, ६६	वल्लभाचार्य	२५, १७२, १७३

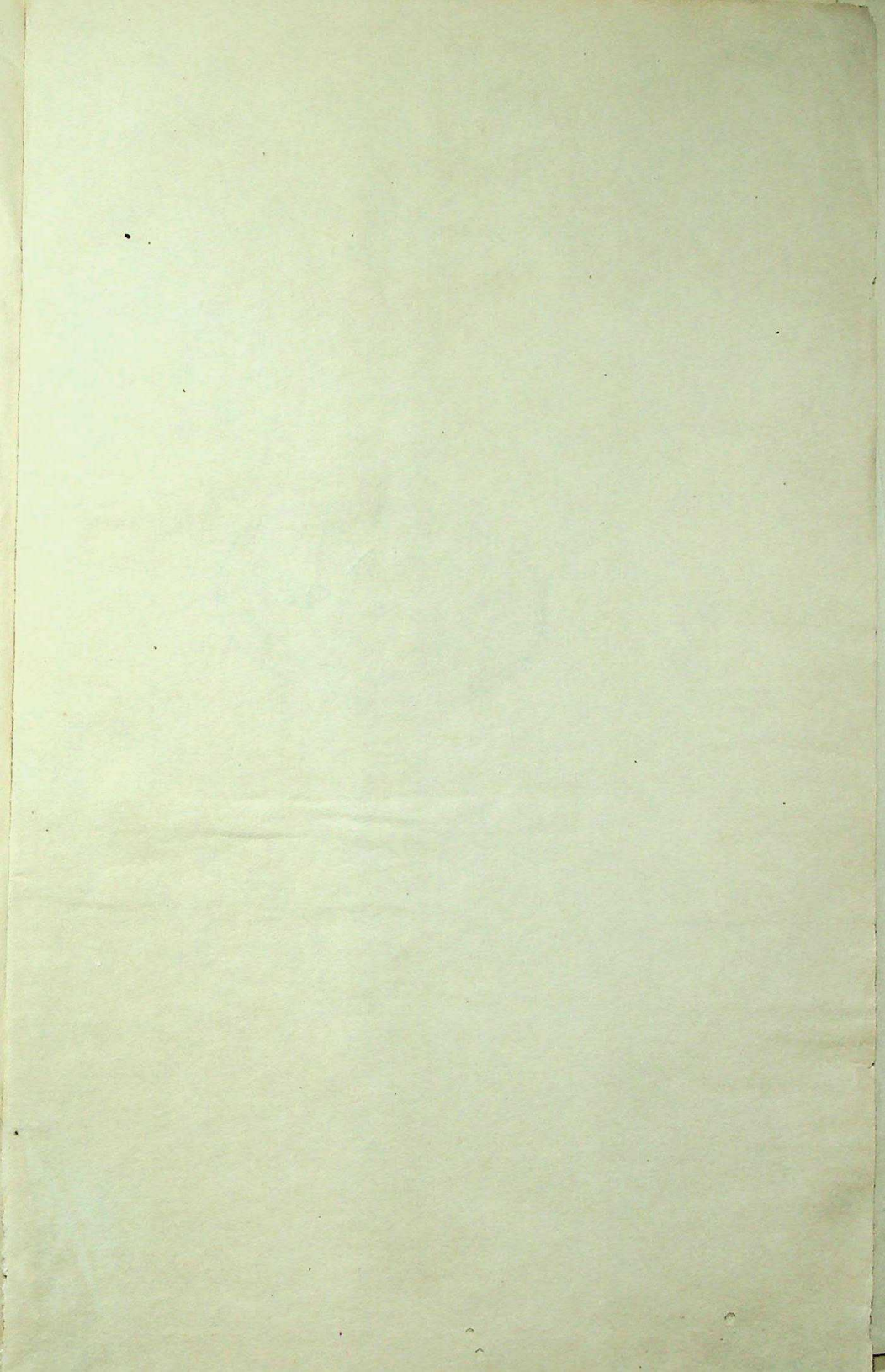
विशिष्ट नामों की तालिका

५२७

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
वाल्मीकीय रामायण	७९	शिवाजी	३०१
विज्ञान-गीता	३५४, ३५७	शिवाबावनी	३०२, ३०४
विद्यापति ठाकुर	२४, ४४९	शंकरदेव (सोरों)....	५८
विद्यासुंदर	४८८, ४९८	शेखर	२९
विनय पत्रिका	६३, ७५, १५५	शेषदत्त	७७
विप्र	१२०	शंभुनाथ मिश्र	३०
विभीषण	११४, ११५	श्रीपति	२९
विश्वनाथसिंह (रीवाँ-नरेश)	३९९	सतसई	७४
विषय विषमौषधम्	४९०	सती-प्रताप	४९०
विहारी	२८, २६७	सत्य हरिश्चंद्र	४९५, ४९९
वीरसिंह देव	४४९	सदल मिश्र	३२
वीरसिंह देव-चरित्र	३५६	समरसिंह (रावल)	४५२
वृद्ध-विलास	२२१	सरदार	३२, १७३
वृंदावन	५८	सहजराय	३२
वैराग्य-शतक	२०४	साहित्य-लहरी	१७३, १७८
वैराग्य-संदीपिनी	६३	साहूजी	३०२
व्यास	८०	सीतल	३२, ३०४
शब्द-रसायन	२०४, २१५	सुखदेवलाल	८०
शहाबुद्दीन ग़ोरी	४५१	सुखसागर-तरंग	२०४, २१९
शाङ्गधर	२३	सुग्रीव	११२
शिव	११९	सुजान-चरित्र	२०४
शिवनंदनसहाय	७७	सुजान-विनोद	२०७, २४४
शिवप्रसाद (राजा)....	३२	सुमिल-विनोद	२२३
शिवराज-भूषण	३०१, ३०४	सुमंत	११९
शिवसिंह	६६	सुंदर-कांड	९४
शिवसिंह-सरोज	१७४	सुंदरी-सिंदूर	२०६

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
सूदन	३१	हनुमान्-अष्टक	१५७
सूरति मिश्र	२९	हनुमान्-चालीसा	६३, ७१
सूरदास	५९, १७२	हनुमान् बाहुक	६३, ७०, १५७
सूरदास के दृष्टकूट	१७४	हम्मीरदेव	२३, १७४
सूर सागर	१७९	हरिकेश	२७
सूर-सारावली	१७९	हरिदास	२६
सेन नाई	२४	हरिभक्ति-प्रकाशिका	७७
सेनापति	२८, २९	हरिश्चंद्र	३२
सेवक	३२	हरिश्चंद्र-मैगज़ीन	४८२
सोमनाथ	३२	हरिश्चंद्र-स्कूल	४८२
सोमेश्वर	४५२	हित-हरिवंश	२७, २०२
संकटमोचन	५८, ६३, ७१	हुलसी	४०
हनुमान्	११२	त्रिपाठी-बंधु	२९९





[हिंदी-संसार में हलचल मचा देनेवाला प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ]

कविवर श्रीदुलारेलालजी की अनुपम भेंट !

प्रसिद्ध देव-पुरस्कार पहलेपहल इसी ग्रंथ पर मिला था ।

कविवर 'निराला'जी—श्रीदुलारेलालजी के दोहे महाकवि बिहारीलालजी के दोहों की दृष्टि के होते हैं, और वाज-वाज खूबसूरती में बह भी गए हैं ।

व्रजभाषा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक विद्वद्वर पं० रमा-शंकरजी शुक्ल 'रसाल' एम्० ए०—दोहे वास्तव में अपने रंग-ढंग के अप्रतिम हैं । ये बड़े ही ललित, काव्य-कला-कलित एवं ध्वनि-व्यंजना-वर्णित हैं ।

प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचंद्रजी शुक्ल—बिहारी के कुछ दोहों में उक्ति-वैचित्र्य प्रधान है और कुछ में रस-विधान । ऐसी ही दो श्रेणियों के दोहे इस 'दोहावली' में भी हैं । रसात्मक दोहों में बिहारी की-सी मधुर भाव-व्यंजना और वैचित्र्य-प्रधान दोहों में उन्हीं का-सा चमत्कार-पूर्ण शब्द-कौशल पाया जाता है । जिस ढंग की प्रतिभा का फल बिहारी की सतसई है, उसी ढंग की प्रतिभा का फल दुलारे-लालजी की यह दोहावली है, इसमें संदेह नहीं ।

कविवर श्रीयुत कन्हैयालालजी पोद्दार—जब कि खड़ी बोली के मेघचूजन, अधिकारावृत नभोमंडल में विरल नक्षत्र की भाँति व्रजभाषा काव्य लुप्तप्राय हो रहा है, ऐसे समय में दुलारे-दोहावली की भाव-पूर्ण, रमणीय, चित्ताकर्षक रचना वस्तुतः चंद्रोदय के समान है ।

मिश्रबंधु-विनोद

[नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]

हिंदी-साहित्य का सबसे प्रथम एवं प्रामाणिक इतिहास ।

हिंदी के आदि काल से लेकर द्विवेदी-युग तक के समस्त कवियों, समालोचकों, कहानीकारों, उपन्यासकारों, निबंधकारों और पत्रकारों का संक्षिप्त जीवन-दर्शन तथा उनकी रचनाओं का सार-गर्भित, निष्पक्ष आलोचनात्मक परिचय इस ग्रंथ-रत्न में किया गया है । छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा कोई भी साहित्यकार मिश्रबंधुओं की पैनी दृष्टि से छूटा नहीं, यही इसकी विशेषता है । प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल-जैसे साहित्य के इतिहासकारों ने भी इसे प्रामाणिक माना, और इसी के आधार पर अपने इतिहास की रचना की । सुंदर छपाई और बढ़िया गेट-अप है ।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ